अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वीरशासन-महोत्सवपर पधारनेवालोंसे

आवश्यक निवेदन

ता० ३१ अक्तूबरसे ४ नवम्बर सन् १९४४ तक कलकत्तामें श्री वीरशासनका सार्धद्वय-सहस्राब्दि-महोत्सव तथा भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटीका अधिवेशन रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौरके सभापतित्वमें होगा। इस अवसरपर पधारनेवाले महानुभावोंसे निवेदन है कि वे जितना भी शीघ्र होसके अपने आनेके इरादे और साथियोंकी संख्यासे निम्न पतेपर सूचित करनेकी कृपा करें, जिससे उनके लिये ठहरनेके स्थान और खाद्य पदार्थोंका समुचित प्रबन्ध किया जा सके; क्योंकि युद्ध-परिस्थितिके कारण कलकत्तामें जैसी कुछ व्यवस्था चल रही है उसके कारण दोनोंका एकदम समयपर प्रबन्ध होना कठिन है। पहलेसे सूचना मिलनेपर ही सिविल सप्लाई आफिस आदिके द्वारा हम योग्य प्रबन्ध करनेमें समर्थ हो सकेंगे। आशा है आगन्तुक महानुभाव इसपर अवश्य ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

निवेदक—
छोटेलाल जैन,
मंत्री 'स्वागतसमिति'
१७४ चित्तरंजन एवेन्यू, कलकत्ता

तारका पता—
'सिद्धान्त' कलकत्ता

विषय-सूची

वर्ष ७ | अगस्त–सितम्बर १९४४ | किरण १, २

वीर-शासन-महोत्सव

श्री वीर जिनेन्द्रके शासनको–उनके धर्म तीर्थ को–प्रवर्तित हुए २५०० वर्ष हो चुके। इस अर्सेमें वीरशासनने जगतके जीवों का जो अनन्त उपकार किया है वह वर्णनातीत है। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि यह सर्वोदय तीर्थ है--सब जीवोंके अभ्युदय उत्थान और आत्माके पूर्ण विकाशक साधक है। इसने जन्म लेकर संसारके भूले-भटके प्राणियों को उनके हितका वह सन्देश सुनाया है जिससे उन्हें दुःखोंसे छूटने का मार्ग मिला, दुःखकी कारणीभूत भूलें जान पडी उनके वहम दूर हुए और उन्हें यह स्पष्ट प्रतिभासित हुआ कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्त दृष्टिको अपनानेमें हैं, समताको अपने जीवनका अंग बनानेमें है अथवा बन्धनसे परतन्त्रतासे–छूटनेमें हैं। साथही, इस शासनने आत्माओंको समान बतलाते हुए आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें हैं उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरों को दोष देना भारी भूल है। इससे पीड़ित पतित और मार्गच्युत जनता को यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है, स्त्रीजाति तथा शूद्रों पर होने वाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभीजन यथेष्ट रूपमें विद्या पढने तथा धर्म साधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये। इसके सिवाय हिंसात्मक यज्ञोंमें होने वाले क्रूरबलिदानो का जो अन्त हुआ और जिससे मनुष्य समाज कुछ ऊँचे उठा वह सब इस शासन की खासदेन है

इन्हीं सब उपकारोंके उपलक्षमें आगामी ३१ अक्तूबरसे ४ नवम्बर तक कलकत्तामें वीरशासनका सार्द्धद्वय सहस्राब्दि महोत्सव मनाया जाने वाला है, जिसके लिये बडी बडी तय्यारियाँ होरही हैं, देश-विदेश की विद्वद्जनता जुडेगी और वीरशासनको अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करेगी ? यह अपूर्व दृश्य देखने ही योग्य होगा। अतः वीरशासनके प्रेमी सभी सज्जनों को इस शुभ अवसरपर कलकत्ता पधारकर वीरशासनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिये और विद्वानोंके समागमसे यथेष्ट लाभ उठाना चाहिये।

सम्पादक

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति - विज्ञान - दर्शन - इतिहास - साहित्य - कला
और समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र-मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)
सरसावा जि० सहारनपुर

सातवाँ वर्ष

[भाद्रपद वीर नि० सं० २४७० से श्रावण वीर नि० सं० २४७१ तक]

अगस्त सन् १९४४ से जुलाई सन् १९४५ तक

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

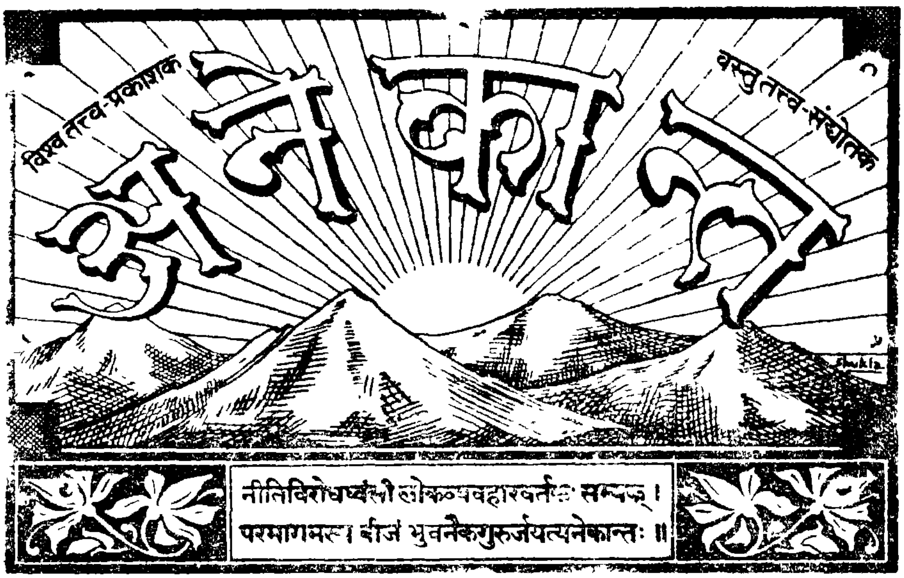
वार्षिक-मूल्य चार रुपया

सितम्बर सन् १९४५

एक किरणका मूल्य छह आने

अनेकान्तके सातवें वर्षकी विषय-सूची

* ॐ अर्हम् *



वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका ।=)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ७	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	अगस्त–सितम्बर
किरण १, २	भाद्रपद–आश्विनशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७०, विक्रम सं० २००१	१९४४

वीर-शासनाभिनन्दन

तव जिन ! शासन-विभवो, जयति कलावपि गुणाऽनुशासन-विभवः ।
दोष-कशाऽसनविभवः, स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कृशाऽऽसनविभवः ॥

—स्वयंभूस्तोत्रे, श्रीसमन्तभद्रः

'(हे वीर जिन !) आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादन-स्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्ट रूपसे वर्त रहा है—, उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-प्राप्त शिष्यजनोंका भव विनष्ट हुआ है—संसार-परिभ्रमण सदाके लिये छूटा है—इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषरूप चाबुकोंका निराकरण करनेमें समर्थ हैं—चाबुककी तरह पीड़ाकारी काम-क्रोधादि दोषोंको अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञानादि-तेजसे जिन्होंने आसन-विभुओंको—लोकके प्रसिद्ध नायकोंको—निस्तेज किया है वे—गणधर-देवादि महात्मा—भी आपके इस शासन-माहात्म्यकी स्तुति करते हैं ।'

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

युक्त्यनुशासने, श्री समन्तभद्रः

'हे वीर जिन ! आपका मत—शासन—नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु-तत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और सम्पूर्ण प्रवादियोंसे अबाध्य होनेके साथ साथ दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है। यही सब उसकी विशेषता है, और इसीलिये वह अद्वितीय है।'

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

—युक्त्यनुशासने, श्रीसमन्तभद्रः

'हे वीर प्रभु ! आपका प्रवचन-तीर्थ-शासन-सर्वान्तवान है—सामान्य, विशेष, द्रव्य, पर्याय, विधि, निषेध, एक, अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है—और वह गुण-मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिए हुए होनेसे सुव्यवस्थित है—उसमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है—जो धर्मोंमें परस्पर अपेक्षाको नहीं मानते—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाते हैं—उनके शासनमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खण्डनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है। भावार्थ—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्षनयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करने वाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करनेवाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थ का आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे अपना पूर्ण अभ्युदय (उत्कर्ष एवं विकास) सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।'

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥

—युक्त्यनुशासने श्रीसमन्तभद्रः

'(हे वीर भगवन् !) आपके इष्ट-शासनसे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्तिचक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे—आपके इष्ट—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है—अथवा यूँ कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है।'

वीरकी लोक-सेवा

(ले०—बा० माणिक्यचन्द्र जैन, बी० ए०)

"जब अधर्मका दुखद राज्य होता है जारी।
होते हैं अन्याय जगतमें निश-दिन भारी॥
सामाजिक सब नीति-रीतियाँ नस जाती है।
अनाचार-वृत्तियाँ हृदयमें बस जाती हैं॥
तब ऐसे सत्पुरुषका, होता झट अवतार है।
जो अपने सच्चरितसे, हरता पापाचार है॥"

(पुष्कल)

भगवान् वीर सच्चे वीर हैं। संसारके बड़ेसे बड़े पुरुषों मेंसे वे एक हैं। वे हमारी तरह ही मानव रहे हैं। नरसे नारायण हुए हैं। उन्होंने लौकिकतामें अलौकिकता प्राप्त की है। इसीलिये उनका जीवन हमारे लिये आदर्श है। सारी मनुष्य जातिको ऐसे ही आदर्शकी आवश्यकता है।

एक अंग्रेज विद्वान्ने भगवान वीरके जीवनपर प्रकाश डालते हुए कहा है :—

"But I want to interprete Mahabira's life as rising from "Manhood to Godhood" and not as from "God hood to super Godhood" If that were so I would not even touch Mahabira's life, as we are not gods but men. Man is the greatest subject for man's study"

अर्थात्—महावीरके जीवनका महत्व यह है कि वह वीर पुरुष मनुष्यत्वसे ईश्वरत्वकी ओर बढ़ा है, न कि ईश्वरत्वसे परमेश्वरत्वकी ओर। अगर वह ईश्वरत्वसे परमेश्वरत्वकी ओर बढ़ता तो मैं उसके जीवनको स्पर्श तक न करता, क्यों कि हम मनुष्य हैं देवता नहीं। मनुष्य ही मनुष्यके लिये सबसे अधिक अध्ययन करनेकी वस्तु है।"

उक्त लेखकका विचार यथार्थ है। भगवान वीर सच्चे मानव थे। मानव-जीवनकी वास्तविकताको वे खूब समझते थे। उनमें चरित्रका तेज और ज्ञानका बल था। वे सांसारिक विषय-कषायोंके वशीभूत अथवा इच्छाओंके गुलाम न थे। इच्छाओंको दमन करनेकी शक्ति उनमें भरपूर थी। अथवा यों कहिये कि वे ऐसी इच्छाओंको उत्पन्न ही नहीं होने देते थे। भगवान महावीर संसारके आदर्श-सेवक एवम् मनुष्योंके सफल सेनानायक थे। समाजमेंसे बर्बरताको दूर हटाकर मनुष्योंको अहिंसा, शान्ति, सत्य और सदाचारका पाठ पढ़ाना उनके जीवनका उद्देश्य था। वे सब प्राणियों को पावन पथका अनुगामी बनाना चाहते थे। वे मनुष्यको मानव बनाना चाहते थे। शैतानियत और हैवानियतको दूर हटाकर इन्सानियतका आधिपत्य स्थापित करना चाहते थे।

मनुष्य अत्यन्त क्रूर बन गया था। इतना क्रूर कि उसकी क्रूरता शेर और बघेरोंकी क्रूरताको भी मात करती थी। दया और विवेकको कोई स्थान नहीं मिला हुआ था। मानवताके स्थानपर पाशविकता अकाण्ड ताण्डव कर रही थी। पाखण्डी महात्मा बने हुए थे। जनता त्राहि त्राहि कर रही थी। पशुबलि और कर्मकाण्डका आधिक्य था। दीन पशुओंकी आर्तनाद सुनने वाला कोई न था। इतना ही नहीं, भारतवसुन्धरा पर नरमेध-यज्ञ भी प्रचलित होगये थे। इन यज्ञों और कर्मकाण्डोंसे जनता विक्षुब्ध हो उठी थी, पर उस समयके धर्माचार्योंका विरोध करनेकी ताकत तत्कालीन जनतामें न थी। ऐसे संकटापन्न-परिस्थितिग्रस्त समयमें, सत्य, अहिंसा और मानवताके प्रतीक आदर्शवीर भगवान महावीर अपने विचारोंको न दबा सके। उन्होंने सांसारिक भोगोपभोगोंको लात मार कर लोक कल्याणका दृढ़संकल्प किया।

भगवान वीरने उस समयके प्रचलित अत्याचारपूर्ण रीति-रिवाजों और विधि-विधानोंके खिलाफ तथा ढोंग और उसके पोषकोंके विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की। यज्ञों और कर्मकाण्डोंकी कड़ी आलोचना करके ऐसे घृणित कृत्यों के खिलाफ जिहाद बोल दिया। अपने तप, त्याग और

वीरत्व-द्वारा जनताको समझा दिया कि जैसी तुम्हारी स्वयं की आत्मा है वैसी ही आत्मा अन्य प्राणियोंकी है। जिस प्रकार तुम स्वयं जीना पसन्द करते हो उसी प्रकार दूसरोंको भी जीने दो। 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त-द्वारा भगवान वीरने परमपुनीत अहिंसा धर्मका महत्व विश्वको बतला दिया। उनकी अहिंसा उच्चसे उच्च कोटिकी थी पर उनके जीवनमें अहिंसा कभी भी अव्यवहार्य न हो पायी। उन्होंने गृहस्थ और योगीकी अहिंसाका वास्तविक रूप जनताके समक्ष रक्खा। जनताने अहिंसाके मर्मको समझा और अपने जीवनमें अहिंसाको उतारनेकी कोशिश की। अहिंसाके आन्दोलन-द्वारा यज्ञ और कर्मकाण्ड बन्द हो गये। भारत में सत्य, अहिंसा और शान्तिका प्रादुर्भाव हुआ। अहिंसासे विश्वका कल्याण हुआ। यह भगवान वीरकी लोकसेवाका प्रथम पहलू है।

भगवान वीर धर्म-संस्थापकके रूपमें भारतमें नहीं आये थे। उन्होंने परम्परागत जैन धर्मका अनुसरण करके ही ईश्वरत्वको प्राप्त किया है। हाँ, वे धर्म-प्रसारक, और राष्ट्र-सुधारक अवश्य थे। वे एक क्रान्तिकारी पूर्ण युगपुरुष थे। उन्होंने भारतमें उस महान राज्यक्रान्तिको जन्म दिया, जिससे भारतीय लोगोंकेजीवनमें कल्पनातीत परिवर्तन हो गया। उस समय वर्ण व्यवस्थाकी बड़ी दयनीय अवस्था थी। जाति-पाँति और ऊँच-नीचका भेद-भाव भारतीय मस्तिष्कको खोखला किये हुए था। कुछ लोगोंने धर्मको पैतृक सम्पत्ति समझ रक्खी थी और वे लोग ही धर्मके ठेकेदार बने हुए थे। दूसरे वर्णोंके लोगोंके जन्मजात अधिकारों पर कुठाराघात करनेमें भी वे लोग नहीं हिचकते थे। उन ढोंगियोंके बाह्य आचरणसे कुछ ऐसा प्रतीत होता था मानों उन्होंने ही मोक्षका पट्टा ले रक्खा है, चाहे उनके कृत्य कितने ही घृणित क्यों न हो? ऐसे विकराल समयमें भगवान वीरने उन सत्ताधारियोंको खुला चैलेञ्ज देदिया और उनके विरुद्ध जोरदार आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उन लोगोंके एकाधिकारको नष्ट भ्रष्ट कर दिया। जाति-पाँतिके भेदभाव को दूर हटा कर जनताको बतला दिया कि मोक्ष पर किसी वर्ण या जाति-विशेष अथवा कुछ चुने हुए लोगों का ही अधिकार नहीं है। मोक्ष प्राप्ति सब प्राणियोंका जन्म-सिद्ध अधिकार है। जो व्यक्ति आदर्श जीवन व्यतीत करेगा उसे मोक्ष अवश्य मिल सकेगी। चाहे वह किसी भी वर्ण और जातिका क्यों न हो? अपने कर्मोंकी निर्जरा करनेसे प्रत्येक प्राणीको मोक्ष मिल सकता है। मोक्षका द्वार किसीके लिये बन्द नहीं है।

भगवानके इस सिद्धान्तका जनता पर सुन्दर प्रभाव पड़ा। लाखोंकी तादादमें लोग भगवानके अनुयायी बन गये। भगवानके पास ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब आते थे। भगवानके समक्ष ऊँच और नीचका कोई भेद-भाव नहीं था। पर, आज उन्हीं भगवान वीरके अनुयायी आवश्यकतासे अधिक साम्प्रदायिकता और कट्टरताके भक्त बने हुए हैं। आजके जैनी इतने संकीर्ण विचारों वाले क्यों बने हुए हैं? समझमें नहीं आता! क्या वे भगवान वीरका दिव्य-सन्देश भूल गये? जाति-पाँतिके भेदभावको दूर हटा कर जनताको सन्मार्ग पर लगाना वीरकी लोक-सेवाका दूसरा पहलू है।

स्त्री-जातिका निरादर करना लोगोंके लिये साधारण सी बात थी। उनकी बड़ी दुरावस्था थी। कामान्ध स्वार्थी पुरुषोंने स्त्रियोंको अपने भोग साधनकी सामग्री मात्र समझ रक्खा था। उनके अस्तित्व और अधिकारों पर पुरुषों-द्वारा कुठाराघात किया जाता था। वे अपने अधिकारोंको भूली हुई-सी थीं। वे परतन्त्रताकी बेड़ियोंसे जकड़ी हुई थीं। करुणाके मूर्तरूप भगवान वीर स्त्रियोंकी ऐसी अवस्थाको न देख सके। उन्होंने स्त्री जातिको बराबरके अधिकार दिलाना पसन्द किया। स्त्रियोंके मार्गमें जो कठिनाइयों और रूढ़ियों के पहाड़ खड़े हुए थे उनको चकनाचूर करके भगवान वीरने स्त्रियोंके अधिकारोंकी रक्षा की। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बतलाया कि पुरुष सदियोंसे स्त्री-जातिके अधिकारों पर कुठाराघात करता चला आया है। पुरुषने नारीके मूल्यको अभी तक समझनेकी कोशिश ही नहीं की है। यह पुरुषकी भारी भूल है। भगवान वीरने स्त्रियोंके लिये भी पुरुषोंके समान ही आध्यात्म-मार्ग खोल दिया। वे पुरुषोंके समान ही सामाजिक राष्ट्रीय एवम् धार्मिक कृत्य करनेके लिये स्वतन्त्र समझी जाने लगी। नारी जातिके अधिकारोंके लिये इतना प्रयास करना वीरके जीवनका क्रान्तिकारी स्टेप (Step) था। वीरने यह भी सिद्ध कर दिया कि स्त्रियाँ गुरुपदको भी प्राप्त कर सकती हैं। वीरका प्रधान लक्ष्य

लोक-कल्याण था। ४३ वर्षकी अवस्थासे ७२ वर्षकी अवस्था तक वीरका पवित्र जीवन लोक-सेवा ही में व्यतीत हुआ। इससे मालूम होता है कि वीरका जीवन लोक-कल्याणार्थ ही हुआ था।

सच्चा वीर अपना मार्ग स्वयं निर्धारित करता है। वीर भगवानने भी ऐसा ही किया। उनसे पहिले होने वाले आचार्य और महात्मा संस्कृत भाषामें उपदेश देते थे और संस्कृत हमेशासे विद्वानोंकी भाषा रही है। अत: सर्वसाधारण न तो उस भाषाको बोल सकते थे और न समझ सकते थे। स्त्रियों और शूद्रोंको तो संस्कृत बोलनेका अधिकार भी सम्भवत: नहीं था। लोग उन सत्पुरुषोंके उपदेशोंसे अधिक लाभ नहीं ले सकते थे। पर भगवान वीरने उस समयकी सर्व-साधारणकी प्रचलित भाषामें उपदेश देना आरम्भ किया। संस्कृतका मोह घटाकर जनताकी भाषाका महत्व बढ़ाया। भगवानके उपदेशोंका जनता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। वीरका उपदेश अमीर और गरीब, राजा और फकीर यहां तक कि पशु और पक्षी सबके लिए हितकर था। यह ही तो कारण है कि वीरके उपदेशों और दिव्य सन्देशसे सबका कल्याण हुआ।

वीरने बतलाया कि आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंके सञ्चयसे मनुष्यकी प्रकृति चंचल रहती है। अधिकाधिक सञ्चयसे तृष्णा बढ़ती जाती है। और कभी कभी उसे धनका उन्माद सताने लगता है। वह न्यायमार्गको छोड देता है और संसारमें कुकृत्य करनेपर उतारू हो जाता है। इस लिये मनुष्यको संयत जीवन व्यतीत करनेके साथ वस्तुओं की सीमा भी निर्धारित रखनी चाहिये। मनुष्यको आवश्यकतासे अधिक वस्तुएं नहीं रखनी चाहिये। यह वीरके अपरिग्रहवादका निष्कर्ष है। वीर एक तरहसे अपने समय के सबसे बड़े साम्यवादी थे। वे चाहते थे कि सब प्राणी आनन्दसे रहें। इस विश्वके समस्त प्राणी सुखसे रहें। वीर प्रभु इस बातको अवश्य जानते थे कि यदि कोई व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक सम्पत्ति और वस्तुयें जुटाएगा तो दूसरे मनुष्योंकी आवश्यकीय वस्तुओंमे कमी पड़ेगी। वे यह भी भलीभांति जानते थे कि गरीबोंके रक्त-शोषणसे ही पूंजी-पति बनते हैं। अत: जन-हितकी ओर दृष्टि रखते हुए उन्हों ने अपरिग्रहवादकी सृष्टि की।

वीर चाहते थे कि मनुष्य वीर बनकर संसारमें रहे। इसीसे उन्होंने सदाचार और ब्रह्मचर्य पर अधिक जोर दिया। ब्रह्मचर्यके पालन बिना—वीर्यकी रक्षा बिना—मनुष्य वीर नहीं बन सकता। कमजोर आदमी कापुरुषकी भांति संसारमें अपनी जीवन-लीला व्यतीत करता है। उसका जीना न जीना बराबर है। वीरका जीवन आदर्श होता है। वीर पुरुष सब का हो जाता है और सब उसके। अत: भगवान वीरने वीर्य-रक्षाका महत्व बतलाकर भी लोककी अपूर्व सेवा की है।

वीरका सम्पूर्ण जीवन आत्मानुभूति (Self realization) और सर्वस्वत्याग (Self sacrifice) का जीवन है। वे संसारके आदर्श-सेवक थे। उन्होंने अपने अगाध और अबाध ज्ञान-द्वारा संसारकी अथक सेवा की है। उनका जीवन ही लोक-सेवाका जीवन है। उनका जीवन, तप, त्याग और ज्ञान महान् है। अन्तमें कहना होगा कि भगवान महावीर वास्तवमें महावीर हैं, आदर्श पुरुष हैं। सन्मार्ग-प्रदर्शक सच्चे लोक सेवक हैं, अनुकरणीय महात्मा हैं और इस लिये उपासनीय हैं—आराधना किये जानेके योग्य हैं।

वीरसेवामन्दिरके सदस्योंसे निवेदन

वीर-शासनके अवतार को २५०० वर्ष हो चुके, इस उपलक्षमें उसका सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सव ता० ३१ अक्तूबर से ४ नवम्बर सन् १९४४ (कार्तिकसुदि पूर्णिमासे मार्गशीर्ष वदि चतुर्थी) तक कलकत्तामें रावराजा सर सेठ हुकमचन्द्र जी इन्दौरके सभापतित्वमें बड़ी धूम-धामके साथ मनाया जायगा। साथमें, जैनसाहित्य-सम्मेलन भी होगा, जो अनेक विषयोंके अनेक सभापतियोंके सभापतित्वमें अपना कार्य सम्पन्न करेगा। भा० दि० जैन तीर्थक्षेत्रकमेटीका अधिवेशन भी होगा। सभी प्रान्तोंके श्रीमान् और धीमान् पधारेंगे। संक्षेपमें यह महोत्सव जैन इतिहास, साहित्य और संस्कृतिकी दृष्टिसे अपूर्व होगा। अत: वीरसेवामन्दिरके सदस्यों और उसकी कमेटीके मेम्बरोंसे खासतौरपर निवेदन है कि वे इस शुभ अवसरपर अवश्य ही कलकत्ता पधारने की कृपा करें, और इस शासन-सेवाके महान् कार्य में अपना पूरा सहयोग प्रदान करके हमें अनुगृहीत करें।

—जुगलकिशोर मुख्तार (अधिष्ठाता), पन्नालाल जैन अग्रवाल (मंत्री)

तुम महान मानव थे भगवन् !

युगों युगों तक विश्व न तुमको भूल सकेगा, त्रिशला-नन्दन !

लेखक—
श्री 'तन्मय'
बुखारिया

१

तुमने तब अवतार लिया जब
पशु–हत्या ही धर्म हुआ था !
अपनी सर्वश्रेष्ठता – मदमें
जब मानव बेशर्म हुआ था !!
तुमने स्वगृह, स्वजन, स्ववैभव,
सब कुछ तब त्यागा जब यौवन
अपने पूरे यौवनपर था,
और नियंत्रण-रहित देह–मन।
जब कि देखता था संसृतिके
अणु अणुमें नूतन आकर्षण।
तुम महान मानव थे भगवन !
युगों युगों तक विश्व न तुमको
भूल सकेगा, त्रिशला-नन्दन !

२

करमें धवल अहिंसा-ध्वज ले,
वीतरागताका सम्बल ले,
विद्रोही ! सत्याग्रह धर तुम
जब ममता-सीमासे निकले—
तब रवि, शशि भी झिझक उठे थे,
लघु नक्षत्रोंकी बिसात क्या ?
तब सुरगण भी सिहर उठे थे,
कवि मानवकी कहे बात क्या ?
खेल उठा था भू-प्राङ्गणमें
एक निराला ही परिवर्तन !
तुम महान मानव थे भगवन !
युगों युगों तक विश्व न तुमको
भूल सकेगा, त्रिशला-नन्दन !

३

वर्षों तक अपना मन मथकर, जब तुमने सत्ज्ञान पा लिया।
और अनवरत तप-चिन्तनसे, मानव-धर्म महान पा लिया,
तब तुमने उपदेश दिया यह—"मानव-पशु दोनों समान हैं,
दोनों में अनुभूति एक है, दोनोंमें ही एक प्राण हैं !
नर यदि चाहे, तो वह कर्मो से नारायण बन सकता है !
राग-द्वेष इत्यादि शत्रुओं को कर्मोसे हन सकता है !!
'स्वयं जियो, पर औरोंको भी जीने दो'—बस धर्म यही है !
'सदा अहिंसापर दृढ़ रहना' मूल धर्मका मर्म यही है !!"
तुमने भ्रू-संचालनसे ही बदल दिए दुनियाके दर्शन !
तुम महान मानव थे भगवन् !
युगों युगो तक विश्व न तुमको भूल सकेगा, त्रिशला-नन्दन !!

कूर्चकोंका सम्प्रदाय

(लेखक—श्री पं० नाथूराम 'प्रेमी')

अभी हाल ही कदम्ब राजवंशके दो दानपत्रोंपर मेरी नजर पड़ी जिनमें कूर्चकोंके सम्प्रदायका उल्लेख है। इनमें से पहला दानपत्र[1] शान्तिवर्माके ज्येष्ठपुत्र राजा मृगेशवर्मा का है। उन्होंने स्वर्गगत राजा (शान्तिवर्मा) की भक्तिसे पलाशिका नामक नगरमें जिनालय निर्माण कराके अपनी विजयके आठवें वर्षमें यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकोंके लिये भूमि-दान किया है। दूसरा दानपत्र[2] इसी वंशके महाराजा हरिवर्माका है। उन्होंने अपने राज्यके चौथे वर्षमें शिवरथ नामक पितृव्यके उपदेशसे, सिंह सेनापतिके पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैन मन्दिरकी अष्टाह्निकापूजाके लिए और सर्व संघके भोजनके लिए वसुन्तवाटक नामक गाँव कूर्चकोंके वारिषेणाचार्यसंघके हाथमें चन्द्रक्षान्तको प्रमुख बनाकर प्रदान किया। ये दोनों दानपत्र ताम्रपत्रों पर हैं।

पहले दान-पत्रमें यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक इन तीन सम्प्रदायोंके नाम हैं और दूसरेमें सिर्फ कूर्चकसम्प्रदायका। दूसरेसे मालूम होता है कि इस सम्प्रदायमें 'वारिषेणाचार्यसंघ' नामका एक संघ था, जिसके प्रधान चन्द्रक्षान्त (मुनि) थे।

पहले दान-पात्रके यापनीयोंको तो हम अब जानने लगे हैं, और उनके विषयमें अन्यत्र बहुत कुछ लिख चुके हैं[3]।

अब रहे निर्ग्रन्थ और कूर्चक। यद्यपि प्राचीन साहित्य में श्वेताम्बर साधुओंके लिए भी निर्ग्रन्थ शब्द आमतौरसे प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इस दानपत्रमें तो उनका ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि इन्हीं महाराज मृगेश वर्माका एक और दानपत्र[4] इससे पाँच वर्ष पहलेका (आत्मन. राज्यस्य तृतीये वर्षे) मिला है जिसमें कालवंश नामक ग्रामके तीन हिस्से करके पहला हिस्सा जिनेन्द्रदेवके लिए, दूसरा श्वेतपट श्रमण संघके लिए और तीसरा निर्ग्रन्थ श्रमण संघके लिए दान किया गया है। उसके मूल शब्द ये हैं—

अर्हच्छालापरमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन् महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एको भाग., द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्मकरणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति।

इसमें श्वेतपट (श्वेताम्बर) और निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ अलग अलग निर्दिष्ट किये गये हैं, इसलिए निर्ग्रन्थ श्वेताम्बर नहीं दिगम्बर ही प्रतीत होते हैं। तब ये कूर्चक और कौन होंगे?

यापनीय संघके साधु भी वे कूर्चक नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्वोक्त लेखमें ये कूर्चकोंसे भी अलग ही बतलाये गये हैं। ऐसी दशामें यही कल्पना करनी पड़ती है कि निर्ग्रन्थ और कूर्चक दोनों ही दो जुदा जुदा दिगम्बर संप्रदाय रहे होंगे।

अब प्रश्न यह होता है कि इस कूर्चक सम्प्रदायका स्वरूप क्या होगा?

कूर्चक (प्राकृत 'कुच्चय') शब्दके अनेक अर्थ हैं, दर्भ, कुशाकी मुट्ठी, मयूरपिच्छि और दाढ़ी-मूँछ। कूची इसका देशी रूप है। कर्नाटकमें कूची-कमंडलु साधुओंके उपकरणों के रूपमें आमतौरसे व्यवहृत होता है। इससे दानपत्रोंके इस शब्दने पहले-पहल हमें मयूरपिच्छि रखने वाले जैन साधुओंके ही किसी सम्प्रदायको समझनेके लिए ललचाया। यापनीय साधु मयूरपिच्छि रखते थे और दिगम्बर-सम्प्रदाय के साधु भी मयूर-पिच्छि रखते हैं, परन्तु दानपत्रोंका उक्त

१ इंडियन एण्टिक्वेरी जिल्द ६, पृष्ठ २४–२५।

२ इं० ए० जिल्द ६ पृ० ३०–३१।

३ जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४१–६०।

४ देखो जैनहितैषी भाग १३ अंक ७–८ में 'कदाम्ब वंशी राजाओंके तीन दान पत्र।'

कूर्चक सम्प्रदाय इन दोनोंसे भिन्न कोई तीसरा ही प्रतीत होता है और कुछ प्राचीन उल्लेखोंके मिल जानेसे अब हम इस नतीजेपर पहुंचे हैं कि यह कूर्चक जैनसाधुओंका एक ऐसा सम्प्रदाय होना चाहिए जो दाढ़ी-मूँछ रखता होगा।

प्राचीन कालमें जटाधारी, शिखाधारी, मुण्डित, कूर्चक, वस्त्रधारी और नग्न आदि अनेक प्रकारके अजैन साधु थे। जान पड़ता है इसी तरह जैनोंमें भी साधुओंका एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो दाढ़ी-मूँछ (कूर्चक) रखनेके कारण कूर्चक कहलाता होगा।

आचार्य जिनसेनके द्वारा वरांगचरितके कर्ता जटाचार्य की जो स्तुति की गई है, उसमें उनकी हिलती हुई जटाओं का वर्णन किया है,[१] जो जैनसाधुओंके 'जटी' सम्प्रदायका आभास देता है। इसी तरह दाढ़ी-मूँछ रखने वाले कूर्चक सम्प्रदायकी भी कल्पना करनेको जी चाहता है।

स्व० मि० काशीनाथ तैलंगके अनुसार कदम्ब वंशके पूर्वोक्त दानपत्र ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें पहलेके हैं, अतएव उस समय और उससे पहले यह एक प्रसिद्ध जैन सम्प्रदाय था और उसके 'वारिषेणाचार्यसंघ' जैसे अनेक संघ भी थे।

कूर्ची या कूर्चकोंका उल्लेख उत्तराध्ययनकी शान्त्याचार्य कृत टीकामें 'वाचकवचनं' कहकर इस प्रकार किया गया है—

सम्यक्त्वज्ञानशीलानि तपश्चेतीह सिद्धये।
तेषामुपग्रहार्थाय स्मृतं चीवरधारणम् ॥ १ ॥
जटी कूर्ची शिखी मुण्डी चीवरी नग्न एव च।
तप्यन्नपि तपः कष्टं मौढ्याद्धिंस्रो न सिद्ध्यति ॥ २ ॥
सम्यग्ज्ञानी दयावांस्तु ध्यानी यस्तप्यते तपः।
नग्नश्चीवरधारी वा स सिद्ध्यति महामुनिः ॥ ३ ॥

इस उद्धरणके दूसरे श्लोकमें जटाधारी, कूर्चधारी, चोटीधारी, मुण्डिया, चीवर (वस्त्र) धारी और नग्न साधुओं के नाम आये हैं और जिस क्रमसे आये हैं उस पर ध्यान देनेसे मालूम होता है कि कूर्ची साधु मयूरपिच्छि वाले नहीं किन्तु दाढ़ी मूछवाले होंगे। जटावालों, चोटीवालों और बिना बालों वाले मुंडियोंके बीच दाढ़ी-मूँछवाले ही ठीक बैठते हैं।

इसी तरह एक जगह बृहत्कल्पसूत्रके संघदासगणिकृत लघुभाष्य और उसकी वृत्तिमें भी कूर्चिक साधुओंकी चर्चा आई है। प्रसङ्ग यह है कि निर्ग्रन्थियों (आर्यिकाओं) को किस किससे वस्त्र नहीं लेना चाहिए—

कावालिए य भिक्खू सुइवादी कुच्चिए अ वेसत्थी।
वाणियग तरुण संसट्ठ मेहुणे भोइए चेव ॥२८८३॥

इसमें कापालिक, भिक्षु (बौद्ध साधु) और शुचिवादी साधुओंके साथ कूर्चक या कूर्चिकोंका नाम है। वृत्तिकार कूर्चिकका अर्थ 'कूर्चन्धर' अर्थात कूर्च धारण करने वाले करते हैं और प्रसगकी दृष्टिसे ये दाढ़ी-मूँछ वाले अन्य धर्मी साधु ही जान पड़ते हैं।

आगे कूर्चकोंका उल्लेख करने वाले दोनों दानपत्रोंकी प्रतिलिपि दी जाती है—

(प्रथम दानपत्र)

[1] स्वस्ति [॥] जयति भगवाञ्जि(ज्जि)नेन्द्रो गुणरुन्द्र ✕ प्रथितपरमकारुणिकः त्रैलोक्याश्वासकरी
[2] दयापताकोच्छ्रिता यस्य [॥] कदम्बकुलसत्केतोः हेतो✕ पुण्यैकसम्—
[3] पदाम् श्रीकाकुस्थनरेन्द्रस्य सूनुर्भानुरिवापरः [॥] श्रीशान्तिवर—
[4] वर्म्मेति राजा राजीवलोचनः खलेव वनिताकृष्टा
[5] येन लक्ष्मीर्द्विषद्गृहात् [॥] तत्प्रियज्येष्ठतनयः श्रीमृगेशनराधिपः।
[9] लोकैकधर्म्मविजयी द्विजसामन्तपूजितः [॥] मत्वा दानं दरिद्राणाम्
[7] महाफलमितीव यः स्वय भयदरिद्रा(द्रो)पि शत्रुभ्यो दाप्रदामयम् [॥]
[8] तुङ्गगङ्गकुलोत्सादी पल्लवप्रलयानलः स्वार्थके नृपतौ भक्त्या
[9] कारयित्वा जिनालयम् [॥] श्रीविजयपलाशिकायाम् यापनि(नी)यनिर्ग्रन्थकूर्च
[10] कानामस्त्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्त्तिकपौर्णमास्याम्।
[11] मातृसरित आरभ्य आ इङ्गिणीसङ्गमात् राजमानेन त्रयो(य)स्त्रि (स्त्रिं) शत्निवर्त्तनं।

१ काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः।
अर्थानस्मान्वदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ॥आ० पु०

[12] श्रीविजयवैजयन्तीनिवासी दत्तवान् भगवदर्हद्भ्यः [।] तत्राशासि ।

[13] दानशीतिर्भोजकः जियन्तश्रायुक्तकः सर्व्वस्यानुष्ठाता इति [॥] अपि च ।

[14] उक्तम् [।] बहुभिर्व्वसुधा दत्ता राजभिस्सगरादिभि यस्य यस्य यदा

[15] भूमिः तस्य तस्य तदा फलम् [॥] स्वदत्ता(त्तां) परदत्ता त्ता) वाम् (वा) यो हरेत वसु-

[16] न्धराम् षष्टिवर्षसहस्राणि कुम्भीपाके स पच्यते [॥] सिद्धिरस्तु ।

(द्वितीय दानपत्र)

[1] सिद्धम् ॥ स्वस्ति स्वामिमहासेनमातृगणानुध्याताभिषिक्तानाम् मानव्यसगो–

[2] त्राणाम् हारितीपुत्राणाम् प्रतिकृतस्वाध्यायचर्चिकानाम् कदम्बा(म्बा)ना-

[3] म्महाराजः श्रीहरिवर्म्मा बहुमतकृतं पुण्यैः राज्य श्रिय निरुपद्रवाम्

[4] प्रकृतिषु हित प्रासो व्यासो जगाद्यसमाखिलाम् श्रुतजलनिधिः वि---

[5] याबृद्धसंदृष्टार्थि स्थित स्वबलकुलिशाघातोच्छिन्न-द्विष(ष)—

[6] द्भूधराः [॥] स्वराज्यसंवत्सरे चतुर्थे फाल्गुणशुक्ल त्रयोदश्याम् उच्च--

[7] शृङ्ग्याम् सर्व्वजनमनोह्लादवचनस्सर्म्मा सपितृव्येण शिव--

[8] रथनामध (धे)येनोपदिष्ट पलाशिकायाम् भारद्वाजसगोत्रसिङ्गहसेना-

[9] पतिसुतेन मृगेशेन कारितस्यार्हदायतनस्य प्रतिवर्षमाष्टाह्निक

[10] महामहसततवक्ष्यलेपनक्रियार्थं तदवशिष्टं सर्व्वसंघ–

[11] भोजनायेति वृहि (?) क्षि कुन्दूरविषये वसुन्तवाटकं सर्व्वपरिहारसयुत

[12] कूर्च्चकानाम् वारिषेणाचार्य्यसङ्घहस्ते चन्द्रक्षान्त प्रमुखम्

[13] कृत्वा दत्तवान् [॥] य अत्र लोभात् अधर्म्मात् वा अपहरेत् स पञ्चमहापातकसंयुक्तो भवति [।]

[14] यश्चैनं रागद्वेषलोभमोहैरपहरति स निकृष्टतमां गतिमवा

[15] प्नोति [॥] उक्तञ्च [।] स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुन्धराम् षष्टि वर्ष-

[16] सहस्राणि नरके पच्यते तु सः [॥] बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि-

[17] स्सगरादिभि यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलमिति [॥]

[18] वर्द्धता वर्द्धमानार्हच्छासनं ससमासनम् येनाद्यापि जग-

[19] त्पापपङ्कमज्जनम् [॥] नमो र्हते वर्द्धमानाय [॥]

कलकत्तामें श्रीवीर-शासन-महोत्सव

गत ७-८ जुलाईको राजगिरि-अधिवेशनमें स्वीकृत प्रस्तावके अनुसार श्रीवीरशासन-सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवकी आयोजना राजगिरिमें ही होनेको थी। किन्तु महामारीका भीषण प्रकोप, नितान्त आवश्यक वस्तुओंकी अल्पता और रेल तथा यातायातके अन्य साधनोंकी असुविधा आदिको जान कर इस उत्सवका आयोजन ३१ अक्तोबरसे ४ नवम्बर (कार्तिक सुदी पूर्णिमासे मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी) तक रायबहादुर सेठ हुकमचन्दजीके सभापतित्वमें कलकत्तेमें किया जाना स्थिर हुआ है। इसके साथ भा० दिगम्बर जैनतीर्थक्षेत्र-कमेटीका अधिवेशन भी होगा।

समाजके विचारशील विद्वानों और प्रतिष्ठित सज्जनोंसे निवेदन है कि वे इस महोत्सवकी महत्ता और प्रभावनाका ध्यान कर उत्सवमें अवश्य सहयोग प्रदान करें।

विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे महोत्सवके लिये स्मारकग्रन्थके जैन संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, विज्ञान, कला आदि सभी विषयोंपर प्रभावशाली लेख भेजनेकी कृपा करें। लेख अक्तोबरके द्वितीय सप्ताह तक 'बाबू छोटेलाल जैन, मंत्री स्वागत-समिति, १५४ चित्तरंजन एवेन्यू, पो० बड़ाबाजार, कलकत्ता' के पतेपर आजाने चाहिये।

शान्तिप्रसाद जैन, स्वागताध्यक्ष

नागार्जुन और समन्तभद्र

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

बौद्ध तार्किक नागार्जुन ईसाकी दूसरी शताब्दि (१८१ A. D.) के एक प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते हैं[1]। इन्हे शून्यवादका पुरस्कर्ता होनेका गौरव प्राप्त है। 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'युक्तिषष्ठिका' आदि तार्किककृतियाँ इनकी बनाई हुई हैं। इनमे प्रथमकी दो कृतियाँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और वे प्रायः सुलभ हैं। किन्तु युक्तिषष्ठिका' अब तक प्रकाशमे नहीं आई और इस लिये उसका मिलना दुर्लभ बना हुआ है। इनके सिवाय नागार्जुनकी और भी रचनाएँ सुनी जाती हैं; पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं।

पिछले दिनों जब मैं 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन[2] ?' लेखकी तैयारीमें लगा हुआ था, तब नागार्जुनकी 'माध्यमिका' और 'विग्रहव्यावर्तनी' के अध्ययन करनेका भी मुझे अवसर मिला। इन दोनों ग्रन्थोंके अध्ययनने मुझे स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके साथ इनका तुलनात्मक सूक्ष्म अन्तः-परीक्षण करनेके लिये विशेष रूपसे आकर्षित एवं प्रेरित किया। मेरे हृदयमे इन दोनों ग्रन्थकारोंकी कृतियोंका तुलनात्मक परीक्षण करनेके लिये उस समय तीव्र इच्छा तो पैदा हो गई; पर कुछ कारणोंके वश पूरी न हो सकी। बादको मुझे पुनः कुछ बौद्ध-ग्रन्थोंके अध्ययन करनेका मौका मिला और उस समय मेरा यह विचार स्थिर होगया कि 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षकके साथ इन दोनों तार्किकोंके साहित्यिक अन्तःपरीक्षणके रूपमें एक लेख अवश्य ही लिखा जाना चाहिए। उसीके परिणामस्वरूप आज यह लेख अपने पाठकोंके सामने, उपस्थित कर रहा हूँ—

(१) नागार्जुन अपनी विग्रहव्यावर्तनीमें कहते हैं:—

हेतोस्ततो न सिद्धिः नैः स्वाभाव्यात् कुतो हि ते हेतुः।
निर्हेतुकस्य सिद्धिर्न चोपपन्नास्य तेऽर्थस्य ॥ १७ ॥
यदि चाहेतोः सिद्धिः स्वभावविनिवर्तनस्य ते भवति।
स्वाभाव्यास्तित्वं ममापि निर्हेतुकं सिद्धम् ॥ १८ ॥

स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामे नागार्जुनकी उपर्युक्त युक्तियोंको अपनाते हुए अद्वैतका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं:—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेन् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥

यहाँ अद्वैतके खण्डन करनेके लिये समन्तभद्रने वही सरणि अपनाई है जो नागार्जुनने भावके खण्डन करनेमे प्रयुक्त की है। नागार्जुन कहते हैं कि 'हेतुसे भावकी सिद्धि करते हो या बिना हेतुके? हेतुसे तो भावकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि निस्वभाव होनेसे हेतु ही असिद्ध है। बिना हेतुके भावकी सिद्धि माननेपर हमारे अभावकी भी सिद्धि बिना हेतुके हो जाय।' समन्तभद्र कहते हैं कि 'हेतुसे अद्वैत (सिर्फ अभाव—शून्य) का साधन करनेपर हेतु और साध्यकी अपेक्षा द्वैतके प्रसङ्गसे छूट नहीं सकोगे और यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि करोगे तो वचनमात्रसे द्वैत (भाव और अभाव आदि) क्यो न सिद्ध हो जायगा।' यहाँ, पाठक देखेंगे कि दोनों ही जगह एक ही सरणि उपयोगमें लाई गई है।

(२) नागार्जुन विग्रहव्यावर्तिनीमे लिखते हैं—

सत एव प्रतिषेधो नास्ति घटो गेह इत्ययं यस्मात्।
दृष्टः प्रतिषेधोऽयं सतः स्वभावस्य ते तस्मात् ॥११॥

समन्तभद्र इसे अपनाते हुए आप्तमीमांसामें जैनदृष्टिसे प्रतिपादन करते हैं:—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

नागार्जुनने जिस बातको और जिस ढंगसे पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके यह कहा कि 'सत' का ही प्रतिषेध होता है—असत्का नहीं, जिस तरह सत्रूप घरमे ही सत् रूप घटका ही प्रतिषेध किया जाता है—असत्का नहीं।

१ देखो, तत्त्वसग्रहकी भूमिका LXVIII, वादन्यायमे २५० A. D. दिया है।

२ 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२मे यह लेख प्रकट होगया।

समन्तभद्रने भी उपर्युक्त आप्तमीमांसागत-कारिकामें जैन-दृष्टिसे उसी बातको अपना सिद्धान्त स्थापित किया है और और स्पष्ट किया है कि परद्रव्यादिचतुष्टयसे सतरूप पदार्थ का ही प्रतिषेध किया जाता है असतका नहीं क्योंकि भाव विधि-विधान और निषेधका स्थान होता है।

(३) नागार्जुन आगे चल कर जब यह कहते हैं—

पूर्वं चेत् प्रतिषेधः पश्चात् प्रतिषेध्यमिति न चोपपन्नं।
पश्चानुपपन्नो युगपञ्च यतः स्वभावोऽसन् ॥ २० ॥

तब समन्तभद्र इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्। आ० २७

यहाँ नागार्जुनने 'प्रतिषेध्यासिद्धेः' कह कर प्रतिषेध्य और प्रतिषेधकी अनुपपत्ति दिखलाई है और इस तरह शून्यतत्त्वका साधन किया है। समन्तभद्र इसका सयुक्तिक विरोध करते हुए कहते हैं कि प्रतिषेध करनेके पूर्व प्रतिषेध्यको माने बिना प्रतिषेध हो ही नहीं सकता और प्रतिषेध्य अवश्य सतरूप मानना होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि नागार्जुनने गौतमीय न्यायसूत्रके कितने ही सूत्रोंका खंडन किया है जिनकी कुछ झलक ऊपरकी कारिकाओंमें तथा विग्रहव्यावर्तनी और माध्यमिकाकी दूसरी अनेक कारिकाओंमें निहित है।

(४) सापेक्षता और निरपेक्षताको लेकर नागार्जुन विग्रहव्यावर्तिनीमें कहते हैं :—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च।
भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः ॥

समन्तभद्र भी आप्तमीमांसामें यही कहते हैं:—

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते। ७३

आपेक्षिकसिद्धि माननेमें नागार्जुनने जो 'नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः' शब्दों द्वारा दोनोंकी भी सिद्धि न होने रूप दोष दिया है वही समन्तभद्रने 'न द्वयं व्यवतिष्ठते' शब्दों द्वारा प्रकट किया है।

(५) नागार्जुन पुनः विग्रहव्या० में लिखते हैं:—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि।
किन्ते प्रमाणसिद्ध्या तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥ ४५

समन्तभद्र भी इसी बातका प्रतिपादन करते हैं:—

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥आ० ७३॥

(६) नागार्जुन आगे चल कर पुनः कहते हैं:—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरपेक्ष्य ते प्रमेयाणि।
भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥४१॥

इसपर समन्तभद्र आप्तमीमांसामें नागार्जुनकी तरह स्वरूपसिद्धि तो परापेक्ष न होनेका अपना भी मत प्रकट करते हैं। पर साथमें अनेकान्तदृष्टिसे अपेक्षा और अनपेक्षा दोनोंमें वस्तु-सिद्धि (वस्तुके व्यवहार और स्वरूपकी सिद्धि) की सुन्दर एवं सयुक्तिक व्यवस्था भी करते हैं। यथा—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ ७५ ॥

अपेक्षा-अनपेक्षाकी समस्या नागार्जुनके लिये माध्यमिकामें भी रहती है। यथा—

यदीन्धनमपेक्ष्याग्निरपेक्ष्याग्निं यदीन्धनम्।
कतरत् पूर्वनिष्पन्नं यदपेक्ष्याग्निरिन्धनम् ॥
यदीन्धनमपेक्ष्याग्निर्भवतीति प्रकल्प्यते।
एवं सतीन्धनञ्चापि भविष्यति निरग्निकम् ॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावस्तमेवापेक्ष्य सिध्यति।
यदि योऽपेक्षितव्यः स सिध्यतां कमपेक्ष्य कः ॥
योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्ष्यते कथम्।
अपेक्ष्येन्धनमग्नि न नानपेक्ष्याग्निमिन्धनम् ॥

—पृ० ७०, ७१

यहाँ पाठक देखेंगे कि नागार्जुन अपेक्षा और अनपेक्षा के एकान्तोंको पकड़कर जब उनके समन्वयका हल न निकाल सके तो शून्य तत्त्वको मान बैठे। पर समन्तभद्रने इसका हल निकाल लिया और लोकमें दिख रही अपेक्षा अनपेक्षामें सिद्धिको मानकर अनेकान्तदृष्टिसे उसका व्यवस्थापन किया। जैसा कि उपर्युक्त वाक्योंसे प्रकट है।

इस उपर्युक्त थोड़ेसे परीक्षणपरसे यह साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनके साहित्यका निकट समयवर्ती प्रभाव है। इस लिये दोनोंका अस्तित्व प्रायः एक कालीन है अथवा नागार्जुनके तुरन्त बाद समन्तभद्र हुए जान पड़ते हैं।

(७) और देखिये—

आचार्य उमास्वातिप्रभृति विद्वानोंने सतका या वस्तुका लक्षण 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' किया है[१] और बतलाया है कि संसारकी सभी चेतन-अचेतन वस्तुएँ उत्पा-

१ 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्'—तत्त्वार्थसूत्र ५-३०

दादित्रयात्मक हैं। इन उत्पादादिके एक जगह रहनेमे कोई विरोध भी नही है। नागार्जुन इस वस्तु-लक्षणकी मान्यता का जोरोंसे खण्डन करते हुए 'माध्यमिका' मे लिखते हैं:—

उत्पादाद्यास्त्रयो व्यस्ता नालं लक्षणकर्मणि।
संस्कृतस्य समस्ताः स्युरेकत्र कथमेकदा ॥ ४५ ॥

अर्थात्—उत्पादादि तीन अलग अलग सतके लक्षण हैं या मिलकर तीनों ही सत्का लक्षण हैं? अलग अलग तो वे सतके लक्षण नही हो सकते; क्योंकि इससे कोई व्यवस्था नही हो सकती। और यदि मिलकर तीनों सतका लक्षण हैं तो वे तीनो एक जगह कैसे रह सकते हैं? इसी बातको नागार्जुन माध्यमिकाकी एक दूसरी कारिकाके द्वारा भी स्पष्टतया प्रकट करते है:—

उत्पादस्थितिभङ्गानामन्यत् संस्कृतलक्षणम्।
अस्ति चेदनवस्थैवन्नास्ति चेत्ते न संस्कृताः ॥

नागार्जुनके इस प्रबल आक्षेपका सबल जवाब उमास्वातिके उत्तरवर्ती स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसाकी निम्न कारिकाके द्वारा दिया है और उसमें उमास्वातिके वस्तुलक्षणकी उत्पादादित्रयात्मकत्व मान्यताको सयुक्तिक पुष्ट किया है:—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥

इसमें बतलाया है कि सामान्यरूपसे सत्का न तो उत्पाद होता है और न विनाश, क्योंकि सतका पूर्वोत्तर पर्यायोमे स्पष्ट सद्भाव पाया जाता है; किन्तु विशेषरूपसे—पर्यायकी दृष्टिसे—सत् उत्पन्न होता है और विनष्ट भी होता है। अतः उत्पादादि तीनों मिलकर ही सत्का लक्षण हैं और वे एक साथ एक जगह रहते हैं—इसमें विरोधादि कोई भी दोष नहीं है।'

पाठक, देखेंगे कि नागार्जुनने उमास्वातिके जिस 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' [तत्वा० ५–३०] सिद्धान्तकी कड़ी आलोचना करके सतको जड़से ही उखाड़नेकी चेष्टा की थी और 'संस्कृतस्य समस्ताः स्युरेकत्र कथमेकदा' जैसे वाक्योंका प्रयोग किया था। उसका सवा सोलह आना उत्तर स्वामी समन्तभद्रने 'सहैकत्रोदयादिसत' कह कर दिया। यहाँ समन्तभद्रके 'सह' 'एकत्र' 'उदयादि सत्' ये तीन पद खास ध्यान देने योग्य हैं, जो नागार्जुनके 'कथ' एकत्र' 'एकदा' के जबाबमे कहे गये हैं। समन्तभद्र युक्तिके साथ प्रतिबन्धि उत्तर देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए वे दो दृष्टान्तोंद्वारा भी वस्तुके उत्पादादि त्रयात्मकत्वकी मान्यता को सिद्ध करते हैं:—

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनके तात्कालिक शब्दोंकी चोट पहुंची है और उनसे उन्हें जनताके विचलित होनेकी आशंका उत्पन्न हुई है। इसीसे वे इतनी सबलताके साथ उत्तर देनेमें प्रवृत्त एवं अग्रसर हुए जान पड़ते हैं। समन्तभद्रने नागार्जुनका इतना ही आलोचन नहीं किया किन्तु नागार्जुनने जिन मुद्दों—भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, अपेक्षा अनपेक्षा आदि—को आधार बनाकर शून्याद्वैतका साधन किया है प्रायः उन सभी मुद्दोंपर आप्तमीमांसामे सविस्तर विचार प्रकट करके स्याद्वादनीतिसे अनेकान्तात्मक प्रमेय वस्तुका व्यवस्थापन किया है। मैं इस सम्बन्धमें और अधिक विस्तारके साथ लिखना चाहता था और कितनी ही बातोंपर प्रकाश डालनेकी इच्छा थी पर पत्रोंका कलेवर इतना कम होगया है कि लम्बे लेखोंके लिये गुञ्जाइश नही रही। अस्तु।

इस अन्तःपरीक्षणपरसे प्रायः यह साफ है कि स्वामी समन्तभद्रके सामने नागार्जुनके विचारोंकी खूब चर्चा और आलोचना रही है। समन्तभद्रने नागार्जुनके जिन विचारो को अच्छा समझा उन्हे अपनाया और जिन्हें अयुक्त समझा उनका डटकर सयुक्तिक खण्डन भी किया है। और इसलिये समन्तभद्र नागार्जुनके या तो समकालीन थे अथवा कुछ ही समय बाद हुए जान पड़ते हैं। यह कुछ ही समय भी १०, २० वर्षसे अधिक प्रतीत नहीं होता नागार्जुनके समय ई० सन् १८१ मे यदि ये दस या बीस वर्ष और मिला दिये जायें तो समन्तभद्रका समय ई० सन् १९१ या २०१ के लगभग होता है। इस तरह समन्तभद्र का जो समय जैन मान्यतानुसार दूसरी, तीसरी शताब्दी माना जाता है वही ठीक ठहरता है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

सन्देश-दात्री

ले०—'पुष्पेन्दु', लखनऊ

महासेन—एक विजयी राजा।
केशव—राजकुमार
धनंजय—केशवका मित्र और यज्ञाचार्यका शिष्य।
कुन्तलकेशी—राजकन्या।

[एक दृश्य]

स्थान—राजमहलका एक भाग

[धनंजय बैठा हुआ किसी कार्यमें निमग्न है, केशवका प्रवेश]

केशव—धनंजय !

धनंजय—क्या है, राजकुमार !

केशव—अब नहीं सहा जाता। रहने दो अपने उपदेश, बहुत सुन चुका। धर्मके नामपर अत्याचारोंका ताण्डव देखते देखते हृदय पक चुका। आज अंतिम निर्णय होगा।

धनंजय—निर्णय ! कैसा निर्णय !! केशव ! तुम क्या कह रहे हो ? क्या उन्मत्त तो नहीं होगये ? कुछ अभिप्राय भी बताओगे, किस बातका निर्णय करना चाहते हो ?

केशव—तुम अनभिज्ञ नहीं हो। बच्चे बूढ़े सभी इस घोषणाको सुन चुके हैं।

धनंजय—(आश्चर्ययुत) किस घोषणाको केशव ? क्या कोई ....

केशव—कल महायज्ञ होगा।

धनंजय—तो कौनसा अनर्थ होगा ?

केशव—कौनसा अनर्थ होगा ! मुझीसे पूछते हो कौनसा अनर्थ होगा !! क्या महायज्ञकी आगमे विशालाश्व को भस्म करनेकी आयोजना नहीं हुई ?

धनंजय—महायज्ञकी पूर्तिके लिये ऐसा होना आवश्यक है; क्योंकि राज्यका सर्वश्रेष्ठ अश्व विशाला ही तो है।

केशव—परन्तु धनंजय ! तुम्हें यह भी मालूम होगा कि पिता जी उसको कितना प्यार करते हैं और मुझे भी स्वयं उससे कितना मोह है। क्या यज्ञकी धधकती हुई लपटोंपर उसका बलिदान देखकर मेरा हृदय तिलमिला न उठेगा ?

धनंजय—हृदयपर अधिकार करना होगा केशव ! इसी कायरता और मोहकी भावनापर विजय प्राप्त करनेका दूसरा नाम आत्माकी स्वतंत्रता है; क्योंकि हम जितने ही अंशमें अपनी प्रिय वस्तु को पवित्र यज्ञकी भेंट करते हैं, उतने ही अंश में हम आत्मविजयी होकर संसारके बंधनोंसे मुक्त होते हैं। आत्माकी त्याग-शक्तिकी परीक्षा महायज्ञ-द्वारा ही पूर्ण हो सकती है।

केशव—तब फिर महायज्ञकी आहुतिका प्रारम्भ अपने कुटुम्ब ही से क्यों न किया जाय ? क्यों न सगा भाई सगे भाईकी आहुति दे डाले ? और सगा भाई ही क्यों ? स्वयं अपनी ही भेंट देकर क्यों न मुक्ति पर अधिकार किया जाय ?

धनंजय—केशव ! तुम्हे आज क्या होगया है ? आज तक तो कभी भी ऐसी बहकी बहकी बातें न की थीं ? इस राजपरिवारमें अनेकों ही यज्ञ हो चुके और

महायज्ञकी आयोजना तो स्वयं तुम्हारे पिताजीने ही गुरुदेव (यज्ञाचार्यजी) के परामर्शसे की थी। उन्होंने ही अपने प्यारे घोड़े विशालाकी आहुति देना स्वीकार किया है।

केशव—क्या उन्हे मति-भ्रम नहीं हो सकता ?

(महासेनका प्रवेश)

महासेन—पुत्र ! विवाद क्यों करते हो। धनंजय जो कुछ कह रहा है वह ठीक है और ऐसा ही होगा।

केशव—पिताजी ! आप क्या कहते हैं; क्या विशालाका बलिदान होगा ?

महासेन—हाँ पुत्र ! प्रिय वस्तुका मोह त्याग करना ही मुक्तिका साधन है. और अब मैं वृद्ध भी हो चला, सम्भवत: यही मेरा अंतिम यज्ञ हो। इसी कारण जिस अश्वपर चढ़कर मैंने अनेकों राज्योंपर विजय प्राप्त की और जिसके कारण आज मैं विजयी महासेन कहलाता हूँ, उसीकी आहुति होगी। उससे बढ़कर मुझे और किस पदार्थका मोह हो सकता है ?

केशव—आप भूलते हैं, पिताजी ! एक वस्तु आपको उस से भी अधिक प्यारी है।

महासेन—कहो, केशव, कहो ना। मैं महायज्ञकी पूर्तिके लिए उसे भी दे डालूँगा।

केशव—वह मैं हूँ; आपका पुत्र केशव।

महासेन—आह ! क्या कहा ! तुम मेरे जीवन—,मेरी आत्मा ओह ! यह न हो सकेगा। जिन नेत्रोंने जिसे राज्यमहलके सुन्दर पलनेमें झूलते देखा, बसन्त कुसुमकी तरह फलते फूलते देखा; वे नेत्र उस का यह हृदय-विदारक दृश्य न देख सकेंगे।

केशव—क्यों न देख सकेंगे ? पिताजी !—जिन नेत्रोंने अनेकों माताओंके हृदयोंके टुकड़ोंका यज्ञकी अग्निमें तड़पना देखा और उन माताओंका बिलबिलाना, आँसू बहाना देखा, वे यह न देख सकेंगे ? जिन नेत्रोंके सामने हँसते खेलते हुए बच्चे चीखते चिल्लाते यज्ञकी अग्निमे भस्म होगये ! किन्तु करुणा या दयाका एक आँसू भी जिन नेत्रों में न आया, वे क्या अब भी इतने कठोर न हो सकें?

महासेन—भगवन् ! यह कैसी विडम्बना है ! रक्षा करो, रक्षा ··· ·

केशव—रक्षा नहीं, पिताजी, बलिदान ! मुक्ति पानेकी मोहमयी लालसामें, अपनी आत्माको सुखी बनानेकी स्वार्थमयी भावनामें, जिस कर्तव्यने अबतक लाखों प्राणी यज्ञकी धधकती हुई अग्निमें स्वाहा कर दिये, उसका यह स्नेह भरा हुआ रुदन कैसा ? करो न भेंट, पिताजी, मैं अपना जीवन देनेको प्रस्तुत हूँ। करलो अपनी आत्माका उद्धार, पुत्रकी भेंट देकर।

महासेन—बस करो, केशव ! नहीं सुना जाता। धनंजय ! मेरी आत्मा धधक रही है। शान्ति, मैं चाहता हूँ शान्ति।

(नेपथ्यमें कुंतलकेशीका गाना सुनकर)

यह कैसा संगीत सुनाई दे रहा है !

[कुंतलकेशी गाती हुई आती है]

जिसने जगके सब जीवोंको, निर्भय जीवनका दान दिया।
मिथ्या भ्रममें भटकी जनताको जिसने अनुपम ज्ञान दिया ॥
खुद जियो जगतको जीने दो, सुख शान्ति सुधा रस पीने दो।
जिसने जगको यह मंत्र दिया, फिर बंधनमुक्त स्वतंत्र किया ॥
उस जगतपूज्य परमेश्वरका सुनलो पावन उपदेश सखे !
हिंसामें धर्म नहीं रहता, है यही सुखद सन्देश सखे !
जगमें हैं जीव समान सभी, दुखसे रहते भयवान सभी,
सब ही को प्यारा है जीवन, इसकी रक्षाके हेतु यतन।
सब ही करते हैं बेचारे, सबको अपने बच्चे प्यारे।
तुम सबपर करुणा दिखलाओ, तुम विश्व-प्रेमको अपनाओ।
तुमने यह मानव तन पाया, तुमने सुन्दर जीवन पाया,
पर तुम्हें आतमका ज्ञान नहीं, अपनेपनकी पहिचान नहीं।
यदि निश्चल होकर संयमसे, आतमका ध्यान लगाओगे,
तो निश्चय ही धीरे धीरे भगवान स्वयं बन जाओगे।
करुणामयका उपदेश यही, है महावीर-सदेश यही ॥

महासेन—कौन ? कुन्तलकेशी ! तुमने यह गीत कहांसे सीखा ?

कुन्तल—क्यों, क्या यह सुन्दर नहीं लगता, पिताजी ?

महासेन—बहुत सुन्दर लगता है। इस गीतको सुननेसे ऐसा मालूम होता था जैसे कोई अमृत बरसा

रहा हो। कहाँसे सीखा, कुन्तल ?

कुन्तल—आज कैलाश बनमें वीर-शासन-जयन्ती मनाई जारही है, वहीं सुना था।

महासेन—वीर-शासन-जयन्ती ! वीर-शासन-जयन्ती किसे कहते हैं ?

कुन्तल—अरे आप नहीं जानते। आज श्रावण कृष्ण प्रतिपदा है न, आज हीके दिन तो जैनधर्मके चौवीसवें तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामीने संसारके सब प्राणियोंको सुखी बनानेके लिये अहिंसा धर्मका उपदेश दिया था।

महासेन—अभी जो सुन्दर गीत तुम गा रही थी क्या यह उन्हींका उपदेश है ?

कुन्तल—जी, हाँ।

महासेन—परन्तु आचार्यश्री तो कहते थे कि महावीर-स्वामीने भी मोहका त्याग करनेमें ही मुक्ति मानी है और मोहका त्याग ही तो हम महायज्ञ द्वारा भी करते हैं।

कुन्तल—आप जिसे मोहका त्याग कहते हैं, वह तो झूठे स्वार्थकी साधना है। जब हम दुख और कष्टसे डरते हैं तो हमें कौनसा अधिकार है कि हम दूसरोंको दुख दें। भगवान महावीरने कहा था कि आत्माकी स्वतन्त्रताके यज्ञमें अपने राग-द्वेष भावोंकी और अपने झूठे स्वार्थकी आहुति देना चाहिये वही सच्चा मोहका त्याग है, पर आपने अपने झूठे स्वार्थके यज्ञमें बेबस प्राणियोंकी आहुति दे डाली ! यह अर्थका अनर्थ नहीं तो क्या है ?

महासेन—परन्तु आचार्यश्रीने बतलाया था कि यज्ञमे जला हुआ जीव सीधा स्वर्ग जाता है—उसे कष्ट कैसा ? इस प्रकार हमारे द्वारा उसे भी मुक्ति मिल जाती है।

कुन्तल—हूंह ! बरबस विचारेपर मुक्ति लाद दी ! यदि ऐसा ही है तो सबसे पहले अपनी ही आहुति देना चाहिये। देर होनेमें सम्भव है अकाल मृत्युके कारण ऐसा अवसर न मिल सके !

महासेन—कुन्तल ! तुम ठीक कहती हो। मेरी भूल थी, मैं अन्धकारमें था। अब मैं अपनी भूल समझ रहा हूं। केशव ! आओ, चलें, हम भी वीर-शासन-जयन्तीमें सम्मिलित होकर उनका सुन्दर उपदेश सुनें।

धनंजय—महाराज ! अश्वपालकोंको क्या आज्ञा दी जाय !

महासेन—अब महायज्ञ नहीं होगा, वे जायें।

धनंजय—और ··

महासेन—और और कुछ नहीं, धनंजय जाओ—कुन्तल आओ ! हम सब सन्देश गान करते हुए चलें।

[सबका वीर-सदेशकी पुनरावृत्ति करते हुए प्रस्थान]

जैनसंस्कृतिके प्राण-जैनपर्व

(लेखक—पं० बलभद्र जैन)

मैं सोचता हूँ, अगर जीवनमेंसे पर्व या उत्सव अलग कर दिये जाँय, तो जीवनको क्या कोई हानि हो जायगी ? इस प्रश्नके उत्तरसे हम निश्चित रूपसे पर्वोंकी आवश्यकता या अनावश्यकताका अनुमान लगा सकेंगे।

एक बार पंडित जवाहरलाल नेहरूसे किसी व्यक्तिने कांग्रेसके उत्सवों, समारोहों और आयोजनोंके सम्बन्धमें पूछा कि इनमें देशके समय, धन और शक्तिका व्यर्थ ही अपव्यय होता है तो इन सबसे क्या लाभ है या इनका देशके लिये क्या उपयोग है ? पंडितजीने इसका उत्तर देते हुए कहा—कौंग्रेसके उत्सव और समारोह देश को कांग्रेस का सन्देश सुनाते हैं, वे देश को स्वतन्त्रताकी भावनाके रूपमें नवजीवन और स्फूर्ति प्रदान करते हैं, और उस भावनाका सार्वजनिक और सामूहिक प्रचार करते हैं। देशको ऐसे कुछ इने गिने ही उत्सवोंकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि गुलामीसे यदि हमें मुक्त होना

है तो प्रतिदिनको ही हमे कांग्रेसके उत्सवके रूपमे मनाना होगा। जो बात श्रीनेहरूजीने कॉंग्रेसके लिये कही थी, वही बात प्रत्येक संस्था, जाति और धर्मके लिये भी है। अगर किसी राष्ट्रकी भावना उसके उत्सवोंमें मिल सकती है तो किसी समाज और धर्मकी भावनाकी कसौटी भी उसके पर्व हो सकते हैं। इस प्रकार पर्व किसी भी संस्कृति और राष्ट्र की भावनाके प्रतीक हैं और वे ही उस संस्कृति और राष्ट्र की भावनाके मापदण्ड हैं। समय उन पर्वोंमें विकृति ला सकता है, लेकिन उसका मूल ध्येय और भावना निश्चित-रूपसे सुरक्षित रहती है। अगर जीवनमेंसे पर्व या उत्सवों का अस्तित्व अलग कर दिया जाय तो निश्चय ही हमारा जीवन शून्य सा निरर्थक और अधूरा रह जायगा। मनुष्य भावनाशील है, उसको पर्वोंसे ही भावनाका बल मिलता है वह विनोद और ताजगी चाहता है, वह भी उसे पर्वोंसे ही मिल सकती हैं, उसको जिस सांस्कृतिक और नैतिक आधारकी आवश्यकता रहती है, वह उसके पर्वोंसे ही पूरी होती है। वह एक सामाजिक प्राणी है और पर्व उसकी इस सामाजिकताकी पूर्ति करते हैं। इसलिये ही पर्व भिन्न २ देशोंमें भिन्न २ धर्म या संस्कृतिका अवलम्ब पाकर भिन्न २ रूप धारण कर लेते हैं। लेकिन उससे उस समाज की रुचि और उस संस्कृतिकी प्रवृत्तिका तो पता चल ही जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि पर्वोंके बिना न तो मनुष्य रह ही सकता है और न पर्व उसके जीवनसे अलग ही किये जा सकते है, बल्कि उनकी जीवनके लिये अनिवार्य आवश्यकता है।

जैनपर्वोंका दृष्टिकोण—

उपर्युक्त कथनसे इतना तो निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अगर किसी संस्कृतिकी परीक्षा करनी हो तो वह उसके पर्वोंसे हो सकती है। पर्वोंमे वह संस्कृति अपने पूरे रूपमें विद्यमान रहती है, अगर हम यह कहें तो सभवत: किसी भी संस्कृतिके प्रति अन्याय न होगा। जैसे-हिन्दू-समाजके त्योहार अगर वैदिक-सस्कृतिकी देन है तो इससे इन्कार नहीं किया जासकता कि वे समय और राष्ट्रकी स्थितिको देख कर बनाये गये थे। कृषि-प्रधान भारतमे वैदिक आर्योंने ऐसे अनेक त्योहारोंका प्रचलन प्रारम्भ किया जो किसानों और ऋतुओंसे ही सम्बन्ध रखने वाले थे। जैसे गाय, पीपल और तुलसीको धार्मिक दृष्टिसे वैदिक सस्कृतिने पूज्य करार दिया, उसी प्रकार कृषको सम्बन्धी पर्वोंको भी धार्मिक रूप दिया। इस प्रकारके पर्वोंके अतिरिक्त शेष जो धार्मिक पर्व है, वे भी सब वैदिक संस्कृतिकी देन नहीं है। सच बात तो यह है कि बाहरसे आने वाले आर्योंने इस देशमे प्रचलित जिन २ पर्वोंको महत्वपूर्ण और जनतामे अधिक प्रचलित देखा, उन २ पर्वोंको उन्होने अपनाना शुरू कर दिया और धीरे २ उन्हे अपने ही साँचेमे ढाल लिया, जैसे अक्षयतृतीया, अनन्तचतुर्दशी, सलूनो आदि। वास्तवमे वैदिक सस्कृति समन्वय प्रधान रही है, उसने अनेक भगिनी सस्कृतियोंसे बहुत कुछ लिया है। लेकिन जो उसके निजी पर्व हैं, उनको देखते हुए तो यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृतिका ध्येय केवल मनुष्यका आध्यात्मिक विकास या नैतिक उन्नति नही रहा है, बल्कि प्रचार और स्थान पाना रहा है। इसी लिये उसके सामने जो कुछ भी आया भला या बुरा, सभीको अपनेमे पचाती गई। यही सबब है कि वैदिक संस्कृतिकी विभिन्न धाराओंमें न तो कोई एकरूपता ही है, न लक्ष्य के विषयमे ही समानता है। वह एक नदीकी तरह है, जिसमें मोती और सीप, कीचड और जल सभी कुछ है, लेकिन अपने बहावके कारण वह नदी है। यही कारण है, जिससे हम उसके पर्वोंसे यह निष्कर्ष निकालनेमें असमर्थ हैं कि उसके सभी पर्वोंका ध्येय मनुष्यके नैतिक धरातलको ऊँचा उठाना है।

लेकिन जब जैन संस्कृति और उसके पर्वोंकी हम समीक्षा करने बैठते हैं तो हमें मिलता है कि उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है। जैन संस्कृतिका मूल उसका रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है, जिनका उद्देश्य मनुष्यका चरम आध्यात्मिक विकास करना है। जैनसंस्कृतिके सभी अंग—साहित्य हो या पर्व, कला हो या क्रियाकाण्ड—सभी इस रत्नत्रयके ध्येयको लेकर चले और विकसित हुए हैं। जो रत्नत्रयके विरुद्ध पाया गया है, उसका जैनसंस्कृतिने बहिष्कार कर दिया। जैन पर्वोंका दृष्टिकोण-रत्नत्रयका आराधन और उसकी साधना एवं प्राप्ति ही है अथवा उन महापुरुषोंका स्मरण करना है, जिन्होंने इस रत्नत्रयकी

सम्पूर्ण-साधना-द्वारा अपना चरम आध्यात्मिक विकास कर लिया है; या इसके द्वारा अपना नैतिक धरातल ऊँचा उठाकर आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया। अथवा जिन्होंने धर्म, धर्मायतन या धार्मिकोंका संरक्षण किया या उन्हें अपना उदार सहयोग प्रदान किया। कुछ भी हो, यह सब भी रत्नत्रयमें गर्भित हो सकता है और इस प्रकार हम निःसंकोच कह सकते हैं कि जैन पर्वोंका उद्देश्य रत्नत्रय की साधना है; इनकी चरितार्थता और उपयोगिता भी यही है। जैसे—श्रुतपंचमी, वीरशासन-जयन्ती आदि सम्यग्ज्ञान के आराधनके लिये हैं। दशलक्षण पर्व, अष्टान्हिका, सोलहकारणव्रत, रविव्रत आदि अनेकों व्रत सम्यक्चारित्र की साधनाके लिये हैं। महावीर-जयन्ती, अक्षयतृतीया, रक्षाबन्धन पर्व, दिवाली, ऋषभजयन्ती आदि उन महानुभावोंके स्मरणके लिये हैं, जिन्होंने रत्नत्रयकी साधना की या जिन्होंने धर्म और धार्मिकोंकी रक्षा की।

इस तरह हम देखते हैं कि जैन पर्वोंका एक निश्चित दृष्टिकोण है और उसी दृष्टिकोणको लेकर वे न तो केवल जैन संस्कृतिके अनुयायियोंको ही वरन् सम्पूर्ण भारतीयोंको नवजीवन, स्फूर्ति और आध्यात्मिक प्रेरणा देते आरहे हैं। अगर जैनेतर संस्कृतियोंने उसके पर्वोंको अपनाया है तो इसमें जैन संस्कृतिका विशेष महत्व ही प्रगट हुआ है और इससे उसको प्रसन्नता ही है। लेकिन इतना खेद भी अवश्य है कि जैनेतर संस्कृतियोंने उसके पर्वोंको अपनाकर अपने साँचेमें ढाल तो लिया, लेकिन उन पर्वोंके पवित्र ध्येयको भुला दिया, जिससे वे सर्वसाधारणको अपने उच्च ध्येयसे प्रेरित न कर सके, बल्कि केवल मनोरंजन और विनोदके साधन बन गये। जैसे दिवाली आज मिठाइयों और रोशनीका त्योहार रह गया है। उसका ध्येय भ० महावीरके निर्वाणके उपलक्ष्यमें उनके पवित्र जीवनका स्मरण या गौतम गणधरकी ज्ञानप्राप्तिके उपलक्ष्यमें सम्यग्ज्ञानका अर्जन था, वह भुला दिया। निश्चय ही यह खेदजनक स्थिति सतत-प्रचारसे दूर की जा सकती है। लेकिन इस ओर कभी प्रयत्न ही नहीं किया गया, न प्रचार ही हुआ और न साहित्य-वितरण ही। अस्तु। पड़ौसी संस्कृतियाँ आपसमें एक दूसरेसे बहुत कुछ लेती देती हैं और जैनसंस्कृतिको गर्व है कि उसने अपनी बहिन संस्कृतियोंको जो दिया है, वह बहुत महत्वपूर्ण है और जो उससे कहीं अधिक मूल्यवान है, जो उसने दूसरी संस्कृतियोंसे लिया।

नोट—इसके अनन्तर लेखमें महावीर-जयन्ती, अक्षयतृतीया श्रुतपंचमी, वीर-शासन-जयन्ती, रक्षाबन्धन, पर्यूषण, क्षमावणी और दीपावली जैसे पर्वोंका कुछ परिचय दिया गया है और अष्टान्हिका जैसे कुछ पर्वोंकी नाममात्र सूचना भी की गई है। लेखका यह अंश स्थानाभावके कारण नहीं दिया जा सका।

सम्पादक

शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० (अमरावती) ने हालमें 'शिवभूति और शिवार्य' नामका एक लेख* प्रकाशित किया है और उसमें यह सिद्ध करनेका यत्न किया है कि आवश्यक मूलभाष्य और श्वे० स्थविरावली में बोटिक संघ (दिगम्बर जैन सम्प्रदाय) के संस्थापक जिन 'शिवभूति' का उल्लेख है वे कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत भावपाहुडकी ५३ वीं गाथामें उल्लिखित 'शिवभूति',

* यह लेख पहले अंग्रेजीमें नागपुर यूनिवर्सिटीके जर्नल नं० ६ में प्रकाशित हुआ था और अब एक ट्रैक्टरूपसे हिन्दीमें प्रकट हुआ है।

भगवती आराधनाके कर्ता 'शिवार्य' और उक्त भावपाहुड की ५१ वीं गाथामें वर्णित 'शिवकुमार' से भिन्न नहीं हैं—चारों एक ही व्यक्ति हैं अथवा होने चाहियें। और इस एकताको मानकर अथवा इसके आधारपर ही आप 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामका वह लेख लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं जिसे आपने अखिल भारतवर्षीय प्राच्य-सम्मेलनके १२ वें अधिवेशन बनारसमें अंग्रेजी भाषामें पढ़ा था, जो बादको हिन्दीमें अनुवादित करके प्रकाशित किया गया और जो आजकल जैन समाजमें चर्चाका विषय बना हुआ है। इस विषयमें प्रोफेसर साहबके दोनों लेखोंके निम्न वाक्य ध्यानमें रखने योग्य हैं—

"आवश्यक मूलभाष्यकी बहुधा उल्लिखित की जाने वाली कुछ गाथाओंके अनुसार वोटिक संघकी स्थापना महावीरके निर्वाणसे ६०९ वर्षके पश्चात रहवीरपुरमें शिवभूतिके नायकत्वमें हुई, वोटिकोंको बहुधा दिगम्बरोंसे अभिन्न माना जाता है, अतः श्वेताम्बर पट्टावलियोंमें वीरनिर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिका उल्लेख किया गया है।"

"श्वेताम्बरोंद्वारा सुरक्षित आचार्योंकी पट्टावलियोंमें कल्पसूत्र-स्थविरावली सबसे प्राचीन समझी जाती है। इसमें हमें फग्गुमित्तके उत्तराधिकारी धनगिरिके पश्चात् शिवभूतिका उल्लेख मिलता है। ये ही शिवभूति मूल भाष्यमें उल्लिखित शिवभूतिसे अभिन्न प्रतीत होते हैं।"

"कुन्दकुन्दाचार्यने अपने भावपाहुडकी गाथा ५३ में शिवभूतिका उल्लेख बड़े सम्मानसे किया है और कहा है कि वे महानुभाव तुष-माषकी घोषणा करते हुए भावविशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए। प्रसंगपर ध्यान देनेसे यहाँ ऐसे ही मुनिसे तात्पर्य प्रतीत होता है जो द्रव्यलिंगी न होकर केवल भावलिंगी मुनि थे। ये शिवभूति अन्य कोई नहीं वे ही स्थविरावलीके शिवभूति और आराधनाके कर्ता शिवार्य ही होना चाहिये।"

"भावपाहुडकी गाथा ५१ में शिवकुमार नामक भाव-श्रमणका उल्लेख है जो युवतिजनसे वेष्टित होते हुए भी विशुद्धमति रहकर संसारसे पार उतर गये। इसका जब हम भगवती आराधनाकी ११०८ से १११६ तककी गाथाओंसे मिलान करते हैं जहाँ स्त्रियों और भोगविलासमें रहकर भी उनके विषसे बच निकलनेका सुन्दर उपदेश दिया गया है तो हमें यह भी सन्देह होने लगता है कि यहाँ भी कुन्दकुन्दका अभिप्राय इन्हीं शिवार्यसे हो तो आश्चर्य नहीं। उनके उपदेशका उपचारसे उनमें सद्भाव मान लेना असम्भव नहीं है।" (प्रथम लेख)

"मैंने अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेखमें मूलभाष्यमें उल्लिखित वोटिक संघके संस्थापक शिवभूतिको एक ओर कल्पसूत्र-स्थविरावलीके आर्य शिवभूति और दूसरी ओर दिगम्बर ग्रन्थ आराधनाके कर्ता शिवार्यसे अभिन्न सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है जिससे उक्त तीनों नामोंका एक ही व्यक्तिसे अभिप्राय पाया जाता है जो महावीरके निर्वाणसे ६०९ वर्ष पश्चात प्रसिद्धिमें आये। मूल भाष्यकी जिन गाथाओंपरसे मैंने अपना अन्वेषण प्रारम्भ किया था उनमेंकी एक गाथामें शिवभूतिकी परंपरा में 'कोडिन्नकुट्टवीर' का उल्लेख आया है, अतः प्रस्तुत लेखका विषय शिवभूति अपर नाम शिवार्यके उत्तराधिकारियोंकी खोज करना है।" (द्वितीय लेख)

अब मैं अपने पाठकोंपर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि प्रो० साहबने जिन दो शिवभूतियों, शिवार्य और शिवकुमारको एक व्यक्ति सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वह बहुत ही सदोष तथा आपत्तिके योग्य है। ये चारों एक व्यक्ति नहीं थे और न किसी तरहपर एक व्यक्ति सिद्ध हो होते हैं, जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे प्रकट है:—

(१) भावपाहुडकी ५३ वी गाथामें जिन 'शिवभूति' का उल्लेख है वे केवलज्ञानी थे, जैसा कि उस गाथाके 'केवलणाणी फुडं जाओ' इन शब्दोंपरसे स्पष्ट है। स्थविरावलीके शिवभूति और भगवती आराधनाके 'शिवार्य' दोनों ही केवलज्ञानी न होकर छद्मस्थ थे—जम्बूस्वामीके बाद कोई केवलज्ञानी हुआ भी नहीं। भ० आराधनाके कर्ता शिवार्य स्वयं गाथा नं० २१६७ में अपनेको छद्मस्थ लिखते हैं और प्रवचनके विरुद्ध यदि कुछ निबद्ध होगया हो तो गीतार्थोंसे उसके संशोधनकी प्रार्थना भी करते हैं। यथा:—

छदुमत्थदाए एत्थ दु जं बद्धं पवयणविरुद्धं।
सोधेंतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए॥

अतः ये तीनों एक व्यक्ति नहीं हो सकते।

(२) केवलज्ञानीको सर्वज्ञ न मानकर मात्र निर्मलज्ञानी माननेसे भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि भावपाहुडकी उक्तगाथा ५३ में 'तुसमास घोसंतो' पदोंकेद्वारा शिवभूतिको

'बीजबुद्धि' सूचित किया है और जो बीजबुद्धि होते हैं वे एक पदके आधारपर सकलश्रुतका विचारकर उसे ग्रहण करते हैं* तथा मोक्ष जाते हैं। चुनाँचे आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें, वेदना अपर नाम कम्मपयडि पाहुडके चौथे कम्म' अनुयोगद्वारका वर्णन करते हुए, ध्यान-विषयक जो शंका-समाधान दिया है उसमें स्पष्ट रूपसे शिवभूतिको बीजबुद्धि ध्यानका पात्र और मोक्षगामी सूचित किया है; जैसाकि उसके निम्न अंशसे प्रकट है .—

'जदि णवपयत्थविसयणाणेणेव झाणस्स ससवो होइ, तो चोद्दस-दस-णवपुव्वधरे मोत्तूण अण्णेसिं पि झाणं किएण संपज्जदे ? चोद्दस-दस-णव-पुव्वेहि विणा थोवेण वि गंथेण णवपयत्था-वगमो-वलंभादो। ण थोवेण गंथेण णिस्सेसमवगंतु बीजबुद्धिमुणिणो मोत्तूण अण्णेसिमुवाया-भावादो। जीवाजीवपुण्णपावआसवसंवरणिज्जराबंध-मोक्खेहि णवहि पयत्थेहि वदिरित्तमण्ण ण किं पि अत्थि अणुवलंभादो। तम्हा ण थोवेण सुदेण एदे अवगंतुं सक्किज्जंते विरोहादो। ण च दव्वसुदेण एत्थ अहियारो, पोग्गलवियारस्स जलस्स मायोवलिगभूदस्स सुदत्तविरोहादो। थोवदव्वसुदेण अवगमासेसणवपयत्थाणं सिवभूदि-आदिबीजबुद्धीणं झाणाभावेण मोक्खाभावप्पसंगादो।

—धवला, खतौली प्रति पृ० ६२६

जब ये शिवभूति मोक्ष गये हैं और मोक्ष जाना विना केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की उत्पत्तिके नहीं बनता, तब वे मात्र निर्मलज्ञानी न कहे जाकर सर्वज्ञ ही कहे जायेंगे और यही भावपाहुडकी उक्त गाथा ५३ में 'केवलणाणी' पदसे श्री कुन्दकुन्दाचार्यको विवक्षित है। और इसलिये स्थविरावलीके शिवभूति तथा आराधनाके शिवार्यके साथ इनका एक व्यक्तित्व घटित नहीं हो सकता। वे दोनों न तो बीजबुद्धि थे और न मोक्ष ही गये हैं।

(३) भावपाहुडकी ५१ वीं गाथामें जिन शिवकुमारका उल्लेख है उन्हें इसी गाथामें युवतिजनसे वेष्टित, विशुद्धमति और धीर भावश्रमण लिखा है—द्रव्यश्रमण नहीं तथा 'परीतसंसारी' हुआ बतलाया है, और यह उन शिवकुमारका प्रसिद्ध पौराणिक अथवा ऐतिहासिक उल्लेख है जो अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामीके पूर्व (तीसरे) भवके विदेहक्षेत्रस्थित महापद्म चक्रवर्तीके पुत्र थे सागरचन्द्र मुनीन्द्रसे अपने पूर्वभव श्रवण कर विरक्त होगये थे और मुनि होते होते पिताके तीव्र अनुरोधवश घरमें इस आश्वासनको पाकर रहे थे कि वे घरमें रहते यथेप्सित रूपसे उग्रतप तथा व्रतादिकका अनुष्ठान कर सकेंगे। चुनाँचे मुनि वेषको न धारण करते हुए भी वे घरमें भावोंपेक्षा मुनिके समान रहते थे, अपनी अनेक स्त्रियोंसे घिरे रह कर भी कमलपत्रकी तरह निर्लिप्त, निर्विकार और अकामी रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे, जैसा कि जम्बू स्वामीचरित्र और उत्तरपुराणके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"एवमस्तु करिष्येऽहं यथा तात ! मनीषितम् ।।१५६।।
कुमारस्तद्दिनान्नूनं सर्वसंगपराङ्मुखः ।
ब्रह्मचार्यैकवस्त्रोऽपि मुनिवृत्तिरभूद् गृहे ।।१६०।।
अकामी कामिनां मध्ये स्थितो वारिजपत्रवत् ।" ज.च.

"दिव्यस्त्री-सन्निधौ स्थित्वा सदाऽविकृतचेतसा ।
तृणाय मन्यमानस्सा तपो द्वादशवत्सरान् ।।२०७।।
चरन्निव निशातासिधारायां संप्रवर्तयन् ।
संन्यस्य जीवितप्रान्ते कल्पे ब्रह्मेन्द्रनामनि ।।" उ०पु०

अत इन शिवकुमारको आराधनाके कर्ता शिवार्य मान लेना भूलसे खाली नहीं है। और यह कल्पना तो बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है कि शिवार्यने चूँकि स्त्रीजनो और विषयोंके विषसे बच निकलनेका उपदेश दिया है इसलिये श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने उपचारसे उन्हींको युवतिजनोंसे वेष्टित विशुद्धमति मान लिया होगा और शिवकुमार नामसे उल्लेखित कर दिया होगा ! परन्तु गाथामें शिवकुमारको द्रव्यरूपसे श्रमण न बतलाकर केवल भावरूपसे श्रमण बतलाया है और आराधनाके कर्ता शिवार्य द्रव्यरूपसे भी श्रमण थे, साथ ही, युवतिजनोंसे परिवेष्टित रहनेका उनके साथ कोई प्रसग भी नहीं था। ऐसी हालतमें शिवकुमारको शिवार्य नहीं ठहराया जा सकता और न उक्त दोनों शिवभूतियोंके साथ उसका एक व्यक्तित्व ही स्थापित किया जा सकता है। स्थविरावलीके शिवभूतिकी गुरुपरम्परा भी शिवार्यकी गुरुपरम्परासे नहीं मिलती—शिवार्यने आराधनामें अपने गुरुओंका नाम आर्य जिननन्दी, सर्वगुप्तगणी और आर्य मित्रनन्दी दिया है जब कि स्थविरावलीमें शिवभूतिको धनगिरि

* देखो, तिलोयपण्णत्ती ४—९७९—७६

का शिष्य और धनगिरिको फग्गुमित्तका उत्तराधिकारी प्रकट किया है। ऐसी स्थितिमें कुन्दकुन्दाचार्यको भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्यसे बादका विद्वान सिद्ध करने का यह सब प्रयत्न ठीक नहीं कहा जा सकता।

इस तरह प्रो० सा० ने जिन आधारोंपर जो निष्कर्ष निकाले हैं वे सदोष जान पड़ते हैं, और इस लिये उन निष्कर्षोंकी बुनियाद पर जैन इतिहासके एक विलुप्त अध्यायकी इमारत खड़ी करते हुए शिवार्यके उत्तराधिकारियोंकी जो खोज प्रस्तुत की गई है वह कैसे निर्दोष हो सकती है ? इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। यही कारण है कि आपकी उस सदोष खोज का प्रबल विरोध हो रहा है, जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?' इस शीर्षक का लेख* है, जिसमें आपकी इस मान्यताका प्रबल युक्तियोंसे खण्डन किया गया है कि श्वे० निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसादिके कर्ता स्वामी समन्तभद्र एक हैं।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

* यह लेख वीरसेवामन्दिरके विद्वान न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाने लिखा है और अनेकान्तके गत छठे वर्षकी संयुक्त किरण १०-११ में प्रकट हुआ है।

सम्पादकीय

१ नव वर्षारम्भ—

इस किरणके साथ अनेकान्तका सातवाँ वर्ष आरम्भ होरहा है। गत वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी जो सेवा की और जैसे कुछ महत्वके लेखोंद्वारा अनेक विषयोंपर नवीन प्रकाश डाला और अनेक गुत्थियोंको सुलझानेका यत्न किया उसे यहाँपर बतलाने की जरूरत नहीं—वह सब पाठकोंपर प्रकट है। यहाँपर मैं अपने मान्य लेखकों को धन्यवाद देनेके साथ उन सभी सज्जनोंका भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने अनेकान्तकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर उसे सहायता भेजी तथा भिजवाई है और अपनी ओर से दूसरों को अनेकान्त फ्री भिजवाया है। आशा है वे सब सज्जन इस वर्ष भी अनेकान्तपर अपनी कृपा दृष्टि बनाये रक्खेंगे।

पिछले वर्ष कागज की बड़ी कठिन समस्या रही और उसके कारण पिछली कुछ किरणों को देरसे भी निकालना पड़ा फिर भी मैटर तथा पृष्ठोंमें कमी नहीं होने दी गई टाइटलपेजोंके अलावा ३२ पृष्ठ प्रति किरण का जो सङ्कल्प किया गया था उसके अनुसार पूरे ३८४ पृष्ठ पढ़ने को दिये गये हैं, विज्ञप्ति अक इससे अलग रहा कागज की इस समस्या को हल करनेमें ला० जुगलकिशोर जी कागजी मालिक फर्म धूमीमल धर्मदास देहली ने बड़ी मदद की है और परिश्रम करके ३० रिमके करीब कागज कंटरोल पर दिलाया है, इसके लिये आपको जितना धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। प्रतिवर्षकी भांति बारहवीं किरणमें वर्ष भरकी विषय-सूची देनेका विचार था परन्तु सरकारी आर्डिनैंसके कारण पृष्ठ संख्या कम होजानेके कारण अधिक पृष्ठोंकी तरह उसे नहीं दिया जा सका आगामी किसी किरणके साथ देनेका विचार है। अधिक पृष्ठोंके दिये जानेके लिये प्रयत्न हो रहा है, वे भी आज्ञा प्राप्त होते ही जिसकी बहुत कुछ आशा है पृष्ठ बढा दिये जावेंगे और इस किरणमें जो पृष्ठ कम जारहे हैं उसकी कमीको भी पूरा कर दिया जावेगा। यदि ऐसा न होसका तो अनेकान्त का वार्षिक चन्दा कम कर दिया जाएगा और जो चन्दा अधिक आया हुआ होगा वह ग्राहकों की इच्छानुसार या तो अगले वर्षमें जमा कर लिया जायगा, या वापिस कर दिया जायगा अथवा उसके उपलक्षमें वीर सेवामन्दिरके जो अभी नये प्रकाशन हुए हैं वे उन्हे दिये जा सकेंगे।

२ अनेकान्तका विशेषाङ्क—

वीरशासनाङ्क नामसे जो बड़ा विशेषाङ्क निकलने वाला था और जिसके लिये ४० से अधिक विद्वानोंके लेख आये हुए हैं वह विशेषाङ्क और कागजके इस्तेमाल तथा पृष्ठसंख्या नियमक दो आर्डिनेंसोंके कारण रुका हुआ है। कोशिश होरही है, यदि न्यूज प्रिंट पेपरका ही कोटा मिल गया तो उसीपर उसको निकाल दिया जायगा। इस विषयमें ठीक सूचना बादको दी जा सकेगी। पाठकों और ग्राहकोंको जो प्रतिक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है वह मजबूरीके कारण क्षमाके योग्य है।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत वर्षकी संयुक्तकिरण नं० १०-११में प्रकाशित सहायताके बाद वीर सेवामन्दिर सरसावाको, अनेकान्त सहायता और सदस्य फीसके अलावा जो दूसरी फुटकर सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है, और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं:—

१०५) बा० छोटेलाल जी जैन रईस कलकत्ता (सफरखर्च की सहायतार्थ)

२०) ला० गेंदीलाल चिरंजीलाल जी सेंथलवाले जयपुर (चि० प्रभुदयालके विवाहके उपलक्षमें)

५) ला० सागरमल विलायतराम जी जैन खुर्जा जि० बुलन्दशहर, (ला० विलायतरामके स्वर्गवासके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)

१५१) श्री दि० जैन शास्त्रसभा, नया मन्दिर धर्मपुरा, देहली

२८१)

नोट—इनके अलावा १००० एक हजार रु० बा० नन्दलालजी जैन कलकत्तानें अपनी स्वर्गीया पुत्री नागबाई खेमका की स्मृतिमें ग्रन्थ प्रकाशनार्थ प्रदान किये हैं, जोआनेवाले हैं और जिनके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

गत संयुक्त किरण १० ११ (मई-जून) में प्रकाशित सहायताके बाद 'अनेकान्त' को जो सहायता उसके हेडआफिस सरसावामें प्राप्त हुई है वह क्रमश निम्न प्रकार है, और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं।

५) जिनेन्द्रचन्द्रजी जैन यहियागंज लखनऊ (निर्दिष्ट संस्थाओंको फ्री भिजवानेके लिये पहले भेजी हुई २०) रु०सहायताके अलावा)

५) ला० सर्वसुखजी राजमलजी कोटानिवासी (श्री टीकमचन्दके विवाहकी खुशीमें)

१) ला० मुकटबिहारीलाल जैन मुरादाबाद (शादीके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे)

५०) साहू श्रेयांसप्रसादजी, बम्बई (स्वीकृत सहायताके मध्ये बाकी रहे हुए)

५०) बा लालचन्दजी जैन एडवोकेट रोहतक (स्वीकृत-सहायताके मध्ये बाकी रहे हुए)

१११)

अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

वीरसेवा-मन्दिरके नये प्रकाशन

१ अनित्य-भावना—श्रीपद्मनन्दि आचार्य विरचित अनित्य पंचाशत, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर कृत हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ-सहित, अतीव शिक्षाप्रद ०)

२ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावना सहित।

३ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदय ग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उन के बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २० महान आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगलकामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाँच प्रकरण हैं। पुस्तक पढते समय बडे ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्यपाठ करने योग्य है मू० ॥।)

४ अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्री का सुन्दर अनुवाद विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्री जुगलकिशोर की महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बडा ही उपयोगी ग्रन्थ है। (१५ दिनमें प्रकट होगा मू० ॥।)

प्रकाशन विभाग

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

Registered No. A-731

वीर-शासन-महोत्सव

(२५०० वर्षकी समाप्तिके उपलक्षमें)

ता० ३१ अक्टोबरसे ४ नवम्बर १९४४ को कलकत्तामें मनाया जायगा।

भगवान महावीरका जीवन संसारके उन इने गिने जीवन-रत्नोंमेंसे है जिनकी दमकती हुई प्रकाश रेखाने भूले-भटके विश्वको सुपथपर लगाया था।

वीर देशनाके पूर्व संसारकी अवस्था नितान्त पतित हो गई थी। मानवोंका विवेक अपनी मानवता भूल प्रायः गुलाम हो चुका था। पुरोहितोंकी मनमानी आज्ञा पालन करना ही उनका धर्म हो गया था। उस समय धर्मकी वेदीपर दयाको तिलांजलि दे जितने प्राणियोंका बलिदान किया गया था उतना शायद विश्वके इतिहासमें कभी भी न हुआ होगा। बलिवेदियों पर चढ़े निरीह प्राणियोंके छिन्न-भिन्न रुण्ड-मुण्डोंके संग्रहसे हिमालय जैसी गगनचुम्बी चोटियां चिनी जा सकती थीं और रक्त-प्रवाहसे गंगा-यमुना-सी नदियां बहाई जा सकती थीं। ऐसे ही विश्वके उस बेबसी और बेकसीके दिनोंमें वीर भगवानने मिथ्यात्व और उस क्रूर हिंसासे बचनेके लिये विश्वके सर्व प्राणियोंके हितका वह सन्देश सुनाया जिसने अनाचारको दूर कर सर्वोदयतीर्थकी धारा प्रवाहित की।

उसी पुण्यमयी श्रीवीरशासन-जयन्तीके २५०० वर्ष अब पूर्ण हुए हैं अतएव आगामी कार्तिक पूर्णिमासे मार्गशीर्ष कृष्णा ४ तक कलकत्तेमें वह लोकहितकर वीर शासन-महोत्सव मनाया जायगा।

इस महोत्सव पर देशके विभिन्न प्रान्तोंसे अनेक विद्वान, श्रीमान और त्यागीजन पधारेंगे। यहांके जैनेतर प्रसिद्ध विद्वान और गण्यमान महानुभावोंको भी निमंत्रित किया गया है।

इस धर्मवर्द्धक महोत्सवकी महानता और अपूर्वता पर ध्यान देते हुए हमारा कर्तव्य है कि जैन धर्मकी यथार्थ प्रभावना करनेमें हम कोई प्रयत्न उठा न रखें।

विक्रम संवतके मात्र २००० वर्षोंकी समाप्तिके उपलक्षमें "द्विसहस्राब्दी उत्सव" लाखों रुपया व्यय कर जितने धूमधामसे मनाया गया है, तो फिर क्या जैनोंका यह कर्तव्य नहीं कि वे भी वीर प्रभुके प्रति कृतज्ञता और आंतरिक श्रद्धा-सहित संसारके समक्ष पुनः वीर प्रभुका सन्देश सर्वव्यापक करनेके लिये विक्रम उत्सवसे भी महान आयोजन करें। सभी जैनबन्धुसे निवेदन है कि वे श्रीवीरशासन-महोत्सव-स्वागतसमितिके सदस्य बनें और महोत्सवको तन मन, धनसे सफल बनायें। इस संबन्धमें विशेष जानकारीके लिये निम्नलिखित पतेपर पत्रव्यवहार करें और सभासद फार्म भर कर भेजें।

याद रक्खें आपने जीवनकालमें यह उस पवित्र दिवसके २५०० वर्षकी पूर्णताका शुभ अवसर प्राप्त हुआ है जिस दिवस भगवान वीर प्रभुने संसारके मोहान्धकार तथा पापाचारोंका नाश कर संसार में शान्ति स्थापन कर जैन धर्मको पुनः दृढ़ बनाया था। अतएव जैनी होनेके नाते अपना कर्तव्य पालन करना न भूलें।

समाचारपत्रोंमें पढ़ा होगा कि अमेरिकाके क्रिस्टान पादरी भारतमें अपने धर्मप्रचारके लिये ७ लाख पुस्तकालय स्थापित करनेका आयोजन कर रहे हैं, तो क्या हम अपने इतने प्राचीन और लोकहितकर पवित्र धर्मसे संसारको वंचित रखें?

छोटेलाल जैन   विनीत— बलदेवदास सरावगी
मंत्री—वीरशासन-महोत्सव   निर्मलकुमार जैन (आरा)
स्वागत समिति   शांतिप्रसाद जैन (डा० नगर)
८२, लोअर चितपुर रोड,   गजराज गंगवाल
कलकत्ता   मोहनलाल लमेचू

To

If no delivered please return to

VEER SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

का

'न्यायदीपिका' के प्रिय पाठकोंके लिये यह जानकर हर्ष होगा कि वीरसेवामन्दिरके अन्यतम विद्वान् पं० दरबारीलालजी कोठिया, जैनदर्शन शास्त्री न्यायतीर्थ, न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका नया विशिष्ट संस्करण छप कर प्रायः तैयार हो गया है। प्रस्तावना और कुछ परिशिष्ट मात्र बाकी है। यह संस्करण अपनी खास विशेषतायें रखता है। अब तक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियाँ चली आ रही थी उनका प्राचीन प्रतियों पर संशोधन होकर प्राक्कथन, सम्पादकीय प्रस्तावना, विषय-सूची, मूल न्यायदीपिका न्यायदीपिकाका हिन्दी अनुवाद और कोई ६ परिशिष्टोंसे संकलित है। प्रस्तावनामें न्यायदीपिका और अभिनव धर्मभूषण यतिका विस्तृत परिचयके साथ न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रंथकारोंका तथा न्यायदीपिकागत प्रमेयका संक्षिप्त परिचय कराया गया है। इस संस्करणकी सबसे बड़ी विशेषता एक यह है कि सम्पादकका स्वनिर्मित संस्कृत भाषामें ग्रंथगत कठिन शब्दों और विषयोंका खुलासा करने वाला 'प्रकाशाख्य' टिप्पण भी लगा हुआ है जो कई दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण और विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके कामकी चीज़ है। लगभग ३०० पृष्ठोंमें यह पुस्तक समाप्त हुई है। कीमत लागतमात्र तीन रुपया रक्खा गया है।

प्रकाशन-विभाग.

कलकत्तामें मेरे ४९ दिन

वीरशासन-जयन्ती महोत्सवके जन्मदाता आदरणीय मुख्तार साहब पं० जुगलकिशोरजीकी आज्ञासे महोत्सव कार्यमें सक्रिय सहयोग देनेके लिये मुझे कलकत्ता जाना पड़ा था। मैं १४ सितम्बरको यहांसे रवाना होकर देहली होता हुआ १८ सितम्बरको कलकत्ता पहुंचा और ६ नवम्बर तक रहा। मेरे वहां पहुँचते ही अधिवेशन सम्बन्धी कार्य-क्रम प्रारम्भ होगये। कलकत्ते अधिवेशनकी सफलता और प्रभावनाके समाचार अनेक पत्रोंमें प्रकाशित होचुके हैं। अत: उस सम्बन्धमें कुछ भी लिखना पिष्टपेषण होगा; पर अधिवेशनमें विशेषतायें क्या थीं और वास्तविक सफलताका क्या कारण था इस पर प्रकाश डालदेना आवश्यक दिखता है।

भारतके किसी न किसी प्रान्तमें प्रतिवर्ष जैन रथोत्सव अथवा अधिवेशनादि होते रहते हैं, पर उनका महत्व केवल जैन कौम तक ही सीमित रहता है। इस अधिवेशनमें भारतके सभी प्रान्तोंके विद्वानोंका भाग सभी प्रान्तोंकी सभी धर्मावलम्बी बालाओं द्वारा झंडाभिवादन, प्रबन्धमें विशेषकर बंगालियोंका हाथ तथा जैनसाहित्य प्रचारार्थ अजैनों द्वारा दान, नइ विशेषताओंने वीरशासन-महोत्सवको राष्ट्रधर्म सम्मेलनका वही रूप देदिया था, जो आजसे ढाई हजार वर्ष पहिले भगवान महावीरकी शासन सभामें दृष्टि-गोचर होता था, और जिसे देखनेके लिये हम आज भी उत्सुक हैं! इन विशेषताओं और अधिवेशनकी सफलताका मूलाधार अपने आपको होम देने वाला दुबली पतली देहवाला वही अधेड़ व्यक्ति है, जिसे सर्वप्रथम दिन ही मैंने कार्यालयमें बैठा हुआ कार्यसाधना मग्न पाया था। यद्यपि आपका नाम बाबू छोटेलालजी मैंने पहिले भी सुना था पर मुझे विश्वास नहीं होता था कि कलकत्तेका एक कुशल व्यापारी और सरकारीय सेठ सेवाक्षेत्रमें इस प्रकार सीमा लांघ सकेगा।

आप प्रात:कालके ७ बजेसे रात्रिके २॥ बजे तक इस प्रकार श्रमपूर्वक कार्यमें लगे रहते थे जिसे देखकर दंग रहना पड़ता था। इतने बड़े अधिवेशनमें जहाँ अनेकों कार्यशील व्यक्तियोंकी आवश्यकता है, वहां आपका पूर्ण सहयोगी एक भी न था पर हां आपमें सबकी श्रद्धा, तथा आपके कार्यमें सबकी सहानुभूति थी। जब भी आपको किसीसे सहयोगकी आवश्यकता पड़ती तो उसे प्राप्त करनेमें आप सिद्धहस्थ थे चाहे वह दरिद्र भिखारीसे लेकर बंगालका गवर्नर अथवा भारतका वायसराय ही क्यों न हो। कोई काम ऐसा नहीं होता था जिसके सम्बन्धमें आपको ज्ञात न हो और जिसमें आप जानकारी न रखते हों। आप कार्य-साधनामें इतने व्यग्र और चिन्तित रहते थे कि कभी भी मैंने आपको शांतिसे भोजन करते नहीं देखा। भाई तथा सहयोगी प्राय: मुझसे कहा करते हैं कि तुम प्रत्येक कार्यमें बड़ी जल्दी करते हो और आलस्य नहीं करते हो पर बाबूजीके निरन्तर अध्यवसायको देखकर मेरे भी छक्के छूटते थे। जिस कार्यमें वे हाथ डालते थे उसे 'कार्यम् वा साध-येयम् शरीरम् वा पातयेयम्' वाली उक्ति द्वारा चरितार्थ करते थे। कभी २ उनको अस्वस्थ और अधिक चिंतित देख मैं और बहिन सुशीला कहते थे कि "बाबूजी आप इतना अधिक श्रम न करें इससे आपको शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकारकी क्षति होती है। आप उत्तर देते थे कि इस शरीरका और उपयोग ही क्या है?

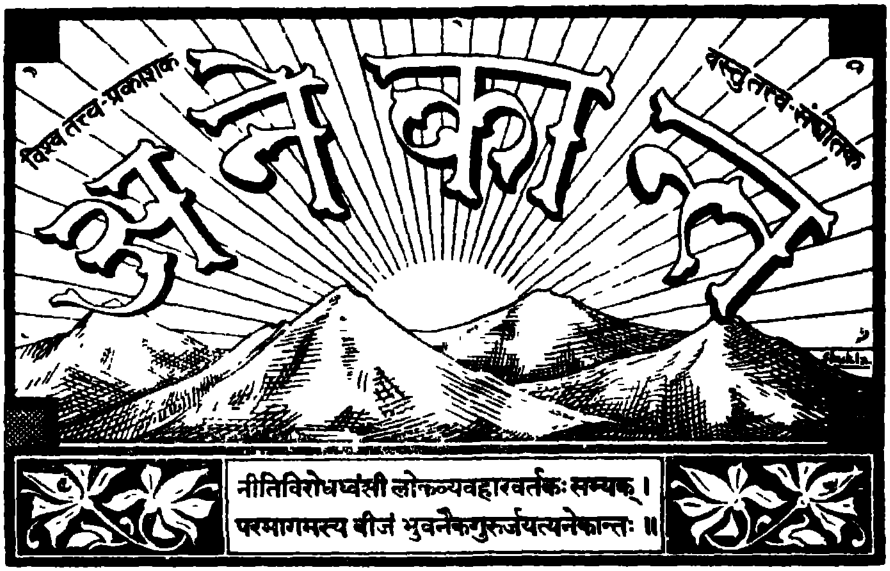
राजनीति इतिहास, धर्म, समाचार, व्योपार आदि सभी प्रकारके साहित्यमें आपका अधिकार पूर्ण स्थान है। जनता पर प्रेमपूर्ण प्रभाव है और राज्य कर्मचारियोंसे आपका सम्मानपूर्ण परिचय है। इसीका परिणाम है कि कलकत्ते जैसे स्थानमें आजकी भयानक स्थितिमें इतना विशाल अधिवेशन सभी प्रकारसे सफल होसका।

आपका जीवन बहुत ही सादा तथा पवित्र है। समाज-सेवाकी असिट भावनायें और अटूट लग्न आपके रग २ में समाई हुई है। आप बड़े ही उदार विचारों वाले तथा प्रेमालु स्वभाव वाले है। पर हां नामकी चाह और नेतागिरी की इच्छासे आप कोसों दूर हैं। आप बड़े ही जागरूक और साथ ही कर्त्तव्य विमुख व्यक्तियोंके लिये कठोर शासक हैं।

आप वास्तवमें समाजके मूक सेवक हैं। मैंने आपके जीवनका खूब अध्ययन किया और उससे बहुत कुछ सीखा है। आशा है अथ सेवाव्रती भाई भी आपके मानव साफ-ल्योपयोगी गुणोंका अनुकरण कर अपने आपको सच्चा सेवक बना सकेंगे। अन्तमें परमात्मासे प्रार्थना करता हूं कि आप जैसे मूक सेवक दीर्घजीवी हों और आपका यश-सौरभ पारिजातिकी प्रस्फुटित कुसुम कलिकाओं तुल्य दिगदिगन्त व्यापी हो।

प्रभुलाल 'प्रेमी' पोहरी (गवालियर)

* ॐ अर्हम् *



वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका मूल्य ।=)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ७	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	दिसम्बर १९४४
किरण ५, ६	पौष—माघशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत २४७१, विक्रम सं० २००१	जनवरी १९४५

अर्हत्स्मरण

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्त-संग-ग्रहाद्-
अस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्दोषोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणाम्
आनन्दादि-गुणाश्रयस्तु नियतं सोऽर्हन्सदा पातु नः ॥

—श्रीपद्मनन्द्याचार्यः

परिग्रह-पिशाचके नष्ट होजानेसे—ममत्वपरिणामके सर्वथा त्यागसे—जिनके आत्मामें कहीं भी राग (पर-पदार्थोंमें आसक्तिका भाव) विद्यमान नहीं है, अस्त्र-शस्त्रादिके सर्वथा त्यागसे विवेकीजन जिनमें द्वेषकी (दूसरोंके प्रति शत्रुताके भावकी) सम्भावना भी नहीं कर सकते, राग और द्वेष दोनोंके अभावसे जिन्हें समता-भाव तथा आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई है, समताभाव तथा आत्मज्ञानसे जिनके कर्मोंका—ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय नामक घातिचतुष्कका—क्षय हुआ है—आत्मासे सदाके लिये सम्बन्ध छूटा है—और जो नियमसे आनन्दादि गुणोंके आधारभूत हैं वे श्री अर्हत्परमात्मा सदा हमारी रक्षा करो—अपने आदर्श-द्वारा हमें ऐसी शिक्षा प्रदान करो जिससे हम राग-द्वेषकी निवृत्ति-पूर्वक साम्यभाव और आत्मज्ञानका अवलम्बन लेकर कर्मों का नाश करते हुए उस आत्मस्थिरताको—आत्माकी स्वाभाविक स्थितिको—प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकें जो अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य-स्वरूप हैं ।'

स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे

[सम्पादकीय]

अनेकान्तकी पिछली किरण (नं० ३-४) में सुहृद्वर पं० नाथूरामजी प्रेमीका एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसका शीर्षक है 'क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं ?' इस लेखमें रत्नकरण्डश्रावकाचार' पर स्वामी समन्तभद्रके कर्तृत्वकी आशंका करते हुए प्रेमीजीने वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितसे 'स्वामिनश्चरितं तस्य', 'अचिन्त्यमहिमादेवः', 'त्यागी स एव योगीन्द्रो', इन तीन पद्योंको इसी क्रमसे एक साथ उद्धृत किया है और बतलाया है कि इसमें क्रमशः स्वामी, देव और योगीन्द्र इन तीन आचार्योंकी स्तुति उनके अलग अलग ग्रन्थों (देवागम, जैनेन्द्र, रत्नकरण्डक)के संकेत सहित की गई है। 'स्वामी' तथा 'योगीन्द्र' नाम न होकर उपपद हैं और 'देव' जैनेन्द्रव्याकरणके कर्ता देवनन्दीके नामका एक देश है। स्वामी पद देवागमके कर्ता स्वामी समन्तभद्रका वाचक है और 'योगीन्द्र' पद, बीचमें देवनन्दीका नाम पड़ जानेसे, स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न किसी दूसरे ही आचार्यका वाचक है और इस लिये वे दूसरे आचार्य ही 'रत्नकरण्ड' के कर्ता होने चाहियें। परन्तु 'योगीन्द्र' पदके वाच्य वे दूसरे आचार्य कौन हैं यह आपने बतलाया नहीं। हां, इतनी कल्पना जरूर की है कि—"असली नाम रत्नकरण्डके कर्ता का भी समन्तभद्र हो सकता है, जो स्वामी समन्तभद्रसे पृथक् शायद दूसरे ही समन्तभद्र हों। यह कल्पना भी आपकी ('हो सकता है', 'शायद' और 'हों' जैसे शब्दोंके प्रयोगको लिये रहने और दूसरे समन्तभद्रका कोई स्पष्टीकरण न होनेसे) सन्देहात्मक है, और इस लिये यह कहना चाहिये कि 'योगीन्द्र' पदके वाच्यरूपमें आप दूसरे किसी आचार्यका नाम अभी तक निर्धारित नहीं कर सके हैं। ऐसी हालतमें आपकी आशंका और कल्पना कुछ बलवती मालूम नहीं होती।

लेखके अन्तमें "समन्तभद्र नामके धारण करने वाले विद्वान् और भी अनेक हो गये हैं" ऐसा लिख कर उदाहरणके तौर पर अष्टसहस्रीकी विषमपद-तात्पर्य-वृत्तिके कर्ताका नाम सूचित किया है और बतलाया है कि वे स० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके अनुसार ई० सन् १००० के लगभग हुए हैं। हो सकता है कि ये 'विषमपद-तात्पर्य-वृत्ति' के कर्ता समन्तभद्र ही प्रेमीजी की दृष्टिमें उन दूसरे समन्तभद्रके रूपमें स्थित हों जिनके विषयमें रत्नकरण्डके कर्ता होनेकी उपर्युक्त कल्पना की गई है। परन्तु एक तो इन्हें 'योगीन्द्र' सिद्ध नहीं किया गया, जिससे उक्त पदमें प्रयुक्त 'योगीन्द्र' पदके साथ इनकी संगति कुछ ठीक बैठ सकती। दूसरे, इन विषमपद-तात्पर्य वृत्तिके कर्ता-विषयमें प्रेमीजी स्वयं ही आगे लिखते हैं—

"नामसे इनका भी समन्तभद्र था, परन्तु स्वामी समन्तभद्रसे अपनेको पृथक् बतलानेके लिए इन्होंने आप को 'लघु' विशेषण सहित लिखा है।"

अतः ये लघु समन्तभद्र ही यदि रत्नकरण्डके कर्ता होते तो अपनी वृत्तिके अनुसार रत्नकरण्डमें भी स्वामी समन्तभद्रसे अपना पृथक् बोध करानेके लिये अपनेको 'लघुसमन्तभद्र' के रूपमें ही उल्लेखित करते, परन्तु रत्नकरण्डके पद्यों, गद्यात्मक सन्धियों और टीका तकमें कहीं भी ग्रन्थके कर्तृत्वरूपमें 'लघुसमन्तभद्र' का नामोल्लेख नहीं है, तब उसके विषयमें लघुसमन्तभद्र कृत होनेकी कल्पना कैसे की जा सकती है? नहीं की जा सकती।[†]—खासकर

---

*देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या।
विवृणोम्यष्टसहस्री-विषमपदं लघुसमन्तभद्रोऽहम् ॥ १ ॥

[†] इन लघुसमन्तभद्रके अलावा चिक्कस०, गेरुसोप्पे स०, अभिनव स०, भट्टारक स० और गृहस्थ स० नामके पांच समन्तभद्रोंकी मैंने और खोज की थी और उसे आजसे कोई २० वर्ष पहले मा० दि० जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी अपनी प्रस्तावनामें प्रकट किया था और उसके द्वारा यह स्पष्ट किया था कि समयादिककी दृष्टिसे इन छहों दूसरे समन्तभद्रोंमेंसे कोई भी रत्नकरण्ड का कर्ता नहीं हो सकता है। (देखो, उक्त प्रस्तावनाका 'ग्रन्थपर सन्देह' प्रकरण पृ० ५ से।)

ऐसी हालतमें जब कि रत्नकरण्डकी प्रत्येक सन्धिमें समन्तभद्रके नामके साथ 'स्वामी' पद लगा हुआ है, जैसा कि सनातन जैनग्रन्थमालाके उस प्रथम गुच्छकसे भी प्रकट है जिसे सन् १६०५ में प्रेमीजीके गुरुवर पं० पन्नालालजी बाकलीवालने एक प्राचीन गुटके परसे बम्बईके निर्णयसागर प्रेसमें मुद्रित कराया था और जिसकी एक सन्धिका नमूना इस प्रकार है—

"इति श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने सम्यग्दर्शनवर्णनो नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥"

और इस लिये लेखके शुरूमें प्रेमीजीका यह लिखना कि 'ग्रन्थमें कहीं भी कर्ताका नाम नहीं दिया है' कुछ संगत मालूम नहीं देता। यदि पद्यभागमें नामके देनेको ही ग्रन्थकारका नाम देना कहा जायगा तब तो समन्तभद्रका 'देवागम' भी उनके नामसे शून्य ही ठहरेगा; क्योंकि उसके भी किसी पद्यमें समन्तभद्रका नाम नहीं है।

तीसरे, लघुसमन्तभद्रने अपनी उस विषमपदतात्पर्यवृत्तिमें प्रभाचन्द्रके 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' का उल्लेख* किया है, इससे लघुसमन्तभद्र प्रभाचन्द्रके बादके विद्वान ठहरते हैं। और स्वयं प्रेमीजीके कथनानुसार इन प्रभाचन्द्राचार्यने ही रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी वह संस्कृत टीका लिखी है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें उन्हींके मन्त्रित्वमें मुद्रित हो चुकी है†। इस टीकाके सन्धिवाक्योंमें ही नहीं किन्तु मूलग्रन्थकी टीकाका प्रारम्भ करते हुए उसके आदिम प्रस्तावना वाक्यमें भी प्रभाचन्द्राचार्यने इस रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति सूचित किया है। वह प्रस्तावना-वाक्य और नमूनेके तौर एक सन्धिवाक्य इस प्रकार है—

"श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—"

"इति प्रभाचन्द्रविरचितायां समन्तभद्रस्वामिविरचितोपासकाध्ययन टीकायां प्रथमः परिच्छेदः॥१॥"

प्रेमीजीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ (पृ० ३३६) में कुछ उल्लेखोंके आधारपर यह स्वीकार किया है कि प्रभाचन्द्राचार्य धाराके परमारवंशी राजा भोजदेव और उनके उत्तराधिकारी जयसिंह नरेशके राज्यकालमें हुए हैं और उनका 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' भोजदेवके राज्यकालकी रचना है। जब कि वादिराजसूरिका पार्श्वनाथचरित जयसिंहके राज्यमें बन कर शकसंवत् ६४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त हुआ है। इससे प्रभाचन्द्राचार्य वादिराजके प्रायः‡ समकालीन ही नहीं बल्कि कुछ पूर्ववर्ती भी जान पड़ते हैं। और जब प्रेमीजीकी मान्यतानुसार उन्होंने रत्नकरण्डकी वह टीका लिखी है जिसमें साफ तौर पर रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति प्रतिपादित किया गया है तब प्रेमीजीके लिये यह कल्पना करने की कोई माकूल वजह नहीं रहती कि वादिराजसूरि देवागम और रत्नकरण्डको दो अलग अलग आचार्योंकी कृति मानते थे और उनके समक्ष वैसा माननेका कोई प्रमाण या जनश्रुति रही होगी।

यहाँ पर मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि प्रेमीजीने वादिराजके स्पष्ट निर्देशके बिना ही देवागम और रत्नकरण्डको भिन्न भिन्न कर्तृक मानकर यह कल्पना तो कर डाली कि वादिराजके सामने दोनों ग्रन्थोंके भिन्नकर्तृत्व का कोई प्रमाण या जनश्रुति रही होगी, उनके कथनपर एकाएक अविश्वास नहीं किया जा सकता; परन्तु १३ वीं शताब्दीके आचार्य कल्प पं० आशाधर जैसे महान् विद्वान् ने जब अपने 'धर्मामृत' ग्रन्थमें जगह जगहपर रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्रकी कृति और एक आगम ग्रन्थ प्रतिपादित किया है तब उसके सम्बन्धमें यह कल्पना नहीं की कि पं० आशाधरजीके सामने भी वैसा प्रतिपादन करनेका कोई प्रबल प्रमाण अथवा जनश्रुतिका आधार रहा होगा !! क्या आशाधरजीको एकाएक अविश्वासका पात्र समझ लिया

* "अथवा तच्छक्तिसमर्थनं प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीयपरिच्छेदे प्रत्यक्षेतरभेदादित्यत्र व्याख्यानावसरे प्रपञ्चतः प्रोक्तमत्रावगन्तव्यम।"

"तथा च प्रमेयकमलमार्तण्डे द्वितीय-परिच्छेदे इतरेतराभावप्रघट्टके प्रतिपादितं···।

† देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' ग्रन्थमें 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' नामक लेख, पृष्ठ ३३६।

‡ 'सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं'

गया जो उनके कथनकी जाँचके लिये तो पूर्व परम्पराकी खोजको प्रोत्तेजन दिया गया परन्तु वादिराजके तथा कथित कथनकी जाँचके लिये कोई संकेत तक भी नहीं किया गया? नहीं मालूम इसमें क्या कुछ रहस्य है! आशाधरजीके सामने तो बहुत बड़ी परम्परा आचार्य प्रभाचन्द्रकी रही है जो अपनी टीका द्वारा रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रका प्रतिपादित करते थे और जिनके वाक्योंको आशाधरजीने अपने धर्मामृतकी टीकामें श्रद्धाके साथ उद्धृत किया है और जिनके उद्धरणका एक नमूना इस प्रकार है—

"यथाहुस्तत्र भगवन्तः श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्ड-टीकायां 'चतुरावर्तत्रितय' इत्यादि सूत्रे 'द्विनिषद्यं' इत्यस्य व्याख्याने 'देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः" इति।

—अनगारधर्मामृत प० नं० ९३ की टीका

पं० आशाधरजीके पहले १२ वीं शताब्दीमें श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव भी हो गये हैं, जो रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति मानते थे, इसीसे नियमसारकी टीकामें उन्होंने 'तथा चोक्तं श्रीसमन्तभद्रस्वामिभिः' इस वाक्य के साथ रत्नकरण्डका 'अन्यूनमनतिरिक्तं' नामका पद्य उद्धृत किया है।

इस तरह पं० आशाधरजीसे पूर्वकी १२ वीं और ११ वीं शताब्दीमें भी, वादिराजसूरिके समय अथवा उससे भी कुछ पहले तक, रत्नकरण्डके स्वामी समन्तभद्रकृत होनेकी मान्यताका पता चलता है। खोजने पर और भी प्रमाण मिल सकते हैं। और वैसे रत्नकरण्डके अस्तित्वका पता तो उसके वाक्योंके उद्धरणों तथा अनुसरणोंके द्वारा विक्रमकी छठी (ईसाकी ५ वीं) शताब्दी तक पाया जाता है*, और इस लिये उसके बादके किसी विद्वान द्वारा उस के कर्तृत्वकी कल्पना नहीं की जा सकती।

*उदाहरणके तौर पर रत्नकरण्डका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' पद्य न्यायावतारमें उद्धृत मिलता है, जो ई० की ७ वीं शताब्दिकी रचना प्रमाणित हुई है। और रत्नकरण्डके कितने ही पद-वाक्योंका अनुसरण 'सर्वार्थसिद्धि' (ई० की ५ वीं श०) में पाया जाता है और जिनका स्पष्टीकरण 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें किया जा चुका है (देखो, अनेकान्त वर्ष ५ कि० १०-११)

यहाँ पर पाठकोंको इतना और भी जान लेना चाहिये कि आजसे कोई २० वर्ष पहले मैंने 'स्वामी समन्तभद्र' नामका एक इतिहास ग्रन्थ लिखा था, जो प्रेमीजीको समर्पित किया गया था और माणिकचन्द्र-जैनग्रंथमालामें रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी प्रस्तावनाके साथ भी प्रकाशित हुआ था। उसमें पार्श्वनाथचरितके उक्त 'स्वामिनश्चरितं' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' इन दोनों पद्योंको एक साथ रख कर मैंने बतलाया था कि इनमें वादिराजसूरिने स्वामी समन्तभद्रकी स्तुति उनके 'देवागम' और 'रत्नकरण्डक'-नामक दो प्रवचनों (ग्रन्थों) के उल्लेख पूर्वक की है। साथ ही, एक फुटनोट-द्वारा यह सूचित किया था कि इन दोनों पद्योंके मध्यमें "अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः" यह पद्य प्रकाशित प्रतिमें पाया जाता है, जो मेरी रायमें उक्त दोनों पद्योंके बादका मालूम होता है और जिसका 'देवः' पद संभवतः देवनन्दी (पूज्यपाद) का वाचक जान पड़ता है। और लिखा था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें इन दोनों पद्योंके मध्यमें ही पाया जाता है और मध्यका ही पद्य है तो यह कहना होगा कि वादिराजने समन्तभद्रको अपना हित चाहने वालोंके द्वारा वन्दनीय और अचिन्त्यमहिमा वाला देव भी प्रतिपादन किया है। साथ ही यह लिख कर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके (समन्तभद्रके) किसी व्याकरण ग्रंथका उल्लेख किया है।" इस सूचना और सम्मतिके अनुसार विद्वान लोग बराबर यह मानते आरहे हैं कि "त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः। अर्थिने भव्यसार्थायदिष्टो रत्नकरण्डकः" इस पद्यके द्वारा वादिराजसूरिने पूर्वके 'स्वामिनश्चरितं' पद्यमें उल्लिखित स्वामी समन्तभद्रको ही रत्नकरण्डका कर्ता सूचित किया है; चुनाँचे प्रोफेसर हीरालालजी एम० ए० भी सन् १९४२ में षट्खण्डागमकी चौथी जिल्दकी प्रस्तावना लिखते हुए उसके १२ वे पृष्ठपर लिखते हैं—

"श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्ड-श्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरिने 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्रने 'अखिल सागारमार्गको प्रकाशित करनेवाला सूर्य' लिखा है"

मेरे उक्त फुटनोटको लक्ष्यमें रखते हुए प्रेमीजी अपने लेखमें लिखते हैं—'यदि यह कल्पना की जाय कि पहले श्लोकके बाद ही तीसरा श्लोक होगा, बीचका श्लोक गलतीसे तीसरेकी जगह छप गया होगा—यद्यपि इसके लिये हस्त-लिखित प्रतियोंका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, तो भी, दोनोंको एक साथ रखनेपर भी, स्वामी और योगीन्द्रको एक नहीं किया जा सकता और न उनका सम्बन्ध ही ठीक बैठता है।" परन्तु सम्बन्ध क्यों कर ठीक नहीं बैठता और स्वामी तथा योगीन्द्रको एक कैसे नहीं किया जा सकता? इसका कोई स्पष्टीकरण आपने नहीं किया। मात्र यह कह देनेसे काम नहीं चल सकता कि "तीनोंमे एक एक आचार्यकी स्वतन्त्र प्रशस्ति है"। क्योंकि यह बात तो अभी विवादापन्न ही है कि तीनोंमें एक एक आचार्यकी प्रशस्ति है या दोकी अथवा तीनकी। वादिराज सूरिने तो कहीं यह लिखा नहीं कि "हमने १५ श्लोकोंमें पूर्ववर्ती १५ ही आचार्योंका या कवियोंका स्मरण किया है" और न दूसरे ही किसी आचार्यने ऐसी कोई सूचना की है। इसके सिवाय समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण देवागमकी वसुनन्दि वृत्तिके अन्त्यमंगलका निम्न पद्य है—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने॥ १॥

और इस लिये उक्त मध्यवर्ती श्लोकमें आए हुए 'देव' पदके वाच्य समन्तभद्र भी हो सकते हैं, जैसा कि उपर्युल्लिखित फुटनोटमें कहा गया है, उसमें कोई बाधा नहीं आती।

इसी तरह यह कह देनेसे भी काम नहीं चलता कि—"तीनों श्लोक अलग अलग अपने आपमें परिपूर्ण हैं, वे एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते।" क्यों कि अपने आपमें परिपूर्ण होते और एक दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए भी क्या ऐसे एकसे अधिक श्लोकोंके द्वारा किसीकी स्तुति नहीं की जा सकती? जरूर की जा सकती है। और इसका एक सुन्दर उदाहरण भगवज्जिनसेन-द्वारा समन्तभद्रकी ही स्तुतिके निम्न दो श्लोक हैं, जो अलग अलग अपनेमें परिपूर्ण हैं, एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते और एक साथ भी दिये हुए हैं—

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः॥ ४३॥
कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते॥ ४४॥

—आदिपुराण, प्रथम पर्व

यहाँपर यह बात भी नोट कर लेनेकी है कि भगवज्जिनसेनने, 'प्रवादिकरियूथानां' इस पद्यसे पूर्वाचार्योंकी स्तुतिका प्रारम्भ करते हुए, समन्तभद्र और अपने गुरु वीरसेनके लिये तो दो दो पद्योंमें स्तुति की है, शेषमेंसे किसी भी आचार्यकी स्तुतिके लिये एकसे अधिक पद्यका प्रयोग नहीं किया है। और इस लिये यह स्तुतिकर्ताकी इच्छा और रुचि-पर निर्भर है कि वह सबकी एक एक पद्य स्तुति करता हुआ भी किसीकी दो या तीन पद्योंमें भी स्तुति कर सकता है—उसके ऐसा करनेमें बाधाकी कोई बात नहीं है। और इस लिये प्रेमीजीका अपने उक्त तर्कपरसे यह नतीजा निकालना कि "तब उक्त दो श्लोकोंमें एक ही समन्तभद्रकी स्तुति की होगी, यह नहीं हो सकता," कुछ भी युक्ति-संगत मालूम नहीं होता।

हाँ, एक बात लेखके अन्तमें प्रेमीजीने और भी कही है। सम्भव है वही उनका अन्तिम तर्क और उनकी आशंकाका मूलाधार हो, वह बात इस प्रकार है—

"देवागमादिके कर्त्ता और रत्नकरण्डके कर्त्ता अपनी रचनाशैली और विषयकी दृष्टिसे भी एक नहीं मालूम होते। एक तो महान् तार्किक हैं और दूसरे धर्मशास्त्री। जिनसेन आदि प्राचीन आचार्योंने उन्हें वादी, वाग्मी और तार्किकके रूपमें ही उल्लेखित किया है, धर्मशास्त्रीके रूपमें नहीं। योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया।'

इससे मालूम होता है कि प्रेमीजी स्वामी समन्तभद्रको तार्किक तो मानते हैं, परन्तु 'धर्मशास्त्री' और 'योगी' माननेमें सन्दिग्ध हैं, और अपने इस सन्देहके कारण स्वामीजीके द्वारा किसी धर्मशास्त्रका रचा जाना तथा पार्श्व-नाथ-चरितके इस तीसरे श्लोकमें 'योगीन्द्र' पदके द्वारा स्वामीजीका उल्लेख किया जाना उन्हें कुछ संगत मालूम

नहीं होता, और इस लिये वे शंकाशील बने हुए हैं। ऐसा नहीं कि वे एक तार्किकका धर्मशास्त्री तथा योगी होना असंभव समझते हों, बल्कि इस विषयमें उनकी दूसरी दलील है और वह केवल इतनी ही है कि—किसी प्राचीन आचार्योंने स्वामी समन्तभद्रको धर्मशास्त्रीके रूपमें उल्लेखित नहीं किया और योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया।' परन्तु यह दलील ठीक नहीं है; क्योंकि श्रीजिनसेनाचार्यसे भी प्राचीन आचार्य अकलङ्कदेवने देवागम-भाष्यके मंगलपद्यमें 'येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततं' इस वाक्यके द्वारा समन्तभद्रको 'आचार्य' और यति दोनों विशेषणोंके साथ उल्लेखित किया है जिसमें 'आचार्य' विशेषण 'धर्माचार्य' अथवा 'आचार्यपरमेष्ठि' का वाचक है, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप और वीर्यरूप पंचाचार धर्मका स्वयं आचरण करने और दूसरोंसे आचरण कराने हैं¹। और इस लिये यह आचार्यपद धर्मशास्त्री से भी बड़ा है——धर्मशास्त्रित्व इसके भीतर संनिहित अथवा समाविष्ट है। स्वयं समन्तभद्रने भी अपने एक परिचय-पद्य²में अपनेको आचार्य सूचित किया है।

दूसरा 'यति' विशेषण सन्मार्गमें यत्नशील योगीका वाचक है। श्री विद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्रीमें स्वामी समन्तभद्रको 'यतिभृत्' और 'यतीश' × तक लिखा है जो दोनों ही योगिराज अथवा योगीन्द्र अर्थके द्योतक हैं। कवि हस्तिमल्ल और अय्यपार्यने विक्रान्तकौरवादिक ग्रंथोंमें समन्तभद्रको 'परर्द्धिक'—चारण ऋद्धिका धारक—लिखा है, जो उनके महान योगी होनेका सूचक है। और कवि दामोदरने अपने 'चन्द्रप्रभचरितमें' साफतौर पर 'योगी' विशेषणका ही प्रयोग किया है। यथा——

यद्भारत्याः कविः सर्वोऽभवत्संज्ञानपारगः।
तं कविनायकं स्तौमि समन्तभद्र-योगिनम्॥

इसके सिवाय ब्रह्म नेमिदत्तने अपने 'आराधना कथा-कोश' में, समन्तभद्रकी कथाका वर्णन करते हुए, जब योगिचमत्कारके अनन्तर समन्तभद्रके मुखसे उनके परिचयके दो पद्य कहलाये हैं तब उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें 'योगीन्द्र' लिखा है जैसा कि निम्नवाक्यसे प्रकट है:—

"स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः स मुवाच सः।"

ब्रह्म नेमिदत्तका यह कथाकोश आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके आधारपर निर्मित हुआ है, और इस लिये स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय मैंने प्रेमीजीको उक्त गद्यकथाकोशपरसे ब्रह्मनेमिदत्त वर्णित कथाका मिलान करके विशेषताओंका नोट कर देनेकी प्रेरणा की थी। तदनुसार उन्होंने मिलान करके मुझे जो पत्र लिखा था उसका तुलनात्मक वाक्योंके साथ उल्लेख मैंने इ० फुटनोट में उक्त इतिहासके पृ० १०५ १०६ पर कर दिया था। उसपरसे मालूम होता है कि—"दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्य कथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" और जो साधारणसा फर्क है वह उक्त फुटनोटमें पत्रकी पंक्तियोंके उद्धरण द्वारा व्यक्त है। अतः उसपरसे यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्य कथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है। चूंकि प्रेमीजीके कथनानुसार* ये गद्यकथाकोशके कर्ता प्रभाचन्द्र भी वे ही प्रभाचन्द्र हैं जो 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और 'रत्न-करण्ड-श्रावकाचार'की टीकाके कर्ता हैं। अतः स्वामी समन्त-भद्रके लिये 'योगीन्द्र' विशेषणके प्रयोगका अनुसन्धान प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचनाके समय अथवा वादिराजसूरिके पार्श्वनाथ चरितकी रचनासे कुछ पहलेतक पहुँच जाता है। ऐसी हालतमें प्रेमीजीका यह लिखना कि "योगीन्द्र जैसा विशे-षण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया" कुछ भी संगत मालूम नहीं होता और वह खोजसे कोई विशेष सम्बन्ध न रखता हुआ चलती लेखनीका ही परिणाम जान पड़ता है।

अब रही रचनाशैली और विषयकी बात। इसमें किसीको विवाद नहीं कि 'देवागम' और 'रत्नकरण्ड' का

¹ दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे।
अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ॥ ५२॥
—द्रव्यसंग्रह

² देखो, अनेकान्त वर्ष ... किरणमें प्रकाशित 'समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य' शीर्षक सम्पादकीय लेख।

× "स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शश्वत्प्रथितयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः॥"

*देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० ३२६

विषय प्रायः अलग है—एक मुख्यतया आप्तकी मीमांसा को लिये हुए है तो दूसरा आप्तकथित श्रावकधर्मके निर्देश को। विषयकी भिन्नतामें रचना शैलीमें भिन्नताका होना स्वाभाविक है; फिर भी यह भिन्नता ऐसी नहीं जो एक साहित्यकी उत्तमता तथा दूसरेकी अनुत्तमता (घटियापन) को द्योतन करती हो। रत्नकरण्डका साहित्य देवागमसे जरा भी हीन न होकर अपने विषयकी दृष्टिसे इतना प्रौढ, सुंदर जँचा तुला और अर्थगौरवको लिये हुए है कि उसे सूत्रग्रन्थ कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता। पं० आशाधरजी जैसे प्रौढ विद्वानोंने तो अपनी धर्मामृत टीकामें उसे जगह जगह आगम ग्रंथ लिखा ही है और उसके वाक्योंको 'सूत्र' रूपमें उल्लेखित भी किया है—जैसा कि पीछे दिये हुए एक उद्धरणसे प्रकट है।

और यदि रचनाशैलीसे प्रेमीजीका अभिप्राय उस 'तर्कपद्धति' से है जिसे वे देवागमादिक तर्कप्रधान ग्रंथोंमें देख रहे हैं और समझते हैं कि 'रत्नकरण्ड' भी उसी रंगमें रंगा हुआ होना चाहिये था तो यह उनकी भारी भूल है। और तब मुझे कहना होगा कि उन्होंने श्रावकाचार-विषयक जैनसाहित्यका कालक्रमसे अथवा ऐतिहासिक दृष्टिसे अवलोकन नहीं किया और न देश तथा समाजकी तात्कालिक स्थितिपर ही कुछ गंभीर विचार किया है। यदि ऐसा होता तो उन्हें मालूम हो जाता कि उस वक्त—स्वामी समन्तभद्रके समयमें—और उससे भी पहले श्रावक लोग प्रायः साधु-मुख्यापेक्षी हुआ करते थे—उन्हें स्वतंत्ररूपसे ग्रंथोंको अध्ययन करके अपने मार्गका निश्चय करनेकी जरूरत नहीं होती थी, बल्कि साधु अथवा मुनिजन ही उस वक्त, धर्मविषयमें, उनके एकमात्र पथप्रदर्शक होते थे। देशमें उस समय मुनिजनोंकी खासी बहुलता थी और उनका प्रायः हर वक्तका सत्समागम बना रहता था। इससे गृहस्थ लोग धर्मश्रवणके लिये उन्हींके पास जाया करते थे और धर्मकी व्याख्याको सुनकर उन्हींसे अपने लिये कभी कोई व्रत, किसी खास व्रत, अथवा व्रतसमूह की याचना किया करते थे। साधुजन भी श्रावकोंको उनके यथेष्ट कर्तव्यकर्मका उपदेश देते थे, उनके याचित व्रतको यदि उचित समझते तो उसकी गुरुमंत्र-पूर्वक उन्हें दीक्षा देते थे और यदि उनकी शक्ति तथा स्थितिके योग्य उसे नहीं पाते थे तो उसका निषेध कर देते थे। साथ ही, जिस व्रतका उनके लिये निर्देश करते थे उसके विधिविधानको भी उनकी योग्यताके अनुकूल नियंत्रित कर देते थे। इस तरह पर गुरुजनोंके द्वारा धर्मोपदेशको सुनकर धर्मानुष्ठानकी जो कुछ शिक्षा गृहस्थोंको मिलती थी उसीके अनुसार चलना वे अपना धर्म—अपना कर्तव्यकर्म—समझते थे, उस में 'चूंचरा' (किं, कथमित्यादि) करना उन्हें नहीं आता था, अथवा यों कहिये कि उनकी श्रद्धा और भक्ति उन्हें उस ओर (संशयमार्गकी तरफ) जाने ही न देती थी। श्रावकों में सर्वत्र आज्ञाप्रधानताका साम्राज्य स्थापित था और अपनी इस प्रवृत्ति तथा परिणतिके कारण ही वे लोग 'श्रावक' तथा 'श्राद्ध' कहलाते थे। उस वक्त तक श्रावक धर्ममें अथवा स्वाचार-विषयपर श्रावकोंमें तर्कका प्रायः प्रवेश ही नहीं हुआ था और न नाना आचार्योंका परस्पर इतना मतभेद ही हो पाया था जिसकी व्याख्या करने अथवा जिसका सामञ्जस्य स्थापित करने आदिके लिये किसी को तर्कपद्धतिका आश्रय लेनेकी ज़रूरत पड़ती। उस वक्त तर्कका प्रयोग प्रायः स्व परमतके सिद्धान्तों तथा आप्तादि विवादग्रस्त-विषयोंपर ही होता था। वे ही तर्ककी कसौटी पर चढ़े हुए थे- उन्हींकी परीक्षा तथा निर्णयादिके लिये उसका सारा प्रयास था। और इस लिये उस वक्तके जो तर्कप्रधान ग्रंथ पाये जाते हैं वे प्रायः उन्हीं विषयों की चर्चाको लिये हुए हैं। जहां विवाद नहीं होता वहां तर्कका काम भी नहीं होता। इसीसे छंद, अलंकार, काव्य, कोश, व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिषादि दूसरे कितने ही विषयों के ग्रन्थ तर्कपद्धतिसे प्रायः शून्य पाये जाते हैं। खुद स्वामी समन्तभद्रका 'जिनशतक' नामक ग्रंथ भी इसी कोटिमें स्थित है—स्वामी द्वारा निर्मित होनेपर भी उसमें 'देवागम' जैसी तर्कप्रधानता नहीं पाई जाती—वह एक कठिन, शब्दालङ्कार-प्रधान ग्रंथ है और आचार्यमहोदयके अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्यको सूचित करता है। रत्नकरण्ड भी उन्हीं तर्क

*"शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः"
—सा० धर्मामृत टीका

"श्राद्धः श्रद्धासम्पन्नः" — अभिधा०, हेमचन्द्र"

प्रधानता-रहित* ग्रंथोंमेंसे एक ग्रंथ है और इस लिये उस की यह तर्क-हीनता सन्देहका कोई कारण नहीं हो सकती। ऐसा कोई नियम भी नहीं है जिससे एक ग्रंथकार अपने संपूर्ण ग्रंथोंमें एक ही पद्धतिको जारी रखनेके लिये बाध्य हो सके। नानाविषयोंके ग्रन्थ नाना प्रकारके शिष्योंको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं और उनमें विषय तथा शिष्यरुचिकी विभिन्नताके कारण लेखन पद्धतिमें भी अक्सर विभिन्नता हुआ करती है।

ऐसी हालतमें प्रेमीजीने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारके कर्तृत्व विषयपर जो आशंका की है उसमें कुछ भी सार मालूम नहीं होता। आशा है इस लेख परसे प्रेमीजी अपनी शंका का यथोचित समाधान करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २७-१२-१९४४

*ऐसा नहीं कि रत्नकरण्डमें तर्कसे बिल्कुल काम ही न लिया गया हो। आवश्यक तर्कको यथावसर बराबर स्थान दिया गया है। जरूरत होने पर उसका अच्छा स्पष्टीकरण किया जायगा। यहाँ सूचनारूपमें ऐसे कुछ पद्यांक नम्बरोंको (१५० की संख्यानुसार) नोट किया जाता है, जिनमें तर्कसे कुछ काम लिया गया है अथवा जो तर्कदृष्टिको लक्ष्यमें रख कर लिखे गये हैं:—५, ८, ९, २१, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ४७, ४८, ५३, ५६, ६७, ७०, ७१, ८२, ८४, ८५, ८६, ९५, १०२, १२३।

शोक संवेदना

श्री भगवत्स्वरूप-वियोग !

यह मालूम करके बड़ा ही दुःख तथा अफसोस हुआ कि अनेकान्तके प्रसिद्ध कविता तथा कहानी लेखक श्री भगवत्स्वरूपजी आज इस संसारमें नहीं है—ता० ४ दिसम्बरको सोमवारके दिन आंतोंकी बीमारीके कारण उनका स्वर्गवास होगया है, और इस तरह वे समाज तथा अनेकान्तके पाठकोंसे सदाके लिये बिछुड़ गये हैं। आप एक अच्छे उदीयमान कवि तथा साहित्यसेवी थे, आपकी शक्तियां दिन पर दिन विकसित हो रही थी और समाजको आपसे बड़ी बड़ी आशाएं थीं। आप अनेकान्तसे बड़ा प्रेम रखते थे और उसे अपनी अच्छीसे अच्छी रचनाएँ भेजा करते थे। आपके इस वियोगसे अनेकान्त परिवारके चित्तको बड़ा धक्का पहुँचा है। हम सद्गत आत्माके लिये परलोकमें सुखशांति की हार्दिक भावना करते हुए कुटुम्बी जनोंके इस असह्य दुःखमें समवेदना प्रकट करते हैं।

—सम्पादक

चौधरी जग्गीमल-वियोग !

देहली जैनसमाजके लब्धप्रतिष्ठ श्रीमान चौधरी लाला जग्गीमलजी जैनका ता० २६ अक्तूबरको ८० वर्षकी अवस्था में मात्र तीन दिनकी बीमारीमें स्वर्गवास हो गया। आपके इस निधनसे स्थानीय जैन समाजकी ही नहीं, किन्तु भारत के सारे जैन समाजकी एक बड़ी भारी क्षति हुई है। आप स्थानीय और बाहरके धार्मिक कामोंमें सदा अग्रसर रहते थे। वृद्धों, युवकों या संस्थाओंका देहलीमें ऐसा कोई जल्सा नहीं जिसमें आपकी मौजूदगी न रहती हो। समाज और धर्मकी सेवाके लिये आप सदैव तत्पर रहते थे। आप वीरसेवामन्दिरके बड़े हितैषी थे और उसके कार्योंमें तथा विद्वानों के साथ पूरी सहानुभूति रखते थे। आपके अधीनस्थ पंचायती जैनमन्दिरका शास्त्र भण्डार वीरसेवामन्दिरके विद्वानों के लिये बराबर खुला रहता था। वीरसेवामन्दिर परिवार आपके इस वियोगमें अत्यन्त दुखी है और उनके लिये शान्तिकी कामना करता हुआ कुटुम्बी जनोंके प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करता है।

—सम्पादक

पं० पद्मसुन्दरके दो ग्रन्थ

(लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी)

विक्रमकी सत्रहवीं सदीके प्रारंभमें पं० पद्मसुंदर नामके एक अच्छे संस्कृत कवि हो गये हैं जिनके 'भविष्यदत्तचरित' और 'रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य' नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पं० पद्मसुन्दर आनन्दमेरुके प्रशिष्य और पं० पद्ममेरुके शिष्य थे। अपने गुरुको और अपने आप को वे पंडित लिखते हैं, इससे वे मुनि या भट्टारक तो नहीं थे, परन्तु साधारण गृहस्थ श्रावक भी नहीं जान पड़ते। क्यों कि वे अपनी गुरुपरम्परा देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे किसी गद्दीधर भट्टारकके पांडे या पंडित शिष्य होंगे। इन पंडितोंमेंसे जो अपने गुरु भट्टारककी मृत्युके बाद भट्टारकका पद नहीं पाते थे, वे स्वयं अपनी पंडित परम्परा चलाने लगते थे, और उनके बाद उनके शिष्य प्रतिशिष्य होते रहते थे जो पांडे या पंडित कहलाते थे।

भविष्यदत्त-चरितकी प्रतिके अंतमें जो गद्यप्रशस्ति है और जो ग्रन्थनिर्माणकालके लगभग सवा वर्ष बाद ही लिखी गई है उसमें काष्ठासंघ-माथुरान्वय-पुष्करगणके भट्टारकोंकी गुरुपरम्परा दी है। कविके आश्रयदाता और ग्रन्थ बनानेकी प्रेरणा करने वाले साहु रायमल्लजी इन्हीं भट्टारकोंकी आम्नायके थे। दुर्भाग्यसे उक्तप्रशस्ति अधूरी है, उसका अन्तिम पत्र खो गया है, फिर भी जितनी है उससे यह नहीं मालूम होता कि कवि पद्मसुन्दरका उक्त भट्टारकोंसे किसी प्रकारका सम्बन्ध था। कविने अपने संघ या सम्प्रदायका भी कहीं उल्लेख नहीं किया है।

उक्त दोनों ग्रन्थ चरस्थावरमें उस समयके प्रसिद्ध धनी साहु रायमल्लजीकी अभ्यर्थना और प्रेरणासे लिखे गये थे और इस लिए उनमें उक्त साहुजी और उनके समस्त परिवारकी प्रशंसा की गई है। चरस्थावर मुजफ्फरनगर जिलेका वर्तमान चरथावल जान पड़ता है जो उस समय बड़ा समृद्ध नगर था।

साहु रायमल्लजी गोइल गोत्री अग्रवाल थे। इनके पूर्वजोंमें छाजू चौधरी देश-परदेशमें विख्यात थे और उनके पाँच पुत्र थे—१ हो (?), २ बूढण, ३ नरपालु, ४ भोजा और ५ नरसिंह। नरसिंहकी मदनाही नामक पत्नीसे नानू और सहणपाल नामके दो पुत्र हुए। इनमेंसे नानूकी रुटरही नामक पत्नीसे साहु रायमल्लजीका जन्म हुआ, जो बड़े भारी दाता, ज्ञाता, और चतुर थे।

साहु रायमल्लजीके छोटे भाई भवानीदास बड़े पुण्यात्मा और राजसभा-सम्मानित थे।

साहु रायमल्लजीके भी दो पत्नी थी। उनमेंसे प्रथम पत्नी ऊधाहीसे अमीचन्द्र नामक पुत्र हुआ, जो नयविनयशील-सम्पन्न और धर्मात्मा था और जिसकी पत्नीका नाम जेठमलही था। दूसरी पत्नी मीनाहीसे उदयसिंह, शालिवाहन और अनन्तदास नामक तीन पुत्र हुए। इन सबकी कविने मंगल-कामना की है।

काष्ठासंघ-माथुरान्वय-पुष्करगणके उद्धरसेनदेव, देवसेन, विमलसेन, गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति गुणभद्र, भानुकीर्ति, और कुमारसेन इन भट्टारकोंकी नामावली दी है। इनमें अन्तिम कुमारसेनके समयमें भविष्यदत्त-चरितकी प्रतिलिपि की गई है।

भविष्यदत्त-चरितका रचनाकाल कार्तिक सुदी पंचमी वि० सं० १६१४ और रायमल्लाभ्युदयका जेठ सुदी पचमी वि० सं० १६१५ लिखा है।

आगे दोनों ग्रन्थ प्रतियोंका परिचय और उनकी प्रशस्तियाँ दी जाती हैं—

भविष्यदत्त-चरितकी एक अपूर्ण प्रति बम्बईके ए० प० सरस्वती-भवनमें है, जो फागुन सुदी ७ वि० सं० १६१५ की अर्थात् ग्रन्थनिर्माणकालसे लगभग १ वर्ष ४ महीने बादकी लिखी हुई है। इसके शुरूके ७ पत्र और २३, २५, २६, २७, २६, ३२, ३७ वें पत्र नहीं हैं और अन्तका ४३ वाँ पत्र नहीं है। प्रत्येक पत्रमें १२

पंक्तियां और प्रत्येक पंक्तिमें ४२ अक्षर हैं। सारा ग्रंथ पाँच सर्गोंमें विभक्त है। प्रत्येक सर्गके अन्तमें यह पुष्पिका है—

"इति श्री श्रुतपंचमी-फलानुस्मृते भविष्यदत्त-चरिते पं० पद्मसुन्दर विरचिते साधुनान्नात्मज साधु श्रीरायमल्ल समभ्यर्चिते भविष्यसंगमो नाम ··· "

द्वितीय परिच्छेदके अन्तमें और चतुर्थ परिच्छेद के अन्तमें नीचे लिखे दो पद्य हैं—

श्रीजिनशासनधुर्यः श्रावकवर्यः कृतार्हपरिचर्यः ।
श्रीरायमल्लनामा जीयाद्धार्मिकशिरोरत्नम् ॥

जिनेन्द्रपूजाचरणे पुरन्दरः सदा सदाचारविचारसुंदरः।
विशुद्धसद्धर्म विधा(धौ)धुरंधरः सरायमल्लो जयतात्सुबंधुः।

पंचम परिच्छेदकी समाप्तिके पहले नीचे लिखे दो पद्य हैं—

आनन्दोदयपर्वतैकतरणेरानन्दमेरोर्गुरोः
शिष्यः पंडितमौलिमंडनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः।
तच्छिष्याग्रोत्तनपद्मसुन्दरकविः काव्यंभविष्याभिधं
चक्रे धार्मिकरायमल्लभविकस्याभ्यर्थनासंकृतः ॥ २५

अब्दे विक्रमराज्यतो मनु-रस-स्वेनांशुसंख्ये कृता-नन्दे कार्तिक शुक्लसौम्यसहितोऽत्पंचमीवासरे ।
सूक्तिव्यक्तिभविष्यदत्तचरितं काव्यं सुहृद्यं सतां श्रुत्यर्थं किल रायमल्लभविकस्याभ्यर्थनालेशतः ॥ २६

पंचमपरिच्छेदके बाद साहु रायमल्लको नीचे लिखा आशीर्वाद देकर फिर लिपिक ा की प्रशस्ति दी गई है—

अग्रोतवंश गगनांगण सप्तसप्तिः
सन्मार्गनिर्वपणवृत्ततपोनुरक्तः ।
आप्तोक्तयुक्तपरमागमभावितात्मा
नान्वात्मजो जगति नन्दतु रायमल्लः ॥

आशीर्वादः । ५ । इति श्री भविष्यदत्तचरितं श्रुतपंचमीगर्भितं समाप्तं ।

संवत १६१५ वर्षे फागुणसुदि सप्तमी बुधवासरे अकबरराज्ये प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठसंघे माथुरान्वये पुष्करगणे उभयभाषाप्रवीण तपोनिधिः भट्टारक श्री-उद्धरसेनदेवाः तत्पट्टे सद्ज्ञानजलसमुद्रविवेककलाकम-लिनीविकासनैकदिनमणिः भट्टारकश्रीदेवसेनदेवा तत्पट्टे कविविद्याप्रधानभट्टारकश्रीविमलसेनदेवाः तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टे भट्टारकश्री-यशःकीर्तिदेवाः तत्पट्टे [।] दयादि(द्वि) चूडामणि-भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवाः तत्पट्टे वादीभकुंभस्थल-विदारणैककेसरि भव्याम्बुज विकासनैकमार्तण्डः दुर्गम पंचमहाव्रतधारणैकप्रचण्डः चारुनारित्रोद्वहनधुराधीरः निर्जितैकवीरः भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवाः तत्पट्टे भट्टारकश्रीभानुकीर्तिदेवाः तस्मिष्यमंडलाचार्यश्रीकुमार-सेनिदेवा तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गोइलगोत्रे सुदेस-परदेशविख्यातामनु चौधरी छाजू तयो पुत्र सेरुवत पंच। प्रथमपुत्र अनेकदानदाइकु चौधरी ही(?), दुतियं पुत्र चौधरी बूढणु २, त्रितियु पुत्र चौधरी नरपालु ३, चतुर्थपुत्र चौधरी भोगा ४, चौधरी नरसिंघ भार्या सीलतोयतरंगिणी साध्वी सदनाही, तयोः पुत्रत्रयं, प्रथमपुत्र चौधरी नानू भार्या साध्वी ओढरही तयो पुत्र द्वौ, प्रथमपुत्र चौधरी (दुतियपुत्र) अनेकदान-दाइकु चौधरी रायमलु तस्य भार्या साध्वी द्वौ। प्रथम-भार्या साध्वी ऊधाही दुतिय भार्या साध्वी सीनाही, तयो पुत्रत्रयं प्रथमपुत्र चिरंजीवी अमीचंदु, तस्य भार्या साध्वी जेठमलही, चौधरी रायमल्ल दुतियपुत्र चिरजीवी उदैसीघु, त्रितियपुत्रु चिरजी—(इसके आगे का पत्र नहीं है)।

सरस्वतीभवनके रजिस्टरमें और ग्रन्थके ऊपर इस ग्रन्थका नाम 'कथाकोश' और ग्रन्थकर्ताका नाम 'पद्मनन्दिसूरि' लिखा हुआ है! ग्रन्थका नम्बर ६४६ क है।

द्वितीय ग्रन्थ रायमल्लाभ्युदय खंभातकी श्री कल्याणचंद्रकी लायब्रेरीमें है जिसकी नोंध प्रो० पीटर पिटर्सनने 'जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी' के (एक्स्ट्रा नम्बर सन १८८७) में ली है।

उक्त प्रति १०५ पत्रोंकी है और सम्पूर्ण है।

ग्रन्थमें चौबीस तीर्थंकरोंका चरित्र है। ग्रन्थका प्रारम्भिक अंश और अन्त्य प्रशस्ति आगे दी जाती है। अन्त्य प्रशस्ति। भविष्यदत्तचरितकी

और इसकी लगभग एक सी है।

स श्रीमान्नाभिसुनुर्विलसदविकलब्रह्मविद्याविभूति-
प्रश्लेषानंदसांद्रद्रवमधुरसुधासिंधुमग्नानुभूतिः ।
यस्यांतर्वैरिवारेंधनदहनशिखाधूमभूमभ्रमाभा
भ्राजंते मूर्ध्निनीलच्छविजटिलजटाः पातु वः श्रीजिनेन्द्रः।
श्रीप्रोनकवंशजा शुचिमतिस्तत्वार्थविद्यापटु—
र्येस्याभिज्ञमतल्लिकाभिरनिशं गोष्ठीस्फुटं रोचते।
मान्यो राजसभासु सज्जनसभाशृङ्गारहारो भुवि ।
श्रीजैनेन्द्रपदाग्रयार्च्चनरतः श्रीरायमल्लो भवत् ॥
तेनाभ्यर्थनयार्थितः सविनयं तेजः पुरस्थः [सदा]
[मा न्यः संसदि पद्मसुन्दरकविः पट्तर्कसक्रांतधीः ।
श्रीनाभेयजिनादिवीरचरमश्रीतीर्थकृत्सत्कथा
गर्भं [चारुविधीय]तां मृदुमहाकाव्यं मम प्रीतये ॥८
यः पूर्वं श्रुतपंचमीफलकथा गर्भं भविष्याह्वयं
काव्यं कारितवान [न्यजि] पदयोनत्वा पुनः सत्कवि ।
नाभेयादि समस्ततीर्थपमहाकल्याणवृत्तांकितं
सत्काव्यं क्रियतां सतां श्रुतिमनः प्रह्लादनश्रेयसे ॥९
चतुर्विंशतितीर्थेशकल्याण चरिताद्भुतं ।
प्रारभ्यते महाकाव्यं महापुरुषसंश्रितं ॥ १० ॥
महाकवीनामालंब्य मतमागमसम्मतं ।
संक्षेपरुचिभव्यांगिप्रीतये तदभिदध्महे ॥ ११ ॥
आनंदोदयपर्वतैकतरणेरानन्दमेरोर्गुरोः
शिष्यः पंडितमौलिमंडनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः ।
तच्छिष्योत्तमपद्मसुन्दरकविः श्रीरायमल्लोदयं
काव्यं नव्यमिदं चकार सकलार्हद्वृत्तभव्यांकितं॥१००
जनपदेषु महान्कुरुजंगलः सुकृतिभिः कृतिभिः कृतमंगलः
उडुगणेषु निशाकरमंडलः किमु विभाति विभाकरतुंदिलः
यत्रासिधारासत्तीर्थे सुस्नानं कुरुपांडवैः ।
वसुंधरावधूद्वाहकृते कृतपरिश्रमैः ॥ २ ॥
यत्र गंगासरित्पूरधारा हारायते भृशं ।
विलसद्भूमिभामिन्याः शंखकुंदेन्दुसुंदरा ॥३॥
तत्र सुत्रामपुरवद्धस्ति नागपुरं परं ।
तच्छ्राख्यानगरं रम्यं चरस्थावरसंज्ञकं ॥ ४ ॥
यत्र नानाद्रुमारामपरिमंडितमंडलं ।
विभ्राजते नु वसुधावनिताकर्णकुंडलं ॥ ५ ॥
यत्र कूपाः स्फुरद्रूप वी–ह परिमंडलैः ।
पुष्करिण्यः पुष्करोघैः साहसैः परिशीलिताः ॥६॥
यत्र सौधाः सुधाशुभ्राश्चंद्रिका धौतभूतलाः ।
जनताजनितानंदाः संति संतापहारिणः ॥७॥
नंद्यावर्त्तादयो यत्र नागराणां बभुर्गृहाः ।
स्फुटस्फुटिकपाषाणघटितामलविग्रहाः ॥८
यत्सौधशिखरस्थानां मुग्धानां मुखमंडलैः ।
लक्ष्यते पौरवृन्देन शतचंद्रायितं नभः ॥९
सुश्रावकाणां यत्र श्रीर्व्ययिता जिनसदनसु ।
प्रात्तुंगशिखरव्याजादुच्चैः पदमिवादिशन् ॥१०
तत्राग्रोतकवंशे गोइलगोत्रे बभूव नरसिंहः ।
सिंहः सत्पुरुषाणां पौरुषवृत्या विभाति स्म ॥११
तत्पत्नीमदनाही शीलवती धर्मकर्मसु नितांतं ।
कुशलाय रत्नगर्भा सुतरत्नद्वयमसौ सुपुवे ॥ १२
नानू च महणपालस्तत्तनयौ विनयनयकलाकुशलौ ।
आस्तां निरस्तकलुषौ जिनधर्मपरायणौ नित्यं ॥ १३
नानूसाधोश्च सुधासुधांशुशुद्धांशुविशदगुणकीर्तेः ।
[1]ऊढरही पत्न्यासी निजशीलपवित्रितचरित्रा ॥ १४
रोहणभूरिव रत्नं नररत्नं रायमल्लतनयं सा ।
प्रासूत रत्नगर्भा जननी जननयनकुमुदेंदु ॥ १५
यस्तु जिनचरणपूजापुरंदरः सुंदरः सदा सुगुणैः ।
दाता ज्ञाता निपुणो जिनधर्मधुरंधरः सततं ॥ १५
[1]एकोनपंचवर्गप्रमितजिनानां चरित्रसंदृब्धं ।
यो रायमल्लपूर्वाभ्युदयं काव्यं च कारितवान ॥ १६
[2]यस्य धनं धनबीजं सुदेवगुर्वागमयादिसत्क्षेत्रे -
उप्तं श्रद्धाम्भोभिः सिक्तं स्वर्गादिफलदायि ॥ १७

१ भविष्यदत्तचरितकी प्रशस्तिमें इस पंक्तिके बदले नीचे लिखी पंक्ति है :—
"विख्यातस्तत्तनयो भूस्त्रामान्यो रायमल्ल इति ।"
और 'रोहणभूरिव' आदि श्लोक नहीं है ।

१–२–भविष्यदत्तमें इन दो पद्योंके स्थानमें नीचे लिखे दो पद्य हैं—
येन श्रुतपंचम्याः फलसंदर्भेण गर्भितं रम्यं ।
सुभविष्यदत्तचरितं कारितमात्मश्रवणहेतोः ॥ २१
यच्चरितस्य श्रवणाद्भाविकाना जायते फलमुदारं ।
संतनिकारणमिह प्रेत्य स्वर्गापवर्गकरं ॥ २२

यस्य भवानीदासः सहोदरः पुण्यवानपि कनीयान्।
नृपसदसि लब्धिमानः सौभाग्यसुभाग्यभोगनिधिः ॥१८
³स च रायमल्लसाधुः सद्धर्मसुधाब्धिवर्द्धननवेंदुः।
जैनक्रियासु कुशलः कुशलकशिरोमणिर्जीयात् ॥१६
⁴ऊधाहीति प्रथमा तद्भार्या दानशीलसंपन्ना।
धुरि सौभाग्यवतीनां पतिव्रतासीत्कुलगरिम्णा ॥२०
⁵तत्पुत्रोमी[चं]द्रो दक्षो नयविनयशीलसंपन्नः।
सद्धर्मकर्मनिरतो जयताच्चंद्रतारार्कं ॥ २१
⁶अथ रायमल्लसाधोर्मीनाहीति द्वितीय भार्यासीत्।
तत्कुक्षिशुक्तिगर्भे बभुः सुताः शुक्तिजाकृतयः ॥ २२

आद्यस्तूदयसिंहोनुजस्तथा शालिवाहनाभिख्यः।
अपरोऽप्यनंतदासो नंदतु चिरं त्रयस्तनयः ॥ २३
वर्षे विक्रमराज्यतः शरकलाभृत्तर्कभूसंमिते।
ज्येष्ठे मासि सिते च पंचमदिनेर्हद्वृत्तसंदर्भितं।
काव्यं कारितवानपूर्वरसवद्यो रायमल्लोदयं।
जीयादारविचंद्रतारकमयं श्रीरायमल्लाह्वयं ॥ २४

इति श्रीपरमाप्तपरमपुरुष चतुर्विंशति तीर्थंकर-गुणानुवादचरिते पं० श्रीपद्ममेरुविनेये पं० पद्मसुंदर-विरचिते वर्द्धमानजिनचरित्रमंगलकीर्त्तनं नाम पंच-विंशः सर्गः ॥ २५ ॥

अमरसुरनरेंद्रव्यूहकोटीरकोटी-
मणिगणकिरणाभा धौतपादारविंदः।
चरमजिनपतेस्तं वर्द्धमानः समिद्धां
प्रदिशतु शिवलक्ष्मीं रायमल्लाह्वाय ॥१॥

बम्बई, १५-७-४४ आशीर्वादः।

३ भविष्यदत्तमें इस प्रकार है—
स च रायमल्लसाधुर्नय विनयसुशीलशालिनासततं।
तनयेन्नामीचंद्राह्वयेन सहितः सदा जीयात् ॥
४-५-६-७ ये पद्य भविष्यदत्तमें नहीं हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व

(ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०)

[गत किरणसे आगे]

३

अब हम अपनी तीसरी समस्यापर आते हैं। न्यायाचार्यजीने वादिराज और प्रभाचन्द्र सम्बन्धी दो उल्लेख ऐसे दिये हैं जिनमें रत्नकरण्डश्रावकाचारकी रचना ग्यारहवीं शताब्दिसे पूर्वकी सिद्ध होती है। किन्तु उसका आप्तमीमांसाके साथ एक कर्तृत्व सिद्ध करनेके लिये उन्होंने केवल तुलनात्मक वाक्योंका आश्रय लिया है, पर ऐसा कोई ग्रंथोल्लेख पेश नहीं किया जिसमें किसी ग्रंथकारद्वारा वे स्पष्टरूपसे एक ही कर्ताकी कृतियां कही गई हों। यह बात नहीं है कि ऐसा कोई उल्लेख उन्हें उपलब्ध न हुआ हो, क्योंकि विद्वद्वर्य पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारकी जिस प्रस्तावनापरसे उन्होंने अपनी ऐतिहासिक सामग्री ली है वहींपर एक ऐसा उल्लेख विद्यमान है, और वह ठीक उसी स्थलपर है जहांके पृष्ठोंका उन्होंने एक अन्य बातके लिये विशेषरूपसे उल्लेख किया है। मुख्तार सा० की प्रस्तावना के पृ० ११ पर वादिराजसूरिकृत पार्श्वनाथचरितके दो ऐसे श्लोक उद्धृत हैं जिनमें क्रमशः देवागम (आप्तमीमांसा) और रत्नकरण्डक एवं उनके कर्ताओंका उल्लेख है। उन उल्लेखोंपरसे मुख्तार सा०ने वहां यह निष्कर्ष भी निकाला है कि "इस ग्रंथ (पार्श्वनाथचरित) में साफ तौरसे देवागम और रत्नकरण्डक दोनोंके कर्ता स्वामी समन्तभद्रको ही सूचित किया है।" इन पक्तियोंको देखते हुए हमें आश्चर्य होता है कि न्यायाचार्यजीने अपने प्रस्तुत लेखमें इस प्रबल प्रमाणका उपयोग क्यों नहीं किया? उसे तो उन्हें अपने

मतकी पुष्टिमें अधिकसे अधिक प्रबलताके साथ प्रस्तुत करना चाहिए था। पर उन्होंने वादिराजके रत्नकरण्डक सम्बन्धी उल्लेखका तो कथन किया, किन्तु उन्हींके द्वारा मुख्तार सा० के अवतरणानुसार ठीक उसीसे पूर्वके श्लोकमें उल्लिखित आप्तमीमांसाकी बातको वे सर्वथा छिपा गये। इसका कारण हमें तब समझमें आया जब हमने वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितको उठाकर देखा। वहां हम प्रस्तुत प्रसंगोपयोगी एक साथ दो ही नहीं किन्तु तीन श्लोक पाते हैं जो इस प्रकार हैं —

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येन अद्यापि प्रदर्श्यते ॥ १७ ॥

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८

त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ १९ ॥

वादिराजसूरिने इन तीन श्लोकोंमेंसे प्रथममें स्वामी व उनके देवागमका, दूसरेमें देवकृत शब्दशास्त्रका एवं तीसरेमें योगीन्द्रकृत रत्नकरण्डका उल्लेख किया है। प्रथम और तृतीय उल्लेख तो स्पष्ट हैं, किन्तु यह बीचका उल्लेख किसका है यह प्रश्न उपस्थित होता है। यदि ये तीनों उल्लेख किसी एक ही ग्रंथकार और उसकी ही तीन रचनाओंके माने जा सकते तो न्यायाचार्यजी उसका उल्लेख किये बिना कभी न रहते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका कारण यही समझमें आता है कि वे न तो उस बीचके उल्लेखको समन्तभद्र स्वामीकी रचना सम्बन्धी स्वीकार कर सके और न उसे किसी अन्य ही ग्रन्थकार सम्बन्धी स्वीकार कर सके। फलतः आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डको भिन्न कालवर्ती दो भिन्न भिन्न आचार्योंकी रचनाएँ मान सके। बात यह है कि वह बीचका उल्लेख उन्हीं देव अर्थात् देवनन्दी पूज्यपाद और उनके सुप्रसिद्ध शब्दशास्त्र जैनेन्द्र व्याकरणका है जिनका उल्लेख हरिवंश पुराण, आदिपुराण तथा अन्य अनेक ग्रंथों व शिलालेखों आदिमें पाया जाता है (देखो, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा सम्पादित समाधितंत्रकी प्रस्तावना पृ० ३)। इस श्लोककी स्थितिपरसे वादिराजसूरिका यह मत स्पष्ट हो जाता है कि वे आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डको दो भिन्न आचार्योंकी कृतियां मानते हैं। यह सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण क्यों दबाया गया है यह समझमें नहीं आता? वादिराजसूरि द्वारा डाले हुए इस प्रकाशकी रोशनीमें अब यदि हम रत्नकरण्ड और सर्वार्थसिद्धिके उन समान अंशोंपर दृष्टि डालें जिन्हें मुख्तार साहबके लेखपरसे न्यायाचार्यजीने उद्धृत किया है तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि सर्वार्थसिद्धिकारने उन्हें रत्नकरण्डसे नहीं लिया, किन्तु संभव है रत्नकरण्डकारने ही अपनी रचना सर्वार्थसिद्धिके आधारसे की हो!

इस सम्भावनाको लेकर ज्यों ही मैंने अपनी दृष्टि रत्नकरण्डश्रावकाचारपर डाली त्यों ही मेरी दृष्टि उस रचनाके उपान्त्य श्लोकपर अटक गई जहां उस ग्रन्थके कर्त्ताने श्लेषरूपसे अपनी रचनाके आधारभूत ग्रन्थों व ग्रंथकारोंका उल्लेख किया है। वह श्लोक इस प्रकार है —

येन स्वयं वीतकलङ्क-विद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ।२८

यहाँ टीकाकार प्रभाचन्द्र द्वारा बतलाये गये वाच्यार्थके अतिरिक्त श्लेषरूपसे यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि "जिसने अपनेको अकलङ्क और विद्यानन्दिके द्वारा प्रतिपादित निर्मल ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नोंकी पिटारी बना लिया है उसे तीनों स्थलोंपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्रसे पतिको अपनी पत्नी।' यहाँ निस्सन्देहतः रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः अकलंककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दिकृत श्लोकवार्तिकमें प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलङ्ककृत और विद्यानन्दिकी रचनाओंको हृदयगम कर लिया उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आ जाती है। रत्नकरण्डके इस उल्लेखपरसे निर्विवादतः सिद्ध हो जाता है कि वह रचना न केवल पूज्यपादसे पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्दिसे भी पीछे की है। अतएव जिन ग्रन्थोंमें इस ग्रन्थसे तुल्य वाक्यादि पाये जाते हैं उनके पूर्वापरत्वका विचार अब इसी प्रकाशमें करना चाहिये। चूंकि न्यायाचार्यजी आप्तमीमांसाकारको पूज्यपादसे सुप्राचीन स्वीकार करते हैं,

अतएव आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डके रचनाकालोंमें अब कई शताब्दियोंका अन्तराल पड़ता है जिससे वे दोनों एक लेखककी कृतियां कदापि नहीं स्वीकार की जा सकती। विद्यानन्दिका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दिका अन्त व ९ वीं शताब्दिका प्रारम्भकाल (ईसवी सन् ८१६ के लगभग) सिद्ध होता है। अतएव रत्नकरण्डकी रचनाका समय इसके पश्चात् और वादिराजके समय अर्थात् शक सं० ६४७ से पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधिके प्रकाशमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार और रत्नमालाका रचनाकाल समीप आ जाते हैं और उनके बीच शताब्दियोंका अन्तराल नहीं रहता, क्योंकि न्यायाचार्यजीने ऊहापोह पूर्वक उस सम्बन्धमें यह निष्कर्ष निकाला है कि 'रत्नमालाका समय ११ वीं शताब्दिसे पूर्व सिद्ध नहीं होता।" अतएव उन दोनों ग्रन्थोंके कर्ताओंके सम्बन्धमें जिस सम्भावनाकी सूचना मैंने अपने पूर्व लेखमें की थी वह अब भी विचारणीय है।

(अगले अङ्क में समाप्त)

भगवतीदास नामके चार विद्वान्

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

जैन समाजमें भगवतीदास अथवा भगोतीदास नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं, परन्तु आम तौरपर 'ब्रह्मविलास' के कर्ता ही पं० भगवतीदास समझे जाते हैं। अस्तु; मुझे इस नामके चार विद्वानोंका पता चला है। जिनका संक्षिप्त परिचय अनेकान्त-पाठकोंकी जानकारीके लिये प्रकट किया जाता है।

एक पांडे जिनदासके गुरु ब्रह्मचारी भगवतीदास थे। पांडेजीने संवत् १६४० भादोंवदि पंचमी गुरुवारके दिन 'जम्बूस्वामीचरित्र' की रचना की है*। और उसे आगराके साहू पारसके सुपुत्र उन साहू टोडरके नामांकित किया गया है जिन्होंने मथुराके पास निसही बनवाई थी। उस ग्रन्थमें जिनदासजी अपने गुरुका नाम ब्रह्मचारी भगोतीदास प्रकट करते हैं; जैसा कि उनके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

"ब्रह्मचारि भगोतीदास, ताको शिष्य पांडे जिनदास"।

परन्तु यह ब्रह्मचारी भगोतीदास (भगवतीदास) कौन थे और इनका विशेष परिचय क्या है? यह ग्रन्थपरसे कुछ मालूम नहीं हो सका।

दूसरे भगवतीदास वे हैं जिनका उल्लेख कविवर बनारसीदासजीने अपने नाटक समयसारकी रचना करते समय संवत् १६६३ में किया है और उन्हें उत्तम बुद्धिवाला बतलाते हुए यह प्रकट किया है कि वे उन पांच आध्यात्मिक विद्वानोंमेंसे थे जिनकी प्रेरणापर उन्होंने नाटक समयसार की रचना की है×। साथ ही पंडित हीरानन्दजीने पंचास्तिकाय' का हिन्दी पद्यानुवाद करते समय, संवत् १७११ में जिनका ज्ञाता भगवतीदासके नामसे उल्लेख किया है+। ये भगवतीदास संवत् १६४० वाले ब्रह्मचारी भगवतीदास से भिन्न जान पड़ते हैं। अन्यथा कविवर बनारसीदास और पं० हीरानन्दजी अपने अपने ग्रन्थोंमें इनका 'सुमति' और 'ज्ञाता' जैसे विशेषणोंके साथ उल्लेख न करके ब्रह्मचारी भगवतीदासके रूपमें ही उल्लेख करते। इसके सिवाय पांडे जिनदासजीकी ग्रंथ-रचनाके समय सं० १६४० में उनके गुरु भगवतीदासजीकी अवस्था ४० वर्षके लगभग जरूर रही होगी। और ऐसी स्थितिमें उनका सं० १७११ तक जीवित रहना कुछ संभव प्रतीत नहीं होता। अतः ये दोनों व्यक्ति भिन्न भिन्न ही मालूम होते हैं।

तीसरे भगवतीदास बूढ़िया जिला अम्बालाके निवासी थे। यह अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे, इनका गोत्र

* संवत्सर सोरहसै भए, चालीस तास ऊपर गए।
भादोंवदि पांचें गुरुवार, तादिन कियो कथाउच्चार।

× 'सुमतिभगोतीदास' नाटक समयसार प्रशस्ति।

+ तहां भगोतीदास है ग्याता—पंचास्तिकाय प्रशस्ति।१०

'बंसल' था* । और ये देहलीके भट्टारक गुणचन्द्रके प्रशिष्य तथा भ० सकलचंद्रके शिष्य भ० महेन्द्रसेनके शिष्य थे । और बूढियासे योगिनीपुर (देहली) में ही जाकर रहने लगे थे। कुछ समय हिसारमें भी रहे थे। भ० महेन्द्रसेनके शिष्य होते हुए भी ये भट्टारक नहीं थे, किन्तु पं० भगवतीदास नामसे ही प्रसिद्ध थे। ये १७ वीं शताब्दी के विद्वान् थे। इनकी इस समय तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—सीता सतु० (बृहत् व लघु) अनेकार्थनाममाला और मृगांकलेखाचरित्र। सीतासतु नामकी विस्तृत कृति इन्होंने सं० १६८४ में तय्यार की थी। बादको उसे ही संक्षिप्त करके संवत् १६८७ में चैत्रशुक्ला चतुर्थी चंद्रवारके दिन भरणी नक्षत्रमें लघु सीतासतु नाम दिया गया। इस ग्रंथमें बारह-मासाके मंदोदरी सीता प्रश्नोत्तरके रूपमें रावण और मंदोदरी की चित्त वृत्तिका परिचय देते हुए सीताके दृढ़तम सतीत्वका अच्छा चित्रण किया गया है। रचना सरल और हृदयग्राही है तथा पढ़नेमें रुचिकर मालूम होती है।

दूसरी रचना अनेकार्थनाममाला है। यह एक पद्यात्मक कोष है, जिसमें एक शब्दके अनेक अर्थोंको दोहा छंद में संग्रह किया गया है। यह कविवर बनारसीदासजीकी नाममालासे १७ वर्ष बादकी रचना है, जो संवत् १६८७ में आषाढ कृष्णा तृतीया गुरुवारके दिन शाहजहाँके राज्यकाल में देहली-शाहदरामें पूर्ण की गई है। इन दोनों रचनाओं का संक्षिप्त परिचय अनेकान्त वर्ष ५ किरण १-२ में कराया जा चुका है।

तीसरी रचना 'मृगांक लेखाचरित्र' है। इसमें ग्रंथकार ने 'चंद्रलेखा और सागरचन्द्रके चरित्रका वर्णन करते हुए चन्द्रलेखाके शीलव्रतका महत्व स्थापित किया है। चन्द्रलेखा अनेक विपत्तियोंको साहस तथा धैर्यके साथ सहते हुए अपने शीलव्रतसे विचलित नहीं हुई, प्रत्युत उसमें स्थिर रहकर उसने सीताके समान सतीत्वका अच्छा और अनुपम आदर्श उपस्थित किया है।

कवि भगवतीदासने इस ग्रंथको हिसारनगरके भगवान वर्धमान (महावीर) के मन्दिरमें विक्रम संवत १७०० में अगहन शुक्ला पंचमी सोमवारके दिन पूर्ण किया है। उस समय मंदिरमें ब्रह्मचारी जोगीदास और पं० गंगाराम उपस्थित थे* ।

चौथे भगवतीदास 'ब्रह्मविलास' ग्रंथके कर्ता हैं। ग्रंथपरसे जाना जाता है कि आप आगराके निवासी थे। आपके पितामह ओसवाल जातिके कटारियागोत्री साहू दशरथलाल थे, जो आगराके प्रसिद्ध व्यापारियोंमेंसे थे और जिनपर पुण्योदयवश लक्ष्मीकी बड़ी कृपा थी। विशाल सम्पत्तिके स्वामी होनेपर भी जो निरभिमानी थे। उनके सुपुत्र अर्थात् कविवरके पिता साहू लालजी भी अपने पिताके समान सुयोग्य, सदाचारी, धर्मात्मा और उदार सज्जन थे।

पं० भगवतीदास १८ वीं शताब्दिके प्रतिभासम्पन्न विद्वान् कवि और आध्यात्मिक समयसारादि ग्रंथोंके बड़े ही रसिक थे। इनका अधिक समय तो अध्यात्म ग्रंथोंके पठन-पाठन तथा गृहस्थोचित षट्कर्मोंके पालनमें व्यतीत होता था, और शेष समयका सद्व्यय विद्वद्गोष्ठी, तत्त्व-चर्चा एवं हिन्दीकी भावपूर्ण कविताओंके रचनेमें होता था। आप प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी भाषाके अभ्यासी होनेके साथ साथ उर्दू, फ़ारसी, बंगला, तथा गुजराती भाषाका भी अच्छा ज्ञान रखते थे, इतना ही नहीं किन्तु ऊर्दू और गुजरातीमें अच्छी कविता भी करते थे। आपकी कविताएं सरल और सुबोध हैं और वे पढ़नेमें बहुत ही रुचिकर मालूम होती हैं। उनकी भाषा प्राञ्जल और अर्थबोधक है और ये भाषासाहित्यकी प्रौढ़ताको लिये हुए हैं। उनमें लोगोंके अनुरंजनकी शक्ति है और साथ ही आत्मकल्याण

---

* नगर बूढिए बसै भगोती, जनमभूमि है आसि भगोती।
अग्रवाल कुल बंसल गोती, पंडितपद जन निरख भगोती।
—सीतासतु प्रश०

* घत्ता—सगदह सय संवदतीद तहा, विक्कमराय महप्पए।
अगहणसिय पंचास सोमादिणे, सुणदिवसउ अविचयप्पए। १
दुवइ-चरिउ मयंकलेह चिरुणंदउ, जामगयणिससि-ससिहरो।
मंगलमारुह वइजणि मेइणि, धम्म पसंगसहिद करो। २
गाथा—रइओ कोट हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थट्ठिओ वयधारी जोईदासो वि बंभयारीओ॥ ३
भागवई महुरीया वत्तिगवरवित्ति माइणाविरिणा।
विबुध सु गंगारामो तत्थठिओ जिणहरेसु मइवंतो। ४
दोहा—ससिलेहा सुयबंधुजे अहिउ कहिणु जो आसि।
महुरी भासउ देसकरि भणउ भगोतीदासि॥ ५
—मृगांकलेखाचरितप्रशस्ति।

प्रशस्त पुट लगी है, इसीसे वे स्व-पर-कल्याणमें बहुत कुछ सहायक जान पड़ती हैं। कविका विशुद्ध हृदय विषय-वासनाके जंजालसे जगतके जीवोंका उद्धार करनेकी पवित्र भावनासे ओत-प्रोत है। और उनमेंकी अधिकांश कविताएँ दूसरोंके उद्बोधन निमित्त लिखी गई हैं।

आपकी एकमात्र कृति ब्रह्मविलास है। यह भिन्न-भिन्न विषयोंपर लिखी गई ६७ कविताओंका एक सुन्दर संग्रह है। इसमें कितनी ही रचनाएँ तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक एक स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें संकलित की जा सकती हैं, और जो कितने ही ग्रंथ-भंडारोंमें स्वतन्त्र ग्रथके रूपमे उपलब्ध भी होती हैं। उक्त विलासकी ये कविताएँ काव्य-कलाकी दृष्टिसे परिपूर्ण हैं उनमें रीति, अलंकार, अनुप्रास और यमक यथेष्ट रूपमें विद्यमान हैं साथ ही, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका और चित्रबद्ध काव्योंकी रचना भी पाई जाती है। प्रस्तुत संग्रहमें यद्यपि सभी रचनाएँ अच्छी हैं; परन्तु उन सबमें १ चेतन कर्मचरित्र २ पंचेन्द्रिय सम्वाद ३ मनबत्तीसी ४ बाईस परीषहजय ५ वैराग्यपच्चीसिका ६ स्वप्नबत्तीसी ७ सुवाबत्तीसी ८ और परमात्मशतक आदि रचनाएँ बड़ी ही चित्ताकर्षक और शिक्षाप्रद जान पड़ती हैं। ये अपने विषयकी अनूठी रचनाएँ हैं। कविवर भक्तिरसके भी रसिक थे, इसीसे आपकी कितनी ही रचनाएँ भक्तिरससे ओतप्रोत हैं। इस संग्रहमें आपकी रचनाएँ संवत् १७३१ से १७५५ तककी उपलब्ध होती हैं। इसके बाद कितने समय तक आप और जीवित रहे हैं यह कुछ मालूम नहीं हो सका। अन्वेषण होनेपर संभव है आपके जीवन-सम्बन्धमें कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो सके।

इस तरह भगवतीदास नामके चार विद्वानोंमेंसे दो ऐसे हिन्दीके कवि हैं जिनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं और जिनमेंसे एक अग्रवाल जातिके और दूसरे ओसवाल जातिके दिगम्बर जैन हैं। एकका अस्तित्वकाल विक्रमकी प्रायः १७ वीं शताब्दी और दूसरेका १८ वीं शताब्दी है।

वन्दिनी

[भगवान महावीरके जीवनकी एक झाँकी]

(लेखक—स्व० श्री भगवतस्वरूप जैन)

[यह कहानी 'वीरशासनाङ्क' नामक विशेषाङ्कके लिये कुछ मास पूर्व प्राप्त हुई थी। खेद है कि लेखक महाशय अपनी इस सुन्दर कृतिको अपने जीवनमें प्रकाशित नहीं देख सके! और ता० ४ दिसम्बरको अनेकान्त-पाठकों मे भी मोह छोड़कर एकाएक स्वर्ग सिधार गये। अतः उनकी यह धरोहर उनके चिरपाठकोंको समर्पित है।—संपादक]

[१]

चन्दना! ...

कोमलसी प्रतिमूर्ति, अनुपम सुन्दरी! सुख और समृद्धिके बीचमें विकसित होनेवाला वह शरीर, जो दूसरे के भीतर प्रसन्नता, मुग्धता और अतृप्तता प्रविष्ट करनेमें समर्थ।

राजकुमारी खिले हुए नए फूलोंसे मन बहला रही थी। उपवन महक रहा था। नैसर्गिक सौन्दर्य बिखर रहा था—हरी-हरी दूब रंग-बिरंगे खिले-अधखिले फूल!

किन्तु उधर, बेचारी चन्दनाका दुर्भाग्य झांक रहा था। कोई नहीं जानता था, कि क्या होने जा रहा है, इन्हीं मनोरंजनकी दो-चार घड़ियोंके भीतर?

सखियाँ-सहेलियां, दासियां सभी राजकुमारीका पदानुसरण कर रहीं थी! सब प्रमोदमग्न!

सहसा उपवनका सुवासित, शीतल वातावरण आर्त-ध्वनिसे प्रकम्पित हो उठा।

सखियां, सहेलियां, दासियां रोने लगीं। राजकर्मचारी दौड़ने लगे। उपवनसे लगाकर राज-भवन तक चीख उठा! महाराजका कंठ रुँध गया। राज-रानीकी आँखें सूज आईं।

सैकड़ों कण्ठ एक साथ एक ही प्रश्न कह रहे हैं—'राजकुमारीजीको कौन ले गया?'

× × ×

[२]

तरुण-बुद्धिमें तीक्ष्णता, तरुण-विचारोंमें अगांभीर्य और तरुण-शरीरमें कान्ति रहती है, बल रहता है। पर, वह बहुत कम रहता है, जिससे अपना और दूसरेका हित-साधन हो। कुछ बदलकर कहें तो इसका नाम होगा—आध्यात्मिक-दृष्टि!

तरुणाईके भीतर वासना जागृत रहती है, तो विवेक क्षमा माँग लेता है। फिर उसके हाथों शुभ-कर्म मुश्किलसे ही हो पाते हैं। बुद्धि काम नहीं देती, उमगें ढकेलती हैं—नलहटीकी ओर!...

विमानमें बैठा जा रहा था—पृथ्वीकी शोभा देखता-भालता। आकाशमें जो कुछ देखनेको नहीं था—शून्य आकाश! केवल विशालता ही तो उसने पाई है। दूसरेके बड़प्पनमात्रसे कब किसको सुख मिला है?

अनायास उसकी तरुण-दृष्टिने देखी—रूपकी रानी—चन्दना! मन मुग्ध होगया। मनके पास गांभीर्य नहीं था, विवेक नहीं था। उमंग थी, तरुण और शक्तिशाली! वह नीचे उतर आया, शायद अपने व्यक्तित्वसे भी!...

+ + +

[३]

चन्दनाका अपहरण करनेके बाद भी अभागे विद्याधरको सुख नहीं मिला। मिलनकी उत्सुकता ज़रा भी टिकाऊ नहीं निकली। इस अन्याय-कर्ममें उसने रस लिया, पर आनन्द नहीं मिला। हाथोंहाथ उसे यह कड़ुवा-घूंट उगल देना पड़ा!

गृहणी साथ थी। दुर्भाग्यसे वह बिल्कुल सीधी सादी नहीं थी। नारी थी, पुरुषकी दबैल भी, किन्तु पुरुषके अन्यायपर बढ़े हुए पदको पीछे ढकेलनेकी शक्ति उसमें विद्यमान थी। पुरुषकी कठोरता और अपनी कोमलताको अनुभव करते हुए भी पुरुषके विरुद्ध मुँह खोलनेकी ताक़त वह अपनेमें मानती थी।

आवश्यकतासे अधिक दब्बूपन जहां नारियोंकी प्रगति में बाधक है, वहाँ पुरुषोंको अन्याय, अनाचार और दुराचार के मार्गपर बढ़ने देनेका अवसर देता है। वह कहती—यह बुरी चीज़ है। पति बिगड़ता जाय और गृहणी देखती रहे, सिर्फ उसीको लेकर कि उसे बोलनेका हक़ नहीं, क्योंकि वह पुरुषकी दासी है यह कदापि अच्छी बात नहीं कही जा सकती। न इसमें नारीके ममतामयी स्नेहकी गन्ध आती है, न स्वकर्तव्यकी!

पति हारा, पत्नीने विजय पाई। चन्दनाकी ओर आँख उठाकर देखनेका बल भी विद्याधर अपनेमें नहीं पा रहा था। वह चुप था! भीतरका अपराध उसकी बची-खुची शक्तिको भी समाप्त किए दे रहा था। पश्चातापकी आगमें जल रहा था वह!

चन्दना रो रही थी।

विद्याधरी कह रही थी- 'यह रोनेका हथियार आज कुछ काम भी देता है, आगे चलकर बिल्कुल व्यर्थ हो जाएगा। बिना इसे छोड़े नारीका कल्याण नहीं! रोओ मत, बहिन! हिम्मतपर भरोसा करना सीखो!'

[४]

लघुपरणी-विद्याके सहारे चन्दनाको पृथ्वीपर उतारकर विद्याधर अपने रास्ते लगा। उसे यह सोचने-समझनेका अवकाश भी उस वक्त नहीं था, कि राजकुमारी कहाँ पहुंचेगी, क्या होगा उसका?

पर, चन्दनाके दुर्भाग्यका छोर नहीं आया था प्रारम्भ ही हुआ था। अच्छे स्थानपर उतरती, यह कैसे हो सकता था?

लघुपरणीके सहारे वह पृथ्वीपर आगई—सकुशल! किन्तु अब ऐसे स्थानपर उसने अपनेको पाया, कि जहां चारों ओर अकुशल ही अकुशल दीख रही थी। आगके भीतर बैठकर, शीतलताकी आशा करना, मूर्खतासे अधिक है क्या? कुछ भी तो नहीं।

चन्दनाकी विपद्ग्रस्त बुद्धिने बताया—'प्राणकी आशा नहीं। जीवन, मृत्युके मुंहमें प्रतिक्षण पहुँचता जारहा है।'

और तभी उसने देखा—'हाथियोंका झुण्ड भागा जा रहा है, पीछे बाघ दहाड़ रहे हैं। अनेक पेड़ उखड़ते जा रहे हैं!'

'कितनी भयंकर अटवी है यह?'—काँपते स्वरमें चन्दनाके मुँहसे निकला।

वह रो रही थी—अपने दुर्भाग्यपर! और सोचती जा रही थी—'यहाँसे किस तरह निकला जाय?

भयसे कांप रही थी। शरीर दुर्बलता अनुभव कर रहा था, जैसे लम्बी बीमारीसे उठी हो। वह उठकर खड़ी हुई, दो क़दम आगे बढ़ी भी। अनायास उसकी दृष्टिके पथपर वह दृश्य आया कि वह वहीं चीख मारकर बैठ गई। आँखें मींच लीं।

एक मोटा ताज़ा अजगर रास्तेपर पड़ा साँसें खींच रहा है। शायद सोकर उठा है, और भूख निवृत्तिके उपक्रममें लगना चाह रहा है! बार-बार मुँह फाड़कर अपनी भयानकताको विकास दे रहा है। गोल-गोल आँखोंको खोलकर इस तरहसे इधर-उधर देख रहा है जैसे मतलबकी चीज़ खोज निकालनी हो!

अजगर रेंग रहा है!

और चन्दना मूर्छित पड़ी है!!

× × ×

[५]

घरमें दही बिलोते देखा है। डोरीका एक सिरा खींचते हैं, तो दूसरेको ढील पहुँचती है। वह यह सोच सकता है कि मेरे साथ रियायत हुई; पर, चीज़ असलमें यह नहीं है! वह जबतक बन्धन मुक्त नहीं है, तब तक ख़तरेसे खाली नहीं है। उसका अपना कुछ नहीं। दूसरेके इशारेपर ही तो चलना है—चाहे खींचे, चाहे ढील दे!

और इसीका नाम हम सुख और दुःख रखकर, हँसने और रोने लगें तो शायद विवेककी रायमें बुद्धिमानी नहीं होगी।

चन्दनाकी जब आँख खुली तो ठीक ऐसी ही स्थिति उसे देखनेको मिली। पलक मारते उसने सोचा—'अब निस्तार हो सकता है! विधनकी क्रूर दृष्टि शायद ठंडी पड़ गई है!'

बिडरूप मानव मूर्ति!!!

काजल-सा काला शरीर था। सुर्ख आँखें, बड़ी नाक और मोटे-मोटे ओठ थे। हाथ-पांव भी सुन्दर नहीं थे। बाल-सफेद हो चले थे। क़रीब-क़रीब बूढ़ा ही था। पर था मज़बूत!

चन्दनाने अपने राज्य शौर्यको काममें लाना चाहा। किन्तु वह इसमें कृतकार्य न हो सकी, दयनीय परिस्थितिने उसे विवश कर दिया। उसके मुँहसे निकला—बाबा!'

हिंसक जन्तुकी तरह देखता रहा, वह—एक टक!

फिर बोला—'क्या कहती है—छोकरी! मैं किरात-सरदार हूँ!'

चन्दना स्तंभित रह गई! वह सुनती आ रही है कि भील-जाति कितनी नृशंस, कितनी कठोर, कितनी असभ्य होती है।

उसकी धारणा बदली—'अभी अशुभका बल क्षीण नहीं हुआ है!'

× × ×

[६]

चन्दनाके रूपने पहले तो भीलप्रभुके अन्दर विकारकी ज्वाला ही दहकाई! किन्तु बादमें वह शान्त हो रहीं! दो सबब हुए, एक तो चन्दनाकी दृढ़ दृष्टिने उसे इरादा बदलनेको विवश किया, दूसरे उसके बुढ़ापेने उसे रोका और सम्मति दी—'अगर वह इस तरुणीको बेच डाले तो अच्छी रक़म हाथ लग सकती है!'—बूढ़ी, समझदार-अक्लकी बात टालने लायक़ उसे हर्गिज़ नहीं जँची। और उसने ऐसा ही किया! अटवीसे वह उसे अपनी पल्ली तक लाया था। अब शहर ले चला।

चन्दना मन ही मन खुश हो रही थी! शायद सोचती थी—'शहरमें पहुँचकर, वह अपने घर तक जानेका प्रयत्न आसानीसे कर सकेगी!'

किन्तु दैवकी आंख-मिचौनी अभी समाप्त कहां हुई थी?

एक पैसे वालेने चन्दनाको खरीद लिया। आशासे अधिक धन भील-राजको प्राप्त हुआ। वणिकवर चन्दनाके रूपपर अपनी पहली ही दृष्टिमें सब-कुछ निछावर करनेको तैयार होगए थे! सौन्दर्य-मदिरा उन्हें चेतना-हीन कर चुकी थी!

चन्दनाको वणिकपतिकी आंखोंमें स्पष्ट दीखा—उसका

दुर्भाग्य झांक रहा था। ...

वह थरथरा उठी।

समीप ही था कि पतनकी घृणित मूर्ति उसके सामने आती! पर, सौभाग्य; कि वैसा कुछ हुआ नहीं!

पूँजीपति जब तक कुछ करनेका साहस-संचय करें, उससे पहले उनकी पत्नीको विदित हो गया कि पतिदेव क्या करने जा रहे हैं! और तब फिर पतिदेवके लिए यह बिल्कुल सम्भव न रह गया, कि वे कुछ कर सकें। तब शायद पुरुषके भीतर नारी-सम्मानकी मात्रा, या उत्तरदायित्वका स्मरण खूब रहता था। जहां नारी अपनेको पदानुसारिणी माननेमें गौरव अनुभव करती, वहां पुरुष पत्नीके प्रति वह व्यवहार करता जो एक आश्रयमें आए हुएके साथ करना मनुष्यताका धर्म कहा जाता है।

चन्दनाका रूप ईर्षाकी वस्तु था। ईर्षाकी मिकदार नारियोंमें अधिक होती आई है। वे किसी रूपसीकी प्रशंसा, यह अनुभव करते हुए भी, कि 'यह सुन्दर है', नहीं कर सकतीं! वैसे शब्द उनके ओठों बाहर नहीं आते।

ईर्षामें डूबे हुए बणिक-पत्नीके मनमें एक विचार उठा—'चन्दना रूपवती है। रूपवती है, इसीलिए पुरुषों को विह्वलता देती है, पतनका मार्ग बतलाती है। न जाने कितने पुरुषोंका अहित हुआ होगा इसके द्वारा? कितनी गृहस्थियोंमें संघर्ष पैदा हुआ होगा? कितनी पराधीन नारियोंको मनःस्तापने जलाया–झुलसाया होगा? ...'

वह बैठी सोचती रही—'इसे छोड देना ठीक नहीं होगा। यहीं क़ैद रखकर, इसके रूपको नष्ट करनेका प्रयत्न करना चाहिए! इसके कुरूप होनेसे बहुतोंका भला हो सकता है। काश! यह कुरूप हो सकी!'

वणिक-पत्नीके मुखपर सन्तोष-सा प्रतिभासित हुआ, कुछ मुस्कराहट भी दीखी और आप ही अपनेको कहने लगी—'तब 'उनसे' कहूँगी—यह वही है—चन्दना! अब करो इससे प्रेम! इसी चमक-दमकपर पत्नीव्रत बिगाड़ने चले थे।'

[७]

बन्दिनी चन्दना गर्दिशके दिन काट रही है। हथकडी-बेडियोंसे विवश! बाहिरी दुनियासे दूर! वही एक छोटी-सी कोठरी उसका संसार है, उसका कारागार है। बाहर निकलने तककी आज्ञा उसे नहीं है। सिर्फ वातायनके द्वारसे झाँककर बाहर को देख सकती है। देख सकती है कि एक बूढ़ा-प्रहरी उसके कारागृहकी निगरानी किया करता है।

चन्दना सोचती—'क्या वह स्वतंत्र है? हथकडी-बेडियां उसके हाथ-पैरोंमें नहीं पडी, बन्द भी वह नहीं है। फिर ...? पर, वह चक्कर क्यों काटा करता है कोठरीके इर्द गिर्द?—किसके इशारेपर?'

और उसे मानना पड़ता कि वह बेचारा भी उसीकी भांति विवश है, परतन्त्र है! कई दिनोंके संयोगने, चन्दना का मन सहानुभूतिसे भर दिया। वह उसके प्रति करुणा हो गई। अवसर मिलता और वह उसके सुख-दुखके बारे में पूछ उठती। उसने जाना कि वह साधु-प्रकृति, सच्चरित्र, दरिद्र श्रावक है।

एक दिन वह बोली—'बाबा! बैठ जाओ, थक गए होगे। विश्राम करो, मैं भागूँगी नहीं।'

बुड्ढा हँसा, फिर विचित्र-सी आकृति बनाकर कहने लगा—'तुम्हारी ओरसे तो मुझे यह चिन्ता नहीं है—बेटी! कि भाग जाओगी। पर, मैं जो चाकरी कर रहा हूँ, वह छूट सकती है। और उसका छूटना मेरे लिए बहुत बुरा प्रमाणित होगा।'

चन्दना चुप रह गई।

विवशताका अन्तरंग उसका देखा हुआ था! पिछले दिनों उसे इसीका अध्ययन करना पडा है।

× × ×

[८]

नित्यकी तरह उस दिन भी वणिक-पत्नी दो सेविकाओं के साथ चन्दनाको भोजन देने और उसकी अवस्था देखने आई थी।

कारागारका द्वार खुला हुआ था।

मलिन-वेष चन्दना ज़मीनपर बैठी थी। मिट्टीके बर्तन में कोदों-चावल परोसे जा रहे थे। नित्य यही खाना उसे मिलता है। सेठानीकी धारणा है—'सिर्फ कोदों खाते रहने से रूप, कुरूप हो जाता है। कोदोंका प्रभाव सौन्दर्यपर बुरी तरह पडता है। कोदों सौन्दर्य नाशक भोज्य है!'

जल-पात्र धोनेके लिए चन्दना उठी। खिड़की तक

आई, और देखने लगी दृष्टिके पथपर जो कुछ सामने आया।

बाबा अपनी चाकरी बजा रहे थे।

सामने राज-मार्गपर ... ?

चन्दनाने देखा और एक बारगी प्रफुल्लित हो गई। उसका रोम-रोम प्रसन्नतासे उठ खड़ा हुआ, भूल गई कि वह बन्दिनी है हथकड़ी-बेड़िया उसे बांधे हुए हैं!....

कितना पावन-दृश्य था? ...

भगवान महावीर चर्याको निकले हुए थे! दिगम्बर-रूप, उद्दीप्त, सौम्य-शान्त शरीर; नासाग्र-दृष्टि ईर्या-पथ-मण्डित बढ़े चले आरहे थे—धीरे-धीरे!

चन्दना, वन्दिनी चन्दनाके सारे तार झनझना उठे। श्रद्धासे मस्तक झुक गया, भक्ति आंखोंके रास्ते बहने लगी-वह कितनी प्रसन्न थी? ...

एक ही क्षणके भीतर वह विचारोंमें तैरने लगी—'काश! आज मैं उस स्थितिमें होती कि भगवानको आहार देकर जन्म-सफल कर सकती!...'

अनुतापसे मुँह मलिन होने लगा।

भगवान महावीर चले आ रहे थे।

चन्दना एकटक देख रही थी—विश्व वंदनीय, दयावतार भगवान महावीरकी शान्तिमुद्रा! पराधीना चन्दनाकी आंखें बरस रही थीं! ...मन दुख रहा था!

भगवान और समीप आए!

चन्दनाके भीतरसे ध्वनि आई—'काश! तू आहार दे सकती!' उसने विवश-दृष्टिसे अपने करपात्रकी ओर देखा। और वह चौंक पड़ी—'यह क्या? ...चमत्कार...?'

हृदयकी शुद्ध आवाज भगवान तक पहुँच चुकी थी। वह मुग्ध हो इधर उधर देखने लगी। चारों ओर परिवर्तन था। हथकड़ियां, बेड़ियां टूट रही थीं। मिट्टीके सारे बर्तन, स्वर्ण-पात्र हो चुके थे। कोदोंकी जगह शुद्ध, प्रासुक खीर दिखलाई दे रही थी।

वह आनन्दविभोर हो उठी। भरा हुआ जल-पात्र लेकर वह द्वारपर आई। आवाज दी—'बाबा...!'

बाबा पहले ही प्रसन्नतामें डूब रहे थे। गद्गद्-स्वरमें बोले—'भाग्यशाली हो बेटी!—और पास आ खड़े हुए।

भगवान द्वार तक आ पहुँचे थे।

× × ×

[९]

'राजकुमारी चन्दनाकी जय हो!

जय-घोषसे आकाश गूँज उठा, फूल बरसने लगे। पंचाश्चर्य हो रहे थे।

भगवान महावीरका निर्विघ्न आहार हुआ था। वणिक पत्नी कह रही थी—'धन्य हो देवी! तुमने मुझे भी स्मरणीय बना दिया। लोग जहां चन्दना-उद्धारकी कथा कहेंगे वहां वे मुझे भी याद करेंगे। मैं आज लज्जासे गड़ी जा रही हूँ, मुझे क्षमा करो बहिन!'

× × ×

[१०]

दूसरे दिन:

बाबाको उस चाकरीसे छुट्टी मिली हुई थी। घरके दूसरे काम-धन्धे उनके सुपुर्द थे।

त्रैलोक्यप्रकाशका रचना-समय और रचयिता

(लेखक—श्री अगरचन्द नाहटा)

जैन सत्यप्रकाशके वर्ष ६ अङ्क ६ मे श्रीयुत मूलराजजी जैनका श्री हेमप्रभसूरि-विरचित त्रैलोक्यप्रकाश* शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने ग्रन्थका रचनाकाल "यह ग्रंथ सं० १५७० से बहुत पहलेका न होगा" शब्दों द्वारा उसके आस पासका अनुमान किया है। पर वे ठीक समय निर्णीत न कर सके और न ग्रंथकर्ताके गच्छका

* अनेकान्त वर्ष ५ अङ्क १२ में भी इसकी वचनिका शाह जवाहरलालजीके बनाने आदिका उल्लेख है।

निर्णय एवं उनके रचित अन्य ग्रन्थपर ही प्रकाश डाला गया है। अतः हम इन विषयोंपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न इस लघु लेखमें कर रहे हैं।

ग्रन्थका रचना समय—बीकानेरके ज्ञान भंडारोंमेंसे 'त्रैलोक्यप्रकाशकी २ प्रतियाँ आधी आधी पं० रामस्वरूप भार्गवको मैंने भेजी थीं, उनमेंसे एक प्रति काफी प्राचीन—हमारे खयालसे विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीसे पीछेकी न होगी का अन्तिम आधा हिस्सा हमारे पास रह जानेसे मूलराजजी ग्रंथके रचनाकालका निर्णय न कर पाये। जब कि उपर्युक्त प्रतिमें त्रैलोक्यप्रकाश ग्रन्थकी समाप्तिके पश्चात् प्रतिके लेखक ने संभवतः जिस प्रतिसे उसकी नकल की गई हो उसके आधारसे स्पष्टरूपसे इस ग्रंथका रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—'संवत् १३०५ वर्षे माघ बदि १३ गुरौ निष्पन्न.'' इस उल्लेखसे ग्रंथका रचना संवत्, तिथि और वार भी निश्चित हो जाता है।

ग्रन्थकार—यद्यपि ग्रंथकर्ताने अपने गुरुका नाममात्र ही देकर गच्छका कोई उल्लेख नहीं किया है। अन्य साधनों के अभावमें गच्छका निर्णय करना भी कठिन है क्योंकि इसी समयके लगभग देवेन्द्रसूरि नामके ३ आचार्योंका पता चलता है। १ चन्द्रगच्छ, २ नागेन्द्रगच्छ और ३ तपागच्छ। और इन आचार्योंके शिष्योंके नामोंमें हेमप्रभसूरिका नाम नहीं पाया जाता। हमारे खयालसे प्रस्तुत देवेन्द्रसूरि चन्द्र-गच्छके होने संभव हैं। जैनसाहित्य नो इतिहासके पृष्ठ ३२४ में "चन्द्रगच्छ ना धर्मसूरि–रत्नसिंह–देवेन्द्रसूरिना शिष्य कनकप्रभे हैमन्यासमार नो उद्धार कर्यो" लिख्या है। इससे चन्द्रगच्छके देवेन्द्रसूरिके प्रभान्त नाम वाले शिष्य होनेका पता चलता है। हैमप्रभ और कनकप्रभ नाम एकार्थक और मिलते जुलते भी हैं। अतः दोनोंका गुरु भ्राता होना कोई असंभव नहीं है।

देवेन्द्रसूरिके गच्छका निश्चितरूपसे निर्णय करनेके एक संकेत हमारे प्रेषित उपर्युक्त प्रतिके लेखकका किया हुआ निर्देश है—इस प्रतिके पत्र १६ में दिनचर्याप्रकरणकी समाप्तिमें (पत्र २०–२२में) देवेन्द्रसूरिका विशेषण इस प्रकार लिखा है:—

"महा मण्डलेश्वर प्रणतपाद त्रैविद्यवृन्दारक प्रतिभा सर्वज्ञ श्रीमद्देवेन्द्रशिष्य श्री हेमप्रभ*सूरिकृत"

महामण्डलेश्वर गुरु श्रीदेवेन्द्रसूरिशिष्यहेमप्रभसूरि-विरचिते।"

उपर्युक्त प्रशस्तिमें उल्लिखित महामण्डलेश्वर कौन थे? एवं उसके गुरु देवेन्द्रसूरि किस गच्छमें हुए हैं, यह बात किसी अन्य आधारसे निश्चित हो जानेसे हेमप्रभसूरिके गच्छका स्वतः निर्णय हो जायगा। आशा है साहित्यसेवी विद्वानोंको इस सम्बन्धमें कुछ विशेष उल्लेख देखनेमें आया हो तो प्रकाशमें लावेंगे।

हेमप्रभसूरिके अन्य ग्रन्थ—जैन ग्रन्थावली पृ० ३४६, ३४६, ३५६ में हेमप्रभसूरिके ३ ग्रंथोंका उल्लेख है—१ अर्थकाण्ड, २ मण्डलपद्धति ३ मेघमाला। इनमेंसे अर्थकाण्ड–अर्घकाण्ड है और वह त्रैलोक्यप्रकाशका ही एक अंश है। मण्डलपद्धति भी इसी ग्रन्थके एक प्रकरण का नाम है अतः त्रैलोक्यप्रकाशके अतिरिक्त केवल १ ग्रंथ 'मेघमाला' ही इनकी दूसरी रचना है। हमारे प्रेषित पन्द्रहवीं शतीकी उपर्युक्त प्रति २३ पत्रोंकी है और उसके २३ वें पत्रमें हेमप्रभसूरिके त्रैलोक्यप्रकाशकी समाप्तिके अनन्तर मेघमाला ग्रंथके ८ श्लोक आए हैं। उसके बादके पत्र नहीं मिलनेके कारण वह ग्रंथ इस प्रतिमें अधूरा रह गया है। पर इससे पहले यह तो निश्चित हो जाता है कि मेघमाला ग्रंथ उन्हींकी रचना है। इसकी पूरी प्रति जैन ग्रन्थावलीके अनुसार 'लींबडीके भंडार*में है।

---

* यह प्रति बड़े ज्ञानभंडारके अंतर्गत वर्द्धमानभंडारके नं० २१ की है। त्रैलोक्यप्रकाशकी श्लोकसंख्या इनके अनुसार १२०६ पद्य हैं।

* जैनग्रन्थावलीके पृ० ३४६ की टिप्पणीमें अर्थघाप्रभसूरिके शिष्य होनेका अनुमान किया गया है पर वह ठीक नहीं है।

*प्रकाशित लींबडी भंडारसूचीमें 'मेघमाला'का उल्लेख नहीं पाया जाता।

Regd. No. A-731.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावना सहित। मूल्य ।)

२ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्त्वके पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगलकामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पांच प्रकरण हैं। पुस्तक पढते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्यपाठ करने योग्य है मू० ॥)

३ अध्यात्म-कमल-मार्त्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहीता आदि ग्रंथोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्दशास्त्रीका सुन्दर अनुवाद विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १।)

४ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रंथपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रंथपरीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मूल्य ।)

प्रकाशनविभाग

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्तको सहायता

अनेकान्तकी गत अगस्त-सितम्बरकी किरण (१-२) में प्रकाशित सहायताके बाद 'अनेकान्त' को जो सहायता उस के हेड आफिस वीरसेवामन्दिर सरसावामें प्राप्त हुई है वह क्रमशः इस प्रकार है, और इसके लिये दातार-महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं :—

२) ला० जवरचन्द मोतीचन्दजी भोपाल (ला० मोतीचंद जीके स्वर्गवास पर निकाले हुए दानमेंसे)।

५) ला० पन्नालालजी सरावगी धूलियान जि० मुर्शिदाबाद (चि० मोहनलालके विवाहकी खुशीमें)।

२५) बाबू फूलचन्दजी सेठी नागपुर

३२

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

वीरसेवामन्दिरको सहायता

पिछली किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामंदिर को ५) की सहायता दि० जैन पंचान बाराबंकीसे और २५) की ला० दमरूलाल कन्नालालजी जैन गुरहा, खुरई जि० सागरसे प्राप्त हुई है। अतः इसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

To

If not delivered please return to—

VIR SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन कलकत्ताकी

वीरसेवामन्दिरको सहायता

श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन, सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी, कलकत्ताके एक प्रमुख व्यापारी हैं और बड़ी ही सरल प्रकृति, धार्मिक वृत्ति तथा सौम्य स्वभावके सज्जन हैं। आप वीरसेवामन्दिर से बड़ा प्रेम रखते है, उसके 'आजीवन' सदस्य हैं और समय समयपर उसे सहायता देते तथा दिलाते रहते हैं। हालमें वीरशासन-महोत्सवके अवसर पर आपने वीरसेवामन्दिरको अपनी ओरसे २०००) और अपनी पुत्री स्वर्गीया ताराबाईकी ओरसे १०००) इस तरह तीन हजार रुपयेकी सहायता प्रदान की है, जिसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

अधिष्ठाता 'वीरसेवा-मन्दिर'

विषय-सूची

आवश्यक निवेदन

पिछले वर्ष जिन सज्जनोंने अपनी ओरसे अनेक लायब्रेरियों, अजैन संस्थाओं तथा विद्वानोंको अनेकान्त फ्री भिजवाया है उनसे निवेदन है कि वे इस वर्ष भी अपनी सहायता भेजकर उन्हें अथवा दूसरोंको फ्री भिजवानेकी कृपा करें। १४) रुपयेमें ४ को फ्री भेजा जा सकता है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वर्ष ७ अक्तूबर—नवम्बर १९४४ किरण ३,४

बाबू छोटेलालजी बीमार !

पाठकोंको यह जानकर दुःख होगा कि कलकत्ता वीर-शासन-महोत्सवके प्राण बाबू छोटेलालजी महोत्सवकी समाप्तिके अनन्तर ही ता० ५ नवम्बरसे बीमार चल रहे हैं—महीनोंके दिनरातके अनथक परिश्रमने उनके स्वास्थ्यको भारी धक्का पहुँचाया है। उन्हें पहले इन्फ्लुएँजा हुआ, फिर मियादी ज्वर (टाईफाइड फीवर)। ज्वरके न जानेपर छातीका ऐक्स रे लिया गया, उससे मालूम हुआ प्लुरिसिसकी बीमारी है जो पीछे बढ़कर थाइसिस हो जा सकती है। अतः उनको अब मद्रासके पास मदनपल्लीके T. B. Sanatorium में जाना पड़ेगा, जहां उनके लिये अलग स्थानका निर्माण किया जा रहा है और वहां उनको ५-६ महीने रहना होगा। वे संभवतः २२ या २३ दिसम्बर तक वहांके लिये कलकत्तासे रवाना हो जाएँगे, ऐसा उनके १५ दिसम्बरके पत्रसे ज्ञात हो रहा है। आपकी इस बीमारीके कारण कलकत्तामें जिस महती संस्थाकी नींव पड़ी है उसके कार्यमें कोई प्रगति नहीं हो सकी। इस संबंधमें बा० छोटेलालजीके पत्रके निम्न शब्द हृदयमें बड़ी ही वेदना उत्पन्न करते हैं—"चन्दा जितना हुआ था-अन्दाज पौने चार लाखका-उतना ही है। मेरे बीमार होजानेके कारण जो कार्य जितना जहां था वहां ही है और मेरी ऐसी हालतमें अब ५-६ मास कुछ होना संभव नहीं है। इस बीचमें समाजका रुपया अन्य कार्योंमें उठ जायगा और मेरी १० लाखकी स्कीम यों ही रह जाती जान पड़ती है! जैन समाजका भाग्य ही ऐसा है। या तो अच्छे कार्यकर्ताओंका सहयोग नहीं मिलता, या कोई आगे आता है तो चन्दरोजमें जीवन समाप्त हो जाता है—या कुछ प्रगति कर कार्य जहांके तहां ही रह जाते हैं। मैं बीमार न होता तो तुरन्त यहां पाँच लाख हो जाते और बाकी पांच लाख दौरा करके ले आता। भगवानकी मर्जी! कृपा रक्खें।"

आशा है समाज बाबू० छोटेलालजीकी शीघ्र नीरोगताके लिये अविरल भावना भाएगा और उन्हें उनकी स्कीमके विषयमें जरा भी निराश न होने देगा। —जुगलकिशोर मुख्तार

पाठक नोट करलें !

अब भी कुछ बन्धु 'अनेकान्त' सम्बन्धी पत्रव्यवहार मेरे पतेसे करते रहते हैं जिससे उन्हें उत्तर आदि मिलनेमें व्यर्थ की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मैं व्यवस्थापकत्वके भारसे मुक्त हो चुका हूँ। अतः अनेकान्तके सम्बन्धमें सारा पत्रव्यवहार उसके सम्पादक श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार या मैनेजर 'अनेकान्त' वीरसेवामन्दिर सरसावाके पते पर करना चाहिये। —कौशलप्रसाद जैन, सहारनपुर।

आवश्यकता

वीरसेवामन्दिर को दो तीन अच्छे सेवाभावी विद्वानों की आवश्यकता है। जो सज्जन आना चाहें उन्हें अपनी योग्यता और कृतकार्यादिके परिचय-सहित नीचे लिखे पते पर शीघ्र पत्र व्यवहार करना चाहिये। वेतन योग्यतानुसार।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जिला सहारनपुर

॥ ॐ अर्हम् ॥



वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका मूल्य ।=)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ६ किरण ३, ४ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | कार्तिक-मार्गशीर्षशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७१, विक्रम सं० २००१ | अक्तूबर—नवम्बर १९४४

सिद्ध-स्मरण

सिद्धानुद्धूत-कर्मप्रकृति-समुदयान् साधितात्म-स्वभावान्;
वन्दे सिद्धि-प्रसिद्ध्यै तदनुपम-गुण-प्रग्रहाकृष्टि-तुष्टः।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुण-गुण-गणोच्छादि-दोषापहारात्,
योग्योपादान-युक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः॥

—सिद्धभक्तौ, श्रीपूज्यपादः

'जिन्होंने (पूर्ण तपश्चर्याके बलपर) कर्मप्रकृतियोंके समूहका—आत्मासे सम्बद्ध मूलोत्तर-प्रकृतियोंके भेदरूप सम्पूर्ण कर्मराशिका—मूलोच्छेद किया है—आत्माके साथ उसके सम्बन्धका अभाव किया है—और (इस तरह) आत्मस्वभावको साध लिया है—कर्मजनित सकल विभाव-भावका अभाव कर अपने आत्माको स्वस्वरूपमें स्थिर किया है—उन सिद्धोंके अनुपम गुणरूप रज्जुके आकर्षणसे सन्तुष्ट हुआ—उनके प्रति भक्तिभावको प्राप्त हुआ—मैं सिद्धिकी उत्कृष्ट साधनाके लिये उनकी वन्दना करता हूँ—उनके गुणों और उनकी साधनासे आकृष्ट होकर तद्रूप होनेके लिये उनके आगे नतमस्तक होता हूँ।

(जिस सिद्धिके लिये यह वन्दना की जाती है) उस सिद्धिको स्वात्मभावकी लब्धि अथवा सम्प्राप्ति कहते हैं, और वह योग्य साधनोंकी योजना-द्वारा उन दोषोंके—ज्ञानावरणादि कर्मोंके—जो अनन्तज्ञानादि महान गुणोंके आच्छादक हैं उच्छेदनसे उसी प्रकार सिद्ध होती है जिस प्रकार कि (अग्निप्रयोगादि) योग्य साधनों द्वारा इस संसारमें सुवर्णपाषाणसे सुवर्णत्वकी उपलब्धि होती है—सुवर्णको अलग किया जाता है।

जैनधर्मकी चार विशेषताएँ

(लेखक—पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य)

जैनधर्म अनेक विशेषताओंका भाण्डार है । उसमें संसारके प्रत्येक प्राणीका सुख-सन्देश निहित है । हम स्पष्ट शब्दोंमें कह सकते हैं कि जैनधर्मका एक एक सिद्धान्त जन-कल्याणकी पवित्र भावनासे ओतप्रोत है । यदि आज संसार जैनधर्मके वास्तविक रहस्यको समझ जावे तो उस की समस्त अशान्ति और बेचैनी एक क्षणमें दूर हो जावे । यदि आजका मानव अपने आप को कलिकालके दूषित प्रभावमें प्रभावित न होने दे, अपने अभिप्रायको शुद्ध रक्खे तथा जैनधर्मके उपदेष्टा उसकी नयभङ्गीका रचनात्मक उपयोग करने लगें तो जैनधर्म संसारका एकमात्र सार्वधर्म आज ही हो जावे । उल्लिखित कारणोंका अभाव ही उसके विश्वधर्म होनेमें बाधक है ।*

संक्षेपमें जैनधर्मकी चार विशेषताएँ हैं—अहिंसा, अनेकान्त, स्वतन्त्रता और अपरिग्रहवाद । ये चार विशेषताएँ वे सुदृढ स्तम्भ हैं जिनके ऊपर जैनधर्मका विशाल प्रासाद खड़ा हुआ है । यहाँ संक्षेपरूपमें उक्त चारों ही विशेषताओंका कुछ निरूपण कर देना प्रासङ्गिक है ।

१ अहिंसा

जैनधर्ममें अहिंसाका बड़ी सूक्ष्म दृष्टिसे विश्लेषण किया गया है । जीवोंका प्राणविघात न करना ही अहिंसा नहीं है बल्कि प्राणघातका अभिप्राय ही नहीं होना सच्ची अहिंसा है । नपे तुले शब्दोंमें जैनशास्त्रका निचोड रखते हुए आचार्योंने बतलाया है कि—आत्मामें राग द्वेष आदि भावोंके उत्पन्न न होनेको 'अहिंसा' और उन्हींके उत्पन्न होनेको 'हिंसा' कहते हैं† । यह वास्तविक अहिंसा मानवको दशम गुणस्थानके बाद ही प्राप्त हो सकती है । उसके पहले उपचारसे अहिंसा मानी जाती है । यथार्थ दृष्टिसे देखा जावे तो जहाँ जीव-विघातके परिणाम होना हिंसा है वहाँ जीवोंकी रक्षा करनेके भाव होना भी हिंसा है । अहिंसाका वास्तविक रूप इन दोनों भावोंसे आगेकी वस्तु है ।

अहिंसा और वीतरागता समानार्थक शब्द हैं । 'अहिंसा परमो धर्मः' कहिये या 'वीतरागता परमो धर्मः' कहिये दोनोंका एक ही अर्थ होता है । अहिंसा या वीतरागता ही आत्माका उत्कृष्ट धर्म —स्वभाव है । यद्यपि वर्तमान कर्म की उपाधिसे आत्मा अपने अहिंसा धर्मसे च्युत होकर हिंसा या रागादि रूप परिणमन करने लगता है परन्तु वह औपाधिक परिणमन आत्माका स्वकीय भाव नहीं कहा जा सकता । अग्निका संसर्ग पाकर पानी उष्ण हो जाता है और लाल पीले पदार्थके संसर्गसे स्फटिक भी लाल पीला हो जाता है परन्तु यथार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तो न उष्ण होना पानीका स्वकीय भाव है और नहीं लाल पीला होना स्फटिकका । अग्निका संसर्ग दूर होनेपर पानी शीतल हो जाता है और लाल पीले पदार्थका संपर्क दूर होनेपर स्फटिक धवल हो जाता है । इससे मालूम होता है कि पानीका स्वकीय भाव शीतलता तथा स्फटिकका स्वकीय भाव धवलता है । जिस वस्तुका जो स्वकीय भाव या धर्म होता है वह बाधक कारण न रहनेपर निरंतर उसके पास रहता है और जो औपाधिक भाव होता है वह उपाधिके सद्भाव तक ही रहता है । हम लोग कसाईको महान् हिंसक कहते हैं क्योंकि वह बड़ी निर्दयताके साथ गाय आदि पशुओंका वध किया करता है यदि आप विचारकी दृष्टिसे, दिन रात होने वाले उसके मनोभावोंको देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि वह कुछ समय तक ही हिंसामय भाव रखता है । जो कसाई पशुवधके समय बड़ा रुद्र मालूम होता है वही अन्य समयमें बड़ा शान्त मालूम होने लगता है । वह अपनी स्त्री, सहोदर तथा सन्तान आदिके

* कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥
—युक्त्यनुशासने समन्तभद्रस्य

† अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ।
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अमृतचन्द्राचार्यस्य

साथ स्नेह भी रखता है। उक्त उल्लेखसे मालूम होता है कि वह कसाई भी स्वकीयभाव—अहिंसाको छोड़ कर अन्य औपाधिक भाव निरन्तर नहीं रख सकता।

सच्चा आत्मस्वभाव होनेके कारण आचार्योंने अहिंसा को ही परमब्रह्म माना है*। परन्तु जहां पर पदार्थोंके साथ सम्बन्ध—रागद्वेष है वहां अहिंसा स्थिर नहीं रह सकती, इसलिये जैनधर्ममें बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध छोड़ कर निष्परिग्रह होनेका उपदेश दिया गया है। जैन धर्ममें एक अहिंसाको ही मुख्य धर्म माना गया है। शेष सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि जितने धर्म हैं वे सब इसीके परिकर हैं—इसीके रक्षक हैं और असत्य आदि हिंसाके विस्तार हैं+। इसके सिवाय जितनी कुछ व्रत विधान आदि की व्यवस्था की गई है वह सभी राग द्वेष घटा कर सच्ची अहिंसा प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही की गई है। प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य हो जाता है कि वह इस यथार्थ अहिंसाका स्वरूप समझकर उसे ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करे। क्योंकि जैन शास्त्रोंमें यह स्पष्ट बतलाया गया है कि जो इस अहिंसा वीतराग परिणतिको न समझकर केवल शरीराश्रित क्रियाकाण्डमें ही उलझा रहता है वह द्रव्यलिङ्गी है और उसकी वे समस्त क्रियाएँ संसारका ही कारण हैं।

अहिंसाके इस लक्ष्यबिन्दु तक पहुँचनेके लिये आचार्योंने हमारे रहन सहन, आचार विचार आदिको अनेक विभागोंमें विभाजित किया है। उसे लक्ष्यका साधन समझकर उसके अनुरूप प्रवृत्ति करनी चाहिये। यहां उन सब विभागोंका वर्णन विस्तारभयसे हम छोड़ रहे हैं।

२ अनेकान्त

अन्त शब्दका अर्थ धर्म या गुण है। प्रत्येक पदार्थमें अनेक धर्म रहा करते हैं। उन सभी धर्मोंका योग्य समन्वय के साथ अस्तित्व प्रतिपादन करना ही 'अनेकान्त' कहलाता है। यदि अनेक धर्मवाली वस्तुके किसी एक खास धर्मको स्वीकार कर हम उसके शेष धर्मोंका अस्तित्व स्वीकार न करें तो ऐसा करनेसे उस वस्तुके पूर्ण स्वरूपका प्रतिपादन नहीं किया जासकेगा और उस अपूर्ण प्रतिपादन से संसारके प्रत्येक प्राणीको लाभ भी नहीं हो सकेगा।

जीव नित्य भी है और अनित्य भी। परन्तु जब कोई साधक सल्लेखनाके समय भूख प्यास आदिकी बाधाओंसे दुखी होकर अपने आपको मरणोन्मुख जान दुखी होने लगता है तब उसे स्वकीय व्रतमें स्थिर रखनेके लिये उपदेष्टा जीवको नित्य मानकर उपदेश देता है कि हे आत्मन्! तू अजर है, अमर है। इन शारीरिक यातनाओंसे तेरी कभी मृत्यु नहीं हो सकती। हां, शरीर भले ही नष्ट हो सकता है परन्तु वह तेरा है कहाँ? और जब कोई पुरुष अपने आपको स्थायी मानकर तरह तरहके अत्याचार करने लगता है तब उसे उपदेष्टा समझाते हैं कि 'रे मानव! संसारमें एकसे एक बढ़कर हो गये परन्तु आज तक कोई भी स्थिर नहीं रह सका; फिर तू तो है ही क्या? क्यों इस थोड़ी सी जिन्दगीमें इतना अत्याचार करता है'। यदि जीवको नित्य या अनित्य ही मानकर एक ही दृष्टिसे दोनों के सामने प्रतिपादन किया जाता तो दोनोंको लाभ नहीं हो सकता था। इससे मालूम होता है कि वस्तुके भीतर अनेक गुण हैं परन्तु अपनी अपनी विवक्षासे उन सबका निरूपण किया जाता है। जहां अनेकान्त अन्य धर्मोंको अनर्पित या गौण मानता है वहाँ अन्य एकान्त मत उस समय उनका अभाव ही मान लेते हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु अपूर्ण रह जाती है।

नीबू खट्टा भी है, सुगन्धित भी है और है पीला भी। उसमें चार धर्म हैं। यद्यपि भोजनके समय हमें सिर्फ उस के खट्टेपनकी आवश्यकता है और जी मचलानेके समय सुगन्धित होनेकी। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि नीबूमें भोजनके समय खट्टेपनको छोड़ कर और कोई गुण नहीं हैं। हैं अवश्य, परन्तु आवश्यकता न होनेसे उन्हें गौण कर दिया जाता है। नयवादमें एक समयमें एक पदार्थका एक ही धर्म कहा जा सकता है परन्तु उस समय दूसरे धर्मका अभाव नहीं मानना चाहिये और नहीं दोनों धर्मोंका परस्परमें निरपेक्ष होकर वर्णन करना चाहिये।

मनुष्य दो पैरोंसे चलता है, वह दक्षिण पैरसे चलते

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्'
—स्वयंभूस्तोत्रे समन्तभद्रस्य

\+ आत्मपरिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥
—पुरुषार्थसिद्धयुपाये अमृतचन्द्रस्य

समय बाम पैरको पीछे कर लेता है और बाम पैरसे चलते समय दक्षिण पैरको पीछे कर लेता है परन्तु दोनों पैरोंका सहज आवश्यक है। वह दोनों पैरोंसे एक साथ भी नहीं चल सकता और न एकको निष्क्रिय कर सिर्फ दूसरेसे ही चल सकता है। इसी प्रकार पदार्थ निरूपणमें द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि आदि अनेक दृष्टियाँ काम करती हैं।

यह अनेकान्त जीवनके प्रत्येक क्षणमें काम आनेवाला सिद्धान्त है। इसके बिना मानवका एक क्षण भी काम नहीं चल सकता, इसलिये इसका वास्तविक स्वरूप समझ कर उसे जीवनमें घटित करनेका उद्योग करना चाहिये। यदि हम अनेकान्तका ठीक ठीक स्वरूप समझलें तो परस्पर की तू-तू मैं मैं अभी ही शान्त हो जावे। हम आपके दृष्टिकोणको समझ लें और आप हमारे दृष्टिकोणको समझ लें तथा उनका उपयोग अपनी अपनी आवश्यकताओंके ऊपर छोड़ दें तो विरोध ही क्या रह जाता है? हमारा तो विश्वास है कि जैन तीर्थंकरोंने अनेकान्तका आविर्भाव इसी लिये किया है कि सबके सब मित्र रहें—सब सबके इष्ट होंगे—विवक्षाभेदको समझनेका प्रयत्न करें। जैनधर्मकी तरह बौद्धधर्म भी वैराग्यप्रधान धर्म है। उसने वैराग्यका प्रतिपादन करनेके लिये, आसक्तिका अभाव करनेके लिये संसारके प्रत्येक पदार्थको अनित्य माना है। और सांख्यधर्म ज्ञानप्रधान धर्म है। उसने आत्मा और परपदार्थका—पुरुष और प्रकृतिका—ठीक ठीक विश्लेषण कर उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेका उपदेश दिया है। इसलिये वह प्रत्येक पदार्थको नित्य मानता है। बौद्धका अभिप्राय पर्यायदृष्टिसे है और सांख्यका अभिप्राय द्रव्यदृष्टिसे है। एकान्त हठमें पड़ जानेसे दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध हो जाते हैं; परन्तु जैनधर्म द्रव्य और पर्याय दोनों दृष्टियोंको अपनाकर दोनोंका समन्वय कर देता है। वास्तवमें यह अनेकान्त ही जैनागमका जीव है—प्राण है और समस्त विरोधोंको दूर करनेवाला है।*

---

* परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अमृतचन्द्राचार्यस्य

३ स्वतन्त्रता

जैनधर्मकी तीसरी विशेषता है स्वतन्त्रता। जहां अन्य धर्मोंमें जीवको प्रत्येक कार्यमें— निर्वाण प्राप्त करनेमें भी— ईश्वरके परतन्त्र माना है वहां जैनधर्ममें जीवको स्वतन्त्र माना है। यहाँ इस बातकी घोषणा की गई है कि संसारके सभी प्राणी जीवत्वके नाते समान हैं। संसारका प्रत्येक प्राणी 'सच्चिदानन्द कन्द' है। जो जीव आज निगोद पर्यायमें रह कर एक श्वाससे अठारह बार जन्म मरणके दुख उठा रहा है वही कालान्तरमें अजर अमर हो सिद्ध परमेष्ठी हो सकता है।

जैनधर्ममें जीवके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माके भेदसे तीन भेद बतलाये गये हैं। जो जीव और शरीरको एक ही मानता है—शरीरको ही आत्मा मानता है—वह बहिरात्मा है। जो आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है और जो कर्ममलको नष्ट कर उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त कर लेता है वह परमात्मा कहलाता है। जब कि अन्य धर्मोंमें परमात्माकी सत्ता अलगसे मानी गई है तब जैनधर्ममें यह बतलाया गया है कि बहिरात्मा जीव ही अपनी सतत साधनासे अन्तरात्मा बनता है और वही कर्मावरण दूर होने पर परमात्मा बन जाता है। इस परमात्माके सिवाय जैनधर्म किसी अन्य ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत नहीं करता।

जैन शास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है कि पशु पक्षी भी जैन धर्म धारण कर सकते हैं। तीर्थंकर भगवानके समवसरण की बारह सभाओंमें जहां देव-देवियों तथा मनुष्य और महिलाओंके लिये स्थान दिया गया है वहाँ पशुपक्षियोंके लिये भी स्थान दिया गया है। जिस प्रकार रात-दिन सुख शान्तिके वातावरणमें रहने वाले देव सम्यग्दर्शन धारण कर सकते हैं उसी प्रकार रात दिन मारकाटके बीच रहने वाले सप्तम नरकके नारकी भी सम्यग्दर्शन धारण कर सकते हैं। जैनधर्म आत्माका धर्म है। वह किसी प्रमुख जाति अथवा योनिके आधीन नहीं है। प्रत्येक प्राणी अपनी योग्यताके अनुसार धारण कर इससे लाभ उठा सकता है। जैनधर्मका सुदृढ़ सिद्धान्त है कि गुण पूजाके स्थान हैं। जिस आत्मामें जितने अधिक गुण विकसित होंगे वह उतना

ही अधिक पूज्य होगा। भले ही वह किसी जाति अथवा किसी योनिका क्यों न हो?

करणानुयोगमें द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्चको अधिक मूल्य बतलाया गया है। द्रव्य-लिङ्गी मुनिके जहां बन्धयोग्य समस्त कर्मप्रकृतियोंका आस्रव होता है वहां अविरतसम्यग्दृष्टि तिर्यञ्चके ४१ प्रकृतियोंका आस्रव रुक जाता है। जैनधर्मका यह प्रमाणित सिद्धान्त है कि संसारका प्रत्येक प्राणी 'आत्महित-साधनमें स्वतन्त्र है'। हम स्वयं पुरुषार्थके द्वारा अपने आत्माको समुन्नत बना सकते हैं और आलस्य—अकर्मण्यतासे अव नत बना सकते हैं। यही दृष्टि हृदयमें रख कर कहा गया है कि 'आत्मा ही आत्माका बन्धु है और आत्मा ही आत्माका शत्रु है'। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनधर्ममें आत्म-स्वातन्त्र्य पर जितना जोर दिया गया है उतना अन्य धर्मों मे नही दिया गया है। वहाँ या तो सब कुछ ईश्वरके हाथ मे सौंप दिया गया है या फिर ईश्वरका बहिष्कार ही कर दिया है।

४ अपरिग्रहवाद

ऊपर बतलाया गया है कि परिग्रह रागद्वेषकी उत्पत्ति-का कारण है और राग-द्वेषका उत्पन्न होना ही हिंसा है, इस लिये जो सच्चा अहिंसक बनना चाहता है वह परिग्रहके संपर्कसे दूर रहे। परिग्रहका अर्थ है पर पदार्थोंमें ममता भाव। इसीको कहते हैं मूर्छा। शान्त चित्तसे विचार करने पर यह परिग्रह ही दुःखका कारण मालूम होता है। इसी लिये जैनधर्ममें इसके छोड़नेका अधिकसे अधिक उपदेश दिया है। इतना अधिक, कि मुनि अवस्थामें शरीर पर एक सूत भी रखना पाप बताया है। जिस प्राणीका अन्तरङ्ग बाह्य पदार्थोंसे जितना अधिक ममता-रहित होता जावेगा वह उतना ही अधिक परिग्रहका त्याग करता जावेगा। यद्यपि पूर्ण अपरिग्रह मुनि अवस्थामें ही हो सकता है तो भी उसका यह अर्थ नहीं है कि हम गृहस्थोंको उसका कुछ भी परित्याग नहीं करना चाहिये। जो पूर्ण परिग्रहका त्याग नहीं कर सकते ऐसे गृहस्थोंके लिये आचार्योंने परिग्रह-परिमाण अणुव्रतका उपदेश दिया है।

परिग्रहपरिमाण व्रतका सच्चा रहस्य यह है कि किसी को आवश्यकतासे अधिक परिग्रह—धनसम्पत्तिका स्वामी नहीं बनना चाहिये। जैसे शरीरमें एक जगह आवश्यकतासे अधिक रक्त रुक जानेसे शरीरके अन्य अङ्ग निष्क्रिय होजाते हैं उसी प्रकार एक जगह आवश्यकतासे अधिक रुक जानेसे ससारके अन्य प्राणी उसके बिना निष्क्रिय हो जाते हैं। जिस प्रकार रक्तका आवश्यक संचार होते रहनेसे ही शरीर की व्यवस्था ठीक रह सकती है उसी प्रकार परिग्रह-धन सम्पदाका आवश्यक सचार होते रहनेसे ही संसारके समस्त लोगोंकी व्यवस्था ठीक रह सकती है। इसके सिवाय परि-ग्रहका परिमाण कर लेनेसे इच्छाओंकी उद्दाम प्रवृत्ति रुक जानेके कारण तत्काल ही आनन्दका अनुभव होने लगता है। आजके साम्यवादकी जड़मे जैनधर्मका यह अपरिग्रह-वाद ही पानी दे रहा है।

भगवान् महावीर स्वामीके द्वारा प्रवाहित जैनधर्ममें यही प्रमुख विशेषताए हैं जो भारतीय इतर धर्मोंमे इसका पृथक् और उच्च स्थान बनाये हुए हैं।

वसन्तकुटीर, सागर

संशोधनकी आवश्यक सूचना

भाई कौशलप्रसादजीके 'स्पष्टीकरण' नामक वक्तव्य से जो अन्यत्र प्रकाशित है मालूम हुआ कि प्रभाचन्द्रके तत्वार्थसूत्रकी प्रस्तावनामें जो 'कोटा' छपा है वह ग़लत है उसके स्थानपर 'बूँदी' होना चाहिये। अतः जिन सज्जनोंके पास उक्त तत्वार्थसूत्रकी कोई प्रति हो उनसे निवेदन है कि वे अपनी उस प्रतिकी प्रस्तावनाके ७ वे पृष्ठ पर २० वीं पंक्तिमें दो जगह और ८ वें पृष्ठकी ४थी पंक्तिमें एक जगह पर जहां कोटा छपा है वहां 'बूँदी' बना लेनेकी कृपा करें। सम्पादक

समन्तभद्रका एक और परिचय-पद्य

[सम्पादकीय]

स्वामी समन्तभद्रके आत्म-परिचय-विषयक अभी तक दो ही ऐसे पद्य मिल रहे थे जो राजसभाओंमें राजाको सम्बोधन करके कहे गये हैं—एक 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता'* नामका है, जो करहाटककी राजसभामें अपनी पूर्ववाद-घोषणाओंका उल्लेख करते हुए कहा गया था और दूसरा 'काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं'† इस वाक्यसे प्रारंभ होता है जो किसी दूसरी राजसभामें कहा हुआ जान पड़ता है और जिसमें विभिन्न स्थानोंपर अपने विभिन्न साधुवेषोंका उल्लेख करते हुए अपनेको जैननिर्ग्रंथवादी प्रकट किया है और साथ ही यह चैलेंज किया है कि जिस किसीकी भी वादकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।

हालमें समन्तभद्र-भारतीका संशोधन करते हुए, स्वयम्भूस्तोत्रकी प्राचीन प्रतियोंकी खोजमें, मुझे देहलीके पंचायती मन्दिरमें एक ऐसा अतिजीर्ण-शीर्ण गुटका मिला है जिसके पत्र उलटने पलटने आदिकी जरा सी भी असावधानीको सहन नहीं कर सकते। इस गुटकेके अन्तर्गत स्वयंभूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों यथाक्रम पद्योंके अनन्तर एक तीसरा पद्य और संगृहीत है, जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित, ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), ६ भिषक् (वैद्य) ७ मान्त्रिक (मंत्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तंत्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और सिद्ध-सारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है :—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पंडितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

इस पद्यमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके वाक्यों, ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख मिलता है‡। चौथा 'पंडित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्यकी तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः गमक (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें समन्तभद्रके यशको कवियों, गमकों, वादियों और वाग्मियोंके मस्तकका चूडामणि बतलाया है + और इसके द्वारा यह सूचित किया है कि उस समय जितने कवि, गमक, वादी और वाग्मी थे उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी—उनमें कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके ये चारों गुण असाधारण कोटिके विकासको प्राप्त हुए थे, और इसलिये पंडित विशेषण यहाँ गमकत्व जैसे गुण विशेषका द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र और तंत्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अंगहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनेमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमंत्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें 'स्वमंत्रवचन-व्याहूत-

---

* पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम् ॥

† काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः,
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृ(मि)ष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशि(श)धरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन्! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

‡ देखो, वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'सत्साधुस्मरणमंगलपाठ' में 'स्वामिसमन्तभद्र स्मरण'।

\+ कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते।

चन्द्रप्रभः' जैसे वाक्योंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मंत्रविशेषज्ञ तथा मंत्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मांत्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९ वीं शताब्दीके विद्वान् उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचोविभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य (२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्ग वैद्यकविषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण 'आज्ञासिद्ध' और 'सिद्धसारस्वत' तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आ जाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्रवलया पृथ्वीपर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है।' इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य सन्निहित है जो स्थान स्थानपर वादघोषणाएँ करनेपर उन्हें प्राप्त हुई थी अथवा एक शिलालेखके कथनानुसार वीरजिनेन्द्रके शासनतीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेके रूपमें वे जिसे प्रस्फुटित कर सके थे×।

अनेक विद्वानोंने 'सरस्वती-स्वैरविहार-भूमयः' जैसे पदोंके द्वारा समन्तभद्रको जो सरस्वतीकी स्वच्छन्दविहारभूमि प्रकट किया है और उनके रचे हुए प्रबन्ध (ग्रन्थ) रूप उज्ज्वल सरोवरमें सरस्वतीको क्रीड़ा करती हुई बतलाया है* उन सब कथनोंकी पुष्टि भी इस 'सिद्धसारस्वत' विशेषणसे भले प्रकार हो जाती है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी जिसकी अनेकान्तदृष्टिद्वारा अनन्य आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि उक्त गुटकेमें जो दूसरे दो पद्य पाये जाते हैं उनमें कहीं कहीं कुछ पाठभेद भी उपलब्ध होता है, जैसे कि प्रथम पद्यमें 'ताडिता'की जगह 'त्राटिता' 'विदिशे'की जगह 'वैदुशे' 'बहुभटं विद्योत्कटं' की जगह 'बहुभटैर्विद्योत्कटैः' और 'शार्दूलविक्रीडितं' के स्थानपर 'शार्दूलवत्क्रीडितु' पाठ मिलता है। दूसरे पद्यमें 'काञ्च्यां' की जगह 'काञ्च्या' 'लाम्बुशे' की जगह 'लाम्बुसे', 'पुंड्रोड्रे' की जगह 'पिंड्रोड्रे', 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी', 'वाराणस्यामभूवं' की जगह 'वाराणस्या बभूव', 'शशधरधवलः' की जगह 'शशधरधवला' और 'यस्यास्ति' की जगह 'जस्यास्ति' पाठ पाया जाता है। इन पाठभेदोंमें कुछ तो साधारण हैं, कुछ लेखकोंकी लिपिकी अशुद्धिके परिणाम जान पड़ते हैं और कुछ मौलिक भी हो सकते हैं। 'शाक्यभिक्षुः' की जगह 'शाकभक्षी' जैसा पाठभेद विचारणीय है। भट्टारक प्रभाचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोषोंमें जिस प्रकार समन्तभद्रकी कथा दी है उसके अनुसार तो वह 'शाक्यभिक्षु' ही बनता है, परन्तु यह भी हो सकता है कि उस पाठके कारण ही कथाको वैसा रूप दिया गया हो और वह 'मृष्टभोजी परिव्राट्' से मिलता जुलता 'शाकभोजी' परिव्राट्का वाचक हो। कुछ भी हो, अभी निश्चितरूपसे एक बात नहीं कही जा सकती। इस विषयमें अधिक खोजकी आवश्यकता है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा ता० २-१२-१९४४

* देखो, सत्साधुस्मरणमंगलपाठ पृ० ३४, ४९।

× देखो, बेलूरताल्लुकेका शिलालेख नं० १७ (E. C. V.) तथा सत्साधुस्मरणमंगलपाठ, पृ० ५१

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ षट्खण्डागम (धवला टीका हिन्दी अनुवाद सहित)—मूल लेखक, भगवान पुष्पदंत भूतबली। टीकाकार आचार्य वीरसेन। सम्पादक, प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० अमरावती। प्रकाशक, श्रीमंतसेठ सिताबराय लक्ष्मीचंद जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती। पृष्ठ संख्या ५६६। मूल्य सजिल्द प्रति १०) शास्त्राकारका १२)।

यह षट्खण्डागमके जीवट्ठाण नामक प्रथमखंडकी छठी पुस्तक है। इसमे उक्त खंडकी नौ चूलिकाओंको दिया गया है जिनके नाम इस प्रकार हैं—१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ स्थानसमुत्कीर्तन, ३ प्रथमदंडक, ४ द्वितीयदंडक, तृतीय महा दंडक ६ उत्कृष्ट स्थिति ७ जघन्यस्थिति ८ सम्यक्त्वोत्पत्ति ९ और गत्यागति। इन चूलिकाओंका संक्षिप्त परिचय 'विषय-परिचय' शीर्षकके नीचे प्रस्तावनामें दिया गया है।

इस पुस्तकका अध्यन करनेसे सम्यक्त्वके सन्मुख जीव की परिणति, उसके कर्मबन्धादि, तथा सम्यक्त्वकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है और उसके परिणामोंमे उत्तरोत्तर कितनी विशुद्धि निरंतर बढ़ती रहती है इसका विशद वर्णन आचार्य वीरसेनने किया है। साथ ही कर्मोपशमना और क्षपणाका विधान भी रुचिकर दिया हुआ है। उससे इसकी प्रमेय बहुलताका पता सहज ही लग जाता है। पिछले खंडोंकी अपेक्षा स्वाध्याय प्रेमियोंको इस खडके अध्ययन और चिंतनमें तथा आचार्य नेमिचंद्रके लब्धिसार-क्षपणासारको सामने रख कर तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करनेसे विशेष रस आये बिना न रहेगा। अनुवाद अच्छा हुआ है, और विशेषार्थों द्वारा विषयको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। ग्रंथके अंतमें ६ निम्नपरिशिष्ट दिये हुए हैं। सूत्र पाठ२ अवतरण गाथा सूची३ न्यायोक्तियां४ ग्रंथोल्लेख ५ पारिभाषिक शब्द-सूची ६ विशेष टिप्पण। इनसे प्रस्तुत ग्रथकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। छपाई सफाई सभी पूर्ववत् है, ग्रंथसंग्रहणीय और पठनीय है।

२ स्वर्गीय हेमचन्द्र—संग्राहक और सम्पादक, बा० यशपाल जैन बी० ए० एल० एल० बी० कुंडेश्वर। प्रकाशक, पं० नाथूरामजी प्रेमी, मालिक हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई नं० ४। पृष्ठ संख्या १८५। मूल्य, चार आँसू।

प्रस्तुत पुस्तक स्वर्गीय हेमचन्दजी मोदीके संस्मरणों और उनके जीवन परिचयके रूपमें प्रकाशित हुई है। इस की प्रस्तावनाके लेखक पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी हैं। हेमचन्द्र कितना योग्य विद्वान, गम्भीर विचारक और स्पष्ट वादी था, यह बात उसके साथ सम्पर्क रखने वाले सज्जन तो जानते ही हैं किंतु जो लोग उसके इन संस्मरणों और संकलित पत्रोंको पढ़ेंगे वे भी उससे परिचित हुए बिना न रहेंगे। इस पुस्तकमे ४९ लेख या संस्मरण विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं, प्रत्येक लेखकने हेमचंद्रके व्यक्तित्वके विषय मे प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया है और कुछ लेखकोंको छोड़कर सभीने उसकी स्पष्ट वादिताको स्वीकार किया है। प्रेमीजीके लेखकी घटनाएँ तो उसके स्पष्टवादी होनेका और भी समर्थन करती ही हैं। प्रेमीजीके लेखको पढ़कर असमयमें हुई पुत्र-वियोग जन्य वेदना की एक टीस हृदयमें घर कर जाती है और उससे प्रेमीजीकी इस वृद्धावस्थामें सहसा आपड़े दुःखका अन्दाजा लगाया जा सकता है। हेमचन्द्रकी मौलिक साहित्यके निर्माणकी भावना कितनी उच्च और साहित्यिक जगतमे क्रान्ति लाने वाली थी यह उनके कतिपय सज्जनोंको लिखे गये पत्रोंसे स्पष्ट जानी जाती है। प्रेमीजी यदि हेमचन्द्रको उत्साह दिलाते तो बहुत संभव था कि वह अपने इतने अल्प जीवनमे ही जगतके लिये अच्छे विचार-पूर्ण साहित्यको सृष्टी कर जाता। अब तो जितने साहित्य का वह निर्माण कर गया है उसी पर संतोष करना होगा। यह जान कर प्रसन्नता हुई कि प्रेमीजी हेमचन्द्रके सभी साहित्यको प्रकाशित करेंगे। इस पुस्तकका प्रकाशन, अच्छा हुआ है और वह इतने रोचक ढगसे संकलित हुई है कि जो भी व्यक्ति उसे पढ़ेगा वह हेमचन्द्रके लिये चार आंसू बहाये बिना न रहेगा।

परमानन्द जैन शास्त्री

क्या रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं ?

(ले० श्री पं० नाथूराम 'प्रेमी')

रत्नकरण्ड-श्रावकाचार बहुत ही प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि उसमें कहीं भी कर्ताका नाम नहीं दिया है, फिर भी परम्परासे यही माना जा रहा है कि आप्तमीमांसा, बृहत्स्वयंभु-स्तोत्र आदिके कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही इसके कर्ता हैं। परन्तु वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथ-चरितके प्रारंभमें पूर्वाचार्योंका जो स्तवन किया है उससे मालूम होता है कि दोनों एक नहीं हैं। वे कहते हैं—

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥१७
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥१९

इन तीन श्लोकोंमें 'स्वामी', 'देव' और 'योगीन्द्र' इन तीन पृथक् पृथक् आचार्योंकी स्तुति की गई है। इनमेंसे पहले 'स्वामी' तो समन्तभद्र हैं जो देवागम (आप्तमीमांसा) के कर्ता हैं। और भी अनेक विद्वानोंने इन्हें स्वामी शब्दसे स्मरण किया है। दूसरे 'देव' जैनेन्द्र व्याकरणके कर्ता देवनन्दि हैं और उन्हें उनके नामके एक देशसे उल्लिखित किया है। कहा है कि जिनके द्वारा शब्द साधुताको ग्रहण करके सिद्ध हो जाते हैं, वे अचिन्तनीय महिमा वाले 'देव' वन्दनीय हैं। अवश्य ही ये शब्दशास्त्रके कर्ता देवनन्दि ही हैं। तीसरे श्लोकके 'योगीन्द्र' अक्षय सुखके दाता 'रत्नकरण्ड' के कर्ता हैं। तीनोंमें कर्ताओंके स्पष्ट पूरे नाम न देकर सकेत या उनके विशेषण दिये हैं, फिर भी गुणवर्णनसे वे स्पष्ट हो जाते हैं।

तीनों श्लोक अलग अलग तीन ग्रन्थकर्ताओंका स्मरण करते हैं और साथ ही उनके ग्रंथोंका संकेत। बीचमें देवनन्दि हैं अतएव पहले और तीसरे श्लोकमें स्मृत 'स्वामी' और 'योगीन्द्र' एक नहीं हो सकते। यदि यह कल्पना की जाय कि पहले श्लोकके बाद ही तीसरा श्लोक होगा, बीचका श्लोक गलतीसे तीसरेकी जगह छप गया होगा—यद्यपि इसके लिए हस्तलिखित प्रतियोंका कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, तो भी, दोनोंको एक साथ रखने पर भी, स्वामी और योगीन्द्रको एक नहीं किया जा सकता और न उनका सम्बन्ध ही ठीक बैठता है। इसके सिवाय तीनों श्लोक अलग अलग अपने आपमें परिपूर्ण हैं, वे एक दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखते, तीनोंमें एक एक आचार्यकी स्वतंत्र प्रशस्ति है*।

एक बात और भी ध्यान देनेकी यह है कि वादिराजने श्लोक नं० १६ से ३० तक १५ श्लोकोंमें पूर्ववर्ती १५ ही आचार्यों या कवियोंका स्मरण किया है, अर्थात् प्रत्येकके लिए उन्होंने पूरा पूरा एक ही श्लोक, अपने आपमें सम्पूर्ण दिया है। कहीं भी इस क्रमको भंग नहीं किया है। तब उक्त दो श्लोकोंमें एक ही समन्तभद्रकी स्तुति की होगी, यह नहीं हो सकता।

जिस तरह 'स्वामी' नाम नहीं है उपपद है, उसी तरह योगीन्द्र भी नाम नहीं है। असली नाम रत्नकरण्डके कर्ताका भी समन्तभद्र हो सकता है, जो स्वामी समन्तभद्रसे पृथक् शायद दूसरे ही समन्तभद्र हों।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वादिराजसूरिने पार्श्वनाथ चरित शक सं० ९४७ (वि० सं० १०८२) में समाप्त किया था, और वे बड़े भारी विद्वान् थे। उनके समक्ष अवश्य ही देवागमके कर्ता और रत्नकरण्डके कर्ताको पृथक्त्वका कोई प्रमाण या कोई अनुश्रुति होगी और इस लिए जब तक उनके पहलेका दोनोंकी एकताका कोई दूसरा प्रमाण न मिल जाय, तब तक उनके कथन पर एकाएक अविश्वास नहीं किया जा सकता।

*स्व० गुरुजी (पं० पन्नालालजी बाकलीवाल) ने जयपुरके ग्रन्थभंडारोंके ग्रन्थोंके कुछ प्रारंभिक अंश और अन्त्य-प्रशस्तियां भेजी थीं उनमें वादिराज कृत पार्श्वनाथ-चरित का प्रारंभिक अंश भी है। उसमें उक्त तीन श्लोकोंका यही क्रम है, जो मा० ग्र० मालाकी छपी हुई प्रतिमें है।

देवागमादिके कर्ता और रत्नकरण्डके कर्त्ता अपनी रचनाशैली और विषयकी दृष्टिसे भी एक नहीं मालूम होते। एक तो महान् तार्किक हैं और दूसरे धर्मशास्त्री। जिनसेन आदि प्राचीन आचार्योंने उन्हें वादी वाग्मी गमक और तार्किकके रूपमें ही उल्लेख किया है, धर्मशास्त्रीके रूपमें नहीं। योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें कहीं भी नहीं दिया गया।

समन्तभद्र नामके धारण करने वाले विद्वान् और भी अनेक हो गये हैं जैसे कि अष्टसहस्री विषमपदतात्पर्यवृत्तिके कर्त्ता, जो म० म० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके अनुसार ई० स० १००० के लगभग हुए हैं। नाम तो इनका भी समन्तभद्र था; परन्तु स्वामी समन्तभद्रसे अपनेको पृथक् बतलानेके लिए इन्होंने आपको 'लघु' विशेषण सहित लिखा है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पं० आशाधर आदि पिछले विद्वानोंने स्वामी समन्तभद्रको ही रत्नकरण्ड का कर्त्ता माना है। इसके पहलेके विद्वानोंमेंसे किस किसने माना है, इसकी खोज होनी चाहिए।

आप्तमीमांसा आदिके कर्त्ता ही रत्नकरण्डके कर्त्ता हैं, वादिराजसूरि इस बातको नहीं मानते थे और इसीको स्पष्ट करनेके लिए यह नोट लिखा गया है। दोनोंको एक सिद्ध करनेके लिए अब अन्य प्रमाण आवश्यक हो गये हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व

(ले०—प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०)

मैंने अपने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धमें जो बातें प्रस्तुत की हैं उन पर दो लेख न्यायाचार्य प० दरबारीलालजी जैन कोठियाके अनेकान्त भा० ६ किरण नं० १०–११ तथा १२ इन दो अंकोंमें निकल चुके हैं। उनके पहले लेखका शीर्षक है "क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?" एवं दूसरे लेखका शीर्षक है "क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?" चूंकि दूसरे लेखका विषय हमारी चिन्तनधारामें अधिक निकटवर्ती है अतएव पहले उसी पर यहाँ विचार किया जाता है। इस विषयका निर्णय हो जानेके पश्चात ही प्रथम लेख सम्बन्धी विषय पर विचार करना उचित होगा।

लेखके आदिमें ही पंडितजीने मेरे द्वारा षट्खण्डागम-जीवस्थानके क्षेत्रस्पर्शनादिकी प्रस्तावना पृष्ठ १२ पर लिखित उन पक्तियोंको उद्धृत किया है जिनमें मैंने रत्नकरण्ड-श्रावकाचारका उल्लेख किया था और उस परसे पण्डितजी ने यह आक्षेप किया है कि "मालूम होता है कि प्रो० सा० ने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़दी है और इसी लिये रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं मान रहे हैं।" मुझे आश्चर्य है कि उल्लिखित पंक्तियोंके अन्तर्गत कौनसी मान्यताको छोड़ देनेका न्यायाचार्यजीको भ्रम हुआ है। मैंने जो वहां स्वामी समन्तभद्र कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार को एक प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रंथ कहा है वह मैं आज भी मानता हूँ। वादिराजसूरिने उसे अक्षय सुखावह और प्रभाचन्द्रने अखिलसागार धर्मको प्रकाशित करने वाला सूर्य कहा है। उसमें भी अभी तक मुझे कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। उसके पश्चात् अब यदि मैंने कोई बात और अधिक कही है तो केवल यह कि इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारके कर्ता स्वामी समन्तभद्र और आप्तमीमांसाके कर्ता स्वामी समन्तभद्र एक ही व्यक्ति नहीं प्रतीत होते। यदि मैंने उन पूर्व पक्तियोंमें आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डके एक कर्तृत्वकी कोई बात कही होती तब तो न्यायाचार्यजी का उस कथनके आधारसे मुझ पर कोई मान्यता छोड़ देने का आक्षेप न्याययुक्त था। किन्तु जब मैंने उन पक्तियोंमें दो ग्रंथोंके एक कर्तृत्वका कोई विधान ही नहीं किया तब न्यायाचार्यजीका मुझ पर यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल और

निराधार सिद्ध होता है। यद्यपि गवेषणाके क्षेत्रमें नये आधारोंके प्रकाशसे मतपरिवर्तन कोई दोष नहीं है किन्तु किसी कथनविशेष परसे निराधार आक्षेप उपस्थित करना, कमसे कम न्यायाचार्यजी द्वारा, उचित नहीं कहा जा सकता।

इसके पश्चात् पंडितजीने क्रमशः—(१) रत्नमाला और रत्नकरण्डकी रचनाओंके भिन्न कालीन होनेके प्रमाण उपस्थित किये हैं; (२) रत्नकरण्डके समान स्वयम्भूस्तोत्रमें केवलीके क्षुधादि वेदनाओंके अभाव माने जानेके उल्लेख पेश किये हैं; (३) मेरे द्वारा प्रस्तुत की गई आप्तमीमांसा की कारिका ९३ का अर्थ ऐसा बैठानेका प्रयत्न किया है जिससे उसके द्वारा केवलीमें सुख दुखकी वेदनाका सद्भाव सिद्ध न हो; एवं (४) रत्नकरण्ड व युक्त्यनुशासनादि ग्रंथों से कुछ तुलनात्मक वाक्य प्रस्तुत कर उन सबको एक ही ग्रन्थकारकी कृतियां प्रकट की हैं। इन परसे मेरे सन्मुख विचारके लिये निम्न प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(१) क्या रत्नकरण्डके समान केवलीके क्षुधादि वेदनाओंका अभाव स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादि कृतियोंमें भी बतलाया गया है?

(२) क्या आप्तमीमांसाकी कारिका ९३ का यथार्थतः वह अर्थ नहीं है जैसा कि मैंने समझा है?

(३) क्या बाह्य और अन्तरंग प्रमाणोंसे आप्तमीमांसा और रत्नकरण्डका एक कर्तृत्व सिद्ध होता है?

यहां मैं इन तीन बातों पर विचार करूंगा।

प्रथम बातकी ऊहापोहमें पंडितजीने जिस प्रकारके उल्लेख प्रस्तुत किये हैं उनको देखते हुए मुझे इस बातकी अब भी आवश्यकता प्रतीत होती है कि यहां सबसे पहले मैं अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट करदूं। केवलीमें चार घातिया कर्मोंका नाश हो चुका है, अतएव उन कर्मोंसे उत्पन्न दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें कहीं कोई मतभेद नहीं है। रत्नकरण्डके छठवें श्लोकमें उल्लिखित दोषोंमें इस प्रकारके पांच दोष हैं—भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह। अतएव इन दोषोंके केवलीमें अभावके सम्बन्धके उल्लेख प्रस्तुत करना अनावश्यक है। पंडितजी द्वारा प्रस्तुत किये गये ऐसे विशेषणात्मक उल्लेख हैं—निर्मोह, गतमदमायः वीतराग, विवान्तवैर, स्नेहो वृथात्रेति, भय-कामवश्यो। उन दोषोंका केवलीमें अभाव सभीको स्वीकृत है। अब प्रश्न रह जाता है केवल क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क (व्याधि) जन्म और अन्तक (मृत्यु) का। ये दोष उन शेष कर्मोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनका केवलीमें सत्व और उदय दोनों वर्तमान रहते हैं; अतएव इनका उनमें अभाव माननेसे एक सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित होती है जिसका उचित समाधान नहीं मिल रहा।

अब यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस प्रकार रत्नकरण्डकारने आप्तमें इन अघातिया कर्मोंसे उत्पन्न प्रवृत्तियोंका अभाव प्रतिपादित किया है उसी प्रकार उनके अभावका प्रतिपादन क्या कहीं आप्तमीमांसाकारने भी किया है? न्यायाचार्यजी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनमेंसे तो कोई एक भी ऐसा उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सके जिसमें उक्त मान्यताका विधान पाया जाता हो। यथार्थतः यदि आप्तमीमांसाकारको आप्तमें उन प्रवृत्तियोंका अभाव मानना अभीष्ट था तो उसके प्रतिपादनके लिये सबसे उपयुक्त स्थल वही ग्रन्थ था जहां उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमांसा की है, उन्हें वहां ही इनकी सार्थकता भी सिद्ध करना थी। किन्तु यह बात नहीं पाई जाती। इससे न्यायाचार्यजी ने आप्तमीमांसा व युक्त्यनुशासनका कोई उल्लेख प्रस्तुत न कर अपने मतकी पुष्टिमें स्वयम्भूस्तोत्रके कुछ अवतरण उपस्थित किये हैं। जिस प्रकारसे ये उल्लेख संग्रह किये गये हैं उससे ज्ञात होता है कि पंडितजीने ग्रन्थकारकी समस्त कृतियोंको खजो कर डाला है तब वे ये उल्लेख प्राप्त कर सके हैं। इससे अब मुझे विश्वास होता है कि इनके अतिरिक्त अब इस मतकी पुष्टिके उल्लेख स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंमें मिलना प्रायः असम्भव ही है।

प्रथमतः पंडितजीने स्वयम्भूस्तोत्रका १८ वां श्लोक प्रस्तुत किया है और उस परसे यह निष्कर्ष निकाला है कि यहां "समन्तभद्र जिनने स्पष्ट शब्दोंमें आप्तकेवलीके आहारादिके अभावका और क्षुधादि सुख-दुख वेदनाओंके अभावका प्रतिपादन करते हैं।" किन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी मुझे उस श्लोकमें केवलीके क्षुधादि वेदनाओंके अभाव का कोई प्रतिपादन दिखाई नहीं दिया। जहां तक मैं समझ सका हूं उस श्लोकका अर्थ यह है—'क्षुधादि दुखोंके

प्रतिकारसे तथा इन्द्रियार्थोंसे उत्पन्न अल्पसुखोंसे न तो शरीरकी स्थिति रखी जा सकती है और न जीवकी, अतएव वे शरीर या जीवके गुण नहीं हैं, ऐसा भगवानने उपदेश दिया है।" इसका भावार्थ यह समझमें आता है कि भूख-प्यास मिटाकर व इन्द्रियसुखोंको प्राप्त करके शरीरका चाहे जितना पोषण किया जाय, पर उससे शरीर सदैव स्थिर नहीं रखा जा सकता, वह जरा और मरणके आधीन होता ही। उनसे जीवका भी कोई उपकार नहीं होता। अतएव शरीर पोषण व इन्द्रियसुखोंको स्वधर्म न मान कर परधर्म ही जानना चाहिए, ऐसा भगवान्‌का उपदेश है। यही अर्थ आगेके अर्थात् १९ वें पद्यसे और भी स्पष्ट हो जाता है जहाँ कहा गया है कि मनुष्य अत्यन्त लोलुपी होकर भी अनुबन्धके दोषसे अकार्योंमें प्रवृत्त नहीं होता। किन्तु जो इस लोक और परलोकमें अनुबन्ध जनित दोषोंको जानता है वह कैसे सुखोंमें आसक्त होगा, ऐसा भी भगवान्‌ने कहा है। यहां ग्रन्थकारने केवल यही बतलाया है कि भगवान्‌ने सुख दुखोंमें आसक्त न होने अर्थात् राग द्वेषको जीतनेका उपदेश दिया है। पर यहां केवलीमें भूख प्यासके अभावका तो जरा भी प्रसंग दिखाई नहीं देता। मुझे आश्चर्य होता है कि इस श्लोकके आधारसे पंडितजी ऐसा कैसे कह सके कि "स्वयम्भूस्तोत्रमें स्वामी समन्तभद्रने दोषका स्वरूप वही समझाया है जो रत्नकरण्ड में।" रत्नकरण्डके छठवें और स्वयम्भूस्तोत्रके १८ वें पद्यमें यदि कोई साम्य है तो केवल इतना कि दोनों पद्य 'क्षुत्' शब्दसे प्रारम्भ होते हैं। पर उनके अर्थमें आकाश-पाताल का अन्तर है। क्षुत् मात्रके आधारसे पंडितजीने जो यहां केवलीमें उक्त वेदनाओंके अभावकी कल्पना करली है वह सिद्ध नहीं होती।

स्वयम्भूस्तोत्र का दूसरा श्लोक पंडितजीने ७५ वां प्रस्तुत किया है जिसमें कहा गया है कि 'हे जिनदेव, आप मानुषी प्रकृतिसे पार कर गये हैं, देवताओंके भी देवता हैं अतएव परमदेवता हैं। अत: हमारे कल्याणके लिये प्रसन्न होइये।" यहां भी पंडितजी कहते हैं कि 'इसमें यह निर्विवाद प्रकट है कि समन्तभद्र आप्तको क्षुधादि दोष-रहित मानते हैं।" किन्तु मुझे पुन: अत्यन्त दुख और निराशाके साथ कहना पड़ता है कि यह भी पंडितजीकी निरी कल्पना है। इस श्लोकमें जिस मानवी प्रकृतिको पार करनेकी बात कही गयी है उसे समझनेके लिये हमें उससे पूर्वके श्लोक ७४ पर ध्यान देना चाहिये जो इस प्रकार है—

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर तावकमचिन्त्यमीहितम्॥

इस पद्यमें कहा गया है कि 'आप मुनिराजकी मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियां करनेकी अभिलाषासे नहीं हुआ करतीं, फिर भी आपकी प्रवृत्तियाँ बिना समीक्षाके नहीं होतीं, अतएव, हे धीर, आपका ईहित अचिन्त्य है।" इस श्लोकके अनुप्रसङ्गमें अगले श्लोकान्तर्गत यदि किसी मानवी प्रकृतिके पार जानेका केवलीमें प्रतिपादन स्वीकार किया जा सकता है तो वह केवल यही हो सकता है कि साधारण मनुष्यकी मन, वचन और काय सम्बन्धी क्रियाएँ राग, द्वेष और अज्ञान पूर्वक हुआ करती हैं जिनके कारण वे उनकी पूरी समीक्षा नहीं कर पाते। पर यह बात केवली में नहीं है क्योंकि उनके राग, द्वेष और अज्ञानका सर्वथा अभाव हो चुका है जिससे उनकी मन, वचन और कायकी क्रियाओंमें सज्ञानता है और आसक्ति नहीं है। यहां जो मन और वचनके अतिरिक्त शरीरकी प्रवृत्तियोंका भी स्पष्ट विधान है वह कर्मसिद्धान्तकी मान्यताके सर्वथा अनुकूल है, जिसके अनुसार केवलीमें भी मनुष्यगति, मनुष्यआयु पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर व अंगोपांग तथा निर्माण एवं साता असाता वेदनीय आदि कर्मोंका उदय स्वीकार किया गया है। ऐसी अवस्थामें इन कर्मोंसे उत्पन्न भावोंका अभाव माना ही कैसे जा सकता है? इस प्रकार न्यायाचार्यजी द्वारा प्रस्तुत किये गये इस दूसरे श्लोकमें भी केवलीके क्षुधादि वेदनाओंके अभाव प्रतिपादनकी लेश-मात्र भी सम्भावना नहीं पाई जाती।

पंडितजी द्वारा प्रस्तुत किया गया तीसरा पद्य है स्वयंभूस्तोत्रका ६३ वां जिसमें कहा गया है कि "अन्तक (मृत्यु) अपने जन्म और ज्वर रूपी सखाओंके साथ मनुष्यों का क्रन्दक अर्थात् रुलाने वाला है, किन्तु अन्तकके अन्तक ऐसे आपके पास जब वह आता है तब वह अपने कामकार अर्थात् स्वेच्छाचारसे रुक जाता है।" इस पद्यके द्वारा न्यायाचार्यजी "केवलीमें मरण और उसके साथी जन्म और

ज्वरका अभाव" प्रमाणित करते हैं। किन्तु श्लोकका भावार्थ तो इसके सिवाय कुछ नहीं दिखाई देता कि जन्म, ज्वर और मृत्यु जिस प्रकार आकर साधारण लोगोंको व्याकुल करते और रुलाते हैं, उस प्रकार वे आपको नहीं रुला पाते। आते तो वे आपके पास भी हैं, पर वे अपनी मनमानी करनेमें अर्थात् रागद्वेषभाव उत्पन्न करनेमें सफल नहीं होते, क्यों कि, जैसा उससे पूर्ववर्ती श्लोकमें कहा गया है, "आपने विद्यारूपी नावसे तृष्णारूपी नदी पार करली है।"

केवलीमे जन्म, जरा, ज्वर और मरणका अभाव प्रमाणित करनेके लिये न्यायाचार्यजीने दो और उल्लेख प्रस्तुत किये हैं—'जन्म-जरा-जिहासया' (४६) तथा 'ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै' (८१) और कहा है कि "यहां जिहासा और उपशान्ति शब्दोंसे केवली अवस्था पाने पर अभाव ही विवक्षित है।" जिहासाकी व्युत्पत्ति और व्यवहार-सिद्ध अर्थ 'दूर करनेकी इच्छा' ही होता है और 'उपशान्त्यै' का शब्दार्थ होता है 'उपशान्तिके लिये'। पर चूंकि न्यायाचार्यजीने कहा है कि यहां इन शब्दोंके द्वारा अभाव ही विवक्षित है, अतएव उस विवक्षाको समझनेके लिये हमे पूरे पद्यों पर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम पद्य पूरा इस प्रकार है—

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत्

अर्थात् "कितने ही तपस्वी पुत्र, धन व परलोककी तृष्णासे कर्म करते हैं, किन्तु आपने पुनर्जन्म और जरासे बचनेके विचारसे अपनी मन, वचन और काय-सम्बन्धी तीनों प्रवृत्तियोंका निरोध किया"। यहां केवलीमें उक्त वृत्तियोंके अभावकी तो कोई विवक्षा नहीं पाई जाती, बल्कि यह स्पष्ट प्रतिपादन पाया जाता है कि ये प्रवृत्तियां उनमें विद्यमान हैं पर वे उनका अभाव करनेमें प्रयत्नशील हैं। और इसीके लिये वे अपने तीनों योगोंका निरोध कर अयोगी हो जाते हैं। इसके पश्चात ही वे उन बाधाओंसे वियुक्त हो पाते हैं।

दूसरा पद्य पूरा इस प्रकार है—

कुन्थुप्रभृत्यखिलसत्त्वदयैकतानः
कुन्थुर्जिनो ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै।
त्वं धर्मचक्रमिह वर्त्तयसि स्म भूत्यै
भूत्वा पुरा क्षितिपतीश्वरचक्रपाणिः ॥

इसका अर्थ यह है कि "आप कुन्थु भगवान्ने पहले राजराज चक्रवर्ती होकर बादको यहां कुन्थु आदि समस्त प्राणियोंकी दया करनेमे एकचित्त हो ज्वर, जरा और मरणकी उपशान्ति रूपी विभूतिके लिये धर्मचक्रका प्रवर्तन किया है।" यहां भी स्पष्टतः केवली द्वारा ज्वर, जरा और मरणकी उपशान्तिके लिये प्रयत्नका विधान किया गया है, न कि केवली होनेसे पूर्व उनके अभावका।

यहां यह भी विचार करने योग्य है कि केवलीमे जन्म, जरा और मरणके अभावकी मान्यताका अभिप्राय क्या है? यदि इस मान्यताका यह तात्पर्य हो कि केवलीकी वर्तमान आयुका क्षय और शरीरका अन्त हो जाने पर सिद्ध अवस्था मे फिर उन्हे कभी जन्म, ज्वर, जरा और मरणकी बाधाएं नही होगी, तब तो इससे कहीं विरोध उत्पन्न नहीं होता, क्यों कि केवलीने कोई नया आयुबन्ध किया ही नही है, इस लिये सिद्धगतिको छोड किसी संसारगतिमें उन्हें जाना ही नही है। किन्तु जिस शरीरमे केवली अवस्था उत्पन्न हुई है उसका मनुष्ययोनिमें जन्म हुआ ही है, उस शरीरका योग भी उनके विद्यमान है वह शरीर साता-असाता वेदनीय कर्मोदयके वशीभूत भी है, उनकी मनुष्य-आयु भी क्रमशः क्षीण हो ही रही है और वह समय भी आने वाला है जब उनकी समस्त आयुका क्षय हो जानेसे उस शरीरका वियोग हो जावेगा। तब फिर उसी अवस्था मे उनके जन्म, ज्वर, जरा और मृत्युका अभाव कैसे माना जा सकता है?

इस विवेचनका यह निष्कर्ष निकलता है कि आप्त-मीमांसा और युक्त्यनुशासनमें तो स्वयं न्यायाचार्यजीकी ही रत्नकरण्डश्रावकाचारकी मान्यताका पोषक कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हो सका, एवं स्वयंभूस्तोत्रमे जहाँ उन्हें उस मान्यताकी पुष्टी दिखाई दी वहां भी यथार्थतः उसका कोई विधान सिद्ध नहीं होता।

(२)

अब हम आप्तमीमांसाकी उस कारिकाके अर्थपर आते हैं जिसके आधारसे मैंने यह कहा है कि उस ग्रंथके कर्ताको केवलीमें सुख दुःखकी वेदना स्वीकार है। वह कारिका इस प्रकार है :—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥

इस कारिकाके अर्थका स्पष्टीकरण करनेके लिये उसके प्रसंगपर ध्यान देलेना आवश्यक है। आप्तमीमांसाकार यहां यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अन्य लोगोंका जो यह मत है कि सुख या दुखसे निश्चयतः पुण्य पापका बंध होता है वह यथार्थ नहीं है। आचार्य ९२ वीं कारिकामें कहते हैं कि यदि दूसरेको दुःख देनेसे निश्चयतः पापबन्ध होता हो और सुख देनेसे पुण्य, तो अचेतन वस्तुओं और कषाय रहित जीवोंको भी यह बन्ध होना चाहिये, क्यों कि वे भी तो दूसरेके सुख दुःख उत्पादनमें निमित्त कारण होते हैं। अभिप्राय यह कि दूसरोंके सुख-दुख उत्पादनमें निमित्त कारण होनेपर भी जब वस्तुओं एवं अकषायी जीवोंके पुण्य-पापका बन्ध नहीं होता। अतएव परमें सुख-दुखका उत्पादन पुण्य पापका ध्रुव कारण नहीं है। अब संभव है कोई यह कहे कि दूसरोंको नहीं, किन्तु स्वयं अपनेमे दुखके अनुभवसे पुण्य और सुखसे पाप उत्पन्न होता है तो उसके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि नहीं, ऐसा भी नहीं है; क्यों कि यदि अपनेमें दुखसे निश्चयतः पुण्यबन्ध होता हो और सुखसे पापबन्ध तो वीतराग विद्वान् मुनि भी पुण्य-पापसे बधेंगे, क्योंकि उनमे भी दुःख-सुख रूप निमित्त विद्यमान हैं। इसका तात्पर्य यह निकलता है कि वीतराग विद्वान् मुनिमें सुख दुखका वेदन होते हुए भी पाप-पुण्यका बन्ध नहीं होता।

यहां न्यायाचार्यजीका विवेक यह है कि यह जो 'वीतराग मुनिमें सुख-दुख स्वीकार किया गया है वह छट्ठे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनियोंके ही बतलाया है न कि तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनि केवलियोंके।" पंडितजीने सुख दुखके सद्भावको छठे गुणस्थान आदिमें स्वीकार किया है और तेरहवें चौदहवें गुणस्थानोंमें उनका निषेध किया है, इससे उनका अभिप्राय छठेसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक उनके सद्भाव माननेका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु उक्त कारिकामें छठे गुणस्थानवर्ती साधुका ग्रहण करनेसे दो आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि यहां यदि सामान्य मुनिका ही ग्रहण किया जाय तो वीतराग और विद्वान् इन दो विशेषणोंका प्रयोग सर्वथा निरर्थक होकर कारिकामें अपुष्टार्थ दोष उत्पन्न होता है, जो आप्तमीमांसा जैसी अत्यन्त ठोस रचनामें अकल्पनीय है। क्या इतनी शिथिल रचना ऐसे ग्रंथकार द्वारा संभव है जो अन्यत्र स्वयं कहते हैं कि—'विशेष्य वाच्यस्य विशेषणं वचो यतो विशेष्यं विनियम्यते च यत्?

दूसरे, यदि रचना सदोष ही मानकर न्यायाचार्यजी द्वारा छट्ठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया जाय तो फिर प्रतिपाद्य विषयकी युक्ति ही बिगड़ जाती है और हेतु विपरीत होनेसे जो बात असिद्ध करना चाहते हैं वही सिद्ध होती है, क्योंकि छठे गुणस्थानमें सुख-दुखकी वेदना के साथ प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंसे कर्मबन्ध अवश्य होगा। यहां ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंकी पाप प्रकृतियोंका एवं वेदनीयादि अघातिया कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंका परिणामानुसार बन्ध होना अनिवार्य है। सातवे गुणस्थानमें प्रमादका अभाव हो जाने पर भी कषायोदयसे कर्मबन्ध होगा ही, और यही बात सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक भी उत्तरोत्तर हीन क्रमसे पाई जावेगी। अतएव छठेसे दशवें गुणस्थान तक तो आप्तमीमांसाकारकी युक्ति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती। हां, ग्यारहवें आदि गुणस्थान कषायोदित रहित होनेसे वीतराग एव अबन्धक है, अत यदि कारिकामें विद्वान् विशेषण न लगा होता तो ग्यारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग मुनिके ग्रहण करनेमें अर्थकी सिद्धि हो सकती थी। किन्तु कारिकामें जो विद्वान् विशेषण भी लगाया गया है, और जिसपर न्यायाचार्यजीने सर्वथा ही कोई ध्यान नहीं दिया है, उससे स्पष्ट है कि आचार्य ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोके भी पार जाकर केवलीके दो स्थानोंकी ओर ही यहां दृष्टि रखते हैं। उनके ऐसा करनेका कारण यह प्रतीत होता है कि ग्यारहवे और बारहवें गुणस्थानोंमें वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावसे कुछ मलोत्पत्तिकी आशंका हो सकती है। किन्तु अन्तिम दो गुणस्थान ऐसे हैं जहां साता व असाता वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके उदयसे सुख और दुखका वेदन तो संभव है किन्तु कषाय व अज्ञानके अभावमें पुण्य पाप

बन्ध या किसी भी प्रकारके अंतरंग मलकी सर्वथा संभावना नहीं रहती। अतएव उन्होंने इन्हीं दो गुणस्थानोंका ग्रहण किया है जहां पुण्य-पापके बन्धकी जरा भी आशंका न की जा सके और उनकी युक्तिमें थोड़ासा भी दूषण न निकाला जा सके। स्वयं अष्टसहस्रीकारने भी यहां 'वीतरागो मुनि र्विद्वान' से अकषाय वीतराग तत्त्वज्ञानी ही अर्थ ग्रहण किया है जैसा कि उनके टीका वाक्योंसे स्पष्ट है—"स्वस्मिन दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तौ अपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्त-दभिसंधेरभावात् न पुण्य-पापाभ्यां योगस्तस्य तदभि सन्धिनिबन्धनत्वात् इति तद्वानेकान्तसिद्धिरेवायाता। आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्—इत्यादि। इस प्रकार उक्त कारिका-न्तर्गत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' से अभिप्राय ठीक उन्हीं केवलीसे हो सकता है जिन्हें उन्होंने स्वयंभूस्तोत्रमें "समग्र-निष्ठः समभिज्ञश्रमुर्विद्याविनिर्वान्तवपायद ष:" (१०), "तृष्णानदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया" (६३) व काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयः ..." (७४) आदि प्रकारसे वर्णित किया है। अन्य किसी अर्थमें कारिका की युक्ति सिद्ध नहीं होती।

(क्रमशः)

मानव-संस्कृतिके इतिहासमें भगवान् वीरकी देन

(लेखक—पं० रतनलाल संघवी न्यायतीर्थ विशारद)

भगवान महावीर राजकुमार थे, सब सुख सुविधा, भोगोंकी विशालता एवं वैभवकी विफलता सामने सुख पूर्वक समुपस्थित थी। किसी भी प्रकारकी चिन्ता एवं अभाव उनके लिये नाम शेष थे। शरीर पूर्ण स्वस्थ एवं युवा था। किन्तु फिर भी दुखियोंका दुःख पीड़ितोंकी पीड़ा, शोषितोंका शोषण, अछूतोंका दर्द सामाजिक विष-मता एवं धार्मिक अत्याचार उनकी पवित्र विचारधाराके सामने नग्न नृत्य कर रहे थे। उनका हृदय धार्मिक-क्षेत्रमें होने वाली हिंसासे विचलित हो रहा था; वे धार्मिक-ओट में होने वाली इस प्रकारकी हिंसासे मानव संस्कृतिका महान ह्रास और पतन देख रहे थे। उनकी विचार-धारामें धर्मका यह सर्वथा विपरीत मार्ग था। यद्यपि जनता, राजा, पुरो हितवर्ग बनाम ब्राह्मणवर्ग यज्ञके क्रियाकांडोंमें ही और हिंसामें ही परमधार्मिकता एवं उच्च आध्यात्मिक आत्मो-न्नति बतला रहे थे। इस प्रकार तत्कालीन वैदिक संस्कृतिका रूप इतना विकृत, घृणित, एवं हिंसासे दूषित हो रहा था कि जिससे मानवजाति सर्वथा निम्नतम कोटिकी ओर आकर्षित हो रही थी। ऐसे अंधकारमय युगमें भगवान वीरने अपनी आत्म ज्योति, त्याग, तप, आत्मबल, और बलिदान द्वारा हृदयकी पूर्ण निर्मलताके साथ अहिंसाका सर्वोच्च एवं उदात्त सिद्धान्त मानव-संस्कृतिके सन्मुख उप स्थित किया। यह पवित्रतम कार्य-राजकीय-आज्ञा पत्र द्वारा नहीं; बल्कि महत्तम आत्म-दमन एवं सर्वस्व वैभव-परि-त्याग द्वारा किया। इसीमें वीरकी अनुपमेय वीरता, वीरकी लोकोत्तर महानता और वीरकी कभी न बुझनेवाली उज्ज्वल ज्योतिका रहस्य सन्निहित है।

वीर कालीन भारतीय संस्कृतिमें हिंसाका स्पष्ट रूपेण पूर्ण साम्राज्य था। अहिंसाकी उपेक्षा थी। अहिंसाके रह-स्य और शक्तिके प्रति अविश्वास एवं असामर्थ्य प्रदर्शित किया जा रहा था; ऐसी विकट परिस्थितिमें भी अहिंसाका पूर्ण समर्थन भगवान वीरने किया। इसके लिये राज्यपाट सुख-सुविधा और सब प्रकारके भोगोपभोगोंका परित्याग सर्वथा एवं सदैवके लिये कर दिया। एक महान तपस्वी बन कर जंगलकी ओर चल दिये तथा बारह वर्ष तक महान् तपस्या और अनेकानेक कष्ट उठा कर जनताके हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा की। मानव-संस्कृतिके प्रवाह-मुख को अहिंसाकी ओर मोड़ दिया। अहिंसाको ही धर्म धर्मका हृदय एवं जनताकी आराध्यदेवी बना दिया।

वीरकी विचार-धारामें आत्माका और ईश्वरका सत्ता-रूपसे अस्तित्व था। वे नास्तिक नहीं थे। आत्माकी नित्यता और उसके (आत्माके) ईश्वरीय रूपमें उन्हें पूर्ण विश्वास था। वे इसी विश्वासको जन-साधारणमें अहिंसामय आचारकी भित्तिपर ही विकसित होता हुआ देखना चाहते थे। उनकी दृष्टिमें केवल शुष्क ज्ञानमय दार्शनिकता शून्य-वत् थी; जब तक कि आचारमें पूर्ण रूपसे अहिंसा न हो।

भगवान वीरने भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृतिमें अहिंसाके वे अक्षय बीज बोये जो कि आज दिन तक नष्ट नहीं हो सके और सदैव फलते रहे तथा आगे भी फलते फूलते रहेंगे। वीर-कालके पश्चात् आज दिन तककी मानव-जातिकी विचार-धारा निरन्तर इसी विचार पर दृढ़ होती चली जारही है कि मानव-जातिकी समुन्नति और सुख-सुविधा एवं स्थायी शांति अहिंसामें ही सन्निहित है, न कि अन्यमार्गमें।

वर्तमानमें विज्ञान-सामग्रीके बलपर मानव-जातिके संहारके लिये विविध शस्त्रास्त्रोंका निर्माण किया जाकर जो विश्व-व्यापी महायुद्ध प्रज्वलित हो उठा है एवं आजकी राजनीतिमें कपटका जो पूर्ण रूपेण प्रवेश हो गया है उस से संपूर्ण विश्व संत्रसित हो उठा है और इससे अब मानव-समाजको अपने कल्याणका मार्ग केवल एकमात्र अहिंसामें ही दिखाई दे रहा है।

विश्व-विभूति महात्मा गांधीके त्याग और तपके बल पर यह संभव दिख रहा है कि आगे आने वाली संतति अहिंसाको ही विश्वकी संपूर्ण सस्कृति साहित्य, व्यवहार और राजनीतिका आधार बनावेगी। निस्सदेह विश्वपूज्य महात्मा गांधीने वीरकी इस महान् देनरूप अहिंसाको उसी अर्थमें विकसित, पल्लवित और आचरणीय बनाया है, जिस अर्थमें कि वीरने इसका प्रतिपादन किया है।

यह वीरके महान् और अपरिमेय त्यागकी ही महिमा है कि जिसके बलपर अहिंसाकी अमिट छाप पड़ी; और धार्मिक-क्षेत्रमें सदैवके लिये अहिंसा देवी बन गई। मानव-संस्कृतिके इतिहासमें भगवान वीरकी यह सर्व प्रथम महान् देन है, कि जिसके लिये मानव-जाति ज्यों २ संस्कृत, विचारशील एवं अधिकाधिक सभ्य होती जायगी त्यों २ वीरकी महानताके प्रति और इस महान् देनके प्रति अधिकाधिक श्रद्धाशील एवं भक्तिशील बनती चली जायगी।

मानव-समाज और जीव-जगतके प्रति भगवान वीरके अनेक प्रकारके उपकार हैं; किन्तु अहिंसा सिद्धान्तका यह एक उपकार ही इतना शक्ति-संपन्न और दृढ़ है, जो कि सदैव वीरका प्राणी-जगतके क्षेत्रमें स्मरणीय, और ज्योति-संपन्न विश्वविभूतिके रूपमें नाम-कीर्तन कराता रहेगा।

वीरकी दूसरी देन है—आत्मनिर्भरता। तत्कालीन दार्शनिक जगतमें ईश्वर जगत्-कर्ता माना जाता था। किन्तु वीरकी दृष्टिमें यह आत्माकी नपुंसकता थी। वीरका आदेश था कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर ही है; और बिना सिद्ध आत्माकी प्रेरणाके ही प्रत्येक आत्मा अहिंसाके बल पर विकास करता हुआ पूर्ण, सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। विश्वकी रचनाके प्रति और सांसारिक आत्माओंके प्रति सिद्ध-आत्माका किसी भी प्रकारका हाथ मानना अहिंसाके प्रति अनास्था प्रकट करना है। भगवान वीर प्रत्येक आत्माके लिये स्वबल पर स्वतंत्र विकासके हामी थे और वह भी अहिंसाके आचरण द्वारा ही।

आत्मतत्वकी स्थितिके संबंधमे उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि प्रकृतिकी मूल-भूत वस्तुओं—हवा, पानी, पृथ्वी, वनस्पति और अग्निमें अनन्तानन्त आत्माओंका निवास है, जो कि सिद्ध-आत्मा याने ईश्वरकी रचना नहीं है; किन्तु प्रकृतिरूप विश्वमें अनादि कालकी स्वाभाविक देन है। इस लिये मुक्ति एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है। तदनुसार पूर्ण शक्तिके साथ आध्यात्मिक उच्चतम विकासके लिये स्व-आत्म-निर्भर बनो। ईश्वर-कर्तृत्व जैसे सिद्धान्तके अनुयायी बन कर आत्माको नपुंसक मत बनाओ।

वीरकी तीसरी देन है—वस्तु-विचारके प्रति अनेकान्तात्मक विशालदृष्टि। उनका आदेश है कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। निरपेक्ष रह कर कोई भी वस्तु अर्थक्रियाकारीत्वशील नहीं बन सकती। बिना अर्थक्रियाकारीत्वके वस्तु का वस्तुत्व ही नष्ट हो जाता है। तथा बिना अनेकान्त-दृष्टि के ज्ञेयकी ज्ञेयतामें भी भ्रम, विपरीतता, तथा अस्पष्ट ज्ञान होनेकी पूर्ण संभावना है; अतएव दार्शनिक-विचार-धारामें स्याद्वादको—अनेकान्त-दृष्टिको अवश्य स्थान देना चाहिये। सापेक्ष विचारदृष्टिसे अनेक प्रकार विचारोंकी पारस्परिक विषमता, असहिष्णुता, आदि दूषण एवं धार्मिक तथा

दार्शनिक जगत्के मतभेद नष्ट हो जायेंगे। विवाद-ग्रस्त विषयोंका विषम-विवाद खत्म हो जायगा। इससे मानव-जातिमें सौहार्द उत्पन्न होगा। विश्व-बन्धुत्व एवं प्रेमका विकास होगा। जिसके बल पर मानव-जाति समृद्ध, संपुष्ट, सुखी और ज्ञानशील बनेगी। यह वीरकी वह अमृतमय देन है, जो कि मानव-जातिके सुख-स्रोतको सदैव निर्झरमय बनाती रहेगी।

वीरकी चौथी और उत्तम देन कर्म सिद्धान्त है। वीर आध्यात्मिक महापुरुषतो थे ही, किन्तु साथमें मानव-जीवनके लिये वे व्यावहारिकताको भी आवश्यक समझते थे। उनकी विचार-धारामें यह प्रवाह स्पष्ट रूपेण प्रवाहित हो रहा था कि स्वकृत पाप-पुण्यका फल प्रत्येक आत्माको अवश्य मिलता ही है और उसका मिलना स्वाभाविक ही है, अन्यथा—"कृतका नाश, और अकृतका भोग आदि कई तक" महादूषण उत्पन्न हो जायेंगे जो, कि मानवताके ह्रासके साथ २ व्यवहार मार्ग एवं राजनीति मार्गको भी विपरीत-मार्गपर संचालित कर देंगे, निर्बल सबलका सदैव भक्ष्य बनता चला जायगा। अव्यवस्था एवं अनवस्था उत्पन्न हो जायगी। इसी लिये पाप-पुण्यकी युक्ति सगत व्यवस्थाका प्रामाणिक एवं वास्तविक सिद्धान्त कायम कर पुनर्जन्म, मृत्यु सुख दुःख-प्राप्ति एवं मुक्ति आदि स्वाभाविक घटनाओंकी संगति कर्म-सिद्धान्तकी अनुकूल व्याख्याके रूपमें प्रतिपादन की।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्राणीको अपने अधिकार प्राप्त करने और भोगनेका समान अधिकार है। अनधिकार चेष्टा, अनधिकार हस्तक्षेप, और पर-अधिकार-हरण आदि बातें पाप हैं, जिसका फल प्रत्येक प्राणीको अवश्य भोगना ही होगा। तदनुसार पाप-पुण्यको मान, इस संबंधी फल-प्राप्ति प्रकृतिकी स्वाभाविक बात है—यही कर्मसिद्धान्त है—जो कि ईश्वर-कर्तृत्व और ईश्वरीय प्रेरणा जैसे अंध-विश्वाससे जनताको विमुक्त करता है।

ईश्वर-कर्तृत्व जैसी कुछ एक बातोंका निषेध करना ईश्वरीय सत्ताका निषेध करना नहीं है। ईश्वरीय सत्ता सत्ता है, और प्रत्येक आत्माका अंतिम ध्येय और अंतिम तम विकास ईश्वरत्व-प्राप्ति ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-संस्कृतिके इतिहास मानव-जातिके सुखके लिये वीरकी बड़ी २ देनें हैं— बड़े २ उपकार हैं। गंभीरता-पूर्वक सोचा जाय तो पता चलेगा कि भगवान वीरने मानव-समाजके विकासके इतिहासमें मौलिक क्रांति की है। इतिहासकी धारा ही मोड़ दी है। इस प्रकार वीर केवल जैनियोंकी ही विभूति नहीं हैं; बल्कि त्रिकालवर्ती संपूर्ण मानव-जाति और जीव-जगतकी त्रिकाल-वंदनीय विभूति हैं।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ज्यों २ समय बीतता चला जायगा त्यों २ वीरके त्याग और तपके मूल्यको अधिकाधिक रूपमें आंका जायगा। तथा विश्व-समस्याओंका हल और विश्व शांतिका आधार वीरके कथित सिद्धान्तोंके आचरणमें ही सन्निहित है, यह भी भली भांति ज्ञात होता चला जायगा।

कलकत्तामें वीरशासनका सफल महोत्सव

वीरशासनके जिस सार्धद्वयसहस्राब्दि महोत्सवकी अर्से से आवाजें सुनाई पड़ रही थीं, योजनाएँ हो रही थीं और प्रतीक्षा की जा रही थी वह आखिर कलकत्तामें गत ३१ अक्तूबरसे ४ नवम्बर तक हो गया और बड़ी सफलताके साथ हो गया। कलकत्ता जैसा दूरवर्ती नगर, रेल्वे सफर की भारी कठिनाइयों और इधर कलकत्तामें खाद्य पदार्थों तथा आवासस्थानकी कमी तथा कंट्रोल आर्डरों आदिसे होने वाली परेशानीके कारण स्वागतसमितिकी ऐसी भावना कि बाहरके भाई पहलेसे सूचना दिये बिना उपस्थित न होवें, कम संख्यामें ही उपस्थित होवें और जो उपस्थित होवें वे सब कामके ही आदमी होवें—वीरशासनके प्रचारादि कार्योंमें सक्रिय भाग लेने वाले ही होवें, इन सब बातोंको

देखते हुए यह आशा नहीं थी कि राजगृहके लिये संकल्पित वह महोत्सव कलकत्तेमें इतने अधिक समारोहके साथ मनाया जा सकेगा। परन्तु यह इस महोत्सव की ही विशेषता है जो कलकत्ते वालोंके मुँहसे भी यह कहते हुए सुना गया कि इतना बड़ा महोत्सव कलकत्तेमें इससे पहले कभी नहीं हुआ। अनेक प्रतिबन्धोंके होते हुए भी दूर दूर से सभी प्रान्तोंकी जनता अच्छी संख्यामें उपस्थित हुई थी, प्रतिष्ठित सज्जनों और विद्वज्जनोंका अच्छा योग मिला था, सभी वर्गोंके चुने हुए विद्वानोंका इतना बड़ा समूह तो शायद ही समाजके किसी प्लेटफार्म पर इससे पहले कभी देखनेको मिला हो।

ता० ३१ को रथयात्राका शानदार जलूस दर्शनीय था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंका जलूस मिल कर १॥ मीलके करीब लम्बा था। जलूसमें रथों, पालकियों चांदी सोनेके सामानों, ध्वजाओं, बैंडबाजों और दूसरी शोभाकी चीजोंकी इतनी अधिक भरमार थी कि दर्शकोंकी दृष्टि भी लगातार देखते २ थक जाती थीं, परन्तु देखनेकी उत्सुकता बन्द नहीं होती थी—चीजोंमें अपने अपने नये रूप, रंगढंग और कला कौशल आदिका जो आकर्षण था वह जनताको अपनी ओर आकर्षित और देखनेमें उत्सुक किये हुए था। लाखोंकी जनता उत्सवको टकटकी लगाये देख रही थी, कलकत्तेके लम्बे चौड़े बाजार दर्शकोंसे भरे हुए थे और दोनों ओरके कई मंजिले मकानोंकी सभी मंजिलें दर्शकोंसे पटी पड़ी थीं—भीड़के कारण नये आगन्तुकोंको प्रवेशमें बड़ी दिक्कत होती थी। बाजारोंमें ट्रेम्बे तथा मोटर बसों आदिका चलना प्रातःकालसे ही बन्द था—उनकी बन्दी के लिये पहले दिन ही पत्रोंमें सरकारी आर्डर निकल गये थे। जलूसका झंडा बहुत ऊँचा होनेके कारण जगह जगह पर बिजलीके तार काट दिये जाते थे और फिर बादको जोड़े जाते थे। यह खास रियायत जैनसमाजको ही वहाँ अपने वार्षिकोत्सवके लिये प्राप्त है, जो कार्तिकी पूर्णिमासे मंगसिर बदि पंचमी तक होता है, और जिससे यह स्पष्ट है कि वहाँका जैनसमाज बहुत पहलेसे ही विशेष प्रभावशाली तथा राजमान्य रहा है। कलकत्तेकी रथयात्राका यह जलूस भारतवर्षके सभी जैन रथोत्सवके जलूसोंसे बड़ा तथा महत्वका समझा जाता है। इसबार वीरशासन-महोत्सवके कारण यह और भी अधिक विशेषताको लिये हुए था और अपने रंगढंगसे जैनियोंकी सामाजिक प्रभावनाको दूसरोंपर अंकित कर रहा था। दिगम्बरोंका जलूस चावलपट्टीके पचायती मन्दिरसे चलकर बेलगछियाके उपवनी मन्दिरमें समाप्त हुआ था, जो बड़ा ही रमणीक स्थान है और वहीं पर महोत्सवका भव्य पण्डाल (सभा मण्डप) बना था, जिसमें ऊँचे विशाल प्लेटफार्म (स्टेज) के अलावा बैठनेके लिये कुर्सियां भी, बिजलीकी लाइट थी और लाउडस्पीकरों का भी प्रबन्ध था।

जलूसकी समाप्ति पर भोजनसे निपटते ही उपस्थित-जन पिण्डालमें पहुँचने शुरू हो गये और बातकी बातमें सभामण्डप जनतासे खचाखच भर गया। उस दिन यह समझ कर कि जलूसके कारण जनता थकी हुई होगी, रात्रि के समय कोई विशेष तथा भारी प्रोग्राम नहीं रक्खा गया था। परन्तु उत्सुक जनसमूहको देख कर यह महसूस हुआ कि उस रात्रिको विद्वानोंके भाषणादि रूपमें यदि कोई अच्छा प्रोग्राम रक्खा जाता तो वह खूब सफल होता। अस्तु, दो विद्वानोंके भाषण हुए और फिर कविसम्मेलनका साधारणसा जल्सा करके तथा अगले दिनका प्रोग्राम सुना कर कार्रवाई समाप्त की गई। तदनन्तर मन्दिरमें श्रीजिनेन्द्रमूर्तिके सम्मुख कीर्तन प्रारम्भ हुआ, जिसमें सेठ गजराजजीके नृत्यपर सबकी आँखें लगी हुई थीं और श्री वीर जिनेन्द्र तथा वीरशासनकी जय जयकार हो रही थी।

१ ली नवम्बरको सुबह ९ से ११॥ तक जैन भवनमें स्वागतसमिति और आगत प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन सेठ गजराजजीके सभापतित्वमें हुआ जिसमें वीरशासन महोत्सवकी सफलता और कलकत्तामें उसकी एक यादगार कायम करनेके आदिके विषयमें विचार-विमर्श किया गया और इस सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंके भाषण हुए, जिनमें उन्होंने अपने अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट किया। तीसरे पहर बेलगछियामें अजैन विद्वानोंके लिये एक टी-पार्टी की योजना की गई, जिसमें लगभग ५०० प्रतिष्ठित विद्वानों तथा स्कालरों आदिने भाग लिया और जो बड़ी ही शानके साथ सम्पन्न हुई। जैनियोंके लिये संध्या-भोजनका प्रबन्ध भी बेलगछियामें ही था। टी-पार्टी और भोजनके अनन्तर संध्या समय झंडाभिवादनकी रस्म सर सेठ हुकमचन्दजी

प्रधान सभापति महोत्सवने अदा की। इस अवसर पर विभिन्न प्रान्तों, विभिन्न समाजों और विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के १७ कालिज छात्राओंने श्रीसुशीलादेवीके नेतृत्वमें 'ऊँचा झंडा जिनशासनका' यह सुन्दर गान बड़ी ही मधुर ध्वनिसे गाया, और वह सबको बड़ा ही प्रिय मालूम दिया।

तत्पश्चात् सभामण्डपमें अधिवेशनकी कार्रवाई प्रारंभ हुई। मंगलाचरण और उक्त छात्राओंका 'अखिल जग तारण को जलयान, प्रकटो वीर! तुम्हारी वाणी जगमें सुधा-समान' यह मंगलगान हो जानेके अनन्तर सभापतिका चुनाव हुआ। इसके बाद डा० श्यामप्रसाद मुकरजी एम० ए० डी० लिट०, प्रेसीडेंट आल इण्डिया हिन्दु महासभा, का महोत्सवके उद्बोधन रूपमें महत्वका अंग्रेजी भाषण हुआ, स्वागताध्यक्ष साहू शान्तिप्रसादजीने अपना भाषण पढ़ा, एक महिलाने बाजे पर बंगलामें 'महावीर सन्देश' गाया और फिर बाबू निर्मलकुमारजीने साहित्यादिके रूपमें वीरशासनके प्रचार तथा शोध खोजके कार्योंके लिये कलकत्ता में एक संस्थाकी योजनाका शुभ समाचार सुनाया और बतलाया कि उसके लिये दो लाखसे कुछ ऊपरका चन्दा हो गया है, जो सुनाते ही तीन लाखके करीब होगया और बादको दो तीन दिनोंमें चार लाख तक पहुँच गया। इस चन्देमें सबसे बड़ी रकम ७१ हजारकी सेठ बल्देवदासकी और ५१-५१ हजारकी तीन रकमें क्रमशः बाबू छोटेलाल जी, साहू शान्तिप्रसादजी और सेठ गजराजजी पोतदारकी है। पोतदार महोदय अजैन बन्धु हैं और बा० छोटेलालजी आदि प्रतिष्ठित जैन बन्धुओंसे बड़ा प्रेम रखते हैं। उन्होंने जब यह सुना कि बाबू छोटेलालजी ५१०००) की रकमके साथ साथ अपना जीवन भी इस शुभ कामके लिये अर्पण कर रहे हैं तो उनसे नहीं रहा गया और उन्होंने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अपनी ओरसे ५१०००) रु० की रकम श्रद्धाञ्जलिके रूपमें अर्पण की, जो अनेक दृष्टियोंसे बड़ी मूल्यवान है। सेठ गजराजजीकी ओरसे ३१ हजारकी रकम की घोषणा हुई। इस शुभ समाचारसे सारी सभामें आनंद छागया और उत्साहकी लहर दौड़ गई। तदनन्तर भारतके सभी भागोंसे आए हुए देशके प्रतिष्ठित जैनेतर विद्वानोंके सन्देशोंको बा० लक्ष्मीचन्दजी जैन एम० ए० ने संक्षेपमें सुनाया और फिर सभापति महोदय सर सेठजीने अपना भाषण पढ़ा, जो अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण था और जिसमें वीरशासनकी विशेषताओं तथा तत्संबंधी महत्वका दिग्दर्शन कराते हुए उसके प्रति संक्षेपमें अपने कर्तव्यपालनका अच्छा निर्देश किया गया है। इसके बाद डा० कालीदास नाग एम० ए० का भ० महावीरकी सेवाओं और उनके अहिंसादि शासनकी महत्ताके सम्बन्धमें एक बड़ा ही महत्वपूर्ण आकर्षक भाषण हुआ, जो खूब पसन्द किया गया।

ता० २ नवम्बरको सुबह जैन भवनमें जैनधर्म परिषद् का जल्सा बाबू अजितप्रसादजी एम० ए० लखनऊके सभापतित्वमें हुआ, जिसमें पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने 'भ० महावीरका अचेलक धर्म' नामक निबन्ध पढ़ना शुरू किया, जो विषयकी दृष्टिसे ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण था, परन्तु स्वागताध्यक्षने उसे कुछ अप्रासंगिक तथा उस ऐक्यमें बाधक समझ कर रोका जो दिगम्बर और श्वेताम्बर समाजों में इस महोत्सवके सम्बन्धमें वहाँ सम्पन्न हुआ था। इससे विद्वानोंमें असन्तोषकी कुछ लहर तथा गड़बड़ी सी पैदा हुई। फिर जैनेन्द्रजीका भाषण हुआ। सभापतिजीके लम्बे भाषणको पूरा पढ़े जानेका अवसर ही न मिलसका।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमें डा० सातकौड़ी मुकर्जीके सभापतित्वमें जैनदर्शन परिषद्का अधिवेशन हुआ जिसमें न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजी और प्रो० हीरालाल जी एम० ए० के महत्वपूर्ण व्याख्यानोंके अनन्तर सभापति जीका जैनधर्मके अहिंसादि सिद्धान्तों पर अंग्रेजीमें ओजस्वी भाषण हुआ। भाषणकी गति इतनी तेज थी कि वह स्पेशल ट्रेनकी गतिको भी मात करती थी और इसीसे रिपोर्टरों को यथेष्ट रिपोर्ट लेते नहीं बनता था, वे कलम थाम कर बैठ गये थे। तत्पश्चात डा० कालीदास नागका बंगला भाषामें जैनधर्मकी प्राचीनता, महत्ता तथा शिल्पकलादि-विषयक बड़ा ही रोचक व्याख्यान हुआ और बादको उसके साथमें छाया चित्रोंकी योजनाने उसे और भी अधिक मनोरंजक बना दिया। सारी जनता एकाग्र थी और चित्रोंको देखकर तथा भाषणको सुनकर गद्गद् हो रही थी। बाबू लक्ष्मीचन्दजी साथ साथ बंगलाका हिन्दी अनुवाद भी सुनाते जाते थे। जैनधर्मके प्रचारका यह तरीका अच्छा प्रभावशाली जान पड़ा। इसके बाद वैद्यराज पं० कन्हैयालालजी कानपुरके सभापतित्वमें जैन आयुर्वेद परिषद् हुई। सभा-

पतिजीने अपना लम्बा मुद्रित भाषण संक्षेपमें पढ़ कर सुनाया। अधिक समय हो जानेसे दूसरे भाषणोंको अवसर नहीं मिल सका।

ता० ३ नवम्बरको सुबह जैनभवनमें जैनविज्ञान-परिषद्का अधिवेशन प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्यके सभापतित्वमें हुआ। पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने अपना महत्वपूर्ण निबन्ध पढ़ा और उसके द्वारा जैन ज्योतिषकी महत्ताको अनेक प्रकारसे ख्यापित किया। प्रो० हीरालालजी आदि और भी कुछ विद्वानोंके भाषण मंत्रशास्त्रादि-विषयों पर हुए। अन्तमें सभापतिजीका जैन वज्ञानक अनेक अंगोंपर जैनसिद्धान्तोंकी प्रशंसामें मार्मिक भाषण हुआ।

रात्रिको बेलगछियामें कला और पुरातत्व परिषद्का अधिवेशन प्रो० डा० एन० रामचन्द्रन् एम० ए० के सभापतित्वमें हुआ, जो बा० छोटेलालजीके अनुरोध पर मद्रास से पधारे थे और अपने साथ चित्रों आदिके रूपमें जैनकला और पुरातत्वकी कितनी ही सामग्री लाये थे, जिसे देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। आपका मार्मिक भाषण अंग्रेजीमें लिखा हुआ था। जिसे आपने बड़े ही प्रभावक ढंगसे पढ़ कर सुनाया और उसके द्वारा जैनकला तथा पुरातत्वके सभी अंगोंपर अच्छा प्रकाश डाला और उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की। साथ ही यह भी बतलाया कि भारतमें सब ओर जैनकला और शिल्पका भण्डार भरा पड़ा है। आपके बाद डा० बी० एम० बरुआ एम० ए० का बंगालीमें और डा० एम० परमशिवम् (मद्रासी) का अंग्रेजीमें भाषण हुआ। इसके बाद जैनइतिहास परिषद्का कार्य प्रो० हीरालालजी जै० एम० ए० नागपुरके सभापतित्वमें प्रारम्भ हुआ। सभापतिजीके भाषणके अनन्तर प्रो० कालीपदमजी मिश्रका बंगालीमें भाषण हुआ और उसमें जैन इतिहासकी महत्ताको प्रकट किया गया। तदनन्तर बा० छोटेलालजीने आए हुए कुछ अंग्रेजी निबन्धोंकी सूचना की और बतलाया कि समयाभावके कारण वे पढ़े नहीं जा सकते। तदनन्तर पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईका यापनीयसंघके इतिहासपर कुछ प्रकाश डालता हुआ संक्षिप्त भाषण हुआ।

ता० ४ नवम्बरको सुबह ६ बजेसे श्वेताम्बर गुजराती जैन उपाश्रयमें जैन साहित्य और कथा विभागका अधिवेशन डा० कालीदास नाग एम० ए० के सभापतित्वमें हुआ। इस अवसर पर कितने ही दिगम्बर तथा श्वेताम्बर विद्वानों एवं प्रतिष्ठित पुरुषोंने परस्परके इस मिलन और मिलकर वीरशासन महोत्सव मनाने पर हार्दिक हर्ष व्यक्त किया। साथ ही अनेकान्तको अपनाकर वीरशासनके सच्चे उपासक बनने तथा वीरशासनके प्रचार कार्यमें सबको मिल कर एक हो जानेकी आवश्यकता व्यक्त की। समय अधिक हो जानेसे सभापतिजीने थोड़ेमें ही हितकी बात सुझाई, अपनी अपनी त्रुटियोंको शोधने, मिल कर कार्य करने और बौद्धसाहित्यकी तरह जैनसाहित्यको सर्व भाषाओंमें प्रकट करने की आवश्यकता बतलाई। आजकी इस कार्रवाई दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंपर अच्छा प्रभाव पड़ा और परस्पर का भ्रातृभाव कुछ उमड़ा हुआ और उत्सुकता नजर आया।

रात्रिको बेलगछियाके सभामण्डपमें अनेक विद्वानोंके भाषण हुए, तदनन्तर हिन्दूला संशोधन समितिके सामने जैनमांगोंको उपस्थित करने, और वर्णी गणेशप्रसादजीकी हीरकजयन्तीका अभिनन्दन करनेके रूपमें दो प्रस्ताव पास किय गये और फिर धन्यवाद तथा आभार प्रदर्शनादिके अनन्तर महोत्सवकी कार्रवाई 'भगवान महावीरकी जय' के साथ समाप्त की गई।

सबसे बड़ा काम

इस महोत्सवके अवसर पर श्रीमती पंडिता चन्दाबाईके सभापतित्वमें महिला परिषद्की अच्छी सफल बैठक हुई, कितने ही विद्वानोंने मिल कर एक विद्वत्परिषद् की स्थापना की; तीर्थक्षेत्रकमेटीकी मीटिंग होकर उसके सुधारका बीज बोया गया और उसके लिये पाँच लाख रुपयेके स्थायी फण्डकी तजवीज की गई, जिसमेंसे दो लाखके करीबके वचन मिल गये, प्रो० हीरालालजीके साथ उनके मन्तव्योंके सम्बन्धमें विद्वत्परिषद्की कुछ महत्वपूर्ण चर्चा हुई है। और सरसेठ हुकमचन्द तथा सेठ गंभीरमल पांड्याका पारस्परिक विरोध मिट कर सम्मिलन भी हुआ है। ये सब भी इस महोत्सवके सुन्दर परिणाम हैं। परन्तु सबसे बड़ा काम जो इस महोत्सवके द्वारा बन सका है, वह बाबू छोटेलालजीका वीरशासनके लिये अपना जीवनदान है। लाखों-करोड़ोंका दान भी उसके मुकाबलेमें कोई चीज नहीं। वास्तवमें यह सारा महोत्सव ही बाबू छोटेलालजीका ऋणी है, उन्हींके दिमागकी यह सब उपज

(पृष्ठ ४० से आगेका अंश)

है, वे ही इसे वीरसेवामन्दिरसे राजगिरि, राजगिरिसे कलकत्ता लेगये हैं, कलकत्ताकी सारी मशीनरीके वे ही एक मूविंग-एँजिन (Moving Enging) रहे हैं और उन्हींकी योजनाओं, महीनोंके अनथक परिश्रमों, व्यक्तिगत प्रभावों तथा स्वास्थ्य तककी बलि चढ़ानेसे यह इस रूपमें सम्पन्न हो सका है। अतः इसके लिये बाबू छोटेलालजी जैसे मूक सेवकका जितना भी आभार माना जाय और उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है। आप स्वस्थता के साथ दीर्घ जीवी हों, यही अपनी हार्दिक भावना है।

सम्मेदशिखरका ज़हरीला पानी

अर्सेसे श्रीसम्मेद शिखर तीर्थ—मधुवनके पानीकी शिकायत और उससे होने वाली प्राणोंकी हानिकी कहानियाँ बराबर सुननेमें आरही हैं। परन्तु अभी तक उसके सुधार का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया। इस बार कलकत्ता वीर-शासन महोत्सवको जाते हुए अथवा उससे लौटते हुए बहुतसे यात्री श्रीसम्मेद शिखर पहुँचे हैं और उनमेंसे प्रायः ८० प्रतिशत व्यक्तियोंके मलेरिया ज्वरसे पीड़ित होनेके समाचार मिल रहे हैं, जिनमेंसे कईको भारी प्राणोंकी बाजी लगानी पड़ी और कुछ तो अपनी जानसे भी हाथ धो बैठे हैं! यह बड़े ही खेदका विषय है!! श्री सिंघई पन्ना-लालजी अमरावती तो अपने घर भी न पहुँचने पाए और मार्गमें ही आराकी तरफ उनका देहान्त हो गया! उनके इस निधनसे बड़ी सनसनी फैल गई है। आप समाजके पुराने नेता, दानी, तथा राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे, ऐक्स एम० एल० सी० थे और आपने राष्ट्रहितके लिये जेलयात्रा भी की थी। अभी कलकत्तामें आपने ४-५ मास बाद वीरसेवा-मन्दिरमें आकर रहने और उसे अपनी फ्री सेवाएँ अर्पण करनेका वचन भी दिया था, इससे मुझे आपके इस आकस्मिक निधनसे और भी अधिक आघात पहुँचा है। इधर ब्रह्मचारी नौरंगलालजीके देहावसानकी भी ऐसी ही घटना सुननेमें आरही है!!

मैं भी कलकत्तासे अनेक साथियोंके साथ, जो प्रायः सभी आकर बीमार पड़े हैं, श्री सम्मेदशिखरकी यात्राको गया था और मैंने मधुवनके पानीको बहुत ही दूषित कड़वा-कसायला तथा विषैला पाया है। पकाकर पीनेमें भी स्वादमें कुछ विकृति बनी रहती थी। साथ ही तेरहपन्थी कोठीसे यह भी मालूम हुआ कि वहाँ कोठियोंके प्रबन्धक अपने लिये तो कोठियोंकी बैलगाड़ी द्वारा तीन मीलके फासलेपर एक गांवके कुएँसे रोजाना पानी मँगाते हैं परन्तु यात्रियोंके लिये स्वच्छ निर्दोष जलका कोई प्रबन्ध नहीं, और इस लिये वे उस दूषित जलको पकाकर अथवा बिना पकाए ही पीनेके लिये मजबूर होते हैं! जिन यात्रियोंके धनसे ये सब कोठियां खड़ी हैं, जिनसे अनेक खातोंमें चन्दा माँगा जाता है और जो मधुवनकी सारी समृद्धिके मूल हैं उनके जीवनके साथ यह खिलवाड़, यह लापर्वाही और यह उपेक्षा!! बड़ी ही शर्म तथा लज्जाकी बात है!!! इस की सारी जिम्मेदारी तीर्थक्षेत्रके प्रबन्धकों, तीर्थक्षेत्रकमेटी और उसके सदस्योंपर है। उन्हें शीघ्र ही अपनी जिम्मेदारी को समझकर जलके दोषको दूर करने, आस-पासकी गन्दगी को साफ कराने और समस्त यात्रियोंके लिये शुद्ध-निर्दोष जलके प्रबन्धका पूरा यत्न करनेमें अब जरा भी विलम्ब न करना चाहिये और जब तक यह मुख्य कार्य न हो जाय, जिसके बिना इतना महान् तीर्थक्षेत्र कलंकित हो रहा है, तब तक तामीर जैसे कामोंमें शक्तिका कोई अपव्यय न किया जाय। और यदि वे ऐसा करनेमें असमर्थ हैं तो उन्हें अपनी उस असमर्थताकी स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिये, जिससे सामाजिक व्यक्तियोंके प्राणोंका मूल्य समझने वाले दूसरे कार्यकुशल महानुभाव आगे आएँ और कुछ काम करके दिखलाएँ। और यदि किसी तरह भी मधुवनमें निर्दोष जलकी सप्लाईका कोई प्रबन्ध न बन सकता हो, जो कल्पनासे बाहरकी बात जान पड़ती है, तो फिर नीमियाघाट आदिकी तरफसे यात्रा जारी कर देना ही श्रेय-स्कर होगा और उधर ही कुछ धर्मशालाएँ बन जानी चाहियें। मधुवनकी धर्मशालाओंके मोहवश कीमती जानों अथवा यात्रियोंके जीवनको खतरेमें डालना किसी तरह भी श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। आशा है तीर्थक्षेत्रकमेटी और तीर्थके प्रबन्धक अपनी गुरुतर जिम्मेदारीको समझेंगे और इस अतीव आवश्यक कार्यकी ओर सबसे पहले पूरा ध्यान देंगे।

सम्पादक

है, वे ही इसे वीरसेवामन्दिरसे राजगिरि, राजगिरिसे कलकत्ता लेगये हैं, कलकत्ताकीसारी मशीनरीके वे ही एक मूविंगएँजिन (Moving Engine) रहे हैं और उन्हींकी योजनाओं महीनोंके अनथक परिश्रमों, व्यक्तिगत प्रभावों तथा स्वास्थ्य तककी बलि चढ़ानेसे यह इस रूपमें सम्पन्न हो सका है। अतः इसके लिये बाबू छोटेलालजी जैसे मूक सेवकका जितना भी आभार माना जाय और उन्हें जितना भी धन्यवाद दिया जाय वह सब थोड़ा है।

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावना सहित।

२ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २० महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानों द्वारा किये गये महत्वके पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरुमें १ लोकमंगलकामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पांच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है। नित्यपाठ करने योग्य है मू. ||)

३ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है।

४ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थपरीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मूल्य ।)

प्रकाशनविभाग
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

वीरसेवामन्दिरको सहायता

गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवा-मन्दिर को अनेकान्त सहायता और अन्यत्र प्रकाशित बाबू नन्दलाल जी कलकत्ताकी सहायताके अलावा जो दूसरी फुटकर सहायता प्राप्त हुई है वह इस प्रकार है, और इसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं—

१००१) दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन डालमियानगर (पूर्व स्वीकृत दस हजार रु० की सहायता के मध्ये)।

२५) श्रीमती चम्पाबाईजी धर्मपत्नी स्व० बाबू हेमचन्द्र जी मोदी, (पुत्रवधू पं० नाथूरामजी प्रेमी) बम्बई।

५) श्रीमती धर्मपत्नी ला० कन्हैयालालजी जैन, खम्मामेट, वरंगल (निजाम स्टेट) लायब्रेरीमें ग्रन्थके लिये।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

If not delivered please return to:—
VIR SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

To

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वीर-शासन-जयन्तीका वार्षिकोत्सव

प्रिय बन्धुओ !

आपको मालूम है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी इतिहास-प्रसिद्ध पुण्यतिथि भारतीय पावन पर्व 'वीर-शासन-जयन्ती' को लिये हुए सामने आ रही है। इसके स्वागतार्थ वीर-सेवामन्दिरने हर वर्षकी तरह इस वर्ष भी वार्षिकोत्सवका आयोजन किया है, जो इस वर्ष और भी अधिक उत्साहके साथ मनाया जायगा और जिसमें बाहरसे अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों तथा श्रीमानोंके पधारनेकी पूर्ण आशा है। उत्सवकी तारीखें २५, २६ जुलाई सन् १६४५, दिन बुधवार तथा गुरुवारकी हैं। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि आप इस शुभ अवसरपर अवश्य ही वीरसेवामन्दिरमें पधारनेकी कृपा करें और अपने इस सर्वातिशायी पावन पर्वको यथेष्टरूपमें मनानेके लिये अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करते हुए हमें आभारी बनाएँ।

निवेदक—

छोटेलाल जैन (सभापति) पन्नालाल जैन (मंत्री) जुगलकिशोर मु० (अधिष्ठाता)

विषय-सूची

भगवान् महावीरसे

(पं० नाथूराम जैन, डोंगरीय)

मूक पशुओंके ऊपर अहह !
धर्मकी लेकर ओट अपार—
यज्ञमें वधके द्वारा जब कि,
किया जाता था अत्याचार !

ज्ञान-रवि लखकर यह अन्याय
मानवोंका पशुओं पर आह !
अस्त हो गया विश्वमें पूर्ण—
छा गया तम अज्ञान अथाह !

नहीं दिखता था सत्पथ देव !
कहीं भी भूमण्डलके बीच ।
अखिल भारतका जन-समुदाय,
फँसा था पाप-सरोवर-कीच !

पापका करनेको संहार,
बचानेको पशुओंकी जान ।
ज्ञानका करने दिव्य-प्रकाश,
विश्वका करनेको उत्थान ।

यथा प्राचीमें प्रातःकाल,
उदित होता है सूर्य ललाम ।
मात-त्रिसलासे तैसे वीर !
प्रकट तुम हुए दिव्य-सुखधाम ।

देख यह दशा विश्वकी वाह !
त्याग कर भूमण्डलका राज ।
ब्रह्मव्रत धारण किया अखण्ड,
सजाया आत्मोन्नतिका साज ।

अहिंसाका लेकर दिव्यास्त्र,
प्रेमका बख्तर पहिन सँभार —
सत्य-गज पर हो कर आरुढ़—
किया पापोंसे युद्ध अपार ।

मिली तब विजय आपको नाथ !
हुआ पापोंका सत्यानाश ।
ज्ञान-रवि उदित हुआ जग-बीच,
प्रेमका फैला विमल प्रकाश ।

आपने दया धर्मकी सुखद-
छेड़ कर मधुर रसीली तान ।
किया था मुग्ध जनोंका चित्त—
सुना कर विश्व-प्रेमका गान ।

अन्तमें सज कर परम समाधि—
बन गये मुक्ति-रमाके कान्त ।
सर्वथा दोषोंसे उन्मुक्त—
हुए गम्भीर सिन्धु-सम शान्त ।

विभो ! फिर निखिल-विश्वमें आह !
स्वार्थ-वश कैसे अत्याचार—
हो रहे हैं दीनों पर आज !
नहीं है जिनका पारावार !!

विलयको प्राप्त हो गये देव !
शान्ति सुख भी कपूर-समान ।
मची है त्राहि-त्राहिकी घोर,
चतुर्दिक् करुण पुकार महान् !

अतः फिर हो ऐसा गुणधाम !
निखिल पाखण्डोंका संहार ।
हृदयमें अखिल-विश्वमें प्रेम—
तथा नव-जीवनका सञ्चार ।

बनें तब सम हम सब वर वीर,
स्वार्थका करदें त्याग विशाल ।
सुखी हों, विचरें पूर्ण स्वतन्त्र,
उठा दें नत-भारतका भाल ।

समीचीन-धर्मशास्त्र और उसका हिन्दी-भाष्य

[सम्पादकीय]

स्वामी समन्तभद्रका 'समीचीन-धर्मशास्त्र', जो लोकमें रत्नकरण्ड, रत्नकरण्ड उपासकाध्ययन तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार नामसे अधिक प्रसिद्ध है, समन्तभद्रभारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना ख़ास स्थान और महत्व रखता है। जैनियोंका कोई भी मन्दिर, मठ या शास्त्रभण्डार ऐसा नहीं होगा जिसमें इस ग्रन्थरत्नकी दो-चार दस बीस प्रतियाँ न पाई जाती हों। पठन-पाठन भी इसका सर्वत्र बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ होता है। अनेक भाषात्मक कितने ही अनुवादों तथा टीका-टिप्पणोंसे यह भूषित हो चुका है। और जबसे मुद्रण-कलाको जैनसमाजने अपनाया है तबसे न जाने कितने संस्करण इस ग्रन्थके प्रकाशित हो चुके हैं। दिगम्बर समाजमें तो, जहाँ तक मुझे स्मरण है, यही ग्रन्थ प्रथम प्रकाशित हुआ था।

ग्रन्थके इन सब संस्करणों, टीका-टिप्पणों और अनुवादोंको देखते हुए भी, नहीं मालूम क्यों मेरा चित्त अर्सेसे सन्तोष नहीं पा रहा है। उसे ये सब इस धर्मशास्त्रके उतने अनुरूप मालूम नहीं हुए जितने कि होने चाहियें। और इसलिये उसमें अर्सेसे यह उधेड़-बुन चलती रही है कि ऐसा कोई अनुवाद या भाष्य प्रस्तुत होना चाहिये जो मूल ग्रन्थके मर्मका उद्घाटन करता हुआ अधिकसे अधिक उसके अनुरूप हो। इसी उधेड़-बुनके फलस्वरूप, समन्तभद्राश्रमके देहलीसे सरसावा आजानेपर, मैंने अनुवाद तथा व्याख्यानके रूपमें इस पर एक भाष्य लिखनेका संकल्प किया था और तदनुसार भाष्यका लिखना प्रारम्भ भी कर दिया था; परन्तु समय समयपर दूसरे अनेक ज़रूरी कामों तथा विघ्न-बाधाओंके आ उपस्थित होने और भाष्यके योग्य यथेष्ट निराकुलता एवं अवकाश न मिल सकनेके कारण वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका। कई वर्ष तो वीर-सेवामन्दिरकी बिल्डिङ्गके निर्माण-कार्यमें ऐसे चले गये कि उनमें साहित्य-सेवाका प्रायः कोई खास काम नहीं बन सका—सारा दिमाग़ ही ईंट-चूने-मिट्टीका होरहा था। आखिर, २४ अप्रैल सन् १९३६ (अक्षय-तृतीया) को वीर-सेवामन्दिरके उद्घाटनकी रस्म होजाने और उसमें अपनी लायब्रेरीके व्यवस्थित किये जानेपर मेरा ध्यान फिरसे उस ओर गया और मैंने अनुवादकी सुविधाके लिये इस ग्रन्थके सम्पूर्ण शब्दोंका एक ऐसा कोश तय्यार कराया जिससे यह मालूम होसके कि इस ग्रन्थका कौनसा शब्द इसी ग्रन्थमें तथा समन्तभद्रके दूसरे ग्रन्थोंमें कहां कहांपर प्रयुक्त हुआ है, और फिर उस परसे अर्थका यथार्थ निश्चय किया जा सके। क्योंकि मेरी यह धारणा है कि किसी भी ग्रन्थका यथार्थ अनुवाद प्रस्तुत करनेके लिये यह ज़रूरी है कि उस ग्रन्थके जिस शब्दका जो अर्थ स्वयं ग्रन्थकारने अन्यत्र ग्रहण किया हो उसे प्रकरणानुसार प्रथम ग्रहण करना चाहिये, बादको अथवा उसकी अनुपस्थितिमें वह अर्थ लेना चाहिये जो उस ग्रन्थकारके निकटतया पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती आचार्यादिके द्वारा गृहीत हुआ हो। ऐसी सावधानी रखनेपर ही हम अनुवादको यथार्थरूपमें अथवा यथार्थताके बहुत ही निकट रूपमें प्रस्तुत करनेके लिये समर्थ होसकते हैं। अन्यथा (उक्त सावधानी न रखनेपर) अनुवादमें ग्रन्थकारके प्रति अन्याय का होना सम्भव है; क्योंकि अनेक शब्दोंके अर्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अथवा देश-कालादिके अनुसार बदलते रहे हैं, और इस लिये सर्वथा यह नहीं कहा जासकता कि जिस शब्दका जो अर्थ आज रूढ है हजार दो हजार वर्ष पहले भी उसका वही अर्थ था। यदि किसी शब्दका जो अर्थ आज रूढ है वह हजार दो हज़ार वर्ष पहले रूढ न हो तो उस समयके बने हुए ग्रन्थका अनुवाद करते हुए यदि हम उस शब्दका आजके रूढ अर्थमें अनुवाद करने लगें तो वह अवश्य ही उस ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारके प्रति अन्याय होगा।

उदाहरणके लिये 'पाषं(खं)डी' शब्दको लीजिये, जिसका रूढ अर्थ आजकल 'धूर्त' अथवा दम्भी-कपटी-जैसा

होरहा है; परन्तु स्वामी समन्तभद्रके समयमें इस शब्दका ऐसा अर्थ नहीं था। उस समय 'पापं खंडयतीति पाखड' इस निरुक्तिके अनुसार पापके खण्डन करनेके लिये प्रवृत्त हुए तपस्वी साधुओंके लिये यह शब्द आमतौरपर व्यवहृत होता था—चाहे वे साधु स्वमतके हों या परमतके। और इस लिये स्वामी समन्तभद्रने अपने इस धर्मशास्त्रमें 'पाषण्डिमूढता' का जो लक्षण[2] दिया है उसका आशय इतना ही है कि, अमुक विशेषणोंसे विशिष्ट जो 'पाखण्डी' हैं वे वस्तुतः पाखण्डी (पापके खण्डनमें प्रवृत्त होनेवाले तपस्वी साधु) नहीं हैं, उन्हें पाखंडी समझकर अथवा साधु-गुरुकी बुद्धिसे उनका जो आदर सत्कार करना है उसे 'पाखण्डिमूढ' कहते हैं। यहां 'पाखण्डी' शब्दका प्रयोग यदि धूर्त, दम्भी, कपटी अथवा झूठे (मिथ्यादृष्टि) साधु जैसे अर्थमें लिया जाय, जैसा कि कुछ अनुवादकोंने लिया है, तो अर्थका अनर्थ होजाय और 'पाषण्डि-मोहनम्' पदमें पड़ा हुआ 'पाखण्डिन्' शब्द अनर्थक और असम्बद्ध (Nonsensical) ठहरे। क्योंकि इस पदका अर्थ है पाखण्डियोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् पाखण्डीके वास्तविक[3] स्वरूपको न समझकर अपाखण्डियों अथवा पाखण्डयाभासों को पाखण्डी मान लेना और वैसा मानकर उनके साथ तद्रूप आदर-सत्कारका व्यवहार करना। इस पदका विन्यास ग्रन्थमें पहलेसे प्रयुक्त 'देवता-मूढम्' पदके समान ही है, जिसका आशय है कि जो 'देवता नहीं हैं—राग-द्वेषसे मलीन देवताभास हैं—उन्हें देवता समझना और वैसा समझकर उनकी उपासना करना।' ऐसी हालतमें 'पाखण्डिन्' शब्द का अर्थ 'धूर्त' जैसा करनेपर इस पदका ऐसा अर्थ हो जाता है कि 'धूर्तोंके विषयमें मूढ होना अर्थात् जो धूर्त नहीं हैं उन्हें धूर्त समझना और वैसा समझकर उनके साथ आदर-सत्कारका व्यवहार करना' और यह अर्थ संगत नहीं कहा जा सकता। इसीसे एक विद्वान्‌को खींच-तान करके उस पदका यह अर्थ भी करना पड़ा है कि—"पाखण्डि-नामुपदेशेन संगत्या च मोहनं मिथ्यात्वमिति पाखण्डिमोहनं गुरुमूढतेत्यर्थः[4]" अर्थात्—पाखण्डियोंके उपदेशसे और उनकी संगतिसे जो मोहन—मिथ्यात्व होता है उसे 'पाखण्डिमोहन' कहते हैं, जिसका आशय गुरुमूढता का है। परन्तु इस अर्थका भी ग्रन्थ-सन्दर्भके साथ कोई मेल नहीं बैठता। अस्तु।

अपनी उक्त धारणाके अनुसार ही मैंने प्रकृत ग्रन्थका एक अच्छा मूलानुगामी प्रामाणिक तथा उपयोगी भाष्य लिखनेका संकल्प किया था और सन् १९३९में 'समाधितंत्र' को प्रकाशित करते हुए उसके साथमें वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमालामें प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थोंमें उसकी भी विज्ञप्ति कर दी थी; परन्तु वीरसेवामन्दिरमें उत्तरोत्तर कार्य का भार इतना बढ़ा कि मैं बराबर अनवकाशसे घिरा रहने लगा और इसलिये भाष्यका संकल्पित कार्य, जो बहु-परिश्रम-साध्य होनेके साथ साथ चित्तकी स्थिरता और निराकुलताकी खास अपेक्षा रखता है, बराबर टलता रहा। उसे इस तरह अनिश्चित कालके लिये टलता देखकर मुझे बड़ा खेद होता था और इस लिये मैंने अपनी ६५ वीं वर्षगांठके दिन—मँगसिर सुदि एकादशी वि० संवत् १९९८ को—यह दृढ प्रतिज्ञा की कि मैं अगली वर्षगांठ तक स्वामी समन्तभद्रके किसी भी पद-वाक्यका अनुवादादि कार्य

१ मूलाचार (अ० ५)में 'रत्तवड-चरग-तावस-परिहत्तादीय-अण्णपासंडा' वाक्यके द्वारा रक्तपटादिक साधुओंको अन्यमतके पाखण्डी बतलाया है, जिससे साफ ध्वनित है कि तब स्व(जैन)मतके तपस्वी साधु भी 'पाखण्डी' कहलाते थे। और इसका समर्थन श्रीकुन्दकुन्दके समयसार की 'पाखण्डियलिङ्गाणि य गिहलिङ्गाणिय बहुप्पयाराणी' इत्यादि गाथा नं० ४३८ आदिसे भी होता है, जिनमें पाखण्डी लिङ्गको अनगार-साधुओं (निर्ग्रन्थादि मुनियों) का लिङ्ग बतलाया है।

२ सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डि-मोहनम्॥

३ पाखण्डीका वास्तविक स्वरूप वही है जिसे ग्रन्थकार महोदयने 'तपस्वी' के निम्न लक्षणमें समाविष्ट किया है। ऐसे ही तपस्वी पापोंका खण्डन करनेमे समर्थ होते हैं:—
विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते॥१०॥

४ देखो, सिद्धान्तशास्त्री पं० गौरीलाल-द्वारा अनुवादित और सम्पादित रत्नकरण्डश्रावकाचार।

प्रतिदिन अवश्य किया करूँगा—चाहे वह कितने ही थोड़े परिमाणमें क्यों न हो। और इस प्रतिज्ञाके अनुसार उसी दिन (ता० २९ नवम्बर सन् १९४१ शनिवारको) इस धर्मशास्त्रका नये सिरेसे अनुवाद प्रारंभ भी कर दिया, जो सामान्यतः १४ मई सन् १९४२ को पूरा हो गया। इसके बाद स्वयम्भूस्तोत्रके अनुवादको लिया गया और वह भी कोई छह महीनेमें पूरा होगया। इस तरह प्रतिज्ञाबद्ध हो कर मैं एक वर्षमें दो ग्रन्थोंके अनुवादको प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सका। साथ ही समन्तभद्र-भारतीके सभी ग्रन्थोंका एक पूरा शब्दकोष भी तय्यार करा लिया गया, जिससे अनुवादकार्यमें बड़ी मदद मिली। इसके पश्चात 'युक्त्यनुशासन'के अनुवादको भी हाथमें लिया गया था और 'देवागम' के अनुवादको हाथमें लेनेका विचार था; क्योंकि मैं चाहता था कि इन सब अनुवादोंके साथ, जिनमें 'स्तुतिविद्या' का अनुवाद साहित्याचार्य पं० पन्नालालजी (सागर) कृत अपने पास पहलेसे मौजूद है, समन्तभद्र-भारतीको शीघ्र ही प्रकाशित कर दिया जाय। चुनाँचे 'युक्त्यनुशासन' का एक तिहाईके करीब अनुवाद हो भी चुका था; परन्तु वह अनुवाद दि० जैन परिषद्के कानपुर अधिवेशनकी भेंट हो गया—वहाँ बॉक्सके साथ चोरी चला गया! इससे चित्तको बहुत आघात पहुँचा और आगेको अनुवादकी प्रवृत्ति ही रुक गई!!

हालमें पिछली एक घटनाके कारण मेरा ध्यान फिरसे भाष्यकी ओर गया और यह ख़याल पैदा हुआ कि बड़े पैमानेपर नहीं तो छोटे पैमानेपर ही सही, जीवनके इस लक्ष्यको शीघ्र पूरा करना चाहिये—इससे बहुतोंका हित होगा। तदनुसार कितने ही पद्योंके अनुवादके साथ व्याख्याको लगा दिया गया है और कितने ही पद्योंकी व्याख्या जो अभी लिखनेको बाकी है उसके जल्दी लिखे जानेका प्रयत्न जारी है।

यहाँ मैं इस भाष्यके कुछ अंशोंको, नमूनेके तौरपर, मूलके साथ अनेकान्त-पाठकोंके सामने रखता हूं, जिससे उन्हें इसके स्वरूपादिका ठीक परिचय प्राप्त हो सके और वे इसकी उपयोगिता तथा विशेषताका कुछ अनुभव कर सकें। साथ ही, अनुभवी विद्वानोंसे मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे त्रुटियोंसे मुझे सूचित करें और यदि अपने अनुभवके बलपर उन्हें अनुवाद तथा व्याख्याके स्वरूप-संबन्धमें कोई खास सुझाव देना इष्ट हो तो उसे अवश्य ही देनेकी कृपा करें। उनकी इस कृपाके लिये मैं अवश्य उनका आभारी हूँगा।

मूलका मंगलाचरण

नमः श्री-वर्द्धमानाय निर्धूत-कलिलात्मने।
साऽलोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

'जिन्होंने आत्मासे पापमलको निर्मूल किया है—राग द्वेष काम-क्रोधादिविकार-मूलक मोहनीयादि घातिया कर्मकलङ्कको अपने आत्मासे पूर्णतः दूर करके उसे स्वभावमें स्थिर किया है—और इससे) जिनकी विद्या—केवलज्ञानज्योति—अलोक-सहित तीनों लोकोंके लिये दर्पणकी तरह आचरण करती है—उन्हें अपनेमें स्पष्टरूपसे प्रतिबिम्बित करती है। अर्थात् जिनके केवलज्ञानमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सभी पदार्थ साक्षात्रूपसे प्रतिभासित होते हैं और अपने इस प्रतिभास-द्वारा ज्ञानस्वरूप आत्मामें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते—वह दर्पणकी तरह निर्विकार बना रहता है—उन श्रीमान वर्द्धमानको—भारतीविभूति (दिव्यवाणी) रूप श्रीसे सम्पन्न भगवान् महावीरको—नमस्कार हो।'

व्याख्या—'वर्द्धमान' यह इस युगके आर्हत-मत-प्रवर्तक अथवा जैन धर्मके अन्तिम तीर्थङ्करका नाम है, जिन्हें वीर, महावीर तथा सन्मति भी कहते हैं। कहा जाता है कि आपके गर्भमें आते ही माता-पितादिके धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, बल, कोष, कुटुम्ब तथा दूसरी अनेक प्रकारकी विभूतिकी अतीव वृद्धि हुई थी, जिससे 'वर्द्धमान' नाम रखनेका पहलेसे ही संकल्प होगया था[1], और इसलिये इन्द्र-द्वारा दिये गये 'वीर' नामके साथ यह 'वर्द्धमान' नाम भी आपका

---

१ जप्पभिइं च णं एस दारए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते तप्पभिइं च णं अम्हे हिरण्णेणं वड्ढामो सुवण्णेणं धणेणं धन्नेणं रज्जेणं रट्ठेणं बलेणं वाहणेणं कोसेणं कुट्ठागारेणं पुरेणं अन्तेउरेणं जणवएणं जाव्सएणं वड्ढामो विपुलधण-कणग-रयण- मणि - मुत्तिय - संख-सिलप्पवाल - रत्तरयण-माइएणं संत-सारसावइज्जेणं पीइ-सक्कारेणं अईव अईव वड्ढामो, तं जयाणं अम्हं एस दारए जाए भविस्सइ तयाणं अम्हे एयस्स दारगस्स एयाणुरूवं गुण्णं गुणनिप्फण्णं नामधिज्जं करिस्सामो—वद्धमाणु त्ति ॥९०॥" —कल्पसूत्र

जन्मनाम है[१]। 'श्री' शब्द नामका अङ्ग न होकर साथमें विशेषण है, जो उनकी श्रीमत्ता अथवा श्रीविशिष्टताको सूचित करता है। और इस लिये 'श्रीवर्द्धमानाय' पदका विग्रहरूप अर्थ हुआ 'श्रीमते वर्द्धमानाय'-श्रीमान्(श्रीसम्पन्न) वर्द्धमानके लिये। स्वयं ग्रन्थकार महोदयने अपनी स्तुतिविद्या(जिनशतक)में भी इस पदको इसी प्रकारसे विश्लेषित करके रक्खा है, जैसा कि उसके निम्नवाक्यसे प्रकट है—

"श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमित-विद्विषे" ॥१०२॥

इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार महोदयको 'वर्द्धमान' नाम ही अभीष्ट है—'श्रीवर्द्धमान' नहीं। ग्रन्थकारसे पूर्ववर्ती आचार्य श्रीकुन्दकुन्दने भी अपने प्रवचनसारकी आदिमें 'पणमामि वड्ढमाणं' वाक्यके द्वारा 'वर्द्धमान' नामकी सूचना की है। अतः 'श्री' पद यहां विशेषण ही है।

'श्री' शब्द लक्ष्मी, धनादि सम्पत्ति, विभूति, वाग्देवी-सरस्वती-वाणी-भारती[२], शोभा, प्रभा, उच्चस्थिति, महानता, दिव्यशक्ति, गुणोत्कर्ष और आदर-सत्कारादि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है और जिस विशेषणके साथ जुडता है उसकी स्थितिके अनुरूप इसके अर्थमें अन्तर, तर-तमता, न्यूनाधिकता अथवा विशेषता रहती है। यहां जिन आप्त भगवान् वर्द्धमानके लिये यह पद विशेषणरूपमें प्रयुक्त हुआ है उनकी उस भारती-विभूति अथवा वचनश्रीका द्योतन करता है जो युक्ति शास्त्राविरोधिनी दिव्यवाणीके रूपमें अवस्थित होती है और जिसे स्वयं स्वामी समन्तभद्रने सर्वज्ञलक्ष्मीसे प्रदीप्त हुई समग्र शोभा-सम्पन्न 'सरस्वती' लिखा है तथा जीवन्मुक्त (अर्हन्त) अवस्थामें जिसकी प्रधानताका उल्लेख किया है[३]। साथ ही, उसके द्वारा तत्त्वार्थोंका कीर्तन (सम्यग्वर्णन) होनेसे उसे 'कीर्ति' नाम भी दिया है और वर्द्धमानस्वामीको महती कीर्ति (युक्ति-शास्त्राविरोधिनी दिव्यवाणी) के द्वारा भूमण्डलपर वृद्धि (व्यापकता) को प्राप्त हुआ बतलाया है[४]। जिस आर्हन्त्य-लक्ष्मीसे आप्तभगवान देव-मनुष्यादिकी महती समवसरण सभामें शोभाको प्राप्त होते हैं[५] उसका यह दिव्यवाणी प्रधान अङ्ग है, इसीके द्वारा शासनतीर्थ अथवा आगमतीर्थका प्रवर्तन होता है और उसके प्रवर्तक शास्ता, तीर्थङ्कर तथा आगमेशी कहलाते हैं। शेष दो प्रमुख अङ्ग निर्दोषता और सर्वज्ञता हैं, जिन्हें उक्त मङ्गल-पद्यमें 'निर्धूतकलि-लात्मने' आदि पदोंके द्वारा व्यक्त किया गया है। और इससे भी यह और स्पष्ट होजाता है कि आप्तके प्रमुख तीन विशेषणोंमेंसे अवशिष्ट विशेषण तीर्थप्रवर्तिनी दिव्यवाणी ही यहां 'श्री' शब्दके द्वारा परिगृहीत है और उस श्रीसे वर्द्धमानस्वामीको सम्पन्न बतलाया है। इस तरह आप्तके उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी ये तीन विशेषण जो आगे इसी ग्रन्थ (कारिका ५) में बतलाये गये हैं और जिनके बिना आप्तता होती ही नहीं; ऐसा निर्देश किया है, उन सभीके उल्लेखको लिये हुए यहां आप्तभगवान वर्द्धमानका स्मरण किया गया है। युक्त्यनुशासनकी प्रथम कारिकामें भी, वीर वर्द्धमानको अपनी स्तुतिका विषय बनाते हुए, स्वामी समन्तभद्रने इन्हीं तीन विशेषणोंका प्रकारान्तरसे निर्देश किया है। वहाँ 'विशीर्ण-दोषाशय-पाश-बन्धम्' पदके द्वारा जिस गुणका निर्देश किया है उसीके लिये यहां 'निर्धूतकलिलात्मने' पदका प्रयोग किया है, और यह पद-प्रयोग अपनी खास विशेषता रखता है। इस धर्मशास्त्रमें सर्वत्र पापोंको दूर करनेका उपदेश है और वह उपदेश उन वर्द्धमानस्वामीके उपदेशानुसार है जो तीर्थङ्कर हैं और जिनका धर्मशासन (तीर्थ) इस समय भी लोकमें वर्तमान है। और इस लिये धर्मशास्त्रकी आदिमें जहां उनका स्मरण सार्थक तथा युक्तियुक्त हुआ है वहाँ

१ अलं तदिति तं भक्त्या विभूष्योद्यद्विभूषणैः ।
वीरः श्रीवर्द्धमानस्तेष्वित्याख्या-द्वितयं व्यधात् ॥२७६॥
—उत्तरपुराण, पर्व ७४

२ 'श्रीर्लक्ष्मी-भारती-शोभा-प्रभासु सरलद्रुमे ।
वेश-त्रिवर्ग-सम्पत्तौ शेषाउकरणे मतौ ॥'
—विश्वलोचने श्रीधरः

'श्रीर्लक्ष्म्यां ... मतौ गिरि । शोभा-त्रिवर्गसम्पत्योः ... ॥'
—अभिधानसंग्रहे, हेमचन्द्रः

३ बभार पद्मां च सरस्वतीं च भवान्पुरस्तात्प्रतिमुक्तिलक्ष्म्याः ।
सरस्वतीमेव समग्रशोभा सर्वज्ञलक्ष्मी-ज्वलिता विमुक्तः ॥२७
—स्वयम्भूस्तोत्र

४ कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्ण दोषाशय-पाशबन्धम् ॥
—युक्त्यनुशासन १

५ आर्हन्त्यलक्ष्म्याः पुनरात्मतन्त्रो देवाऽसुरोदारसभे रराज ॥
—स्वयम्भूस्तोत्र ७८

उन्हें 'निर्धूतकलिलात्मा'—आत्मासे पापमलको दूर करने वाला—प्रदर्शित करना और भी सार्थक तथा युक्तियुक्त हुआ है। और यह सब ग्रन्थकार महोदयकी कथनशैलीकी खूबी है—वे आगे-पीछेके सब सम्बन्धोंको ठीक ध्यानमें रखकर ही पद-विन्यास किया करते हैं।

'कलिल' शब्द कल्मष, पाप और दुरित जैसे शब्दोंके साथ एकार्थता रखता है। इन शब्दोंको जिस अर्थमें स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने ग्रन्थोंमें प्रयुक्त किया है प्रायः उस सभी अर्थको लिये हुए यहां 'कलिल' शब्दका प्रयोग है। उदाहरणके तौरपर स्वयम्भूस्तोत्रके पार्श्वजिनस्तवनमें 'विधूतकल्मषं' पदके द्वारा पार्श्वजिनेन्द्रको जिस प्रकार घातिकर्मकलङ्कसे—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंसे—रहित सूचित किया है उसी प्रकार यहां 'निर्धूतकलिलात्मने' पदके द्वारा वर्द्धमान जिनेन्द्रको भी उसी घातिकर्मकलङ्कसे रहित व्यक्त किया है। दोनों पद एक ही अर्थके वाचक हैं।[1]

'लोक' उसे कहते हैं जो अनन्त आकाशके बहुमध्य-भागमें स्थित और प्रान्तमें तीन महावातवलयोंसे वेष्टित जीवादि षट् द्रव्योंका समूह है, अथवा जहां जीव-पुद्गलादि छह प्रकारके द्रव्य[2] अवलोकन किये जायँ देखे-पाए जायँ—वह सब 'लोक' है। उसके तीन विभाग हैं—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। सुदर्शन-मेरुके मूलभागसे नीचे का इधर-उधरका सब प्रदेश अर्थात् रत्नप्रभा भूमिसे लेकर नीचेका अन्तिम वातवलय तकका सब भाग, जिसमें व्यन्तरों तथा भवनवासी देवोंके आवास और सातों नरक भी आ जाते हैं, तद्गत द्रव्यों-सहित 'अधोलोक' कहलाता है। रत्नप्रभाभूमिसे ऊपर सुदर्शनमेरुकी चूलिका तकका सब क्षेत्र तद्गत द्रव्यों सहित 'मध्यलोक' कहा जाता है और उसमें सम्पूर्ण ज्योतिर्लोक तथा तिर्यक्लोक अन्तिमवातवलय-पर्यन्त शामिल है। और सुदर्शनमेरुकी चूलिकासे ऊपर स्वर्गादिकका इधर-उधरके सब प्रदेशों सहित जो अन्तिम वातवलय पर्यन्तका स्थान है वह तद्गत द्रव्यों सहित 'ऊर्ध्वलोक' कहलाता है। लोकके इन तीन विभागोंकी जैनागममें 'त्रिलोक' संज्ञा है। इन तीनों लोकोंसे बाहरका जो क्षेत्र है और जिसमें सब ओर अनन्तआकाशके सिवाय दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है उसे 'अलोक' कहते हैं। लोक-अलोकमें संपूर्ण ज्ञेय तत्त्वोंका समावेश होजानेसे उन्हींमें ज्ञेय-तत्त्वकी परिसमाप्ति की गई है। अर्थात् आगम में यह प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञेयतत्त्व लोक-अलोक है—लोक-अलोकसे भिन्न अथवा बाहर दूसरा कोई ज्ञेय' पदार्थ है ही नहीं। साथ ही, ज्ञेय ज्ञानका विषय होनेसे और ज्ञान की सीमाके बाहर ज्ञेयका कोई अस्तित्व न बन सकनेसे यह भी प्रतिपादन किया गया है कि 'ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है'। जब ज्ञेय लोक-अलोक-प्रमाण है तब ज्ञान भी लोक-अलोक-प्रमाण ठहरा, और इसलिये ज्ञानको भी लोक-अलोककी तरह सर्वगत (व्यापक) होना चाहिये, जैसा कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत प्रवचनसारकी निम्न गाथासे प्रकट है:—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयाऽलोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं ॥१-२३॥

इसमें यह भी बतलाया है कि 'आत्मा ज्ञानप्रमाण है'—ज्ञानसे बड़ा या छोटा आत्मा नहीं होता। और यह ठीक ही है; क्योंकि ज्ञानसे आत्माको बड़ा माननेपर आत्मा का वह बढ़ा हुआ अंश ज्ञानशून्य जड़ ठहरेगा और तब यह कहना नहीं बन सकेगा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है अथवा ज्ञान आत्माका गुण है, जोकि गुणी (आत्मा)में व्यापक (सर्वत्र स्थित) होना चाहिये। और ज्ञानसे आत्माको छोटा माननेपर आत्मप्रदेशोंसे बाहर स्थित (बढ़ा हुआ) ज्ञान गुण गुणी(द्रव्य)के आश्रय-बिना ठहरेगा और गुण गुणी (द्रव्य) के आश्रय बिना कहीं रहता नहीं, जैसा कि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' गुणके इस तत्त्वार्थसूत्र-वर्णित

---

१ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-द्वारा प्रवचनसारकी आदिमें दिया हुआ वर्द्धमानका 'धोदघाइकम्ममलं' विशेषण भी इसी आशय का द्योतक है।

२ जैन विज्ञानके अनुसार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। इनके अलावा दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। दूसरे जिन द्रव्योंकी लोकमें कल्पना की जाती है उन सबका समावेश इन्हींमें होजाता है। ये नित्य और अवस्थित हैं—अपनी छहकी संख्याका कभी उल्लङ्घन नहीं करते। इनमेंसे पुद्गलको छोड़कर शेष सब द्रव्य अरूपी हैं। और इनकी चर्चा से प्रायः सभी जैन-सिद्धान्त-ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

लक्षणसे प्रकट है। अतः आत्मा ज्ञानसे बड़ा या छोटा न होकर ज्ञान प्रमाण है, इसमें आपत्तिके लिये ज़रा भी स्थान नहीं।

जब आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होनेसे लोकाऽलोक प्रमाणित तथा सर्वगत है तब आत्मा भी सर्वगत हुआ। और इससे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा अपने ज्ञानगुण सहित सर्वगत (सर्वव्यापक) होकर लोकाऽलोकको जानता है, और इसलिये श्रीवर्द्धमानस्वामी लोकाऽलोकके ज्ञान होनेसे 'सर्वज्ञ' हैं और वे सर्वगत होकर ही लोकाऽलोकको जानते हैं। परन्तु आत्मा सदा स्वात्म प्रदेशोंमें स्थित रहता है—समारावस्थामें आत्माका कोई प्रदेश मूलोत्तररूप आत्मा देहसे बाहर नहीं जाता और मुक्तावस्थामें शरीरका सम्बन्ध सदाके लिये छूट जानेपर आत्माके प्रदेश प्रायः चरमदेहके आकारको लिये हुए लोकके अग्रभागमें जाकर स्थित होते हैं, वहाँसे फिर कोई भी प्रदेश किसी समय स्वात्मासे बाहर निकलकर अन्य पदार्थोंमें नहीं जाता। इसीसे ऐसे शुद्धात्माओं अथवा मुक्तात्माओंको 'स्वात्मस्थित' कहा गया है और प्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वव्यापक नहीं माना गया; परन्तु साथ ही 'सर्वगत' भी कहा गया है, जैसा कि 'स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्त संगः'[1] जैसे वाक्योंसे प्रकट है। तब उनके इस सर्वगतत्वका क्या रहस्य है और उनका ज्ञान कैसे एक जगतस्थित होकर सब जगतके पदार्थोंको युगपत जानता है? यह एक मर्मकी बात है, जिसे स्वामी समन्तभद्रने 'यद्विद्यादर्पणायते' जैसे शब्दोंके द्वारा थोड़ेमें ही व्यक्त कर दिया है। यहां ज्ञानको दर्पण बतलाकर अथवा दर्पणकी की उपमा देकर यह स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार दर्पण अपने स्थानसे उठकर पदार्थोंके पास नहीं जाता, न उनमें प्रविष्ट होता है और न पदार्थ ही अपने स्थानसे चलकर दर्पणके पास आते तथा उसमें प्रविष्ट होते हैं; फिर भी पदार्थ दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर प्रविष्टसे जान पड़ते हैं और दर्पण भी उन पदार्थोंको अपनेमें प्रतिबिम्बत करता हुआ तद्गत तथा उन पदार्थोंके आकाररूप परिणत मालूम होता है, और यह सब दर्पण तथा पदार्थोंकी इच्छाके बिना ही वस्तु-स्वभावसे होता है। उसीप्रकार वस्तुस्वभावसे ही शुद्धात्मा केवलीके केवलज्ञानरूप दर्पणमें अलोकसहित सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं और इस दृष्टिसे उनका वह निर्मलज्ञान स्वात्मप्रदेशोंकी अपेक्षा सर्वगत न होता हुआ भी सर्वगत कहलाता है और तदनुरूप वे केवली भी स्वात्मस्थित होते हुए सर्वगत कहे जाते हैं। इसमें विरोधकी कोई बात नहीं है। इस प्रकारका कथन विरोधालङ्कारका एक प्रकार है, जो वास्तवमें विरोधको लिये हुए न होकर विरोध-सा जान पड़ता है और इसीसे 'विरोधाभास' कहा जाता है। अतः श्रीवर्द्धमान स्वामीके, प्रदेशापेक्षा सर्वव्यापक न होते हुए भी, स्वात्मस्थित होकर सर्वपदार्थोंको जानने-प्रतिभासित करनेमें कोई बाधा नहीं आती।

अब यहांपर यह प्रश्न किया जा सकता है कि दर्पण तो वर्तमानमें अपने सन्मुख तथा कुछ तिर्यक्स्थित पदार्थोंको ही प्रतिबिम्बित करता है—पीछेके अथवा अधिक अगल बगलके पदार्थोंको वह प्रतिबिम्बित नहीं करता—और सन्मुखादिरूपसे स्थित पदार्थोंमें भी जो सूक्ष्म हैं, दूरवर्ती हैं, किसी प्रकारके व्यवधान अथवा आवरणसे युक्त हैं, अमूर्तिक हैं, भूतकालमें सन्मुख उपस्थित थे भविष्यकालमें सन्मुख उपस्थित होंगे किन्तु वर्तमानमें सन्मुख उपस्थित नहीं हैं उनमेंसे किसीको भी वर्तमान समयमें प्रतिबिम्बित नहीं करता है; जब ज्ञान दर्पणके समान है तब केवली अथवा भगवान महावीरके ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके सब पदार्थ युगपत् कैसे प्रतिभासित होसकते हैं? और यदि युगपत प्रतिभासित नहीं हो सकते तो सर्वज्ञता कैसे बन सकती है? और कैसे 'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते' यह विशेषण श्री वर्द्धमान स्वामीके साथ संगत बैठ सकता है?

इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि उपमा और उदाहरण (दृष्टान्त) प्रायः एकदेश होते हैं—सर्वदेश नहीं, और इसलिये सर्वापेक्षासे उनके साथ तुलना नहीं की जा सकती। उनसे किसी विषयको समझनेमें मदद मिलती है, यही उनके प्रयोगका लक्ष्य होता है। जैसे किसीके मुखको चन्द्रमाकी उपमा दी जाती है, तो उसका इतना ही अभिप्राय होता है कि वह अतीव गौरवर्ण है—यह अभिप्राय नहीं होता कि उसका और चंद्रमाका वर्ण बिल्कुल एक है अथवा वह सर्वथा चन्द्र-धातुका ही बना हुआ है और चन्द्रमाकी तरह गोलाकार भी है।

[1] देखो, श्री धनंजयकृत 'विषापहार' स्तोत्र।

इसी तरह दर्पण और ज्ञानके उपमान-उपमेय-भावको समझना चाहिये। यहां ज्ञान (उपमेय) को दर्पण (उपमान) की जो उपमा दी गई उसका लक्ष्य प्रायः इतना ही है कि जिस प्रकार पदार्थ अपने अपने स्थानपर स्थित रहते हुए भी निर्मल दर्पणमें ज्योंके त्यों झलकते और तद्गत मालूम होते हैं और अपने इस प्रतिबिम्बित होनेमें उनकी कोई इच्छा नहीं होती और न दर्पण ही उन्हें अपनेमें प्रतिबिम्बित करने-करानेकी कोई इच्छा रखता है—सब कुछ वस्तु स्वभावसे होता है; उसी तरह निर्मल ज्ञानमें भी पदार्थ ज्योंके त्यों प्रतिभासित होते तथा तद्गत मालूम होते हैं और इस कार्यमें किसीकी भी कोई इच्छा चरितार्थ नहीं होती—वस्तुस्वभाव ही सर्वत्र अपना कार्य करता हुआ जान पड़ता है। इससे अधिक उसका यह आशय कदापि नहीं लिया जा सकता कि ज्ञान भी साधारण दर्पण की तरह जड है, दर्पण-धातुका बना हुआ है, दर्पणके समान एक पार्श्व (Side) ही उसका प्रकाशित है और वह उस पार्श्वके सामने निरावरण अथवा व्यवधानरहित अवस्थामें स्थित तात्कालिक मूर्तिक पदार्थको ही प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा आशय लेना उपमान-उपमेय-भाव तथा वस्तुस्वभावको न समझने जैसा होगा।

इसके सिवाय, दर्पण भी तरह तरहके होते हैं। एक सर्वसाधारण दर्पण, जो शरीरके ऊपरी भागको ही प्रतिबिम्बित करता है—चर्म-मांसके भीतर स्थित हाडों आदि को नहीं; परन्तु दूसरा ऐक्स-रेका दर्पण चर्म-मांसके व्यवधानमें स्थित हाडो आदिको भी प्रतिबिम्बित करता है। एक प्रकारका दर्पण समीप अथवा कुछ ही दूरके पदार्थों को प्रतिबिम्बित करता है, दूसरा दर्पण (रेडियो आदि द्वारा) बहुत दूरके पदार्थोंको भी अपनेमें प्रतिबिम्बित कर लेता है। और यह बात तो साधारण दर्पणों तथा फोटो दर्पणोंमें भी पाई जाती है कि वे बहुतसे पदार्थोंको अपनेमें युगपत् प्रतिबिम्बित करलेते हैं और उसमें कितने ही निकट तथा दूरवर्ती पदार्थोंका पारस्परिक अन्तराल भी लुप्त-गुप्त-सा हो जाता है, जो विधिपूर्वक देखनेसे स्पष्ट जाना जाता है। इसके अलावा स्मृतिज्ञान-दर्पणमें हजारों मील दूरकी और बीसियों वर्ष पहलेकी देखी हुई घटनाएँ तथा शक्लें (आकृतियाँ) साफ झलक आती हैं। और जातिस्मरणका दर्पण तो उससे भी बढ़ा चढ़ा होता है, जिसमें पूर्वजन्म अथवा जन्मोंकी सैंकड़ों वर्ष पूर्व और हजारों मील दूर तक की भूतकालीन घटनाएँ साफ झलक आती हैं। इसी तरह निमित्तादि श्रुतज्ञान-द्वारा चन्द्र-सूर्य ग्रहणादि जैसी भविष्य की घटनाओंका भी सच्चा प्रतिभास हुआ करता है। जब लौकिक दर्पणों और स्मृति आदि क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्पणोंका ऐसा हाल है तब केवलज्ञान-जैसे अलौकिक दर्पणकी तो बात ही क्या है? उस सर्वातिशायी ज्ञानदर्पण में अलोक-सहित तीनों लोकोंके वे सभी पदार्थ प्रतिभासित होते है जो 'ज्ञेय' कहलाते हैं—चाहे वे वर्तमान हों या अवर्तमान। क्योंकि ज्ञेय वही कहलाता है जो ज्ञानका विषय होता है—ज्ञान जिसे जानता है। ज्ञानमें लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति है, वह तभी तक उन्हें अपने पूर्णरूपमें नहीं जान पाता जब तक उसपर पड़े हुए आवरणादि प्रतिबन्ध सर्वथा दूर होकर वह शक्ति पूर्णतः विकसित नहीं हो जाती। ज्ञान-शक्तिके पूर्णविकसित और चरितार्थ होनेमें बाधक कारण हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामके चार घातिया कर्म। इन चारों घातिया कर्मोंकी सत्ता जब आत्मामें नहीं रहती तब उसमें उस अप्रतिहतशक्ति ज्ञान-ज्योतिका उदय होता है जिसे लोक-अलोकके सभी ज्ञेय पदार्थोंको अपना विषय करनेसे फिर कोई रोक नहीं सकता।

जिस प्रकार यह नहीं हो सकता कि दाहक-स्वभाव अग्नि मौजूद हो, दाह्य-इन्धन भी मौजूद हो, उसे दहन करनेमें अग्निके लिये कोई प्रकारका प्रतिबन्ध भी न हो और फिर भी वह अग्नि उस दाह्यकी दाहक न हो, उसी प्रकार यह भी नहीं हो सकता कि उक्त अप्रतिहत-ज्ञानज्योतिका धारक कोई केवलज्ञानी हो और वह किसी भी ज्ञेयके विषयमें अज्ञानी रह सके। इसी आशयको श्रीविद्यानन्द स्वामीने अपनी अष्टसहस्रीमें, जो कि समन्तभद्रकृत आप्तमीमांसाकी टीका है, निम्न पुरातन वाक्यद्वारा व्यक्त किया है—

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥

अतः श्रीवर्द्धमानस्वामीके ज्ञानदर्पणमें अलोक-सहित तीनों लोकोंके प्रतिभासित होनेमें बाधाके लिये कोई स्थान नहीं है, जब कि वे घातिकर्ममलको दूर करके निर्धूत-

कलिलात्मा हो चुके थे, इसीसे उनके इस विशेषणको पहले रक्खा गया है। और चूंकि उनके इस निर्धूतकलिलात्मत्व नामक गुणविशेषका बोध हमें उनकी युक्ति-शास्त्राविरोधिनी दिव्य वाणीके द्वारा होता है[१] इसलिये उस भारती-विभूति-संसूचक 'श्री' विशेषणको कारिकामें उससे भी पहला स्थान दिया गया है।

इस प्रकार यह निबद्ध मङ्गलाचरण ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रके उस अनुचिन्तनका परिणाम है जो ग्रन्थ की रूप-रेखाको स्थिर करनेके अनन्तर उसके लिये अपनेको श्रीवर्द्धमानस्वामीका आभारी माननेके रूपमें उनके हृदयमें उदित हुआ है, और इसलिये उन्होंने सबसे पहले 'नमः' शब्द कहकर भगवान् वर्द्धमानके आगे अपना मस्तक झुका दिया है और उसके द्वारा उनके उपकारमय आभारका स्मरण करते हुए अपनी अहंकृतिका परित्याग किया है। ऐसा वे मौखिकरूपसे मङ्गलाचरण करके भी कर सकते थे—उसे ग्रन्थमें निबद्ध करके उसका अङ्ग बनानेकी ज़रूरत नहीं थी। परन्तु ऐसा करना उन्हें इष्ट नहीं था। वे आप्त पुरुषोंके ऐसे स्तवनों तथा स्मरणोंको कुशल परिणामोंका—पुण्य-प्रसाधक शुभभावोंका—कारण समझते थे और उनके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना प्रतिपादन करते थे[२]। उन्होंने 'आगसां जये' जैसे पदोंके द्वारा अपनी स्तुतिविद्याका लक्ष्य 'पापोंका जीतना' बतलाया है[३]। और इसलिये ऐसे स्तवनादिकोंसे उन्हें जो आत्मसन्तोष होता था उसे वे दूसरोंको भी कराना चाहते थे और आत्मोत्कर्षकी साधनाका जो भाव उनके हृदयमें जागृत होता था उसे वे दूसरोंके हृदयमें भी जगाना चाहते थे। ऐसी ही शुभ भावनाको लेकर उन्होंने ग्रन्थकी आदिमें किये हुए अपने मङ्गलाचरणको ग्रन्थमें निबद्ध किया है, और उसके द्वारा पढ़ने सुननेवालोंकी श्रेय-साधनामें सहायक होते हुए उन्हें अपनी तात्कालिक मनःपरिणतिको समझने का अवसर भी दिया है।

निसन्देह, इस सुपरीक्षित और सुनिर्णीत गुणोंके स्मरणको लिये हुए मङ्गल-पद्यको शास्त्रकी आदिमें रखकर स्वामी समन्तभद्रने भगवान् वर्द्धमानके प्रति अपनी श्रद्धा, भक्ति, गुणज्ञता और गुणप्रीतिका बड़ा ही सुन्दर प्रदर्शन किया है। और इस तरहसे वर्तमान धर्मतीर्थके प्रवर्तक श्रीवीर-भगवानको तद्रूपसे—आप्तके उक्त तीनों गुणोंसे विशिष्ट रूपमें—देखने तथा समझनेकी दूसरोंको प्रेरणा भी की है।

इस शिष्ट-पुरुषानुमोदित और कृतज्ञ-जनताभिनन्दित स्वेष्ट-फलप्रद मङ्गलाचरणके अनन्तर अब स्वामी समन्तभद्र अपने अभिमत शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए उसके प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

ग्रन्थविषय-व्यावर्णनात्मक-प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

'मैं उस समीचीन धर्मका निर्देश (वर्णन) करता हूँ जो कर्मोंका विनाशक है और जीवोंको संसारके दुःखसे—दुःखसमूहसे—निकाल कर उत्तम-सुखमें धारण करता है।'

व्याख्या—इस वाक्यमें जिस धर्मके स्वरूप-कथनकी 'देशयामि' पदके द्वारा प्रतिज्ञा की गई है उसके तीन ख़ास विशेषण हैं—सबसे पहला तथा मुख्य विशेषण है 'समीचीन', दूसरा 'कर्मनिवर्हण' और तीसरा 'दुखसे उत्तम-सुखमें धरण'। पहला विशेषण निर्देश्य धर्मकी प्रकृतिका द्योतक है और शेष दो उसके अनुष्ठान-फलका सामान्यतः (संक्षेपमें) निरूपण करने वाले हैं।

'कर्म' शब्द विशेषण-शून्य प्रयुक्त होनेसे उसमें द्रव्य-कर्म और भावकर्मरूपसे सब प्रकारके अशुभादि कर्मोंका समावेश है, जिनमें रागादिक 'भावकर्म' और ज्ञानावरणादिक 'द्रव्यकर्म' कहलाते हैं। धर्मको कर्मोंका निवर्हण-विनाशक बतलाकर इस विशेषणके द्वारा यह सूचित किया गया है कि वह वस्तुतः कर्मबन्धका कारण नहीं[४], प्रत्युत

१ इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण स्वयं स्वामी समन्तभद्रने अपने 'आप्तमीमांसा' (देवागम) नामके दूसरे ग्रन्थमें 'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्' इत्यादि वाक्योंके द्वारा विस्तारके साथ किया है।

२ देखो, स्वयम्भूस्तोत्र कारिका ११६

३ देखो, स्तुतिविद्या (जिनशतक), पद्य नं० १

४ इसी बातको श्रीअमृतचंद्राचार्यने पुरुषार्थसिद्धयुपायके निम्न वाक्योंमें धर्मके अलग अलग तीन अङ्गोंको लेकर स्पष्ट किया है और बतलाया है कि जितने अंशमें किसीके धर्मका यह

इसके बन्धनसे छुड़ानेवाला है। और जो बन्धनसे छुड़ाने वाला होता है वही दुखसे निकालकर सुखमें धारण करता है; क्योंकि बन्धनमें—पराधीनतामें— सुख नहीं किन्तु दुःख ही दुःख है। इसी विशेषणकी प्रतिष्ठापर तीसरा विशेषण चरितार्थ होता है, और इसी लिये वह 'कर्म-निवर्हण' विशेषणके अनन्तर रक्खा गया जान पड़ता है।

सुख जीवोंका सर्वोपरि ध्येय है और उसकी प्राप्ति धर्मसे होती है। धर्म सुखका साधन (कारण) है और * साधन कभी साध्य (कर्म) का विरोधी नहीं होता, इसलिये धर्मसे वास्तवमें कभी दुःखकी प्राप्ति नहीं होती, वह तो सदा दुःखोंसे छुड़ाने वाला ही है। इसी बातको लेकर श्रीगुणभद्राचार्यने, आत्मानुशासनमें, निम्न वाक्य द्वारा सुखका आश्वासन देते हुए उन लोगोंको धर्ममें प्रेरित किया है जो अपने सुखमें बाधा पहुंचनेके भयको लेकर धर्मसे विमुख बने रहते हैं—

धर्मः सुखस्य हेतुर्हेतुर्न विरोधकः स्वकार्यस्य ।
तस्मात्सुखभङ्गभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥२०

धर्म करते हुए भी यदि कभी दुःख उपस्थित होता है तो उसका कारण पूर्वकृत कोई पापकर्मका उदय ही समझना चाहिये, न कि धर्म। 'धर्म' शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ अथवा निरुक्त्यर्थ भी इसी बातको सूचित करता है और उस अर्थको लेकर ही तीसरे विशेषणकी घटना (सृष्टि) की गई है। उसमें सुखका 'उत्तम' विशेषण भी दिया गया है, जिससे प्रकट है कि धर्मसे उत्तम सुखकी—शिवसुखकी अथवा यों कहिये कि अबाधित सुखकी—प्राप्ति तक होती है; तब साधारण सुख तो कोई चीज़ ही नहीं—वे तो धर्म से सहजमें ही प्राप्त होजाते हैं। सांसारिक दुःखोंके छूटनेसे सांसारिक उत्तम सुखोंका प्राप्त होना उसका आनुषङ्गिक फल है— धर्म उसमें बाधक नहीं, और इस तरह प्रकारान्तरसे धर्म संसारके उत्तम सुखोंका भी साधक है, जिन्हें ग्रन्थमें 'अभ्युदय' शब्दके द्वारा उल्लेखित किया गया है[1]। इसीसे दूसरे आचार्योंने 'धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो' इत्यादि वाक्योंके द्वारा धर्मका कीर्तन किया है। और स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थके अन्तमें यह प्रतिपादन किया है कि जो अपने आत्माको इस (रत्नत्रय)धर्मरूप परिणत करता है उसे तीनों लोकोंमें 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयंवराकी तरह वरती है अर्थात् उसके सब प्रयोजन अनायास सिद्ध होते हैं।' और इसलिये धर्म करनेसे सुखमें बाधा आती है' ऐसा समझना भूल ही होगा।

वास्तवमें उत्तमसुख जो परतन्त्रादिके अभावरूप शिव-(निःश्रेयस)सुख है और जिसे स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'शुद्धसुख'[2] बतलाया है उसे प्राप्त करना ही धर्मका मुख्य लक्ष्य है—इन्द्रियसुखों अथवा विषयभोगोंको प्राप्त करना धर्मात्माका ध्येय नहीं होता। इन्द्रियसुख बाधित, विषम, पराश्रित, भंगुर, बन्धहेतु और दुःखमिश्रित आदि दोषोंसे दूषित है[3]। स्वयं स्वामीसमन्तभद्रने इसी ग्रन्थमें 'कर्म-परवशे' इत्यादि कारिका-द्वारा उसे 'कर्मपरतन्त्र, सान्त (भंगुर), दुःखोंसे अन्तरित—एकरसरूप न रहने वाला तथा पापोंका बीज बतलाया है। और लिखा है कि धर्मात्मा (सम्यग्दृष्टि) ऐसे सुखकी आकांक्षा नहीं करता।' और इस लिये जो लोग इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त हैं फँसे हुए हैं— अथवा सांसारिक सुखको ही सब कुछ समझते हैं वे भ्रान्त-चित्त हैं—उन्होंने वस्तुतः अपनेको समझा ही नहीं और न उन्हें निराकुलतामय सच्चे स्वाधीन सुखका कभी दर्शन या आभास ही हुआ है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि उक्त

अङ्ग है उतने अंशमें उसके कर्मबन्ध नहीं होता—कर्म-बन्धका कारण रागांश है, वह जितने अंशोंमें साथ होगा उतने अंशोंमें बन्ध बँधेगा।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

१ देखो, 'निःश्रेयसमभ्युदयं' तथा 'पूजार्थाज्ञैश्वर्यैः' नामकी कारिकाएँ (१३०, १३५)

२ 'निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।' (१३१)

३ श्रीकुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार(१-७६)में, ऐसे इन्द्रियसुखको वस्तुतः दुःख ही बतलाते हैं। यथा—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥

तीसरे विशेषणके संघटक वाक्य ('संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे') में 'सत्वान्' पद सब प्रकारके विशेषणोंसे रहित प्रयुक्त हुआ है और इससे यह स्पष्ट है कि धर्म किसी जाति या वर्ग-विशेषके जीवोंका ही उद्धार नहीं करता बल्कि ऊँचनीचादिका भेद न कर जो भी जीव--भले ही वह म्लेच्छ, चाण्डाल, पशु नारकी, देवादिक कोई भी क्यों न हो–उसको धारण करता है उसे ही वह दुखसे निकाल कर सुखमें स्थापित करता है और उस सुखकी मात्रा धारण किये हुए धर्मकी मात्रापर अवलम्बित रहती है—जो अपनी योग्यतानुसार जितनी मात्रा में धर्माचरण करेगा वह उतनी ही मात्रामें सुखी बनेगा। और इसलिये जो जितना ज्यादा दुःखित एवं पतित है उसे उतनी ही अधिक धर्मकी आवश्यकता है और वह उतना ही अधिक धर्मका आश्रय लेकर उद्धार पानेका अधिकारी है।

वस्तुतः 'पतित' उसे कहते हैं जो स्वरूपसे च्युत है—स्वभावमें स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता और विभाव परिणतिरूप परिणमता है—, और इसलिये जो जितने अंशोंमें स्वरूपसे च्युत है वह उतने अंशोंमें ही पतित है। इस तरह सभी संसारी जीव[१] एक प्रकारसे पतितोंकी कोटि में स्थित और उसकी श्रेणियोंमें विभाजित हैं। धर्म जीवों को उनके स्वरूपमें स्थिर करने वाला है, उनकी पतितावस्थाको मिटाता हुआ उन्हें ऊँचे उठाता है और इसलिये 'पतितोद्धारक' कहा जाता है। कूपमें पड़े हुए प्राणी जिस प्रकार रस्सेका सहारा पाकर ऊँचे उठ आते और अपना उद्धार कर लेते हैं उसी प्रकार संसारके दुःखोंमें डूबे हुए पतितसे पतित जीव भी धर्मका आश्रय एवं सहारा पाकर ऊँचे उठ आते हैं और दुःखोंसे छूट जाते हैं[२]। स्वामी समन्तभद्र तो 'अतिहीन' (नीचातिनीच) को भी इसी लोक में 'अतिगुरु' (अत्युच्च) तक होना बतलाते हैं[३]। ऐसी स्थिति में स्वरूपसे ही सब जीवोंका धर्मपर समान अधिकार है और धर्मका भी किसीके साथ कोई पक्षपात नहीं है—वह ग्रंथकारके शब्दोंमें 'जीवमात्रका बन्धु'[४] है तथा स्वाश्रयमें प्राप्त सभी जीवोंके प्रति समभावसे वर्तता है। इसी दृष्टिको लक्ष्यमें रखते हुए ग्रन्थकार महोदयने स्वयं ही ग्रन्थमें आगे यह प्रतिपादन किया है कि 'धर्मके प्रसादसे कुत्ता भी ऊँचा उठकर (अगले जन्ममें) देवता बन जाता है और ऊँचा उठा हुआ देवता भी पापको अपना कर धर्मभ्रष्ट हो जानेसे (जन्मान्तरमें) कुत्ता बन जाता है[५]।' साथ ही, यह भी बतलाया है कि धर्मसम्पन्न एक चाण्डालका पुत्र भी 'देव' है—आराध्य है[६], और स्वभावसे अपवित्र शरीर भी धर्म(रत्नत्रय)के संयोगसे पवित्र हो जाता है। अतः अपवित्र-शरीर एवं हीन जाति धर्मात्मा तिरस्कारका पात्र नहीं—निर्जुगुप्सा अंगका धारक धर्मात्मा ऐसे धर्मात्मासे घृणा न रख कर उसके गुणोंमें प्रीति रखता है[७]। और जो जाति आदि किसी मदके वशवर्ती होकर ऐसा नहीं करता, प्रत्युत इसके ऐसे धर्मात्माका तिरस्कार करता है वह वस्तुतः आत्मीय-धर्मका तिरस्कार करता है—फलतः आत्मधर्मसे विमुख है; क्योंकि धार्मिकके बिना धर्मका कहीं अवस्थान नहीं और इसलिये धार्मिकका तिरस्कार ही धर्मका तिरस्कार है—जो धर्मका तिरस्कार करता है वह किसी तरह भी धर्मात्मा नहीं कहा जा सकता[८]। ये सब बातें समन्तभद्र स्वामीकी धर्म-मर्मज्ञताके साथ साथ उनकी धर्माधिकार-विषयक उदार भावनाओंकी द्योतक हैं और इन सबको दृष्टि-पथमें रखकर ही 'सत्वान्' पद सब प्रकारके विशेषणोंसे रहित प्रयुक्त हुआ है। अस्तु।

अब रही 'समीचीन' विशेषणकी बात। (क्रमशः)

---

१ जीवोंके दो मूल भेद हैं–संसारी और मुक्त, जैसाकि 'संसारिणो मुक्ताश्च' इस तत्त्वार्थसूत्रसे प्रकट है। मुक्तजीव पूर्णतः स्वरूपमें स्थित होनेके कारण पतितावस्थासे अतीत होते हैं।

२ "संसार एष कूपः सलिलानि विपत्ति-जन्म-दुःखानि। इह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान्॥" (पुरातन)

३ "यो लोके त्वा नतः सोऽतिहीनोऽप्यतिगुरुर्यतः।" —जिनशतक ८२

४ पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्। (१४८)

५ श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात्।

६ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्। देवा देवं विदुर्भस्म-गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥ (२८)
'देवं आराध्यं' इति प्रभाचन्द्रः टीकायाम्।

७ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रय-पवित्रिते। निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता॥ (१३)

८ स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः। सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना॥ (२६)

श्रीदादीजी-वियोग !

जिन श्रीदादीजी श्रीमती रामीबाईजी धर्मपत्नी श्रीमान ला० सुन्दरलालजी जैन रईस नानौताका सचित्र परिचय अनेकान्त वर्ष ५ की संयुक्त किरण ६–७ (जुलाई-अगस्त सन् १६४२) में मैंने अपनी रुग्णावस्थाके समय यह समझकर दिया था कि कहीं बीमारीके चक्करमें ऐसा न हो कि मुझे आपका परिचय लिखने और आपके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनेका अवसर ही न मिल सके, उन्हीं पूज्य दादीजी का आज अनेकान्तके.ही कालमोंमें मुझे वियोग लिखनेके लिये बाध्य होना पड रहा है, यह मेरे लिये नि: सन्देह बड़ा ही कष्टकर है ! परन्तु इतना सन्तोषका विषय है कि मैं दादी जीकी बीमारीकी खबर पाकर देहलीसे नानौता आठ दिन पहले उनकी सेवामें पहुँच गया था और मैंने अपनी शक्ति-भर उनकी सेवा करनेमें कोई बात उठा नहीं रक्खी। मेरे पहुँचनेके कुछ दिन पहलेसे दादीजी बोलती नहीं थी और न आँखें ही खोलती थीं, मेरे आनेका समाचार पाकर उन्होंने आँख जरा खोली और पुकारने पर शक्तिको बटोरकर कुछ हुँगूरा भी दिया। अगले दिन (१ ली जूनको) तो उन्होंने अच्छी तरह आँखें खोलदी और वे बोलने भी लगीं, इससे उनके रोगमुक्त होनेकी कुछ आशा बँधी और साथ ही उनके उस श्रद्धा-वाक्यकी भी याद हो आई जिसे वे अक्सर कहा करती थीं कि 'जब तुम आजाते हो हमारे रोग-सोग सब चले जाते हैं'—कई बार रोगोंमें मुक्तिके ऐसे प्रसंग उपस्थित भी हुए हैं जो उनकी श्रद्धाके कारण बने हैं, और इस लिये उन्हें उनके उक्त श्रद्धा-वाक्यकी याद दिलाते हुए कहा गया कि 'अब तुमको अपनी धारणानुसार जल्दी अच्छा होजाना चाहिये।' कई दिन वे कुछ अच्छी रही भी, परन्तु अन्तको आयुकर्मने साथ नहीं दिया और वे ता० ७ जून (ज्येष्ठकृष्ण १२) गुरुवारको दिनके ११॥ बजेके करीब इस नश्वर एवं जीर्ण देहका समाधि-पूर्वक त्याग करके स्वर्ग सिधार गईं ! और इस तरह जैनसमाजसे एक ऐसी धर्म-परायण-वीरांगना उठ गई जिसमें पुरुषों-जैसा पुरुषार्थ और वीरों-जैसी हिम्मत तथा हौसला था; जो कष्टोंको बड़े धैर्यके साथ सहन करती हुई कर्तव्य-पालनमें निपुण थी; जिसका हृदय उदार और अतिथिसत्कार सराहनीय था; जो अपने हितकी अपेक्षा दूसरोंके और खासकर आश्रितजनोंके हितकी अधिक चिन्ता रखती थी; जिसका सारा जीवन बड़ा ही नम्र प्रेमपूर्ण तथा सेवापरायण रहा है; जो गुणीजनोंको देख कर प्रफुल्लित हो उठती थी और विद्यासे बड़ा प्रेम रखती थी; सत्कार्योंमें जिसका सदा सहयोग रहा है, जो सदा बात



की सच्ची एवं धुनकी पक्की थी, दूसरेके थोड़ेसे भी उपकारको बहुत करके मानती थी और हमेशा दूसरोंको नेक सलाह दिया करती थी !!

जीवनके पिछले आठ दिनोंमें मैंने उनके पास रहकर, उन्हें धर्मकी बातें सुना कर और उनसे कुछ प्रश्न करके जो निकटसे उनकी स्थितिका अनुभव किया तो उससे

मालूम हुआ कि वे अपने अन्तिम जीवनमें भी वीर बनी रही हैं, उन्होंने अपने कष्टको स्वयं झेला, दूसरो पर अपना दु:ख व्यक्त नहीं किया और न मुखमुद्रापर ही दु:खका कोई खास चिन्ह आने दिया—इस खयालसे कि कहीं दूसरोंको कष्ट न पहुँच जाय,* कुल्हने-कराहनेका नाम तक नहीं सुना गया, गुस्सा और झुंझलाहट जो अक्सर कमजोरीके लक्षण होते हैं पास नहीं फटकते थे, पूछने पर भी कि तुम्हें क्या कुछ वेदना है?—सिर हिला दिया, नहीं। ऐसा मालूम होता था कि आप कर्मोदयको समताभावके साथ सहन करती हुई एक साध्वीके रूपमें पड़ी हैं। आपकी परिणति बहुत शुद्ध रही है, आशा, तृष्णा और मोह पर आपने बड़ा विजय प्राप्त किया है, किसी चीजमें भी मनका भटकाव नहीं रक्खा, किसी भी इष्टपदार्थसे वियोगजन्य कष्टकी कोई रूप-रेखा तक आपके चेहरे पर दिखाई नहीं पड़ती थी। 'किसी को कुछ कहना या सन्देश देना है? जब यह पूछा गया तो उत्तर मिला—'नहीं'। इतनी निस्पृहताकी किसीको भी आशा नहीं थी। आपने सब ओरसे अपनी चित्त-वृत्तिको हटा लिया था, धार्मिक पाठोंको बड़ी रुचि तथा एकाग्रताके सुनती थीं और उनमें जहाँ कहीं वन्दना या उच्चभावोंके प्रस्फुटनका प्रसंग आता था तो आप हाथ जोड़ कर मस्तक पर रखती थीं, और इस तरह उनके प्रति अपनी श्रद्धा तथा भक्ति व्यक्त करती थीं। इन सब बातोंसे आपकी अन्तरात्म-वृत्ति और चित्तशुद्धि स्पष्ट लक्षित होती थी। अन्त समय तक आपको होश रहा तथा चित्तकी सावधानी बराबर बनी रही, और इस तरह आपने समाधि-पूर्वक देहका त्याग किया है, जो अवश्य ही आपके लिये सद्गतिका कारण होगा।

देहत्यागके समय आपकी अवस्था ८६-८७ वर्षकी थी। आपके इस वियोगमें आपकी पुत्री गुणमाला और पोती जयवन्तीको जो कष्ट पहुँचा है उसे कौन कह सकता है? मैं स्वयं मातृ-वियोग जैसे कष्टका अनुभव कर रहा हूँ। माताकी तरह आप सदा ही मेरे हितका ध्यान रखती, मुझे धैर्य बँधाती और सत्कार्योंके करनेमें प्रेरणा प्रदान करती रही हैं। हार्दिक भावना है कि आपको परलोकमें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे।

हाँ, अपने दानका संकल्प आप बहुत पहलेसे कर चुकी थी, जिसकी संख्या १००१) रु० है और जिसका विभाजन निम्नप्रकारसे किया गया है:—

१००) दोनों श्रीजैनमन्दिरजी, नानौता।
३००) जैनकन्या-पाठशाला, नानौता।
२५०) वीरसेवामन्दिर, सरसावा।
१००) जैनबाला-विश्राम, आरा।
१००) मुमुक्षु-महिलाश्रम, महावीरजी।
१५) जैनकालिज, बड़ौत।
१०) श्राविकाश्रम, बम्बई।
१०) जैनमहिला-परिषद्, आरा।
१०) जैनकन्या-पाठशाला, सहारनपुर
१०) जैनकन्या-पाठशाला, कैराना (मुजफ्फरनगर)।
५) जैनअनाथालय, देहली।
५) ऋषभब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा।
५) दि० जैनसंघ, मथुरा
५) स्याद्वाद-महाविद्यालय, बनारस।
५) महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा।
५) सत्तर्क सुधातरंगिणी जैनपाठशाला, सागर।
५) जैनऔषधालय, बडनगर।
५) नमिसागर जैनऔषधालय, देहली।
५) जैनखैराती शफाखाना, सहारनपुर।
५) जैनकीर्तन, नानौता।
४५) पत्रोंकी सहायतार्थ, जिनमें २५) अनेकान्त, १०) जैनमहिलादर्श, ५) जैनसन्देश और ५) जैनमित्रको।
१) मनीआर्डर खर्च।

१००१)

दु:खित-हृदय
जुगलकिशोर मुख्तार

---

*मेरे पहुँचनेसे कुछ दिन पहले जब उनसे पूछा गया कि 'क्या तुम भाईजीको देखना चाहती हो उन्हें बुलावें' तो उन्होंने यही कहा कि देखनेकी इच्छा तो है परन्तु उन्हें आनेमें कष्ट होगा! दूसरोंके कष्टका कितना ध्यान!!

श्रीचन्द्रनामके तीन विद्वान

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

श्रीचन्द्र नामके तीन दिगम्बर विद्वानोंका पता चलता है, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीसे सोलहवीं शताब्दी तक हुए हैं। इनमें प्रथम श्रीचन्द्र बलात्कार गणके आचार्य श्रीनन्दिके शिष्य थे जो लाड बागड़ संघमें हुए हैं। इन्होंने सागरसेन सैद्धान्तिकसे महापुराणके विषम-पदोंका विवरण जानकर और मूल-टिप्पणका अवलोकन कर उत्तरपुराणकी रचना वि० सं० १०८० में की है। इनकी दूसरी कृति पुराणसार है जिसका रचनाकाल संभवतः वि० सं० १०८० या १०८५ के आस-पासका अनुमान किया जाता है, क्यों कि समय-निर्देशक पुष्पिकामें लेखकोंकी कृपासे पाठमें कुछ अशुद्धि पाई जाती है। इनकी तीसरी कृति रविषेणाचार्यके पद्मचरितका टिप्पण है जिसे इन्होंने पं० प्रवचनसेनसे उक्तचरितको सुनकर वि० सं० १०८७ में बनाया था*। इस टिप्पणकी प्रतियां कितने ही ग्रंथभंडारोंमें पाई जाती हैं।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान पंडित आशाधरजीने भगवती आराधनाकी 'मूलाराधना दर्पण' नामक टीकामें ५८६ नं० की गाथाकी टीका करते हुए, श्रीचन्द्रके टिप्पणका उल्लेख किया है यथा—"कूरं भक्तं, श्रीचन्द्र-टिप्पणके त्वेवमुक्तं। अत्र कथयार्थप्रतिपत्तिर्यथा चन्द्रनामा सूपकारः इत्यादि"। इससे स्पष्ट है कि पं० आशाधरजीके समयमें भगवती आराधनापर श्रीचन्द्रका कोई टिप्पण मौजूद था, जिसके कर्ता संभवतः उक्त श्रीचन्द्र ही जान पड़ते हैं। और यह भी हो सकता है कि उनसे भिन्न कोई दूसरे ही श्रीचन्द्र उसके कर्ता हों। परन्तु अधिक संभावना इन दोनोंके एकत्वकी ही मालूम होती है।

*इन ग्रंथोंके परिचयके लिये देखो, पं० नाथूरामजीका जैन-साहित्य और इतिहास पृ० ३२५-६

दूसरे श्रीचन्द्र विक्रमकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान हैं। यह अपभ्रंशभाषाके अच्छे विद्वान और कवि थे, साथ ही संसार देह-भोगोंसे विरक्त थे इन्होंने ग्रन्थमें अपनेको 'मुनि' 'पंडित' और 'कवि' विशेषणों के साथ उल्लेखित किया है। इनकी अभी तक दो कृतियोंका पता चला है, उन दोनों ग्रंथोंमें इन्होंने अपनी जो गुरु-परम्परा दी है, उससे दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक ही जान पड़ते हैं। यह कुन्दकुन्दान्वय देशीगणके आचार्य सहस्रकीर्तिके प्रशिष्य थे। और सहस्रकीर्तिके पांच शिष्योंमेंसे यह वीरचन्द्रके प्रथम शिष्य थे*। सहस्रकीर्तिके गुरुका नाम श्रुतकीर्ति था और श्रुतकीर्ति श्रीकीर्तिके शिष्य थे। ऊपर जिन दो कृतियों का उल्लेख किया गया है उनके नाम 'कथाकोश और रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' हैं।

कथाकोशमें विविध व्रतोंके अनुष्ठान द्वारा फल प्राप्त करने वालोंकी कथाओंका रोचक ढंगसे संकलन

*सहस्रकीर्तिके पांचों शिष्योंका उल्लेख कथाकोशकी संस्कृत प्रशस्तिमें नहीं है, किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रशस्ति मे निम्नरूपसे पाया जाता है लेकिन उसमें लेखकोंके द्वारा पत्रेमें कुछ अशुद्धि रह गई है, जिससे उनके शिष्योंके सभी नाम ठीक नहीं मालूम होते :—

सिरि चंदुज्जल जस संजायउ। गणमे सहसकित्ति विक्खायउ।
घत्ता—तहो देव इंदि गुरु सीसु हुउ, बीयउ अहो वा मिणि मुणिवीरें
हुउ उदयकित्ती वि तइ, सुहइंदु वि पंचम भणिओ (?)।
जो वरण कमल आयम पुराणु, णाउत्तइं बहु साहम समाणु।
आइरिय महागुण गण समिद्धु, वच्छल्ल महोवहि जय पसिद्धु।
तहो वीरइंदु मुणि पंचमासु, दूरुज्झिय दुम्मइ गुण णिवासु।
सउजगण-महामाणिक्कखाणि, वय सीला लंकिउ दिव्ववाणि।
सिरिचंदु णाम सोहण मुणीसु, संजायउ पंडिय पढम सीसु।
तेणे उ अणेय उद्धरिय धामु, दंसण कह रयणकरंड णामु।
—प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रा०

किया गया है ग्रंथके शुरूमें मंगल और प्रतिज्ञा-वाक्य के अनंतर ग्रंथकारने जो कुछ वर्णन किया है उसमें देह-भोगोंकी असारताको व्यक्त करते हुए ऐंद्रिक सुख को सुखाभास बतलाया है। साथ ही धन यौवन और शारीरिक सौंदर्य वगैरहको अनित्य एवं अस्थिर समझ कर मनको विषय-वासनाके आकर्षणसे हटानेका सुंदर एवं शिक्षाप्रद उपदेश दिया है, और जिन्होंने उसे जीतकर आत्मसाधनाकी है अथवा रत्नत्रयादिको प्राप्त किया है उनकी कथावस्तु ही प्रस्तुत ग्रंथका विषय है।

अणहिलपुरमें प्रसिद्ध सज्जनोंमें उत्तम 'सज्जन' नामका एक श्रावक था जो प्राग्वाट वंशमे उत्पन्न हुआ था, धर्मात्मा मूलराज नृपेन्द्रकी गोष्ठीमें बैठने वाला था। और अपने समयमें धर्मका एक आधारभूत था। उसके 'कृष्ण' नामका पुत्र हुआ, जो गुणरूपी रत्नोंका समुद्र था और धर्म-कर्ममें निरत जनोंमें शिरोमणि तथा दानादि द्वारा चार प्रकारके संघका संपोषक था। इसकी 'राणू' नामकी साध्वी पत्नी थी, जिससे तीन पुत्र और चार पुत्रियां हुई थीं। इसी महा श्रावक कृष्णकी प्रेरणाको पाकर कविवर श्रीचन्द्रने कथाकोश की रचना की है।

दूसरा ग्रंथ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' है, जो वास्तव में स्वामीसमन्तभद्रकी सुप्रसिद्ध 'रत्नकरण्ड' नामकी गंभीर कृतिका विस्तृत व्याख्यान मात्र है। कविने इस आचार-ग्रंथकी रचना करते हुए उसे २१ सन्धियोंमें विभाजित किया है जिसकी आनुमानिक श्लोक संख्या चारहजार चारसौ अट्ठाईस बतलाई गई है। ग्रंथमें उदाहरण रूपसे प्रस्तुत व्यक्तियोंके कथानकोंका भी उल्लेख किया गया है। साथ ही विषयको स्पष्ट करनेके लिये कुछ प्राचीन पद्योंको भी जहाँ तहां उद्धृत किया है×।

ग्रंथमें हरिनन्दि, मुनीन्द्र, समंतभद्र, अकलंक, कुलभूषण, पादपूज्य (पूज्यपाद) विद्यानंदि, अनन्तवीर्य, वरसेण, महामति वीरसेन, जिनसेन, विहगसेन, गुणभद्र, सोमराज, चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त, श्रीहर्ष और कालिदास नामके विद्वानोंका उल्लेख किया गया है।

ग्रन्थको विक्रम संवत् ११२३में कर्णनरेन्द्रके राज्यकालमें वालपुर या श्रीबालपुरमें पूर्ण किया था*।

यह कर्णदेव वही सोलंकी कर्णदेव मालूम होते हैं जो राजा भीमदेवके पुत्र थे और जिनका राज्यकाल प्रबन्ध चिन्तामणिके कर्ता मेरुतुंगके अनुसार सं० ११२० से ११५० तक २६ वर्ष आठ महीना और इक्कीस दिन माना जाता है+। संभव है इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थोंकी रचना भी इन्होंने की हो और उनमें अपना विशेष परिचय भी दिया हो।

तीसरे श्रीचन्द्र वे हैं जो ब्रह्म-श्रुतसागरके शिष्य थे। श्रुतसागरका समय विक्रमकी सोलह वीं शताब्दी निश्चित है। अतः यही समय इन श्रीचंद्रका समझना चाहिये। इन्होंने 'वैराग्यमणिमाला' नामकी एक सप्रति पद्यात्मक रचनाकी है, जो मुमुक्षु जीवोंके लिये अच्छी उपयोगी है, भाषा सरल है और पढनेमें प्रिय मालूम होती है। आपकी यह कृति माणिकचंद ग्रंथमालामें 'तत्त्वानुशासनादि संग्रह' के अन्तर्गत प्रकाप्रकाशित भी हो चुकी है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

×१० वे पत्रकी द्वितीय संधिमें सम्यग्दर्शनकी विशुद्धताका कथन करते हुए निम्नगाथा 'उक्तं च' रूपसे दी है :—

सम्मत्तस्स य सोहा णिद्दिट्ठा पंचवीसमलरहिया।
छड्डायदण-तिमूढा अट्ठमया तइय संकाइं॥

पत्र ५६ पर निम्न पद्य उक्तं च रूपसे दिया है :—

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु।
बारस मिच्छावादे सम्माइट्ठी णुवज्जेई॥ १॥

यह गाथा प्राकृत पंचसंग्रहमे पाई जाती है और विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान पं० आशाधरजीने अपनी अनगार धर्मामृतकी टीकामे इसे उद्धृत किया है।

*एयारह तेवीसा समया विक्कमस्स महीवइणो।
जइया गया हु तइया समाणिए सुंदरं एयं॥
कण्णा णरिंदहो रज्जसु सिरि वालपुरम्मि बुह सिरियंदे।

+अथ सं० ११२० चैत्रवदि ७ सोमे हस्तनक्षत्रे, रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रशस्ति मीनलग्ने श्री कर्णदेवस्य राज्याभिषेक: संजात:। प्रव चिं० ३-८२

सं० ११२० चैत्रसुदि ७ प्रारभ्य सं० ११५० पौष वदि २ यावत् वर्ष २६ मास ८ दिन २१ अनेन राज्ञा राज्यं कृतम्॥ प्रब० चिं०।

क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, 'कोठिया')

[द्वितीय-लेख]

उक्त शीर्षकके साथ मैंने 'अनेकान्त' वर्ष ६ किरण १२ में एक लेख लिखा था और उसके द्वारा प्रो० हीरालालजी एम० ए० के रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत न माननेके मतपर ऊहापोहके साथ विचार किया था तथा यह सिद्ध किया था कि रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र (आप्तमीमांसाकार) की ही रचना है, उसमें न तो दोषके स्वरूप-विषयमें भिन्न अभिप्राय है और न उस के कर्ता रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु (समन्तभद्र) सिद्ध होते हैं, क्यों कि रत्नमाला और उसके कर्ताका समय सोमदेव (११ वीं शताब्दि) के उत्तरवर्ती है जब कि रत्नकरण्ड और उसके कर्ताका अस्तित्व सिद्धसेन (वि० की ७ वीं शताब्दी) और पूज्यपाद (४५० ई०) के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध होता है। यह लेख कितने ही विचारशील विद्वानोंको पसन्द आया। विद्वद्वर्य पं० सुमेरुचन्दजी 'दिवाकर' न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए० एल-एल० बी० सिवनीने तो उक्त लेखको पसन्द करते हुए ता० १३-६-४४ के पत्रमें स्वतः ही मुझे लिखा था—"अनेकान्तमें रत्नकरण्डके बारेमें आपके गवेषणापूर्ण लेखको पढ़ कर बड़ा हर्ष हुआ। ऐसी महत्वपूर्ण रचनाके लिये बधाई है।"

परन्तु प्रो० सा० को वह लेख पसन्द नहीं आया और आपने अनेकान्त वर्ष ७ किरण ३-४ ५-६ और ७-८ में 'रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व शीर्षकसे प्रत्युत्तर देनेका प्रयत्न किया है। यद्यपि मैं उक्त लेखके पहिले भी उनके विलुप्त अध्याय सम्बन्धी निबन्धके एक मुख्य अंशका, जोकि इस निबन्धकी प्रधान आधार-शिला है, उत्तरस्वरूप 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?' इस नामका एक विस्तृत लेख प्रकट कर चुका हूं और इस लिये उसीका प्रो० सा० के द्वारा प्रथमतः प्रत्युत्तर लिखा जाना क्रमप्राप्त एवं न्याययुक्त था। परन्तु पहले उसका उत्तर न देकर मेरे दूसरे लेखका उत्तर यह कारण बतलाते हुए लिखा गया है कि "चूँकि दूसरे लेख का विषय हमारी चिन्तनधारामें अधिक निकटवर्ती है।" किन्तु आपने यह नहीं बतलाया कि आपकी वह चिन्तनधारा कौनसी है ? और उसमें इस लेखसे क्या निकटवर्तित्व है ? वास्तवमें तो मेरे पहिले लेखका विषय ही उनकी चिन्तनधारामें अधिक निकटवर्ती जान पड़ता है जहाँ निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको दो पृथक् व्यक्ति स्पष्ट करके बतला दिया गया है और जिन्हें कि प्रो० सा० ने एक व्यक्ति मानकर विलुप्त अध्यायकी इमारत खड़ी की थी। बहुत सोचने पर भी मैं यह रहस्य नहीं समझ सका। किन्तु जब मैंने अपनी दृष्टि दौड़ाई और पं० फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री तथा उनके बीच हो रही चर्चाकी ओर ध्यान दिया तब मुझे स्पष्ट मालूम होगया कि प्रो० सा० की रीति-नीति ही कुछ ऐसी बन गई है कि वे मुख्य विषयको टालनेके लिये कुछ अप्रयोजक प्रश्न या प्रसंग अथवा गौण बातें प्रस्तुत कर देते हैं और स्पष्ट तथ्यको झमेलेमें डाल देते हैं। अन्यथा, जब उनकी घोषणा है कि उनकी शकाएँ केवल गम्भीर अध्ययनके लिये हैं तो क्या वजह है कि जिनका उत्तर प्रमाणयुक्त एवं ठीक है उन्हें स्वीकार करके आगे नहीं बढ़ा जाता ? मैंने अपनी इस मालूमातको उस समय और पुष्ट एवं सत्य पाया जब कलकत्तामें उनके साथ मौखिक चर्चा हुई और पीछे उनका आश्चर्य-जनक वक्तव्य निकला। मालूम नहीं तत्वचर्चा सम्बन्धी वीतरागकथामें भी इस प्रकारकी अन्यथा प्रवृत्तिको क्यों स्थान दिया जाता है ? और क्यों नहीं सत्यको उदारताके साथ अपनाया जाता ? अस्तु। आज मैं उनके इस प्रत्युत्तर लेखपर भी अपना विचार प्रकट करता हूँ।

सर्व प्रथम प्रो० सा० ने मेरे लेखके उस स्पष्ट तथ्यपर,

जिसे आपने मेरे द्वारा किया गया 'निर्मूल और निराधार आक्षेप' बतलाया है (जो कि वास्तवमें आक्षेप नहीं है, आक्षेप तो तब कहलाता जब वह असत: उद्भावनरूप होता—उसे आप स्वीकार न करते होते और मैं उसे आप पर आरोपित करता), बड़ी सफाईके साथ पर्दा डालनेकी कोशिश की है। और अधिक आश्चर्य तो तब होता है जब उसे यह कहते हुए स्वीकार भी कर लिया है कि 'यद्यपि गवेषणाके क्षेत्रमें नये आधारोंके प्रकाशमें मतपरिवर्तन कोई दोष नहीं है।'' बात बिल्कुल सीधी थी। उन्हें स्पष्टतया यही स्वीकार कर लेना चाहिए था कि हम रत्नकरण्डको पहिले तो स्वामी समन्तभद्रकृत मानते थे, किन्तु अब हम ने अपना वह मत बदल दिया है। लेकिन इस सीधे वक्तव्यको न देकर उन्होंने जो स्पष्टीकरण किया है उसमें वे और आपत्तिमें पड़ गये हैं। आप लिखते हैं :—

'मैंने जो वहाँ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचारको एक प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कहा है वह मैं आज भी मानता हूँ। अब यदि कोई बात और अधिक कही है तो केवल यह कि इस रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्ता स्वामी समन्तभद्र और आप्तमीमांसाके कर्ता स्वामी समन्तभद्र एक ही व्यक्ति नहीं प्रतीत होते।''

पाठकोंके लिये यह स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है कि यहाँ प्रो० सा० दोनों ग्रन्थोंके कर्ता दोनों समन्तभद्रोंको निःसन्देह रूपसे 'स्वामी' मान रहे एवं कह रहे हैं। परन्तु उनका यह मानना और कहना पूर्वापरविरुद्ध है। आपने उल्लिखित विलुप्त अध्यायमें आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्रको ही 'स्वामी' पदसे विभूषित स्वीकार किया है और रत्नकरण्डके कर्ता समन्तभद्रको स्वामीपदोपलक्षित नहीं माना है—उनके साथ तो 'स्वामि' पद पीछे जुड़ गया बतलाया है। जैसा कि आपके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

'दिगम्बरजैन साहित्यमें जो आचार्य स्वामीकी उपाधि से विशेषतः विभूषित किये गये हैं वे आप्तमीमांसाके कर्ता समन्तभद्र ही हैं। इनके पीछेके समन्तभद्र (रत्नकरण्डके कर्ता) के साथ जो 'स्वामि' पद भी जुड़ गया है और पूर्ववर्ती समन्तभद्रका अन्य घटनाओंका सम्पर्क भी बतलाया गया है वह या तो भ्रान्तिके कारण हो सकता है या जानबूझ कर किया हो तो भी आश्चर्य नहीं।''

वास्तवमें हृदयगत जो भाव होता है वह प्रकट हो ही जाता है। आपने अपने प्रस्तुत लेखके अन्तमें यह और भी स्पष्ट तौरपर स्वीकार किया है कि आप्तमीमांसाके कर्ता की तो 'स्वामी' उपाधि थी और रत्नकरण्डके कर्ता 'योगीन्द्र' कहलाते थे—उनकी 'स्वामी' उपाधि नहीं थी। जैसा कि आपके ही निम्न शब्दोंसे स्पष्ट है—

''वादिराजके उल्लेखानुसार श्रावकाचारके कर्ता 'योगींद्र' कहलाते थे और देवागम या आप्तमीमांसाके कर्ताकी उपाधि थी स्वामी' ''। ऐसी हालतमें मेरा यह लिखना कि ''अब मालूम होता है कि प्रो० सा० ने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसी लिये रत्नकरण्डको स्वामी (आप्तमीमांसाकार) समन्तभद्रकी कृति नहीं मान रहे हैं।'' 'निर्मूल और निराधार आक्षेप' नहीं है—वह तो स्पष्ट तथ्य है। हाँ, यदि धवलाकी चतुर्थ पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० १२) तथा 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' शीर्षक निबन्धमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्ताका नामोल्लेख केवल 'समन्तभद्र' या 'योगीन्द्र समन्तभद्र' रूपमें होता—साथमें 'स्वामी' पद न लगा होता तो मेरेद्वारा उक्त उद्धरण प्रस्तुत न किया जाता। पर मजेकी बात तो यह है कि वहां 'स्वामी' पद भी नामके साथमें दिया हुआ है, जिससे प्रो० सा० के अभिमतानुसार एकमात्र स्वामि-उपाधिवाले आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रका उससे बोध होना अस्वाभाविक नहीं है। इतना ही नहीं, रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्र (आप्तमीमांसाकार) कृत कहनेके अभिप्रायसे ही उसे श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध' ग्रन्थ भी बतलाया है। और प्रभाचन्द्रने जो उसे स्वामी समन्तभद्रकी कृति मानकर 'अखिल सागारधर्मको प्रकाशित करने वाला सूर्य' प्रकट किया है उसका कोई विरोध न करके उक्त वाक्यको आपने मान्य रक्खा है। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रके वचनोंका जैनसमाजमें जो प्रभाव एवं मान्यता है उसीके आधारपर अपना विवक्षित लाभ उठाने के लिये ही वहां रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी-आप्तमीमांसाकारकी ही रचना बतलाना प्रो० सा० को स्पष्टतः अभीष्ट था। अन्यथा कोई वजह नहीं थी कि वहाँ वादिराजके उसे 'अक्षयसुखावह' बतलानेका तो उल्लेख किया जाता और उनके ही द्वारा 'योगीन्द्र' कृत कहनेका उल्लेख

न किया जाता—उसे छिपा लिया जाता जिसे अब प्रकट किया जा रहा है ? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि मेरे द्वारा कही गई आपके पूर्वमान्यताको छोड़ देनेकी बात सर्वथा यथार्थ है—वह 'निर्मूल और निराधार आक्षेप' नहीं है। बल्कि आपका लिखना ही पूर्वापरविरुद्ध और असंगत जान पड़ता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

आगे चल कर प्रो० सा० ने मेरे उत्तर लेखके निष्कर्षों को निकालते हुए उन परमें तीन प्रश्न करके अपना विचार उपस्थित किया है। पाठकोंको स्मरण है कि मैंने अपने पूर्व लेखमें यह बतलाया था कि प्रो० सा० का रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्र कृत न माननेमें केवल एक ही हेतु अथवा आपत्ति है और वह यही कि 'उसमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।" मैंने उनकी इस आपत्ति का उस लेखमें सप्रमाण एवं सूक्ष्म समीक्षाके साथ परिहार किया है और स्पष्ट करके यह बतलाया है कि दोषके स्वरूप-सम्बन्धमें रत्नकरण्डकार और आप्तमीमांसाकारका भिन्न अभिप्राय कदापि नहीं है। इसके समर्थनमें मैंने स्वामी समन्तभद्रकी ही प्रसिद्ध रचना स्वयम्भूस्तोत्रपरसे क्षुधादि दोषों और उनके केवलीमें अभावको सिद्ध करने वाले अनेक उल्लेखोंको उपस्थित किया था। प्रसन्नताकी बात है कि उनमेंसे राग, द्वेष, मोहके साथ भय और स्मयके अभावको भी केवलीमें प्रो० सा० ने मान लिया है और इस तरह उन्होंने रत्नकरण्डमें उक्त १८ दोषोंमेंसे पांच दोषोंके अभावको तो स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है और चिन्ता, खेद, रति, विस्मय और विषाद ये प्रायः मोहकी पर्याय विशेष हैं, यह प्रकट है। अतः मोहके अभावमें इन दोषों का अभाव भी प्रो० सा० अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। निद्रा दर्शनावरण कर्मके उदयमें होती है। इस लिये केवली में दर्शनावरण कर्मके नाश हो जानेसे निद्राका अभाव भी प्रो० सा० को अमान्य नहीं हो सकता। विद्यानन्दके अष्टसहस्री गत उल्लेखानुसार स्वेदके अभाव—निः स्वेदत्वको भी आपने अपने प्रस्तुत लेख (देखो, 'अनेकान्त' वर्ष ७ कि० ७ ८ पृ० ६२) में ही प्रायः स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अस्पष्टत ७ दोषोंके अभावको और भी आप मान लेते हैं। अर्थात् आप्तमें ५+७=१२ दोषोंका अभाव मानने में प्रो० सा० को कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती। अब उन का विवाद अथवा प्रश्न केवल क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क (व्याधि) जन्म और अन्तक इन ६ दोषोंपर रह गया है। जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। इन दोषोंके अभाव निदर्शक भी उल्लेख मैंने उसी स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रसे उपस्थित किये थे। इसपर प्रो० सा० कहते हैं—

"न्यायाचार्यजी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनमेंसे तो कोई एक भी ऐसा उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सके जिसमें उक्त मान्यताका विधान पाया जाता हो। यथार्थतः यदि आप्तमीमांसाकारको आप्तमें उन प्रवृत्तियोंका अभाव मानना अभीष्ट था तो उसके प्रतिपादनके लिये सबसे उपयुक्त स्थल वही ग्रन्थ था जहां उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमांसा की है।" यहाँ यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि प्रो० सा० कैसा विलक्षण हेतुवाद उपस्थित करते हैं! क्या मैं उनसे पूछ सकता हूँ कि किसी ग्रन्थकारके पूरे और ठीक अभिप्रायको एकान्ततः उसके एक ही ग्रन्थपरसे जाना जा सकता है? यदि नहीं तो आप्तमीमांसा परसे ही आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रके पूरे अभिप्रायको जाननेके लिये क्यों आग्रह किया जाता है और उनके ही दूसरे ग्रन्थ परसे वैसे उल्लेख उपस्थित किये जानेपर क्यों अश्रद्धा की जाती है? समझमें नहीं आता कि प्रो० सा० के इस प्रकारके कथनमें क्या रहस्य है? वास्तवमें आप्तमीमांसामें आप्तके राग, द्वेषादि दोष और आवरणोंका अभाव बतला देनेसे ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियोंका—लोकसाधारण दोषोंका—अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है[१]।

१ 'आप्तस्वरूप' नामके महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थमें भी जो वीरसेन स्वामी, वाचस्पति मिश्र और विद्यानन्दसे भी पूर्व की रचना है, हमारे इस कथनकी पुष्टि हो जाती है। यहाँ उसके उपयोगी कुछ पद्योंको दिया जाता है:—

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत्॥
नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम्।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये॥
नष्टाः क्षुत्तृड्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम्।
नष्टं भूमिगतस्पर्शं नष्टं चेन्द्रियजं सुखम्॥

उनके अभावको आप्तमें अलग बतलाना अमुख्य एवं अनावश्यक है।

दूसरे, सम्पूर्ण दार्शनिक जगतमें आप्तका स्वरूप अवञ्चकपना अथवा अविसंवादीपना बतलाया गया है। अर्थात्--जिसका उपदेश (वचन) वञ्चना-रहित (युक्ति शास्त्राविरोधी) है वही आप्त है अन्य नहीं, और चूँकि वचना या विसंवाद रागसे, द्वेषसे और मोहसे-अज्ञानसे होता है तथा तीनोंसे ही मिथ्याभाषणका प्रसंग आता है[1]। अतः 'यथार्थवक्ता आप्तः' यथार्थवक्ताको आप्त सबने स्वीकार किया है। आप्तमें राग, द्वेष और मोहका अभाव प्रतिपादन करना भी प्रायः सभी दार्शनिकोंको इष्ट है। बौद्ध दर्शनमें बुद्धको अविसंवादी या अवंचक प्रतिपादन करके ही उन्हें आप्त होनेकी गारंटी दी गई है। स्वामी समन्तभद्र भी दार्शनिक जगतके अन्यतम दार्शनिक थे उन्हें भी अपने महावीर (वीर) को आप्त सिद्ध करना इष्ट था। अतः उन्होंने दृष्टि और अवलम्बन तो रखा आगमिक और पद्धति अपनाई दार्शनिक (तार्किक)। यही कारण है कि समन्तभद्रने दूसरोंकी अपेक्षा एक विशेष बात यह कही कि जहां दूसरे दार्शनिक राग-द्वेषके अभावको परम्परासे आप्तत्वका प्रयोजक कहते हैं और सीधा केवल एक यथार्थवक्तृत्व या अविसंवादित्वको ही आप्तका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं वहाँ समन्तभद्रने जैनागमोंकी मान्यतानुसार वीतरागता, सर्वज्ञताको हितोपदेशित्व (यथार्थवक्तृत्व-युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व) की बराबरीमें ही रख कर तीनोंको जो क्रमविकसित आत्माके असाधारण सर्वोच्च गुण हैं, मिलकर आप्तका स्वरूप प्रतिपादन किया है। समन्तभद्रकी दार्शनिकलोकमें यह सबसे बड़ी विशेषता है और जो मूलतः जैनमान्यता ही है तथा आगमोंमे पाई जाती है। समन्तभद्रने यही विराम नहीं लिया किन्तु आगे चल कर वे वीरभगवानूको वीतराग और सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी सिद्ध करनेके उपरान्त उनके उपदेशोंकी दूसरे दर्शनोंके तथाकथित आप्तोंके उपदेशोंके साथ तुलना करते हुए वीरजिनके उपदेश (अनेकान्तसिद्धान्त स्याद्वाद) को ही युक्तिशास्त्राविरोधी-अविसवादी प्रतिपादित करते हैं। यही वजह है कि आप्तमीमांसामें हमें मुख्यतः दो ही बातोंका विवेचन मिलता है। एक तो सर्वज्ञकी सम्यक् सिद्धिका। दूसरा उनके उपदेश-स्याद्वादकी सम्यक् सिद्धिका। आचार्य महोदय ने इन दोनो बातोंको कारिका ५ मे 'इति सर्वज्ञसंस्थितिः' और उपान्त्य कारिका ११३ में 'इति स्याद्वादसंस्थितिः' शब्दों द्वारा स्वय ही स्पष्ट कर दिया है। तात्पर्य यह कि समन्तभद्रको आप्तमीमांसामें यथार्थवक्तृत्व और उसके जनक वीतरागत्व तथा सर्वज्ञत्वरूपसे ही आप्तके स्वरूपका स्पष्टतः निर्वचन करना इष्ट है। क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियोंके अभावकी सिद्धि तो आप्तमे मोहका अभाव होजानेसे अस्पष्टतः एवं आनुषङ्गिकरूपमें स्वतः हो जाती है। अतः उसके साधनके लिये सीधा प्रयत्न या उपक्रम करना खास तौरसे आवश्यक नहीं है। क्षुधादिप्रवृत्तियां वस्तुतः मोहनीय सहकृत वेदनीयजन्य है। अतएव मोहनीयके बिना केवलीमे वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमे सर्वथा असमर्थ है।

यहाँ मैं वेदनीय और मोहनीयकी पारस्परिक निर्भरता पर कर्मसिद्धान्तव्यवस्थानुसार दो शब्द कह देना भी उचित समझता हूं। प्रो० सा० कर्मसिद्धान्तको व्यवस्था बतलाकर इस बातपर जोर देते हैं कि वेदनीय चूँकि अघाति प्रकृति है और उसका केवलीमें उदय विद्यमान है। अतः वह मोहनीयकी अपेक्षा किये विना ही अपना सुख-दुखवेदनका कार्य करती है। मैंने कार्मिक ग्रंथोंमें जब वेदनीयके सम्बन्धमे कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थापर ध्यान दिया तो वहां मुझे बहुत ही सुन्दर सयुक्तिक विवेचन मिला है,

---

१ नष्टा स्वदेहजा छाया नष्टा चेन्द्रियजा प्रभा।
नष्टा सूर्यप्रभा तत्र सूतेऽनन्तचतुष्टये ॥
क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः।
त्रिजगत्सर्वभूताना दोषाः साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः।
विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥१७॥
संसारो मोहनीयस्तु प्रोच्यतेऽत्र मनीषिभिः।
संसारिभ्यः परो ह्यात्मा परमात्मेति भाषितः ॥१८॥

१ "रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥"
—आप्तस्वरूप, यशस्तिलक।

जो खास ध्यान देने योग्य है । मैं उसे यहां संक्षेपमें प्रस्तुत करता हूं :—

दिगम्बर और श्वेताम्बर सभी कर्मग्रंथोंमें मूल कर्म-प्रकृतियां आठ बतलाई गई हैं और उनकी क्रम व्यवस्था इस प्रकार दी गई—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७ गोत्र और ८ अन्तराय । इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मोंको घातिकर्म कहा गया है और यह बतलाया गया है कि ये जीवके अनुजीवी गुणोंका घातन करते हैं । (देखो, गो० क० गा० ८, ६) तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन शेष चार कर्मोंको अघाति कर्म सूचित किया गया है । मूल कर्मप्रकृतियोंकी इस प्रकारसे क्रम-व्यवस्था करने वाले कर्मसिद्धान्तकारोंसे जब यह पूछा गया कि वेदनीय यदि अघातिप्रकृति है तो उसे अघातियोंके साथ ही परिगणित करना चाहिए ? घातियोंके मध्यमे और वह भी मोहनीयके पहिले उसे क्यों गिनाया ? इसका गूढ रहस्य क्या है ? इस प्रश्नका जो महत्वपूर्ण खुलासा कर्मसिद्धान्तके व्यवस्थापकोंने किया है वह इस प्रकार है :—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं ।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ।।
—गो० क० १६ ।।

अर्थात्—वेदनीयकर्म मोहनीयकी सहायतासे घातिया कर्मोंकी तरह जीवके गुणोंका घातन करता है इस लिये वेदनीयको घातिकर्मोंके मध्यमें और वह भी मोहनीयके पहिले रखा गया है । वास्तवमें वेदनीय राग-द्वेष जन्य इष्टानिष्टबुद्धिसे सहकृत होकर सुख-दुखका वेदन कराता है। अत वह अपने सुखदुखोत्पादनरूप कार्यमें मोहनीय सापेक्ष है । यह इस गाथासे भले प्रकार प्रकट होजाता है । इस व्यवस्थासे ही हमें समझ लेना चाहिए कि वेदनीय को मोहनीयके पहिले कहनेका कर्मसिद्धान्तकारोंका यही अभिप्राय रहा है । अतएव केवलीमे अकेले वेदनीयका उदय विद्यमान रहनेसे क्षुधादि वेदनाओंका उत्पादन नहीं हो सकता है ।

न्यायका सर्वमान्य सिद्धान्त भी है कि 'सामग्री-जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्' अर्थात हरेक कार्य सामग्री (अनेक कारणों) से होता है, अकेले एक कारणसे नहीं । इसी कार्योत्पत्तिके सामान्य नियमपर प्रसिद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित[1] और वाचस्पतिने[2] भी विशेषतः जोर दिया है । यदि प्रो० सा० ने कार्योत्पत्तिके इस नियमपर अब तक ध्यान न दिया हो तो वे कृपया अवश्य दे लें । इस लिये आप्तमीमांसामें मोहनीयका अभाव प्रतिपादन करनेसे ही क्षुधादि दोषोंके अभावका भी प्रतिपादन होजाता है ।

तीसरे, कोई भी ग्रन्थकार इसके लिये बाध्य नहीं होता कि वह अमुक विषयक ग्रन्थमें ही अमुक विषयका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करे अथवा मुख्य और अमुख्य फलित और अफलित सभी तरहका प्रतिपादन करे । यदि ऐसा हो तो विद्यानन्द स्वामी[3] आप्तमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावके पक्के समर्थक और पोषक थे । स्वयं प्रो० सा० के शब्दोंमें 'वे केवलीमे क्षुधादिवेदनाओंके अभाव सम्बन्धी मतके प्रबल पोषक थे ।' और उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके लिये ' आप्तपरीक्षा ' नामका महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है तथा उसपर स्वयं ही 'आप्त-परीक्षालंकृति' नामकी सुन्दर टीका भी गद्यमें लिखी है । तब उन्होंने भी वहां क्यों नहीं उसके मूलभागमे अथवा टीकाभागमे क्षुधादिके अभावरूपसे आप्तके स्वरूपका प्रतिपादन किया ? असलमें बात यह है कि क्षुधादि प्रवृत्तियों का अभाव घातिकर्मजन्य अतिशय है[4] जो केवलज्ञानादिके अतिशयोंमें है । अतः वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिताका (युक्तिशास्त्राविरोधी वाक्त्वका) प्रतिपादन करनेसे उन लोकोत्तर अतिशयोंका-क्षुधादिके अभावका प्रतिपादन भी अनुषङ्गतः हो जाता है । इस लिये आप्तमीमांसाकार आप्तमीमांसामे ही क्षुधादि प्रवृत्तियोंके केवलीमें अभावको कण्ठतः बतलानेके लिये बाध्य नहीं हैं । जैसा कि हम

१-२ "न किञ्चिदेकमेकस्मात्सामग्र्या सर्वसम्भवः ।
एकं स्यादपि सामग्र्योरित्युक्तं तदनेककृत् ।।"
—वादन्यायटी० पृ० ३६, भामती पृ० ४५४ ।

३ देखो, तत्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४६२ ।

४ "अथ यादृशो घातिक्षयजः स (विग्रहादिमहोदयः—निःस्वेदत्वादिः अतिशयः) भगवति न तादृशो देवेषु येनानैकान्तिकः स्यात् ..."—
—अष्टस० आप्तमी० का० २ ।

आप्तमीमांसाकी तरह विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षामें भी देखरहे हैं। चौथे विद्यानन्दके[1] उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसा आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके जिस 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मङ्गलश्लोकपर रची है उसमें वीतरागत्वादि तीन ही असाधारण बातोंका मुख्यतः और लक्षणरूपसे प्रतिपादन है। अतः इन्ही तीन असाधारण गुणोंको आप्तमीमांसामें आप्तकी स्वरूपकोटमें प्रविष्ट किया गया है। उसीका अनुसरण विद्यानन्दने किया है और आप्तके स्वरूप प्रतिपादनार्थ आप्तपरीक्षा लिखी है। दोनों ही ग्रन्थकर्ताओंका यह आशय कदापि नहीं है कि आप्तमें उन्हें क्षुधादि प्रवृत्तियोंकाअभाव अस्वीकृत हो। सिर्फ उनके अभावप्रतिपादनकी मुख्यतः अविवक्षामात्र है। इसके कारणकी भी जब हमने खोज की तो आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षामे उपलब्ध होगया। अर्थात् दोनों ही आचार्य आप्तके स्वरूपमें ऐसे विशेषणोंको हो परीक्षाप्रधानियों-युक्ति-हेतुसे आप्तको सिद्ध करनेवालों (नकि आज्ञाप्रधानियों) को दृष्टिसे रखकर देना चाहते हैं जो दूसरोंके द्वारा माने गये आप्तों (आप्ताभासों)—देवों, कपिल, महेश्वरादिकोंमें अनाप्तत्वका विधान और आप्तत्वका व्यवच्छेद करके वीर जिनके ही आप्तपनेकी सिद्धि करते हैं[1]।

प्रो० सा० ने जो ढंग अख्तियार किया है उस परसे यह आशंका होती है कि यदि आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओंमें भी केवलीमें क्षुधादिके अभावको माननेका आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय बतला दिया गया और सप्रमाण सिद्ध कर दिया गया तो प्रो० सा० उसे मानेंगे या नहीं, सन्तुष्ट हो सकेंगे या नही? और अपना मत बदलेंगे या नहीं? परन्तु आशंका करके हम अपने कर्तव्य-पालनमें शिथिल होना नही चाहते, प्रो० सा० का मानना न मानना, सन्तुष्ट होना न होना उनके आधीन है। हमें तो विचार क्षेत्रमे अपने कर्तव्यको पूरा करना ही चाहिए। अतः मैं आप्तमीमांसा और उसकी टीकाओंपरसे भी आप्तमीमांसाकार और टीकाकारोंका आप्तमें क्षुधादिके अभावको माननेका अभिप्राय उपस्थित करता हूँ :—

आप्तमीमांसाकी पहली कारिका निम्न प्रकार है :—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

अर्थात्—'देवोंका आना, आकाशमें चलना, चामरोंका ढुरना आदि विभूतियाँ तो भगवानकी तरह विद्या मंत्रादिसे उन विभूतियोंको दिखानेवाले मायावियों—मस्करी-आदि धर्मप्रवर्तकोंमे भी देखी जाती हैं। अत मात्र इन विभूतियोंसे ही आप हमारे (परीक्षाप्रधानियों-तार्किकोंके) बड़े नहीं हैं।' अकलङ्क, विद्यानन्द और वसुनन्दि तीनों ही टीकाकारोंका इस विषयमें एक ही आशय है और वे सब देवागमादिकको आगमाश्रय बतलाते हैं। अर्थात्—आज्ञाप्रधानी—आगमवादी (कुन्दकुन्दादि) भले ही देवागमादिको परमात्मा का चिन्ह मानें, पर युक्ति-हेतुसे परमात्माको सिद्ध करनेवाले हम युक्तिवादी-परीक्षाप्रधानी मात्र देवागमादिको हेतु नहीं बना सकते हैं, क्योंकि देवागमादि विभूतियाँ मायावियोंमें पायी जानेसे व्यभिचारी हैं। मूलकारिका और उसके व्याख्यानसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां उन्हीं आगमोक्त विभूतियों—कतिपय अतिशयोंका प्रतिपादन किया गया है जो अरहन्तके ३४ अतिशयोंमें प्रतिपादित है और जिनका आप्त-भगवानमें अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः देवोंका आना आदि विभूति—अतिशय यद्यपि भगवान मे मौजूद है पर दूसरों—अनाप्तोंमे भी पाया जा सकनेसे वह अन्ययोव्यवच्छेदपूर्वक परमात्मा (आप्त) का ज्ञापक चिन्ह (व्यावर्तकलक्षण) नहीं है। उपलक्षण मात्र है। यह बात इस कारिका और उसके व्याख्यानमें प्रकट की गई है। अब आप्तमीमांसाकी दूसरी कारिकाको गौरसे देखे जो इस प्रकार है :—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

इस कारिकामें कहा गया है कि 'अन्तरंग और बहिरंग यह शरीरादिका अतिशय भी, जो कि दिव्य है—चक्रवर्त्यादिकोंमे भी नहीं पाया जाता है (अमानुषीय है) और सत्य

१ देखो, आप्तमीमांसाका० १ व २ की अकलंक तथा विद्यानन्दकी टीका और
'इत्यसाधारणं प्रोक्तं विशेषणमशेषतः। परसंकल्पिताप्ताना व्यवच्छेदप्रसिद्धये"। आप्तपरीक्षाश्लोक ३।

१ 'चउसट्ठिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो'
—दर्शनप्रा० गा० २६

है—मायावियों (पूरणकश्यपादिकों) में भी असंभव है अर्थात् वे भी उसे विद्या, मन्त्रादिसे प्रकट करनेमें असमर्थ हैं, रागादिमान् देवोंमें भी पाया जाता है। अतः इस शरीरादि महोदय—अतिशय द्वारा भी आप हमारे (तार्किकोंके) महान्—बड़े (आप्त) नहीं हैं।' टीकाकार आ० विद्यानन्द इस कारिकाके व्याख्यानमें क्या कहते हैं ? सो भी देखिये.—

"आत्मानमधिश्रित्य वर्त्तमानोऽध्यात्ममन्तरङ्गो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः परानपेक्षत्वात्। ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरङ्गो देवोपनीतत्वात्। स च सत्यो मायाविष्वसत्वात्। दिव्यश्च मनुजेन्द्राणामप्यभावात्।"

यहाँ विद्यानन्द 'अन्तरंग विग्रहादिमहोदय' का अर्थ 'शश्वन्निःस्वेदत्वादिः' अर्थात् शरीरमें कभी पसीना न आना आदि अतिशयोंका प्रकट होना सूचित करते हैं, क्योंकि इनमे परकी अपेक्षा नहीं होती। और बहिरंग महोदयका अर्थ 'गन्धोदकवृष्ट्यादिः' अर्थात् गन्धोदककी वर्षा होना आदि बाह्य चमत्कारोंका होना बतलाते हैं; क्योंकि वे देवों के द्वारा किये जाते हैं। विद्यानन्दने अन्तरंग महोदयका 'निःस्वेदत्वादि' और बहिरंग महोदयका 'गन्धोदकवृष्ट्यादि' अर्थ करके और दोनो ही जगह 'आदि' शब्दको दे करके उन आगमोक्त अतिशयोंको बतलाया जान पड़ता है जो केवलीमें कुछ तो जन्मसे और कुछ केवल ज्ञान होनेमें (घातिकर्मक्षयसे) तथा कुछ देवोंके निमित्तसे प्रकट होते हैं। वे हैं – शरीरमे कभी पसीना न आना, कवलाहारका न होना, बुढ़ापा नहीं होना, गन्धोदककी वर्षा होना, आदि आदि। ये अतिशय पूरणकश्यप आदि मतप्रवर्तकों—मायावियोंमें न होनेपर भी अक्षीणकषायी स्वर्गवासी देवों मे विद्यमान हैं। लेकिन देव आप्त नहीं हैं। अतः इन अतिशयोंसे भी आप्तताका निर्णय नहीं किया जा सकता है। यहाँ आ० विद्यानन्दने एक बहुत ही महत्वपूर्ण शंका-समाधान प्रस्तुत किया है जिससे प्रकृत विषयका निर्णय और विद्यानन्दका अभिप्राय और भी स्पष्टतया मालूम होजाता है। वे शंकाकार बनकर कहते हैं कि "अथ यादृशो घातिक्षयजः स भगवति न तादृशो देवेषु येनानैकान्तिकः स्यात्। दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स, नैवातोऽतीति व्याख्यानादभिधीयते" अर्थात् 'जैसा घातिया-कर्मक्षय-जन्य वह निःस्वेदत्वादि आभ्यन्तर महोदय और गन्धोदककी वृष्टि आदि बाह्य महोदय भगवान्में पाया जाता है वैसा देवोंमें नहीं है उनके तो घातिया कर्म मौजूद हैं। अतः हेतु अनैकान्तिक नहीं है। और इस लिये यह महोदय आप्तपनेका निर्णायक हो सकता है।' इसका वे उत्तरकार बनकर उत्तर देते हैं—तथाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत्।' अर्थात् उक्त प्रकारसे व्यभिचार वारित होजानेपर भी हेतु आगमाश्रय है पहिलेकी तरह। अर्थात् वह आगम की अपेक्षा लेकर ही साध्य-सिद्धि कर सकेगा। क्योंकि आगममे ही निःस्वेदत्वादि महोदयको घातियाकर्मक्षयजन्य बतलाया गया है। इससे हम इस निष्कर्षपर सहजमें पहुँच जाते हैं कि आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकार विद्यानंद का केवलीमें क्षुधादिके अभाव मानने व प्रतिपादन करनेका स्पष्ट अभिप्राय है। अन्यथा विद्यानन्द निःस्वेदत्वादिको 'घातिक्षयजः' कदापि न कहते और न उसके साथ आदि शब्दका प्रयोग ही करते। आप्तमीमांसाकारका दोनों जगह प्रयुक्त 'आदि' शब्द भी उपेक्षणीय नहीं है। जब मैंने आप्तमीमांसाकी आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिकदेवकृत टीकाको भी देखा तो मुझे वहाँ क्षुधादिके अभावका प्रतिपादन शब्दशः मिल गया जो इस प्रकार है.—

"आत्मनि अधि अध्यात्मं। स अन्तः। क्षुत्पिपासाजरारुजापमृत्य्वाद्यभाव इत्यर्थः बहिरपि काह्योऽपि। एषः प्रत्यक्षनिर्देशः। विग्रहो दिव्यशरीरमादिर्येषां, निःस्वेदत्व-निर्मलत्व-अच्छायत्वादीनां तानि विग्रहादीनि तेषां तान्येव वा महोदयः, विभूतिः पूर्वावस्थाया अतिरेकोऽतिशयो वा विग्रहादिमहोदयः अमानुषातिशय इत्यर्थः।"

यहाँ आ० वसुनन्दिने केवलीमे भूख, प्यासादिकके अभावका स्पष्ट कथन किया है। परन्तु वह रागादिमान् अक्षीणकषायी) देवोंमें भी पाया जानेसे हेतु अथवा लक्षण नहीं है। विद्यानन्दके 'निःस्वेदत्वादि' शब्दमें पड़े 'आदि' पदसे सूचित होने वाले निर्मलत्व मलका नहीं होना, अच्छायत्व—छायाका नहीं पड़ना आदिका ग्रहण भी उन्होंने बतलाया है। कारिका ६ की वृत्तिमें तो उन्होंने 'निर्दोष' पदका अर्थ स्पष्टतया क्षुधादि रहित भी किया है। यथा—"निर्दोषः अविद्यारागादिरहितः क्षुधादिरहितो

या अनन्तज्ञानादिसम्बन्धेन इत्यर्थः।"

ऐसी हालतमें यह कहना कि आप्तमीमांसामें अथवा उसकी टीकाओंमें क्षुधादिप्रवृत्तियोंके अभावका प्रतिपादन नहीं है। इस उपर्युक्त संपूर्ण विवेचनका पर्यवसितार्थ यह हुआ कि आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकारोंने आप्तमीमांसा कारिका २ में आप्तमें क्षुधादिके अभावको स्वीकार किया है। परन्तु खाना नहीं खाना, पानी नहीं पीना, पसीना नहीं आना आदि ये आप्तकी कोई खास विशेषताएँ नहीं हैं, क्योंकि वे रागादिमान देवोंमें भी हैं। अतः इन विशेषताओंमें भी सबसे बड़ी सर्वोच्च एवं साधारण विशेषता–रागादिरहितता है वह जिसमें पाई जाती है अर्थात् जिसने सब अनर्थोंकी जड़ और संसारके कारणभूत अविद्या तृष्णा, रागादिको भी नष्ट कर दिया है वही आप्त है–महान् है, स्तुत्य है, वन्दनीय है, देवाधिदेव है, लोकोत्तर अमानुषीय है। जैसा कि स्वामी समन्तभद्रने स्वयं ही कहा है—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीदतः॥

—स्वयम्भू ७५

यहां अब मैं इतना और कह देना चाहता हूँ कि रत्नकरण्ड (श्लोक ५) मे आप्तका स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमांसाकी ही तरह 'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण' इत्यादि किया है। हां आप्तके उक्त स्वरूपमें आये 'उच्छिन्नदोष' के स्पष्टीकरणार्थ जो वहां 'क्षुत्पिपासा' आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण–रागद्वेषादिके अभाव और उपलक्षण[१]–क्षुधादिके अभाव दोनोंको 'उच्छिन्नदोष' के स्वरूपकोटिमें प्रविष्ट किया गया है। यद्यपि 'रागद्वेषमोहाः यस्य न सन्ति स आप्तः' इतना ही लक्षण पर्याप्त है, स्वतः सिद्ध क्षुधाद्यभावको भी स्वरूपमें देना अनावश्यक है तथापि दोष और दोषजन्य उन प्रवृत्तियोंके अभावको भी आप्तमें ग्रन्थकार बतला देना चाहते हैं जिनसे सारा ही संसार उत्पीडित है (इदं जगज्जन्मजरांतकार्तं–स्वयम्भू० १२) और जिनके लिये ही सारे दुःखोंको उठाया जाता है। तात्पर्य यह कि आप्तमीमांसामें जहाँ दोष और उनके कारण आवरणादिकी रहितताको वीतरागका स्वरूप बतलाया है वहां रत्नकरण्डमें दोष (रागादि) और दोषोंके कार्य क्षुधादिकी रहितताको वीतरागका स्वरूप प्रकट किया है। रत्नकरण्डमें दोषसे भिन्न आवरणोंको नहीं बतलाया गया है। वास्तवमे दोष ही स्वयं आवरण हैं क्योंकि वे आत्माके गुणोंको प्रकट नहीं होने देते। यही कारण है कि आप्तमीमांसामे भट्टाकलङ्कदेव और विद्यानन्द स्वामीने दोषोंको ही आवरण बतलाया है और चूँकि कारिकामें 'दोषावरणयोः' ऐसा द्विवचनका प्रयोग किया गया है। अतः उसकी सार्थकता प्रकट करनेके लिये भावकर्मोंको दोष और द्रव्यकर्मोंको आवरण सूचित किया है और यह स्वयं आप्तमीमांसाकारके भी अनुकूल है। अतएव उन्होंने अगली कारिकामे 'स त्वमेवासि निर्दोषो' कहकर केवल 'निर्दोष' पद रखा है आवरणको छोड दिया है। अन्यथा—दोषोंमे आवरणोंको सर्वथा भिन्न प्रतिपादन करनेकी हालत में 'निर्दोषावरणः' जैसा कोई प्रयोग अनिवार्य था। अतः उपर्युक्त विवेचनके प्रकाशमें यह प्रकट है कि आप्तमीमांसामें भी क्षुधादिप्रवृत्तियोंके अभावका प्रतिपादन अन्तर्निहित है—उसे सर्वथा छोडा नहीं गया। और इस लिये यह कहना किसी तरह भी उचित नहीं हो सकता कि स्वामी समन्तभद्रको आप्तमे क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव प्रतिपादन करना इष्ट नहीं था।

---

१ लक्षण और उपलक्षणमें इतना ही अन्तर है कि लक्षण तो लक्ष्यमें व्याप्त होता हुआ अलक्ष्यका पूर्णतः व्यावर्तक होता है। परन्तु उपलक्षण लक्ष्यके अलावा तत्सदृश दूसरी वस्तुओंका भी बोध कराता है। वह लक्ष्यमें पूर्णतः व्याप्त रहता हुआ अलक्ष्यका नियतसे व्यावर्त्तक नहीं होता। अतएव उपलक्षणरूपसे अभिमत वस्तु केवल लक्ष्यके स्वरूपका कुछ अनियत रूपसे बोध कराती है। इतरसे सर्वथा व्यावृत्ति नहीं कराती। देखो, न्यायकोश पृ० १७०–१७३। तथा संक्षिप्त हिन्दीशब्दसागर पृ० १५०। इसीसे रत्नकरण्डमें केवलक्षुधादिके अभावको ही आप्तका स्वरूप प्रतिपादन नहीं किया। रागादि सहितको ही बतलाया है।

अब हम उन ६ दोषोंके सम्बन्धमें भी विचार कर लेना चाहते हैं जिनके विषयमें ही अब प्रो०सा०का प्रश्न रह गया है। जैसाकि आप स्वयं लिखते हैं—"अब प्रश्न रह जाता है केवल क्षुधा पिपासा, जरा, आतङ्क (व्याधि), जन्म और अन्तक (मृत्यु) का। ये दोष उन शेष कर्मों द्वारा उत्पन्न होते हैं जिनका केवलीमें सत्व और उदय दोनों वर्तमान रहते हैं; अतएव इनका उनमें अभाव माननेमें एक सैद्धान्तिक कठिनाई उपस्थित होती है।"

प्रो० सा० के इस कथनपरसे और खासतौरसे उनके द्वारा प्रयुक्त हुए 'केवल' शब्दके प्रयोगसे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि रत्नकरण्डमें कहे गये उन १८ दोषोंमेंसे आप्तमें राग-द्वेषादि १२ दोषोंका अभाव स्वीकार करनेमें आपको कोई आपत्ति नहीं रही। केवल क्षुधा, पिपासा आदि उपर्युक्त ६ दोषोंका उनमें अभाव माननेमें ही उन्हें कुछ सैद्धान्तिक कठिनाई नज़र आरही है। अतः मैं इन ६ दोषोंके अभावपर भी विशेष विचार प्रस्तुत करता हूं।

मैंने केवलीमें जन्म, आतङ्क (व्याधि) और मरण इन तीन दोषोंका अभाव प्रमाणित करनेके लिये स्वयम्भूस्तोत्र का निम्न पद्य उपस्थित किया था -

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वर-सखा सदा ।
त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥६३॥

इस पद्यमें कहा गया है कि 'हे जिन ! जन्म और ज्वर जिसके मित्र हैं और जो मनुष्योंको सदा रुलाने वाला है वह अन्तक-मरण अन्तकका अन्त-नाश करनेवाले आपको पास होकरके अपने कामकार-यथेच्छ व्यापार (प्रवृत्ति) से व्यावृत्त हो गया अर्थात् अन्तक आपको अन्तकान्तक जान कर जन्म और ज्वर मित्रों सहित अलग होगया।'

स्पष्टतः इस पद्यपरसे मर्मज्ञ विद्वान् केवलीमें मरण, जन्म और ज्वर (रोग) इन तीन दोषोंका अभाव-प्रतिपादन प्रमाणित कर सकते हैं। परन्तु प्रो० सा०ने इस पद्यका जो भावार्थ प्रस्तुत किया है वह इस प्रकार है—"जन्म, ज्वर और मृत्यु जिस प्रकार साधारण लोगोंको व्याकुल करते और रुलातेहैं उस प्रकार वे आपको नहीं रुला पाते। आते तो वे आपके पास भी हैं, पर वे अपनी मनमानी करनेमें अर्थात् राग-द्वेष भाव उत्पन्न करने में सफल नहीं होते।"

प्रो० सा०के इस भावार्थको पढ़कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। जब वे इतने सीधे पद्यका अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिये इच्छानुकूल भावार्थ करते हैं तो उन पद्योंका अर्थ या भावार्थ इच्छानुकूल निकालनेमें भी उन्हें शायद संकोच नहीं हो सकता जो कि गूढ, गम्भीर और सूत्रात्मक हैं। उक्त पद्यका अर्थ और भावार्थ क्या है ? प्रो० सा०ने जो भावार्थ निकाला है वही उसका भावार्थ है ? अथवा मैंने जो प्रमाणित किया है कि 'यहां (इस पद्यमें) *अन्तक-मरण और उसके साथी जन्म और ज्वर (रोग) इन तीन दोषों* का अभाव बतलाया गया है।' यह ठीक है ? इसका निर्णय मर्मज्ञ विद्वान् स्वयं कर सकते हैं। मैं यहां इतना और बतला देना चाहता हूं कि मेरे उक्त कथनकी पुष्टि स्वयं स्वामीसमन्तभद्रके इसी स्वयम्भूस्तोत्रगत निम्न दूसरे उल्लेखोंसे और अच्छी तरह होजाती है:—

१–'तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः' (८५)
२–'त्वमुत्तमज्योतिरजः क निर्वृतः' (४०)
३–'त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं ।
समूलं निर्भिन्नं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी ॥' ११७
४– 'शान्तज्वलधिरभवो विभवस्त्वमसि ष्टनेमिजिन - कुञ्जरोऽजरः।' (१२३)

इन उल्लेखोंमेंसे पहले तीन उल्लेखोंमें केवलीके जन्मका अभाव और चौथे उल्लेखमें 'जरा' का अभाव स्पष्टतया बतलाया गया है। 'अन्तकान्तक' पदके द्वारा मरण का अभाव प्रतिपादित हो ही जाता है। इन उल्लेखोंके ही प्रकाशमें मेरे उन दो उल्लेखों—'जन्म-जरा-जिहासया (४६) और 'ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै'(८१)को भी देखना चाहिए जिनके बारेमें मैंने यह स्पष्ट करते हुए कहा था कि "इनमें जन्म, ज्वर और मरण तो पहले आगये। 'जरा' का भी अभाव बतलाया गया है। यहां 'जिहासा' और 'उपशान्ति' शब्दोंसे केवली अवस्था पानेपर अभाव ही विवक्षित है।" जब मैंने 'जन्म-जरा-जिहासया' इस ४६वें पद्यके आगेका 'त्वमुत्तमज्योतिरजः क निर्वृतः' यह ५०वां पद्य देखा तो वह मेरी वह विवक्षा मिल गई जहां स्पष्टतः केवली अवस्था प्राप्त करने (त्वमुत्तमज्योतिः) के साथ ही 'अजः' पदका प्रयोग करके ग्रन्थकारने उनके जन्मका अभाव-प्रतिपादित किया है।

यहां एक बड़े महत्वकी बात यह है कि प्रो० सा० के

अभिमत स्वामी समन्तभद्र-निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने भी अपनी आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ६३१ में भगवान् महावीरको केवली हो जानेपर जन्म, जरा और मरण इन तीन दोषोंसे रहित प्रकट किया है। यथा —

'आभट्ठो य जिणेणं जाइ-जरा-मरण-विप्पमुक्केणं।'

निर्युक्तिकार भद्रबाहुने ग्यारहों गणधरोंकी शङ्काओंके निवारक भगवान् महावीरको अनेक जगह इसी प्रकार 'जन्म, जरा और मरण' रहित बतलाया है। सबको वहींसे देख लें।

इस तरह स्वयं स्वामीसमन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रगत उल्लेखोंपरसे केवलीमें स्पष्टतः जन्म, जरा, ज्वर और मरण इन चार दोषोंका अभाव प्रतिपादित एवं समर्थित होजाता है।

अब रह जाते हैं केवल क्षुधा और तृषा ये दो दोष, सो प्रथम तो अब उनका कोई महत्व नहीं, दूसरे, उनका अभाव प्रतिपादनार्थ मैंने स्वयम्भूस्तोत्रका 'क्षुधादिदुःख-प्रतिकारतः स्थितिर्न' आदि १८ वां पद्य उपस्थित किया ही था और उसपरसे यह कहा था कि क्षुधादि वेदनाओंके प्रतिकारसे न शरीरकी स्थिति है और न आत्माकी'। जब यह सामान्यजनोके लिये उपदेश है तब यह स्वयं सिद्ध होजाता है कि केवली भगवान इनसे रहित होचुके हैं— उन्हें न तो भूख-प्यासकी वेदना होती है और न उसके दूर करनेके लिये भोजन-पानादिको ग्रहण करते हैं। अन्यथा उनका यह उपदेश केवल 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' कहलायेगा। अतः इस पद्यका फलित यही है कि केवलीके क्षुधा और तृषाकी वेदना नहीं होती। तीसरे, केवलीके जब अनन्त सुख सर्वदा मौजूद है ('शर्मशाश्वतमवाप शङ्करः') तब उनके वेदना हो भी कैसे सकती है ? मैंने पूर्व लेखमें यह कहा था कि स्वयम्भूस्तोत्रमें दोषका स्वरूप वही समझाया है जो रत्नकरण्डमें है' इस मेरे कथनपर आश्चर्य व्यक्त करते हुए प्रो० सा० लिखते हैं कि "रत्नकरण्डके छठवें और स्वयम्भू-स्तोत्रके १८वें पद्यमें यदि कोई साम्य है तो केवल इतना ही कि दोनों पद्य 'क्षुत्' शब्दसे आरम्भ होते हैं। पर उनके अर्थमें आकश-पातालका अन्तर है"। आप यह भूल जाते हैं कि स्वयम्भूस्तोत्रमें 'आदि' शब्दका प्रयोग निहित है और जिसके द्वारा टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य पिपासादिकका ग्रहण बतलाते हैं। यद्यपि रत्नकरण्डमें सीधे तौरसे ही उनका अभाव बतलाया गया है किन्तु स्वयम्भूस्तोत्रमें इस पद्यके द्वारा देह और देही दोनोंके लिये क्षुधादिप्रति-कारकी अनुपयोगिता बतलाकर संसारी जनोंमें सद्भाव और केवलीमें प्रकारान्तरसे उनका अभाव सूचित किया गया है। यदि प्रो० सा० ने 'क्षुत्' शब्दके साथ लगे 'आदि' शब्दकी ओरसे उपेक्षा न की होती तो इस पद्य और रत्नकरण्डके पद्यके अर्थमें सर्वथा आकाश पातालका अन्तर न बतलाते।

केवलीमें क्षुधादिका अभाव समर्थनार्थ स्वयम्भूस्तोत्र का ही एक दूसरा ७५ वाँ पद्य यह कहते हुए मैंने प्रस्तुत किया था कि 'भोजनादि करना और इन्द्रियविषयसुखोंका अनुभवन करना तो मनुष्यका स्वभाव है, मनुष्य-स्वभावसे रहित केवली भगवान्का नहीं वे उस स्वभावसे सर्वथा छूट चुके हैं, और परमोच्च अलौकिक अवस्थाको प्राप्त होचुके हैं। मनुष्य और केवलीको एक प्रकृतिका क्यों बतलाया जाता है ? स्वय स्वामी समन्तभद्र क्या कहते हैं ? देखिये —' और अन्तमें दोनों पद्योंपरसे यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया था'—इससे यह निर्विवाद प्रकट है कि समन्तभद्र आप्तको क्षुधादिदोषरहित मानते हैं।' परन्तु प्रो० सा० को यह मेरा कथन 'निरी कल्पना' जान पड़ा है और इस ७५ वें पद्यमें 'केवलीके क्षुधादि वेदनाओंके अभावके प्रतिपादनकी लेश मात्र भी संभावना न पाई जानेका उल्लेख करते हैं। मैं इस सम्बन्धमें अधिक कुछ न कहकर इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि यह मेरी 'निरी कल्पना' नहीं है। इस बातको कौन अस्वीकार कर सकता है कि कवलाहारादि करना मानवप्रकृति है ? रोग होना, बुढ़ापा आना, मरण होना, जन्म लेना आदि ये सब तुच्छ प्रवृत्तियाँ मनुष्यकी हैं ? फिर केवलीने तो इस मानवप्रकृतिको अतिक्रान्त कर दिया है। यहां तक कि वे देवताओंमें भी देवता हैं अर्थात उनके भी ऊँचे हैं, अत एव केवली परम देवता हैं। इस भावको ही मैंने स्वयं स्वामी समन्तभद्रके स्वयम्भूस्तोत्रगत 'मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्' इत्यादि पद्यद्वारा प्रकट किया था।

इस पद्यको ही आधार बना कर पूज्यपादके उत्तरवर्ती और अकलंकदेवके पूर्ववर्ती पुरातनाचार्य पात्रस्वामी अपने पात्रकेशरी स्तोत्रमें निम्न प्रकार कहते हैं :—

अनन्यपुरुषोत्तमो मनुजतामतीतोऽपि स

मनुष्य इति शस्यसे त्वमधुना नरैर्बालिशैः ।
क्व ते मनुजगर्भिता क्व च विरागसर्वज्ञता
न जन्म-मरणात्मता हि तव विद्यते तत्वतः ।२५।
स्वमातुरिह यद्यपि प्रभव इष्यते गर्भतो
मलैरनुपसंप्लुतो वरसरोजपत्रेऽम्बुवत् ।
हिताहितविवेकशून्यहृदयो न गर्भेऽप्यभूः
कथं तव मनुष्यमात्रसदृशत्वमाशङ्क्यते ? ।२६।
न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतमानुषस्येव ते
मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत्
जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्ततः ।
प्रभृत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ्मृतेः ।। २७ ।।

पात्रस्वामीके निम्नपद्यको भी दे देनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता जहां जिनेन्द्रमें क्षुधादिका अभाव स्फुटतया प्रदर्शित किया गया है—

प्रसन्नकुपितात्मनां नियमतो भवेद्दुःखिता ।
तथैव परिमोहिता भयमुपद्रुतिश्चामयैः ।
तृषाऽपि च बुभुक्षया च न च संसृतिश्छिद्यते ।
जिनेन्द्र भवतोऽपरेषु कथमाप्तता युज्यते ।३४।

अतः स्वयम्भूस्तोत्रके उक्त ७५ वें पद्यमें जो मैंने क्षुधादि दोषोंके अभावका कथन किया है वह मेरी 'निरी कल्पना' नहीं है । वह तो पूर्वाचार्यपरम्परागत प्रतिपादन है।

यहां मैं एक खास बातका और उल्लेख कर देना चाहता हूँ जो ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्वकी है । वह यह कि श्वेताम्बर परम्पराके प्रसिद्ध और प्रमुख आचार्य निर्युक्तिकार भद्रबाहुने जिन्हें हमारे प्रो० सा० आप्तमीमांसा के रचयिता स्वामी समन्तभद्र बतलाते हैं, अपनी आवश्यकनियुक्ति (गा० ५२८ से ५३६) में भ० महावीरके केवली अवस्थामें कवलाहारको स्वीकार नहीं किया । केवल उन्होंने उनके छद्मस्थ-अवस्थाकाल—१२ वर्ष और ६ महीने तथा १५ दिन की पारणाओंको ही स्वीकार किया है और एक एक करके गिनाते हुए उन्होंने कुल ३४९ ही पारणायें बतलाई है । केवली अवस्थाकी किसी एक भी पारणाका उल्लेख उन्होंने नहीं किया । यहां आवश्यक निर्युक्तिकी उपयोगी दो गाथाएँ दी जाती हैं :—

तिण्णिसए दिवसाणं अउणावण्णं तु पारणाकालो ।
उक्कुडुयनिसेज्जाणं ठियपडिमाणं सए बहुए ।।५३५।।
बारस चेव य वासा मासा छच्चेव अद्धमासो य ।
वीरवरस्सभगवओ एसो छउमत्थपरियाओ ।५३६।

अतः आवश्यकनिर्युक्तिकारके मतसे भी केवलीमें कवलाहारके अभावकी स्पष्टतः पुष्टि होती है । —आगे निर्युक्तिकारने वीरके विहार, समवशरणकी रचना, ११ गणधरोंका शङ्का-समाधान और उनके उपदेश-प्रवर्तनका ही विस्तृत कथन किया है । उनने '३० वर्षकी शेष अवस्थामें उन्होंने इस इस तरह और इतनी पारणायें कीं—कवलाहार किया, आदिका बिल्कुल उल्लेख नहीं किया है । यदि केवली अवस्थामें भगवान् महावीरने पारणा की होती अथवा सम्भव होती तो कोई वजह नह कि वे उसका भी वर्णन न करते । इससे स्पष्ट है कि प्रो० सा० जिन्हें स्वामी समन्तभद्र बतला रहे हैं उन निर्युक्तिकार भद्रबाहुके प्रतिपादनानुसार भी केवलीमें कवलाहार सिद्ध नहीं होता ।

एक जगह तो निर्युक्तिकार भद्रबाहुने यह भी प्रतिपादन किया है कि यदि जिनेन्द्र भगवान् सतत उपदेश देते रहें तो सुननेवालों तकके लिये भी—यदि वे भगवान्के पास सुननेमें अपनी सारी आयु भी बिता देवें—भूख, प्यास, ठण्ड, गर्मी, परिश्रम और भयकी बाधा नहीं होती । तब जिनके निमित्तसे दूसरों तकको जीवनपर्यन्त कोई भूख-प्यासादिकी बाधा नहीं रहती तो उन्हें—केवलीको स्वयं भूख-प्यासादिकी कैसे बाधा हो सकती है ? यह गम्भीरताके साथ तत्वदृष्टिसे विचारना चाहिये । भद्रबाहुकी आवश्यक निर्युक्तिगत वह गाथा निम्न प्रकार है:—

सव्वाउअं पि सोया खवेज्ज जइ हु सययं जिणो कहए
सीउण्ह—खुप्पिवासा—परिसम-भए अविगणेंतो ।।५७९।।

आचार्य पूज्यपादने (४५० ई०) अपनी नन्दीश्वर भक्ति (५८) में अरहन्तके चौतीस अतिशयोंका वर्णन करते हुए केवलज्ञानके १० अतिशयोंमें केवलीके 'भुक्त्यभाव' (कवलाहारके अभाव) को स्पष्टतया बतलाया है । विद्यानन्दाचार्यने बड़े जोरोंके साथ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृष्ठ ४९२)में केवलीके कवलाहार और क्षुधादि वेदनाओं का अभाव सयुक्तिक प्रदर्शित किया है । जैसा कि मैं पूर्व लेखमें भी कह चुका हूं—

योगदर्शनके प्रवर्तक महर्षि पातञ्जलिका आध्यात्मिक विद्याके क्षेत्रमें अच्छा स्थान माना जाता है । उन्होंने

आध्यात्मिकविद्याके बहुचमत्कारोंको प्रदर्शितकरते हुए योगी में भूख और प्यासकी बाधाकी निवृत्ति होना सम्भव प्रतिपादित किया है। जैसा कि योगदर्शनके निम्न सूत्रसे स्पष्ट है:—

'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः' ३-३०।

अर्थात्—उस विशिष्ट योगीके कण्ठकूपमें भूख-प्यासकी निवृत्ति होजाती है - फिर उसे जीवन्मुक्त अवस्थामें भूख प्यासकी बाधा नहीं रहती - वह नष्ट होजाती है।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होजाता है कि केवलीके क्षुधा और पिपासा इन दो दोषोंका अभाव भी सर्वथा होजाता है। और यह स्वामी समन्तभद्रके लिये भी अभिमत है।

प्रो० सा० केवलीके जन्म, ज्वर, जरा और मृत्युके अभावकी असम्भवता बतलाते हुए लिखते हैं:—"जिस शरीरसे केवली अवस्था उत्पन्न हुई है उसका मनुष्ययोनिमें जन्म हुआ ही है, उस शरीरका योग भी उनके विद्यमान है, वह शरीर साता-असाता वेदनीय कर्मोदयके वशीभूत भी है, उनकी मनुष्य आयु भी क्रमशः क्षीण हो ही रही है और वह समय भी आने वाला है जब उनकी समस्त आयुका क्षय होजानेसे उस शरीरका वियोग होजावेगा। तब फिर उसी अवस्थामें उनके जन्म, ज्वर, जरा और मृत्युका अभाव कैसे माना जा सकता है?" यदि प्रो० सा० ने केवलीके जन्मादि दोषोंके अभावकी मान्यताके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंके अभिप्रायको पहले जान लिया होता तो वे इस प्रकारका शायद प्रतिपादन न करते। जिन कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र और निर्युक्तिकार आदि महान् आचार्योंने जन्म-जरा-मरणादिका केवलीके अभाव प्रतिपादित किया है वे क्या यह नहीं जानते थे कि केवल का मनुष्ययोनिमें जन्म हुआ है साता-असाता वेदनीय कर्मका उदय भी उनके है, आयुके स्पर्द्धक भी प्रतिसमय क्षीण होरहे हैं और वर्तमान शरीरका त्याग भी अवश्य होगा? फिर भी उन्होंने जो उनके जन्मादि दोषोंका अभाव बतलाया है। उसका रहस्य यह है कि केवलीके मोहनीयका नाश होजानेसे अब पुनर्जन्म न होगा—'समूलं निर्भिन्नं जन्मनिगलम्', और न अब पुनर्जन्म वाला साधारण मरण होगा—'न मृत्युरपि विद्यते प्रकृतमानुषस्येव ते। मृतस्य परिनिर्वृतिर्न मरणं पुनर्जन्मवत्।' चूँकि केवलीके मोहादि घातिकर्म नष्ट होचुके और केवलज्ञान पैदा होगया है इसलिये अब उनके ज्वर और जरा भी न होंगे—'जरा च न हि यद्वपुर्विमलकेवलोत्पत्तितः। प्रभूत्यरुजमेकरूपमवतिष्ठते प्राङ्मृतेः॥' वास्तवमें १८ हजार शीलोंको धारण करने वाला और शरीरबलाधान हेतुभूत शुभ पुद्गलोंको ग्रहण करने वाला आत्मा—नहीं, नहीं परमात्मा ज्वर और जरासे आक्रान्त नहीं हो सकता। 'न योगा न रोगा न चोद्वेगवेगाः' (सिद्धसेन) 'अजरः', (समन्तभद्र) 'जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केण' (भद्रबाहु) आदि पुरातनाचार्यवचन हमें यही बतलाते हैं। भोगभूमियों और देवोंकी भी आयु प्रतिक्षण क्षीण होती है और जन्म तथा मरण वे भी ग्रहण करते हैं साता-असाता का उदय उनके भी विद्यमान है, परन्तु न तो उन्हें जीवनभर कोई रोग ही होता है और न बुढ़ापा ही आता है। ऐसी हालतमें भोगभूमियों और देवोंसे भी महान् केवली परमात्माके ज्वर और जराके अभावकी असम्भावता बतलाना अनुचित है वह न तो युक्ति और अनुभव से ही सम्बन्ध रखता है और न आगम से ही।

केवलीके यद्यपि असाता आदि कर्म विद्यमान हैं और उनका उनके सत्त्व भी है परन्तु वे मोहके न होनेसे अपना कार्य करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। यह दि० साहित्यसे तो स्पष्ट है ही। साथमें निर्युक्तिकी निम्न गाथा (२७३)से भी प्रमाणित हो जाता है.—

"अस्सायमाइयाओ जा वि य असुहा हवंति पगडीओ।
णिंवरसलवोव्व पए ण होंति ता असुहया तस्स॥"

जब असाताका उदय अशुभ कुफल नहीं देता तब भूख-प्यासका दुख उनके कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। अतः इस सब विवेचनाका निष्कर्ष यह हुआ कि केवलीके क्षुधा, तृषा, जन्म, ज्वर, जरा और मरण इन ६ दोषोंका भी अभाव हो जाता है। केवलीके जिन शेष कर्मोंका उदय और सत्त्व विद्यमान है उनसे ही ये दोष पैदा नहीं होते, बल्कि उनका वास्तविक जनक मोहकर्म है और उसका केवलीमें अभाव हो चुका है। अतः इन दोषोंका अस्तित्व उनके नहीं है और वह स्वामी समन्तभद्रको अभिमत है। जैसा कि हम उल्लेखनोंपरसे देख चुके हैं। इसलिये इस विषयमें सैद्धान्तिक भी कोई कठिनाई नहीं है।

[क्रमश]

वीरसेवामन्दिर, सरसावा २१-६-४४

स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता

(जमनालाल जैन, वर्धा)

स्वावलम्बन और स्वतंत्रता, दोनों शब्द, इतने प्रचलित और रूढ होगए हैं कि, उनका नया अर्थ प्रतिपादन करने की आवश्यकता, कमसे-कम आज तो प्रतीत नहीं होती। इन दोनोंका परस्परमें इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि किसी एकको अलग नहीं रखा जासकता। स्वावलम्बनको छोड़ कर स्वतंत्रता और कोई वस्तु ही नहीं है। जहां स्वावलंबन का उपयोग होरहा होगा, स्वतंत्रता आपसे आप वहां पहुंच जाएगी। दोनों शब्दोंके आदिमें पड़े हुए 'स्व' अक्षर ही यह बतला रहे हैं कि उनमें पराधीनता, परवशता और प्रमाद को बिलकुल भी स्थान नहीं है। किसी दूसरेके अधीन-वशवर्ती होकर रहना ही स्वावलम्बनका अपहरण और स्वतंत्रताका त्याग है। दोनोंकी एकतामें भी हम देख सकते हैं कि उनमें थोड़ासा अर्थ-भेद, उस समय तक हो सकता है, जिस समय तक उन दोनोंका एकीकरण न होजाए अथवा वे जीवनके क्षण क्षणमें व्याप्त न हो जाएँ। स्वावलम्बनका अर्थ हम ग्रहण कर सकते हैं भ्रातृभावका विकास और स्वतंत्रताका-स्वाभिमानका महत्व। स्वावलम्बनमें हम पाते हैं कि कोई भी व्यक्ति, अपनेसे भिन्न व्यक्तिको दूसरा—पराया न समझ कर, आत्मीय समझता है और उससे वैसा ही वर्ताव करना अपना कर्तव्य समझता है कि यह भी मेरे ही समान मेरा एक बन्धु है और जब यह विश्वास दृढ हो जाता है तब वह व्यक्ति किसीको पराधीन या अपने कब्जेमें रख नहीं सकता, तो यह कह सकते हैं कि स्वतंत्रता स्वावलम्बनका पल्लवित और विकसित रूप है। स्वतंत्रता में स्वाभिमान संन्निहित होनेके कारण उसमें वीरता और पुरुषार्थका सर्वाङ्गीण अधिकार रहता है! वीरता और पुरुषार्थ अथवा कर्तव्य-क्षमताके बिना यदि कोई चाहे कि स्वाभिमान स्थिर रह सकता है, बिलकुल असम्भव बात है। अतएव, हम इस तथ्यपर पहुंच सकते हैं तथा निःसंकोचरूपसे कह सकते हैं कि प्रथमतः हमें स्वावलम्बन की शिक्षा ग्रहण कर प्रत्येकके प्रति भ्रातृभाव जागृत करना चाहिए और उसके होनेके बाद तो हम आपसे-आप ही यह अनुभव करने लग जावेंगे कि किसीको अपने अधीन कैसे रखा जासकता है, जब कि सब अपने बंधु हैं—यही स्वतंत्रता प्रचारका मुख्य साधन है! और इसी लिए कहा जा सकता है कि दोनों एक दूसरेसे भिन्न न होकर एक हैं—अभिन्न हैं।

इनका महत्व भी बहुत अधिक है। जब स्वावलम्बन और स्वतंत्रता, हमारे जीवनमें एक रस होकर व्याप्त होजाते हैं, तब हम पाते हैं कि उसके कारण हम अपने धर्म अपने समाज, अपने राष्ट्र तथा समस्त विश्वका हित सारे ही दृष्टिकोणोंसे, प्रत्येक विषयमें, कर सकनेमें समर्थ हो उठते हैं। उस अवस्थामें हम अपने कर्तव्योंके प्रति सचेष्ट हो जाते हैं और उन्हें करना ही होता है, क्योंकि उस समय हम यह सुस्पष्टतया समझने लगते हैं कि हमारे हाथमें जो कार्य है, उसे दूसरा नहीं कर सकता और यदि कर भी सके तो, उसकी सहायता प्राप्त करना, स्वयं अपने लिए अनुचित हो जाता है। इस तरह, प्रत्येक व्यक्ति अपने २ कर्तव्योंके उत्तरदायित्वको समझने लगता है और निकम्मा नहीं रह सकता। जाति, समाज और राष्ट्रमें बढ़ती हुई बेकारी तथा आलसको रोकनेके लिये यह मनोवृत्ति अथवा स्वावलम्बन की यह पुनीत शिक्षा, एक ऐसे शस्त्र अथवा अंकुशका काम देती है कि जिसके आगे कानूनका डर और ऊपरके अधिकारी भी वैसा कार्य अपने अधीनस्थ दासों द्वारा नहीं करवा सकते। क्यों कि उसमें स्वके साथ २ किसी एक निश्चित व्यक्ति विशेषके लिए अपना कर्तव्य न होकर समस्त विश्व अथवा देशके लिए होता है—पानेकी लालसाका अभाव होता है, जब कि अधीन होकर कार्य करनेमें इसके विपरीत प्रवृत्ति पाई जाती है। उसमें होता है एक आनन्द और इसमें होता क्लेश, यद्यपि कार्य दोनों एकसे भी होते और होसकते हैं। उसमें भेद इतना ही होता है कि एकमें आत्म-दानकी भावना होती है और दूसरेमें आत्म-प्रतारणा

होता है। दूसरे उसमें निजत्वका स्वाभिमान होनेके कारण अपने २ कर्तव्योंके प्रति स्वाधीनता रहती है और निजत्वके अभिमानके कारण आत्म-विकासके लिए तरह तरहके साधन उपलब्ध होते हैं, आत्म-विश्वास और आत्म-दृढ़ताकी वृद्धि होती है। साथ ही हम साहससे आत्मतेज भी तेजस्वी हो चमक उठता है, जिसका अंतिम परिणाम होता है अनन्त स्वाधीनताकी उपलब्धि जिसे कह सकते हैं मुक्ति। यह क्या कोई कम महत्व अपने आपमें रखती है?

इस स्वाधीनताका जीवनपर भी अकल्पनीय अथवा अप्रतिम प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है! केवलमात्र महत्वको स्वीकार करके ही तो हम कर्तव्योंकी ओर प्रवृत नहीं हो सकते। जब तक किसी बातका हृदयपर प्रभाव नहीं पड़ता तब तक यह माननेको जी नहीं चाहता कि आत्म-चेतना जागृत हो और जिसके सहारे हम अपने प्रति सजग हो अपने कार्योंकी ओर अग्रसर हो सकें। स्वाधीनताका अनुभव करनेके उपरांत हम अपने आपमें देख सकते हैं कि दुर्बलता, कायरता, प्रमाद और दुर्भावनाओंका सर्वथा अंत हो जाता है। वीरता, पौरुषता, साहस और सद्-भावनाओंका उनके स्थानमें निवास हो जाता है। और सब से बड़ी बात तो हम अपने जीवनमें तब यह पाते हैं कि किसीके आश्रित रह कर जीवनयापन करना हम अपना अपमान समझते हैं और किसीको अधीन रखनेमें लज्जाका अनुभव करते हैं। स्वाधीन, स्वावलम्बी और स्वतंत्र पुरुषों को आप देखेंगे कि वे अपने लिए किसीसे कुछ याचना करनेकी कामनासे मुक्त होते हैं, वे क्षुधा और तृषासे कपडे और लत्तेके अभावसे, तड़फ २ कर जीवन विसर्जित आनंद से करदेंगे परन्तु उन्हें तड़फको मिटानेके लिए किसीको एक शब्द भी कहना उस तड़फसे भी ज्यादा दुःखित करता है। उन्हें हल्केसे हलका और नीचेसे नीचा कार्य करनेमें भी संकोच नहीं होता। उन्हें अपने शिक्षण, पोशाक और स्थितिपर जरा भी मिथ्या गर्व नहीं होता, वे इसकी भी परवाह नहीं करते कि कहीं बूटकी पालिश तो खराब नहीं हो रही है। उन्हें तो बस एक चिंता होती है और वह है अपने निजत्वको बनाए रखनेके लिए कर्तव्योंको पूरा किस तरह किया जाए। कहनेका सरांश यह कि स्वावलम्बन और स्वातंत्रताका उनके जीवनपर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वप्नमें भी पराधीनता और परवशताका विचार नहीं सकते और इसी लिए अपने जीवनसे सम्बन्धित किसी भी छोटे या बड़े कार्यको करनेमें वे अपना सौभाग्य ही नहीं, कर्तव्य समझते हैं।

परावलम्बन और परतंत्रता अपने आपमें कोई सद्गुण नहीं हैं। उनका प्रभाव भी जीवनपर, उस योग्य नहीं पड़ता जिससे कि जीवनका उत्तरोत्तर विकास हो और उसमें उन्नतिके लक्षण दिखाई दें। वर्तमान समयमें, अ० भारतीय शिक्षण परिपाटीका हम लोगों पर जो प्रभाव पड़ा है, यद्यपि हमारा जीवन उसीमें घुला-मिला होनेके कारण हम उसे अपने लिए अच्छा समझते हैं, तथापि, वास्तवमें देखा जाए तो वह हमारे लिए अनिष्ट और घातक ही सिद्ध हुई है। अधिकांशतः आज देखा जाता है कि लोग अपने हाथ से पानीका गिलास भी भर कर पीनेमे अपना अपमान और ओछापन समझते हैं और कहते हुए पाए जाते हैं कि क्या यह कार्य करना भी हमारा ही कार्य है! इस बड़प्पन प्रदर्शनकी भावनाका ही यह परिणाम हमे आज भुगतना पड़ रहा है कि आपसमें भेद भाव बढ़नेपर कलह होती गई और जिसके कारण सदियोंसे पर-राष्ट्रीय हमपर शासन-चक्र फेर रहे हैं। जहां ऊँच-नीचकी भावनाका जन्म होजाता है, वहांपर हृदयकी एकता और प्रेमकी कल्पना भी नहीं की जाती! जिसके पास पैसा हुआ कि वह फिर नीच होने पर भी, अपने आपमें ऊँच बन जाता है!

धार्मिक-जगतमें भी इसका विष बड़े वेगसे फैला है! चातुर्वर्ण्य व्यवस्थाका प्रतिपादन कर वैदिकोंने भेद-भाव और ऊँच-नीचताके वृक्षको इतनी तत्परतासे पल्लवित और विकसित किया है कि आज भी सर्वत्र उसका विषैला परिणाम दिखाई दे रहा है! शूद्रोंको वेदाध्ययनके अधिकार से वंचित रखना, उन्हें धार्मिक कार्योंमें भाग लेनेसे रोकना और केवल उनसे सेवावृत्ति करवा कर अपने स्वार्थ और अहंकारकी पुष्टि करनेका ही एकमात्र बीड़ा जब ब्राह्मणोंने उठा लिया और तदनुरूप आचार शास्त्रों-स्मृतियोंकी सृष्टि करने लगे तब कोई भी व्यक्ति सोच सकता है कि उन बेचारोंका हृदय क्या कहता होगा! अपने अधिकार, अहं-कार और विद्वत्ताके बलपर चाहे जिसे, हर तरह नचाया जा सकता है।

यह तो हुई सामाजिक व्यवस्थाकी बात, लेकिन तात्विक क्षेत्रसे भी कोई कम आघात भारतीयोंको नहीं पहुंचा ! एक ही ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करना, सारे कर्मोंके फलके दे देनेका भार उसीपर लाद देना और उसे ही सृष्टिका कर्ता-धर्ता-हर्ता मान लेना इत्यादि निरूपणोंसे भी कायरता, दुर्बलता आदिकी वृद्धि ही हुई है ! लोगोंने मान लिया है—हमारा कार्य तो केवल ईश्वरकी उपासना, अर्चना या आराधना करना मात्र है, हम स्वयं तो ईश्वर हो ही नहीं सकते ! इससे हताश होगये, आत्म-दृढ़ता आत्म तेज और आत्म-शक्तिसे उत्तरोत्तर हीन हो कायर बन बैठे ! वीरता, स्वाधीनता और भ्रातृ-भावका लोप हो चला ! लोग ऐशोआरामकी ओर प्रवृत्त हो उठे, आत्म-साधना जैसी अनुपम वस्तुकी ओरसे अपरिचित होगए ! और क्यों न हों जब उनके महन्तजी यह कहते हुए पाए जावें कि 'भाई, तुम ईश्वर तो हो ही नहीं सकते !' क्या गरज पड़ी है किसी को कि वह व्यर्थ ही बीहड वनमें जाकर गर्मी, सर्दी और वर्षाके महान् कष्ट सहन करे । उन लोगोंने अपना एक सूत्र बना लिया कि—'अजगर करे न चकरी, पंछी करे न काम' फिर भी सबको भोजन मिल ही जाता है ! और इसी भाग्यवादने हमारे मनमें जिस दुर्बलताका घुन जमाया है, वह महान् घातक है ! मालूम नहीं इस भाग्यवाद, ईश्वरवाद और वर्णवादकी कट्टरता का कब अंत होगा !

इसका अर्थ आप यह न समझ लें कि जैनधर्म भी इस से अछूता न रह सका ! परन्तु वास्तवमें बात यह नहीं है, है तो यह कि जैन लोग अज्ञानतावश, संसर्गवश, रूढ़िवश, भले ही उन वादोंके पालनकर्ता किसी कालमें होगए हों परन्तु धर्म और उसके तत्वको तो लांछित नहीं किया जा सकता ! हर हालतमें, जो कुछ विद्वान् होते हैं और धर्मके मर्मको समझते हैं, कभी भी किसीके प्रभावमें नहीं आ सकते, जैसा कि आज भी हम देख रहे हैं कि जो वास्तविकतः जैन हैं वे उन वादोंके शिकार नहीं हैं।

जैनधर्मके प्रचारकोंमें अंतिम तीर्थंकर-तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले-भगवान् महावीर स्वामी आजसे कोई २५४३ वर्ष पूर्व होगये हैं । उन्होंने अपने ज्ञानबलसे प्रत्यक्ष देखते हुए जो कुछ प्रतिपादन किया था, वह वैदिक संस्कृति के प्रतिकूल था। ईश्वरवाद, भाग्यवाद और वंशपरम्परागत-वर्णवादपर ऐसा कुठाराघात उन्होंने किया है जिसका प्रत्युत्तर आज तक भी किसीसे नहीं बन पड़ा ! ईश्वर-कर्तृत्ववादको उन्होंने चुकटियोंमें उड़ा दिया, भाग्यवादको हवामें विलीन कर दिया और वंशगत-वर्णवादको धूल-धूसरित कर दिया। सच बात तो यह थी कि उनका स्वयं का उद्धार स्वावलम्बन और स्वतंत्रताके पथपर हुआ था, तब यह कब संभव हो सकता था कि वे दूसरोंको उससे वंचित रखनेके पथपर चलनेका आदेश देते ! स्वावलम्बन और स्वतन्त्रताकी रक्षा उनके शब्दोंमें आत्मरक्षा थी, और जहां यह नहीं है, वहां आत्मघात है और यही मुक्तिके मार्गका कण्टक है। उन्होंने कहा "प्रत्येक जीव अपने आपमें ईश्वर है, किसी अन्यकी आराधना, उपासना और इससे याचना करनेकी आवश्यकता नहीं। कोई किसीको सुख दुख नहीं पहुंचा सकता। 'जैसी करनी तैसी भरनी' ही उनका मुख्य सिद्धान्त था। पुरुषार्थ तत्वका प्रतिपादनकर उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया है—भाग्यवाद केवल थोथी कल्पनामात्र है, इसके अपनानेपर व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और स्वाधीनतासे विमुख हो परावलम्बी और परवश होजाता है जिस का परिणाम होता यह है कि उसकी अनन्त आत्मशक्ति विलुप्त हो जाती है ! मनुष्यको अपने कर्म-कर्तव्यपर विश्वास रखना चाहिए. भाग्यके भरोसे बैठ हमारे हाथ कुछ भी नहीं आने वाला।" वर्णव्यवस्थाका उपदेश देते हुए उन्होंने यही कहा कि "वंशपरम्पराका इससे कोई सम्बन्ध नहीं, जो व्यक्ति जैसा ऊँच या नीच कार्य करेगा, वह उसी पथका सामाजिक दृष्टिसे अधिकारी होगा, लेकिन निश्चयसे तो उसमें और वृत्तमें भी कोई अतर नहीं है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भ० महावीर स्वामीने जो उपदेश, अपनी स्वतंत्रसाधनाके उपरान्त स्वानुभवके आधारपर दिया था, वह स्वतंत्रता और स्वावलम्बनके मार्ग पर आरूढ होने वाले व्यक्तिके लिये प्रकाश स्वरूप था। उनके दिव्य उपदेशमें साम्य-भाव, भ्रातृभावकी ध्वनि थी। उन्होंने जो कुछ कहा था, अपने अनुभव और साधनाके उपरान्त ही कहा और उसी समय लोगोंने देख लिया कि जिस बातका उपदेश हम महावीर-मुखसे श्रवण कर रहे हैं, वह उनके जीवनके अणु-अणुमें व्याप्त है—भ० महावीर उनके आगे आदर्श रूपसे उपस्थित थे !

आग्रह और अहंकारका उस उपदेशमें सर्वथा अभाव था। जहां यह दोनों अवस्थित होंगे, वहां स्वावलम्बन और स्वतंत्रताके पैर ही नहीं टिक सकते। उस जगह तो यही भावना होती है कि अपना बड़प्पन प्रदर्शित किया जाय और इसके लिये अधिक से-अधिक जनताको अपने अधीन किया जाय !

राष्ट्रीय दृष्टिसे भी स्वावलम्बन और स्वतंत्रताका बहुत महत्व है ! आज, विश्ववंद्य महात्मा गांधीजी तथा अन्य राष्ट्रीय नेतागण स्वतंत्रता देवीका आह्वान करनेमे जुटे हुए हैं और उसके आगमनकी प्रतीक्षामें रात-दिन एक कर रहे हैं, अपने खूनका पानी बना रहे हैं और बाजी लगा रहे हैं। वे चाहते हैं भारत हमारा है, इसपर पर-राष्ट्रीय शासनचक्र चलानेके अधिकारी नहीं हैं, इसका शासन-सूत्र हमारे ही हाथोंमें होना चाहिए ! उनका प्रयत्न सराहनीय है, वे जो कुछ कर रहे हैं, अपनी शक्ति-अनुसार बहुत ठीक कर रहे हैं। वे यह भी चाहते हैं कि घर-घरमें स्वावलम्बनका प्रचार किया जाए, अपने ग्राम, नगर और प्रांत अथवा देश की बनी वस्तु ही खरीदी और व्यवहारमे लाई जाए। परन्तु उनका प्रयत्न भी स्थायित्वको प्राप्त होसके, वैसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि, सदियोंसे पड़े हुए संस्कारोंको मनसे निकाल डालना, कमसे कम भारतीयोंके लिए तो सहज सम्भव नहीं है ! उनकी मानसिक और बौद्धिक साथ ही शारीरिक दुर्बलता इतनी विस्तृत हो गई है कि वे बात बातमें रूढ़ि, प्रथा या रिवाजका आश्रय ग्रहण करनेपर लाचार हो उठते हैं—उसके आगे उनकी दौड़ कठिन बन जाती है ! इस लिए, कदाचित् राष्ट्रीय शासन-स्वतंत्रता प्राप्त हो भी जाए, तो यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि एक दिन वह नहीं आएगा, जब फूट और वैमनस्य घर न कर लेंगे ! अतएव, आवश्यकता तो आज इस बातकी है कि पहले भारतीय जनताके हृदयोंमें आध्यात्मिक स्वावलम्बन और स्वतंत्रताके उज्ज्वल विचारोंको विराजित कर उनकी आत्म-निष्ठा, आत्म-दृढ़ता, आत्म-तेज और उससे होनेवाले "आत्मवत् सर्वभूतानाम्" "यतो धर्मस्ततो जय:" आदि तत्वोंको उनमे जागृत किया जाय। और, इसकेलिए, भ० महावीर स्वामी द्वारा दिएगए उपदेश का ही, जो स्वावलम्बन और स्वतंत्रताकी चरम अभिव्यक्ति करता है, अत्यन्त आवश्यकता है ! इसके बिना, राष्ट्रीय स्वतंत्रता यदि प्राप्त हो भी जाय तो भारतीय हृदय आज इतने कलुषित, स्वार्थपूर्ण और अहंकार परिपूर्ण होगये हैं कि वे जरा भी चोट सहन करनेमे असमर्थ हैं।

भ० महावीरने स्वतन्त्रताकी जो व्याख्या की है उसमे निजत्वकी रक्षा तथा आत्मीय स्वाधीनताका पुनीत अर्थ सन्निहित है ! अतएव यदि भारतको स्वतंत्र देखना है, स्वाभिमानको बनाए रख मस्तकको ऊँचा रखना है तो हमे सबसे पहले मानसिक और अंधश्रद्धापूर्ण धार्मिक दुर्बलता को दूर करना होगा और स्पष्ट स्वरमे यह अभिव्यक्त कर, विश्वको दिखा देना होगा कि हम उस वीर माताकी संतान तथा उस वीर धर्मके अनुयायी हैं, जिसने कि किसी ईश्वर-विशेषकी विश्व-सत्तापर भी पानी फेर दिया और जो ललकार कर स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि "प्रत्येक आत्मा, परमात्मा अथवा ईश्वर है, क्यो हम स्वतंत्रता प्राप्तिके नाम पर किसी ईश्वर-विशेषकी आराधना करें।"

आइए एक बार सब मिलकर एक स्वरसे कहें—'स्वतंत्रता प्रचारक भ० महावीरकी जय'।

भारतीय इतिहासका जैनयुग

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन विशारद, एम० ए० एल-एल० बी०)

[गत किरणसे आगे]

भगवान महावीरसे पूर्वकी राजनैतिक परिस्थितिमें राज्योंके आठ पड़ौसी जोड़े अर्थात् बौद्ध अंगुत्तरनिकाय एवं महावंशके सोलह महाजनपदोंका जिक्र किया जाता है। अङ्ग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाञ्चाल, मत्स्य शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार कम्बोज—बौद्ध अनुश्रुतिके तत्कालीन सोलह महाजनपद हैं। हिन्दु अनुश्रुति (ऐतिहासिक पुराणों) में भी उस समय के बारह प्रसिद्ध राजाओंका वर्णन किया है[1]। हिन्दु अनुश्रुतिके प्राय: सब ही राज्य भारतीय संयुक्तप्रान्त, बिहार तथा मध्यप्रान्तके अन्तर्गत आजाते हैं। दूसरे, वे किसी एक ही कालके सूचक नहीं वरन् महाभारतके जरासन्धसे लगाकर महावीर कालके पश्चात् तकके राज्य उसमें उल्लिखित हैं। ये सर्व ही राज्य केवल वैदिक आर्योंसे संबंधित हैं, अवैदिक, व्रात्य, नाग, यक्ष, अनार्य राज्यों और प्रदेशोंका साथमें कोई उल्लेख नहीं। इससे विदित होता है मानो पूरे दक्षिण-भारतमें उस समय कोई भी राज्य नहीं था। लगभग यही दशा बौद्ध अनुश्रुतिकी है। प्रथम तो बौद्ध अनुश्रुति ई० सन्की ६ ठी ७ वीं शताब्दीमें सिंहल, बर्मा, तिब्बत, चीन आदि भारतेतर प्रदेशोंमें विदेशियों द्वारा संकलित हुई। दूसरे, उसमें उल्लिखित महाजनपद भी पश्चिमोत्तर प्रान्तके गांधार, कम्बोज व मध्य भारतके अश्मक, अवन्ति एवं चेदि को छोड़ सर्व ही वर्तमान संयुक्तप्रन्त तथा बिहारके अन्तर्गत हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि बादको जब बौद्ध अनुश्रुति संकलित हुई उसके संकलन कर्त्ताओंने हिन्दु अनुश्रुतिके प्रसिद्ध राज्योंमेंसे जिनसे भी किसी समय बौद्धधर्म अथवा बौद्ध कथानकोंका थोड़ा बहुत संबंध पाया, उन सब प्रदेशोंसे यह सोलह महाजन पद घड़ लिये।

इसके विपरीत जैन अनुश्रुतिमें, जो उक्त दोनों अनुश्रुतियोंसे कम प्राचीन नहीं वरन किन्हीं अंशोंमें अधिक प्राचीन है, शुद्ध भारतीयअनुश्रुति है और जिसका संकलन भी उन दोनोंसे पहिले होना प्रारम्भ हो गया था, भगवान महावीरके पूर्वके सोलह राज्य निम्नप्रकार वर्णन किये हैं—

अङ्ग, वङ्ग, मगह (मगध), मलय (चेदी), मालव, अच्छ (अश्मक), वच्छ (वत्स), कच्छ (गुजरात काठियावाड़) पाढ़ (पांड्य), लाढ़ (गाधा), आवाह (पश्चिमोत्तर प्रान्त ?) सम्भुत्तर, वज्जि, मल्ल, काशी, कोशल[1]।

प्रत्यक्ष ही जैन अनुश्रुतिके इन महावीर-कालीन प्रसिद्ध सोलह राज्योंमें प्राय: समस्त भारतवर्षके हिन्दुकुशसे कुमारी अन्तरीप, तथा बंगालसे काठियावाड़ तकके सर्व ही आर्य अनार्य राज्य आगये, जिनका कि अस्तित्व उक्त समय के इतिहासमें स्पष्ट मिलता है।

अङ्गकी राजधानी चम्पा थी। यह राज्य बङ्गाल और मगधके बीचमें स्थित था इसके राज्य वंश तथा जनतामें जैनधर्मकी प्रवृत्ति अन्त तक बनी रही थी। राजधानी चम्पापुरी १२ वें जैन तीर्थंकर वासुपूज्यकी जन्मभूमि थी। ई० पू० छठी शताब्दीके मध्यमें मगधके श्रेणिक (बिम्बसार) ने अङ्गको विजय कर अपने राज्यमें मिला लिया था।

बङ्गदेशमें उस समय नाग, यक्ष आदि प्राचीन जातियों के छोटे २ राज्य एक संघमें गुंथे हुए थे, किन्तु इनकी स्थिति स्वतंत्र रहते हुए भी गौण ही रही।

मगह अथवा मगध बादका सर्व प्रसिद्ध एवं सर्वोपरि राज्य होगया। राजधानी पञ्चशैलपुर (गिरिव्रज अथवा राजगृही) थी। काशी राज्यके ह्रासके साथ साथ इस देशमें नाग क्षत्रियोंकी एक शाखा शिशुनाग वंशकी स्थापना हुई (ई० पू० ७ वी शताब्दीके प्रारभ में) इस वंशके श्रेणिक (बिम्बसार), कुणिक, अजातशत्रु), उदयी आदि राजाओंके शासनकालमें शनै:शनै: अङ्ग, काशी, वज्जि, वत्स, कोशल, अवन्ति आदि राज्योंको विजय कर भारतवर्षके प्रथम साम्राज्य—मगध साम्राज्यका उत्कर्ष एवं विस्तार होता चला

१ भा० इ० रूपरेखा पृ० २८७—जयचन्द्र विद्यालङ्कार।

१ Political Hist. of Ancient India P. 46-Dr. H. C. Raychoudhry, and भगवतीसूत्र

गया। इस वंशके प्रायः सर्व ही राजे जैन थे। बिम्बसार प्रारंभमें महात्मा बुद्धके उपदेशसे प्रभावित हुआ था अवश्य, किन्तु जब ई० पूर्व ५५८ में उसकी राजधानीसे लगे हुए विपुलाचल पर्वतसे भगवान महावीरकी प्रथम देशना हुई तो वह उनका अनन्य भक्त हो गया। वह भगवानका प्रथम और प्रमुख गृहस्थ श्रोता था। उसके पुत्र अजातशत्रु व अभयकुमार तथा अन्य वंशज भी जैन धर्मानुयायी ही रहे।

शिशुनाग वंशके पश्चात् मगधमें नन्दवंशका शासन रहा। प्रथम शासक सम्राट नन्दिवर्धन था। उसने राजगृही में प्रथमजिन भगवान ऋषभदेवकी प्रतिमा कलिङ्ग देशसे लाकर स्थापित की थी।[1] उत्तरनन्द भी जैनधर्मानुयायी थे, उनका मन्त्री शकटाल जैनी था[2]। शकटालके पुत्र ही प्रसिद्ध जैनाचार्य स्थूलभद्र थे।

नन्दवंशका उच्छेद कर सम्राट चन्द्रगुप्तने मगधमें मौर्यवंशकी स्थापना की। वह सर्वसम्मतिसे पक्का जैनसम्राट था। अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु स्वामी उसके धर्मगुरु थे। कुछ समय राज्यभोग करनेके पश्चात् द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय सम्राट चन्द्रगुप्त गुरु तथा उनके संघके साथ दक्षिण को चला गया था। वहाँ वर्तमान मैसूर राज्यके अन्तर्गत श्रवणबेलगोलके निकट चन्द्रगिरि पर्वतपर मुनिरूपमें तपश्चरण कर अन्तमें समाधि मरणपूर्वक देह त्यागी थी।[3] गिरनार, शत्रुञ्जय आदि तीर्थोंकी यात्राके समय उक्त पर्वतके नीचे उसने यात्रियोंके लाभार्थ प्रसिद्ध सुदर्शन झीलका निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्तका उत्तराधिकारी बिन्दुसार, तथा उसका प्रसिद्ध मन्त्री चाणक्य भी जैन ही थे[4]। राजनीति और समाजशास्त्रके इस प्रसिद्ध प्रकाण्ड आचार्य के जीवनसंबन्धी जितना वर्णन जैन अनुश्रुतिमें मिलता है अन्यत्र नहीं मिलता। मौर्य वंशके तृतीय सम्राट महाराज अशोकके धर्मका अभी कुछ निश्चित निर्णय नहीं हो पाया। सामान्य धारणा उसके बौद्ध होनेकी है किन्तु डा० टामस[1] आदि अनेक इतिहासज्ञ विद्वानोंका मत है कि वह जैन ही था और यदि उसने बौद्धधर्म अङ्गीकार भी किया तो अपनी अन्तिम अवस्थामें। वास्तवमें स्वयं बौद्ध अनुश्रुतिके अनुसार अशोकने अपने शासनकालमें बौद्धोंपर बड़े अत्याचार किये थे। उस धर्मके प्रति अशोककी उपेक्षाका ही यह परिणाम हुआ कि तत्कालीन बौद्धधर्माध्यक्षोंने बौद्धोंको भारतेतर प्रदेशोंमे प्रयाण कर जानेका आदेश दिया।

अशोकका उत्तराधिकारी सम्प्रति तो निश्चय कट्टर जैन धर्मानुयायी था और जैनधर्मके प्रचार और प्रसारमें उसने वह सब प्रयत्न किये जिनका श्रेय भ्रमसे बौद्धधर्मके लिये सम्राट अशोकको दिया जाता है। सम्प्रतिके वंशज मगधके शालिशुक, देवधर्म आदि, अवन्तिका बृहद्रथ, गाधारके वीरसेन, सुभगसेन, काश्मीरके जालक—सर्व जैन थे।

ई० पूर्वकी ३ री शताब्दीके अन्तमें मगधमें क्रान्ति हुई। मौर्य वंशका उच्छेद कर ब्राह्मण शुङ्गवंशका और तत्पश्चात् कन्व वंशका राज्य कोई सौ सवासौ वर्ष रहा। यह दोनों वंश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। किन्तु कन्व वंशके पश्चात् फिर मगध वैशालीके जैन लिच्छवियोंके अधिकार मे आगया। ई० सन् की ४ थी शताब्दी तक उन्हींके अधिकारमें रहा और अन्तमें एक वैवाहिकसंबंधके कारण लिच्छवियोंकी ही सहायतासे गुप्तवंशी सम्राट हिन्दु-पुनरुद्धार के प्रवर्तक थे।

मलय अथवा चेदिका विस्तार मध्यभारतसे लगा कर कलिङ्ग तक था। चेदिवंशकी एक शाखा वर्तमान बुन्देलखंड आदि प्रान्तोंमें, जिसे मध्यकलिङ्ग भी कहा जाता था, राज्य करती थी। दूसरी शाखा कलिङ्ग (उड़ीसा) में। कलिङ्गमें बहुत प्राचीनकालसे जैनधर्मकी प्रवृत्ति थी। वीरनिर्वाण संवत् १०३ में (ई० पूर्व ४२४) मगधसम्राट नन्दिवर्धन कलिङ्गको विजयकर वहाँसे प्रथमजिनकी मूर्ति मगध में ले आया था। किन्तु उत्तर नन्दोंके समय कलिङ्ग फिर

१ Kharvel's Inscriptions in the Orissa Caves.

२ Ancient India P. 27—by Dr. T. L. Shah.

३ Early Hist. of India—V. Smith; Asoka P. 13–Dr. R. K. Mukerjee., etc.

४ Dr. H. Jacobi—Intro. to Jain Sutras P. 62.

१ The Early Faith of Asoka—Dr. E. Thomas.

स्वतन्त्र होगया था। बिन्दुसारके शासनकालमें कलिङ्गमें फिर एक क्रान्ति हुई प्रतीत होती है। प्राचीन चेदिवंशके स्थानमें किसी आततायी और उसके वंशजोंका शासन रहा। सम्राट सम्प्रतिके अन्तिम दिनोंमें वहाँ चेदवंशकी पुनः स्थापना हुई। इस वंशका प्रसिद्ध सम्राट महामेघवाहन खारवेल था। समस्त भारतको इसने अपने आधीन कर लिया। मगधको भी विजय किया, पुष्यमित्र शुङ्ग, उसके सामने नतमस्तक हुआ युनानी दमित्रको उसने देशसे बाहिर खदेड़ भगाया, सातकर्णी आन्ध्र, भोजक, राष्ट्रिक आदि सर्व राजे उसके आधीन थे। खारवेल जैनधर्मका दृढ़ अनुयायी था। उस धर्मके प्रचार प्रभावनाके लिये उसने सतत प्रयत्न किये। जैन मगध-साम्राज्यके उपरान्त जैन् कलिङ्गसाम्राज्य हुआ। इस प्रकार उत्तरीभारतमे सन् ई० पूर्वकी २ रीशताब्दीके मध्य तक जैनधर्मकी ही प्रधानता रही।[1]

मालव अथवा अवन्तिमें महावीरकालमे प्रद्योतवंशका राज्य था। वहाका प्रसिद्ध राजा चंडप्रद्योत तथा उसका पुत्र पालक जैनधर्मानुयायी थे। नन्दिवर्धनने अवन्तिको विजय कर अपने राज्यका सूबा बनाया, इसका उत्कर्ष मगधसाम्राज्य के अस्त होनेके पश्चात् वरन् खारवेलकी मृत्युके उपरान्त प्रारंभ हुआ। खारवेलके पश्चात् उसके ही एक वंशजने अवन्तिमे जो खारवेलके राज्यका एक सूबा थी, स्वतन्त्र राज्य स्थापन करलिया। अब उत्तर भारतकी केन्द्रीय शक्ति मगध न रह गया था वरन् अवन्ति हो गई थी। अस्तु; तत्कालीन महाराष्ट्रके आन्ध्र, पद्मावती भोगवतीके नाग, गुजरातके शक क्षत्रप सर्व ही अवन्तिपर दाँत लगाये रहते थे। तथापि लगभग डेढ़सौ वर्ष तक वहा जैन गर्दभिल्ल वंशका हीराज्य रहा। प्रसिद्ध सम्राट् प्रथमविक्रमादित्य, इसी गर्दभिल्ल वंशके थे। उनके पिताके अनाचारोंके कारण उनके जन्मसे पूर्व ही नवागत शकोंका अवन्तिपर अधिकार हो गया था, किन्तु होश संभालने पर उन्होंने शकोंको देश से निकाल बाहर किया। उनका शासन सर्व प्रकारसे कल्याणप्रद तथा आदर्श रहा। जैनाचार्य कालक सूरि के प्रभावसे वह दृढ़ जैनधर्म भक्त हो गये थे। उन्हींकी स्मृतिमें प्रचलित विक्रम संवत चला। इस संवतके सबसे प्राचीन और सबसे अधिक उपयोग जैन साहित्य एवं पुरातत्वमें ही मिलते हैं।

सम्राट् विक्रमके पश्चात् कुछ समय तक गुजरातके शकोका अवन्तिपर अधिकार रहा। रुद्रसिंह, रुद्रदामन, जयदामन, नहपान आदि ये शक क्षत्रप भी जैन ही थे। इन शकोका उच्छेद अवन्तिसे आन्ध्र राजोंने किया और यह आन्ध्र राजे भी अनार्य तथा जैन-धर्मानुयायी ही थे। दूसरी शताब्दी ईस्वीमे आन्ध्र वंशके अस्त तथा ४ थी शताब्दीमे गुप्तवंशके उदयके बीच महारथीनामक नाग एवं वकातक सर्दार प्रबल रहे उन्हींका आधिपत्य अधिकांश मध्य तथा दक्षिण भारतपर रहा। ये नाग राजे प्रायः सर्व ही जैनधर्मानुयायी थे। उनकी नागभाषा (प्राकृत व अप-भ्रंश) जैन साहित्यकी ही मुख्य भाषा थी। उक्त नागयुगमें जैनविद्वानोंने नागरी लिपिका अविष्कार किया, जैन शिल्प-कारोंने जैन मन्दिरोंमे नागरशैलीका प्रचार किया।

अच्छ अथवा अश्मक दक्षिणभारतके उत्तरपूर्वका प्रदेश था। इसकी राजधानी पोदनपुर जैनोंका एक पवित्र स्थान अति प्राचीनकालसे रहा है। सम्राट खारवेलकी मृत्युके पश्चात् कलिङ्ग वंशकी ही एक शाखाका यहा राज्य रहा। इसी कारण यह प्रान्त त्रिकलिङ्गका दक्षिण कलिङ्ग कहलाया। नागयुगमें यह प्रसिद्ध फणिमण्डलके अन्तर्गत था और आचार्यप्रवर, सिंहनन्दि, सर्वनन्दि, समन्तभद्र, पूज्यपाद आदिका कार्यक्षेत्र था। बादको यह प्रान्त पहले पल्लव फिर गङ्गवाड़ीके जैन गङ्गराज्यमें सम्मिलित होगया।

वच्छ अर्थात् वत्स देशकी राजधानी कौशाम्बी थी। नागोके प्रबल आक्रमणोंके कारण पाडवोके वंशज निचक्षु आदिने इस देशमें अपना राज्य स्थापित किया था। किन्तु पड़ौसी व्रात्योंके संसर्गमें वत्स देशके कुरुवंशी वैदिक आर्य भी व्रात्यसंस्कृतिमे रंगे गये और उन्होने जैनधर्म अङ्गीकार कर लिया। महावीरकालमें स्वप्नवासवदत्ताकी प्रसिद्धि वाला वत्सराज उदयन जैनधर्मका भक्त था। किन्तु उसके एक दो पीढ़ी बाद ही मगधके शिशुनाग सम्राटोने वत्सको विजय कर अपने राज्यमें सम्मिलित कर लिया।

कच्छ अर्थात् काठियावाड़ प्रान्तमें उस समय वर्तमान गुजरात तथा बम्बई प्रेज़ीडेन्सीका बहुभाग था। महाभारत-

१ Kharvel's Inscriptions of the Orissa Caves.

कालमें मथुराके यदुवंशी राजा समुद्रविजयने द्वारकामे अपना राज्य स्थापन किया था। उनके पश्चात् उनके भतीजे नारायण कृष्ण राज्यके उत्तराधिकारी हुए। कृष्ण महाराजके ताऊजाद भाई २२ वें जैनतीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे। कृष्णकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है तब कोई कारण नहीं कि अरिष्टनेमिको भी एक एतिहासिक व्यक्ति न माना जाय? दूसरे, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व वैदिक तथा हिन्दु पौराणिक साहित्यसे भी सिद्ध है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है वह काल उत्तरीभारतमें वैदिक सभ्यताके चरमोत्कर्षका था। यज्ञादिमे ही नहीं, विवाहादि उत्सवोके अवसर खान पानके हित विपुल पशुहिंसा होती थी। अपने विवाहके उपलक्षमे वैसी हिंसाका आयोजन देख ब्रह्मचारी कुमार नेमिनाथको वैराग्य होगया, जूनागढ़ (श्वसुरालय) के निकट विवाहका संकल्प त्याग घर छोड़ गिरनार पर्वतपर जाकर तपश्चरण करने लगे। केवलज्ञान प्राप्त कर जनतामें अहिंसा धर्मका प्रचार किया, मध्यभारत एवं दक्षिणापथमें जैनधर्मका पुनरुद्धार किया। और उस प्रान्तमें उस समयसे जैनधर्म अस्खलित रूपमें ईस्वी सन्की ६ ठी ७ वी शताब्दी तक तो सारे ही दक्षिणमें तथा कुछएक प्रान्तोंमे १३ वी १४ वीं शताब्दी तक प्रधानरूपसे चलता रहा। इस प्रान्त (कच्छ) में कुछ काल तक तो जैनधर्म प्रधान यदुवंशका राज्य चला तदुपरान्त पार्श्वनाथके समय पाटल (सिन्ध) के नागोंका आधिपत्य होगया। तदुपरान्त सिन्धु सौवीरके व्रात्य, तथा मालवेके मल्ल व्रात्योंका अधिकार रहा। मौर्य राजाओंने अपनी विजयपताका उस प्रान्त तक पहुँचा दी थी। किन्तु मौर्योंके पश्चात् सिन्धुकी ओरसे आने वाले शक क्षत्रपोंका यहाँ राज्य रहा। कुछ काल आन्ध्रोंके आधीन यह देश रहा। अन्तमें सोलंकियोंके समय इसका विशेष उत्कर्ष हुआ। इस प्रान्तमें महाभारतके समयसे लगा कर १५ वीं १६ वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्मकी प्रधानता बनी रही। अनेक जैनतीर्थ, विपुल जैन पुरातत्व इस प्रान्तमें हैं। अनेक विद्वान दिगम्बर श्वेताम्बर जैनाचार्योंने इस प्रान्तमे विशाल जैन-साहित्यका निर्माण किया। आज भी वहाँ जैनोंकी संख्या पर्याप्त और उनकी समृद्धि सर्वाधिक है।

पाढ अर्थात् पाड्य सुदूर दक्षिणका प्रसिद्ध तामिलराज्य था। अति प्राचीनकालसे इस अनार्य राज्यकी स्थिति थी, जैनधर्मकी प्रवृत्ति भी इस राज्यमें प्राचीनतम कालसे चली आती थी। महावीर कालमे यह राज्य समस्त तामिल प्रान्त में सर्वोपरि था, चेर, चोल, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, आदि अन्य तामिल राज्य तथा लंका आदि द्वीप इसके आधीन थे और ईस्वी सन्के प्रारंभ तक वैसे ही चलते रहे। पाड्य राज्यकी राजधानी मदुरा दक्षिणमें जैनोंका सबसे बड़ा केन्द्र था तामिलके प्रसिद्ध संगम साहित्यका अधिकाश जैन पाड्य राजाओंकी छत्रछायामे प्रकाँड विद्वानों द्वारा ही निर्मित हुआ था। जैन मौर्यसम्राट तथा कलिङ्ग नरेश जैन खारवेल से पाड्य नरेशोंका मैत्री संबंध था। लंका आदि द्वीपोमे भी ई० पूर्वकी छठी शताब्दीके स्तूप आदि जैन अवशेष मिले हैं। अशोकके समयसे लंकामे अवश्य ही बौद्ध धर्मका प्रचार होना प्रारंभ होगया, किन्तु तामिल राज्योंमे सन् ई० ६ ठी ७ वी शताब्दी तक जैनधर्मकी प्रवृत्ति रही। उसके उपरान्त शैव तथा वैष्णव धर्मोंके नवप्रचारके कारण तथा तत्संबंधित राज्यवंशोके धर्म परिवर्तनके कारण जैनधर्मकी प्रगतिको आघात पहुँचा और वहाँ उसका ह्रास प्रारंभ होगया।

लाढ़ अथवा राधा मध्योत्तर दक्षिण भारतका राज्य था। यहाँ महावीरकालमें राष्ट्रिक, भोजक, आन्ध्र आदि अनार्य राज्योकी सत्ता थी। उसके पूर्व वहाँ यक्ष, विद्याधर आदि जैन अनार्य राज्य थे, ई० पू० प्रथम शताब्दीमे ही आन्ध्र राज्य सर्वोपरि होगया और उसने अन्य पड़ौसी सत्ताओको अपनेमें गर्भित कर साम्राज्यका रूप ले लिया। ये सर्व राज्य और इनकी प्रजा अधिकतर अन्त तक व्रात्य संस्कृतिकी पालक और जैनधर्मानुयायी ही रही।

आवाह पश्चिमोत्तर प्रान्त था। बौद्धअनुश्रुतिके गाधार, कम्बोज और जैन अनुश्रुतिके तक्षकशिला तथा उरगयन नामक नाग गणराज्योका यह एक संघ था। ये नाग लोग वैदिक आर्य-संस्कृतिके विरोधी और व्रात्य-संस्कृतिके पोषक थे।

सम्भुत्तर महाजनपद मध्य पञ्जाबका प्रसिद्ध व्रात्य क्षत्रियोंका राज्य था। सैन्धवानके साम्भव लोग भगवान संभवनाथ (३रे तीर्थंकर, जिनका चिन्हविशेष 'अश्व' था) के अनुयायी थे। इस राज्यकी सत्ता सिकन्दर महानके आक्रमणके समय भी थी। सिकन्दरने भयङ्कर युद्धके पश्चात्

इस राज्यपर एक अस्थायी विजय प्राप्त की थी[१]।

पूर्वका वज्जिसंघ तो व्रात्य क्षत्रियोंका एक प्रसिद्ध केन्द्र था। महावीरकालमें इसके नायक वैशालीके राजा चेटक थे। वज्जिसंघके ही अन्तर्गत कुंडलपुरके ज्ञातृवंशी लिच्छवि-नरेश सिद्धार्थके ही पुत्र भगवान महावीर थे। वैशालीके राजा चेटक उनके नाना थे। चेटककी एक कन्या मगधराज श्रेणिकको, दूसरी वत्सराज उदयनको और तीसरी कोशलके राज्यवंशमें विवाही थी। इन सर्व राज्यों, गणों और वहांकी जनतापर भगवान महावीरका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा था, वे सब उनके परमभक्त अनुयायी थे। यह वज्जिसंघ गणतन्त्र का आदर्श था।

नवोदित मगध साम्राज्यकी साम्राज्याभिलिप्साके कारण वज्जिसंघ और मगधराज्यमें द्वन्द चलता रहा, अंतमे अजातशत्रुने वैशाली विजय कर वज्जिसंघको छिन्न-भिन्न कर दिया, किन्तु भले ही गौण रूपमें, लिच्छवियोंका अस्तित्व सन् ई० ६–७वीं शताब्दी तक बना रहा।

मल्ल भी वज्जिसंघकी ही एक पड़ौसी व्रात्य जातिका गणतन्त्र था। पावा इनका प्रधान नगर था। वहीं भगवान महावीरका निर्वाण हुआ।

काशीके संबंधमे ऊपर कहा ही जा चुका है। भगवान महावीरके जन्मके पूर्व ही वह कोशलराज्यमे सम्मिलित हो गया था। अजातशत्रुने कौशलसे उसे छीनकर मगधमें मिला लिया था।

कौशलमे प्राचीन सूर्यवंशी राजोंका ही राज्य चला आता था, महावीरकालमें वहांका राजा प्रसिद्ध **प्रसेनजित** था, जो भगवान महावीरका भक्त था। उसके उपरान्त कोशल भी मगध-राज्यमे सम्मिलित होगया।

दक्षिणमें ईस्वी सन्के प्रारंभकालसे ही अनेक राज्य—नाग, पल्लव, गङ्ग, चालुक्य, होयसल, राष्ट्रकूट आदि स्थापित होने लगे थे। उन सबमें ही प्रारंभसे जैनधर्मकी ही प्रवृत्ति रही। किन्तु सन् ई० ५ वीं शताब्दीके उपरान्त शैव वैष्णव धर्मोंके बढ़ते हुए प्रचारके आगे तत्संबंधी राज्यवंशों के आगे पीछे धर्मपरिवर्तनके कारण धीरे धीरे वहाँ जैनधर्म का ह्रास होता चला गया। तथापि मध्य युगके मध्य तक दक्षिण भारतमें जैन धर्मकी ही सर्वाधिक प्रधानता रही।

इस प्रकार भारतीय इतिहासके प्राचीन युगमें महाभारतके उपरान्त उत्तरभारतमें लगभग ३री शताब्दी ई० तक तथा कितने ही प्रान्तोंमें १३वीं १४वीं शताब्दी ईस्वी तक जैनधर्मकी ही प्रधानता रही, राज्यवंशों, प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजाओं तथा जनसाधारण सभीकी दृष्टिसे।

इस सांस्कृतिक प्रधानताका परिणाम भी प्रत्यक्ष हुआ। वैदिक संस्कृति तथा उससे उद्भूत पौराणिक धर्मोंमें याज्ञिक हिंसा सदैवके लिये विदा ले गई। खानपानमें सुरा और मांसका यदि नितान्त लोप नहीं होगया तो वह घृणित और त्याज्य अवश्य समझे जाने लगे। बौद्धोंने जीवहिंसाका तो विरोध किया किन्तु मांस मदिराके भक्षणपानका समर्थन और प्रचार करनेमें कोई कसर नहीं की तथापि जैनधर्मके ही प्रभावसे वह वस्तुएँ अभक्ष्य ही होगईं।

जुआ, पशुयुद्ध आदि समाज, स्त्रीपुरुषके बीच धार्मिक बंधनकी शिथिलता, तज्जन्य व्यभिचार एवं विषयाधिक्य आदि आर्यों और बौद्धोंके प्रिय व्यसन कुव्यसन कहलाने लगे। अनेकान्त दृष्टिके प्रचारसे धार्मिक उदारता सहिष्णुता, मतस्वातन्त्र्य आदिको पुष्टि मिली। जाति और कुल धर्मसाधनमें बाधक नहीं रहे। आत्मवादने जड़वादका बहिष्कार कर दिया। और कर्मसिद्धान्तने दैवके ऊपर भरोसा कर हाथपर हाथ रख बैठ रहना भुला दिया। देव-पूजा और भक्तिके द्वारा देवताओंको प्रसन्न कर इहलौकिक फलकी प्राप्तिके प्रयत्नके स्थानमें आत्मसाधन करना सिखाया। जड़वादका स्थान अध्यात्मवादने ले लिया, रूढ़िवादका युक्तिवाद और विवेकने। ज्ञान, भक्ति और सदाचारकी त्रिवेणी बहा दी।

इसके अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, तामिल, तैलेगु, कन्नड़, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न भाषाओंमें विविध विषयक विपुल सुन्दर एवं उच्च कोटिका साहित्य जैनविद्वानोंद्वारा जैन राजाओं और श्रेष्ठियोंके प्रोत्साहनसे जितना और जैसा इस जैनयुगमें रचा गया अन्य किसी दूसरे युगमें किसी दूसरी संस्कृति द्वारा नहीं। तत्त्व-ज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, इतिहास, नीति, समाजशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, गणित, मन्त्रशास्त्र, न्यायशास्त्र, कथा-साहित्य, काव्य, नाटक, चम्पु, तर्क, छन्द, अलङ्कार, व्या-

१ Ancient India. Its invasion by Alexander the Great—Mc. crindle.

करण, संगीत, शिल्पशास्त्र—स्यात् ही कोई विषय ऐसा बचा हो जिसपर जैनविद्वानोंने सफलतापूर्वक कलम चला कर भारतीके भंडारको समृद्ध एवं अलंकृत न किया हो। स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नाटक, संगीत, काव्य सर्व प्रकारकी ललित कलाओंमें जैनोंने नायकत्व किया। इस सबके प्रमाण उपलब्ध जैनसाहित्य और पुरातत्वमें पर्याप्त मिलते हैं।

भाषाओं और लिपिके विकासमें सर्वाधिक भाग जैनोंने ही लिया और इसी जैनयुगमें। ब्राह्मीलिपिका आविष्कार कहा जाता है भगवान ऋषभदेवने किया था, किन्तु वह हमारे युगसे पूर्वकी बात है, तथापि ब्राह्मी लिपिका सर्वप्रथम उपयोग अधिकतर जैनोंद्वारा ही हुआ मिलता है। महेन्जोदड़ोके मुद्रालेखोंके अतिरिक्त ई० पूर्व ५वीं शताब्दी का बड़ली अभिलेख, मौर्यकालीन गुहाभिलेख, शिलाभिलेख, स्तंभलेखादि, खारवेलके अभिलेख, गुजरात यथा दक्षिणके अभिलेख इसके साक्षी हैं। देशके कोने कोनेमें और प्रधान एव महत्वपूर्ण स्थानोंमें जैनतीर्थ उसी प्राचीन कालसे चले आते हैं। ब्राह्मीसे नागरी लिपिका विकास जैन विद्वानों द्वारा ही हुआ। स्थापत्य-कला की नागरशैलीके अधिष्ठाता भी वही थे। चित्रकलाका शुद्ध भारतीय प्रारंभ भी इन्हींने किया। स्तूप, गुफायें, चैत्य, मन्दिर, मूर्ति इत्यादिके प्रथम जन्मदाता इस जैन युगके जैन ही थे।

समाजव्यवस्था, तथा आधुनिक जातियोंकी पूर्वज व्यवसायिक श्रेणियों और निगमोंका संगठन एवं निर्माण जैन युगमें जैन नीतिशास्त्रके आचार्यों तथा जैन गृहस्थ व्यवसायियों द्वारा ही हुआ।

जैन व्यापारियों तथा श्रमणाचार्यों द्वारा भारतका प्रकाश भारतेतर देशों तक फैला, वृहद् भारतके निर्माणमें इनका पूरा पूरा हाथ था।

देशके कोने कोनेसे उस युग सम्बन्धी जैन स्मारक आज भी उपलब्ध हैं, और चाहे अल्प अल्प संख्यामें ही हो देश के प्रत्येक भागमें जैनोंका अस्तित्व है।

वास्तवमें बौद्धधर्मकी स्थिति तो उस युगमें जहाँ तक भारतवर्षका संबंध है प्राय: नगण्य ही थी। गौतमबुद्धका स्वयं तत्कालीन राज्य-वंशोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उनके जीवनकालमें ही उनके पिताका राज्य, राजधानी तथा शाक्यवंश प्राय: नष्ट होगया था। सिकन्दर और मेगस्थनीज़ के समय बौद्ध सम्प्रदाय कुछ एक "झगड़ालु व्यक्तियों" का सामान्य सा सम्प्रदाय मात्र था। अशोकके समय तक बौद्ध तीर्थोंपर राज्यकी ओरसे यात्री कर लगा हुआ था[1]। इस सम्प्रदायके प्रति शासनकी कठोरता और उपेक्षाके कारण उस समयके बौद्धधर्माध्यक्ष तिस्सने बौद्धभिक्षुओं को देशान्तरमें सो भी उजड्ड, असभ्य सुदूर प्रदेशोंमें जाकर निवास करने और धर्म प्रचार करनेकी आज्ञा दी। इस देश में तो मात्र कुछ कट्टर बौद्धभिक्षुओंने जैसे तैसे अपना अस्तित्व बनाये रक्खा और जब जब राज्यकान्तियों अथवा सामाजिक उथल-पुथलके कारण उन्हें सुयोग मिला, उन्होंने अपना धार्मिक स्वार्थसाधन किया, किन्तु विशेष सफल फिर भी न होसके, और इसी युगमें सन् ई० ७वीं ८वीं शताब्दी तक इस देशसे उनका नामशेष होगया। सीमान्त प्रदेशोंमें तथा बाह्यदेशोंमें अवश्य ही वह शक, हूण, मङ्गोल आदि विदेशी आक्रान्ताओंको प्रभावित कर अपनी शक्ति बढ़ानेके प्रयत्नमें लगे रहे। सिंहल, पूर्वीभद्वीपसमूह, स्वर्णद्वीप (मलाया), ब्रह्मा, चीन, जापान, तिब्बत मङ्गोलिया आदिमें अवश्य ही अत्यधिक सफल हुए, ठीक उसी तरह जैसे १५ वीं १६ वीं शताब्द में इंगलैंडसे बहिष्कृत, राज्य और प्रजा दोनों द्वारा पीड़ित थोड़ेसे धर्मयात्री (Pilgrim Fathers) आज अमरीका जैसा महाशक्तिशाली राष्ट्र निर्माण करनेमें सफल होगये।

जैनों की आजकी राजनैतिक, सामाजिक स्थिति, अल्प संख्या, अपने महत्वको स्वयं न समझने तथा अपने प्राचीन साहित्यके अमूल्य रत्नोंको प्रकाशित न कर तालेमें बन्द भंडारोंमें कीड़ोंका ग्रास बनाने, पुरातत्वसंबंधी अमूल्य निधि को न पहचानने और जाननेका यत्न न करने आदिसे उन के इस युगमें प्राप्त महत्व तथा प्रधानताका अनुमान करना तनिक कठिन है। किन्तु निष्पक्ष इतिहासप्रेमीको अब भी इस लेखमें विवेचित तथ्योंकी साक्षीमें पर्याप्त प्रबल प्रमाण मिल सकते हैं और मिलते हैं। किसी जातिकी वर्तमान हीन अवस्थासे यह निष्कर्ष निकालना कि यह सदैवसे वैसी ही रही होगी युक्तियुक्त नहीं है। महात्मा ईसाके पश्चात् भी

१ यह कर अशोकने माफ़ किया बताया जाता है—देखो अशोकके गौण शिलालेख।

कई सौ वर्ष पर्यन्त क्या यूरोपमें ईसाइयोंकी वही अवस्था थी जो आज है ? हजरत महम्मदके बहुत पीछे तक क्या मुसलमानोंकी संख्या और प्रभुत्व उतना था, जितना कि पीछे होगया ?

विद्याधर, ऋक्ष, यक्ष, नाग आदि वह अनार्य जातियाँ जिनकी उच्च नागरिक सभ्यताने नवागत वैदिक आर्योंको चकाचौंध कर दिया था आज कहाँ हैं ? महेन्जोदड़ो सभ्यताके संरक्षकोंका क्या आज कहीं कोई अस्तित्त्व है ?

अस्तु, भारतवर्षके इतिहासका प्राचीनयुग, कमसे कम उसका बहुभाग जैनसंस्कृतिकी प्रधानता एवं प्रभुत्वका युग था, राजा-प्रजा अधिकांश देशवासी जैनधर्मानुयायी थे। सभ्यताके विविध अङ्गोंकी पुष्टि और वृद्धि विविधवर्गीय जैनों ने उस युगमें की थी। उस युगमें लगी जैन संस्कृतिकी भारतीय समाजपर अमिट छाप आज भी लक्षित की जा सकती है। भारतीय सभ्यताको ही नहीं विश्व सभ्यताको उस युगमें जैन संस्कृतिने अमूल्य भेंट प्रदान की है। उस युगमें निर्मित विविधविषयक जैन साहित्य तथा कलात्मक रचनाएँ भारतकी राष्ट्रीय निधिके अमूल्य रत्न हैं।

अतः वह युग यदि किसी सांस्कृतिक नामसे पुकारा जा सकता है तो वह जैन संस्कृतिके नामसे ही। भारतीय इतिहासका वह लगभग २००० वर्षका युग सच्चा यथार्थ जैनयुग था, न बौद्ध न हिन्दु।

पथिकसे

—(ले०—ज्ञानचन्द्र भारिल्ल)—

पथिक ! पथ है तेरा किस ओर ?

तारोंकी लड़ियाँ हैं टूटीं, सूर्यदेवकी किरणें फूटीं,
कब तक सोएगा तू अब तो जाग हुआ है भोर !! पथिक०
राही ! तेरे मगमें लाखों, तेरे जीवन-ग्राहक होंगे,
सावधान हो चलना वरना, देंगे झट झकझोर !! पथिक०
सरिता, सर, समुद्र तरना है, गिरि-शृङ्गोंपर भी चढ़ना है !
ज्यादा क्या, तेरे पथका है, नहीं ओर अरु छोर !! पथिक०
चलचल उठ, बढ़ चल रे गाफ़िल ! पलपल डगडग क्यों रुकता है ?
सुन सुन रे ! यमदूत भयंकर, मचा रहे हैं शोर !! पथिक०
और सभी तजकर तू राही ! एक लक्ष्य ही बना बढ़ा चल,
खींच रही हो तुझे जिधरको, मधुर प्रेमकी डोर !

पथिक ! पथ है तेरा किस ओर ?

वीर-संदेश

[पं० नाथूराम जैन डोंगरीय]

आज मानवीय मस्तिष्क और हृदयमें जड़वादका शैतानी साम्राज्य छाया हुआ है। जिससे प्रभावित होकर मनुष्य सुख और विश्वशांतिकी प्राप्तिके बहाने स्वार्थ साधन के लिये अपनेसे भिन्न देश, विचार एवं वर्गके लोगोंका तथा उनके साथ साथ असंख्य अबलाओं, बच्चों और वृद्ध मनुष्योंका भी भीषण संहार करनेमें उन्मत्तकी भांति अंधा-धुन्द जुटा हुआ है। अधिकाश संसारकी समझमें धन-दौलत और साम्राज्यकी प्रतिष्ठा ही आज सुख-शांतिकी प्राप्तिका अमोघ उपाय बन गई है, जिसका परिणाम आज हम सबको ही भयंकर रूपसे भोगना पड़ रहा है।

"जर्मनका गला घोंट दो, ताकि साम्राज्य स्थायी हो जाये, जापानका मुँह मरोड़ दो, ताकि विश्वशांति स्थिर हो जाये; भारतीयोंका खून चूसते रहो, जिससे हमारी भूख सदा ही आसानीसे शांत होती चली जाये; और भी कोई देश निर्बल और कमजोर मिले तो उसे गुलामीकी जंजीरों से जकड़ लो, कि हमारे व्यापार और राज्यकी नींव अटल हो जाए, ऐसे ऐसे शस्त्रास्त्र बना डालो कि पलक मारते प्रलय हो जाये; इतनी सैन्य सजा डालो कि जिसे सुनकर संसार भोचक्का रह जाये" आदि आदि।

ये हैं हमारे संसारके सभ्य-नामांकित मनुष्योंके अस्वच्छ एवं भ्रमपूर्ण विचार, जो विश्वमें एक सिरेसे लेकर दूसरे सिरे तक प्रलयकालके भीषण दृश्योंको समुपस्थित कर अपनी और दूसरोंकी सुख शांतिका सर्वनाश करनेमें दानवोंसे बाज़ी लगा रहे हैं। भ्रांत धारणाओंसे ओतप्रोत जड़वादका कैसा भीषण परिणाम है यह, कि दो चार साम्राज्य लोलुपियोंके संगठित बुद्धिबलने सारे विश्वकी शांतिको चकनाचूर करके रख दिया है। खूँख्वार भेड़ियों की भांति आपसमें लड़ झगड़कर एवं दूसरोंके गलोंपर छुरियां चलाकर शांतिके बीज बोनेका दम भरने वाले इन नामदारोंसे भला कोई पूछे कि यह सब कौनसी शांतिके लिये हो रहा है? क्या प्रलयकालीन शांतिके लिये, जब कि जर्मन और जापान, चीन और हिन्दुस्तान, अमरीका और ईरान, ब्रिटेन और फ्रांस आदि बर्बाद होकर अपना अस्तित्व भी कायम न रख सकेंगे? या उस शांतिके लिये जिसमें कि दुनियाके सम्पूर्ण मनुष्य मानवीय प्रेम, एवं सहानुभूतिके सुख-प्रवाहमें तरंगित हो इस निष्ठुर संसार को स्वर्ग बना देंगे?

भगवान महावीरने विश्वधर्मकी घोषणा करनेके साथ साथ सर्वथाके लिए प्राणीमात्रके हितके लिए इस जैसी सम्पूर्ण समस्याओंको भी आजसे २५०० वर्ष पूर्व निम्न संदेश द्वारा हल किया था जिसपर उन्मत्त संसारको गंभीरताके साथ विचार करना चाहिए। इन्होंने कहा—'बन्धुओ! दुःख और अशान्ति संसारके प्राणियोंका सदा से गला दबोचती रही है। इसलिए प्राणीगण भी इनसे छुटकारा पानेका कुछ न कुछ उपाय प्रतिदिन और प्रतिक्षण सोचते व उसपर अमल करनेकी शक्तिभर कोशिश करते रहते हैं। कोई समझता है कि इन्द्रियोंकी सुख-सामग्रियों को जुटाने और इनका इच्छानुकूल भोग कर लेनेपर अवश्य सुख मिल जायगा दूसरा सोचता है—जब मैं साम्राज्य का स्वामी बनकर शानके साथ सिंहासनारूढ़ हो, संसारके निर्बल प्राणियोंकी छातीपर शासन करूँगा तब कहीं आनंद प्राप्त करनेका सुअवसर प्राप्त होगा। तीसरा विचार करता है—धन दौलत ही दुनियामें सुखप्राप्त करनेकी कुंजी है, अपने सम्पूर्ण समयको इसीके इकट्ठा करनेमें लगाकर मनो-वांछित मौज उड़ाऊँगा। चौथा ख्याल करता है मैं होऊँगा और सुन्दर सुन्दर युवतियां जिनके साथ भोग विलास और काम-क्रीड़ा कर स्वर्गीय आनंदके अनुभव द्वारा कृत-कृत्य होकर रहूँगा। सारांश यह कि अपनी अपनी भ्रांत धारणाओंके कुचक्रमें पड़े हुए ये प्राणी अहर्निश अविश्रांत परिश्रम करते और इच्छित सामग्रियोंको प्राप्तकर उन्हें

भोगते हुए भी बेचारे मृगतृष्णाके जालमें फँसे हुए मृगकी भांति, अतृप्त और प्यासेक प्यासे ही रह जाते हैं, इनकी न तो इच्छाएँ ही तृप्त हो पाती हैं और न उस सुखकी प्राप्ति ही, कि जिसके लिए प्राणी भटकता फिर रहा है। बल्कि होता यह है कि एक चाहकी पूर्ति होते होते दूसरी चीजों की चाहें एव अतृप्त वासनाएँ पुनः जागृत होकर उसकी रही सही शान्तिका भी नष्ट कर डालती हैं।

यह सब मिथ्यादर्शन (उल्टी समझ) का ही दुष्परिणाम है, जो सम्पूर्ण प्राणियोंको विना किसी संकोचक भोगना ही पड़ता है। सज्जनो! इसलिए यदि सचमुच ही सुख और शांतिको प्राप्त करनेकी दिली अभिलाषा है तो सर्वप्रथम यह तो सोचो कि सुख और शांति वास्तवमें हैं क्या पदार्थ, वे कहाँ रहते हैं और कैसे प्राप्त हो सकते हैं? केवल सुख सुख चिल्लाने और अँधाधुन्द उसको प्राप्त करने के लिए कहींके कहीं जुट जाने मात्रसे वह कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। सुनो, और निश्चितरूपसे जान लो कि इस सबंधमें तुम्हें पहले सम्यकदृष्टि बनना होगा और अपने आपको व दृश्यमान संसारको जानना और समझना होगा। अभी शायद आप यह नहीं जानते कि सुख क्या वस्तु है? देखो, आकुलता और अशांतिके न होनेपर आत्मामें जो अनुपम शांति एवं आनंदका स्रोत बहता है वही सुख है, जो कि कहींसे आता जाता नहीं और न किसी वस्तुसे प्राप्त ही होता, वह तो आत्माका स्वभाव या गुण है, जो कि आत्मामें ही इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त करने एवं क्रोधादि कषायों व रागद्वेषादि भावों तथा मोहादि विकारों के जीतनेपर प्रकट होता है। जिस प्रकार लोहेकी जंगको साफकर रेतीसे रगड़नेपर उसमें छिपी हुई चमक व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार वासनाओं और दुर्भावनाओंके दूर होजानेपर एवं कर्म परमाणुओंरूपी जंगके छूट जानेपर आत्मामें सुख व्यक्त होता है। इसके लिए दुनियामें दूसरोंपर पाप और अत्याचार करनेकी जरूरत नहीं, बल्कि आत्मज्ञान और इन्द्रिय विजयकी आवश्यकता है। ये इन्द्रियां और मन आत्माको अपना दास बनाकर इच्छानुसार नचाया करते हैं। यह सब आत्माके भ्रमपूर्ण विश्वासका दुष्परिणाम है। वास्तवमें आत्माको स्वयंकी शक्ति और स्वभावका परिचय न होनेसे यह उल्टी गंगा बहा करती है। यदि आत्मा अपनी शक्तियोंको पहिचान ले और वास्तविकताको जान ले कि मैं इन्द्रियोंके लिए नहीं बल्कि इन्द्रियाँ मेरे लिए हैं, तो अधिकांश अशान्तिका नाश इस तत्त्व-ज्ञानके होते ही हो जाय।

इसलिए मित्रो! कमसे कम जो बात जैसी है उसे वैसा तो जानो, फिर चाहे उसपर अमल सुविधानुसार करना। मुझे विश्वास है कि यदि एक बार भी तुमने अपने आपको और सुख शान्तिकी वास्तविकताको जान लिया व अनुभव कर लिया तो सुखी बननेमें फिर कोई खास रुकावट नहीं आ सकती। यह भ्रम है कि इन्द्रियोंके भोग, राज्य-लक्ष्मी और ये नाना भांतिकी विषय सामग्रियां मनुष्यको सुखी बना देंगी। मैं स्वयं इन चीजोंको ठुकराकर ही आज इस परमात्मदशाको प्राप्त हो सका हूँ। लगातार १२ वर्ष पर्यन्त इन्द्रियों और मनपर पूर्ण विजय प्राप्त करने काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेषादि दुर्भावनाओंके नष्ट करने एवं कठोर तपश्चरण द्वारा कर्म-शत्रुओंको भस्म करनेका दृढ़तर प्रयत्न ही आज आत्मिक वास्तविक सुखके प्राप्त करनेका सुअवसर लाया है। मैंने जो आप लोगोंको सुख प्राप्त करनेका उपर्युक्त मार्ग बताया है, वह न तो कोरा आदर्श है और न पागलोंकी बकवास, वह है सीधा सादा, अनुभूत और सरल उपाय, जिसपर अमल करके संसारका प्राणीमात्र सुखी बन सकता है। यह सोचना भी भ्रम है कि यह मार्ग किसी खास जाति, व्यक्ति अथवा वर्गके लिए ही सेवन करनेकी वस्तु है, क्योंकि दुनियाके सम्पूर्ण प्राणियोंमें जीवन-तत्त्व एकसा ही है, जो कि स्वभावतः सुख एवं शान्तिको प्राप्त करनेके लिए लालायित है और उसे प्राप्त करनेका अधिकारी भी। एक जाति दूसरी जातिको सताकर, एक व्यक्ति दूसरेका गला घोटकर, कोई राष्ट्र अपनेसे भिन्न राष्ट्रोंका खून चूसकर सुखी बनने का यदि प्रयत्न करता है तो समझो कि अभी दुनियामें मूर्खताका साम्राज्य कम नहीं हुआ, क्योंकि किसीको सताने और खून चूसनेकी भावना मात्र ही जब आत्मिक शांतिको भंग कर डालती है तब उसके प्रयत्न, जो कि सुननेमें ही भयंकर मालूम होते हैं, हमें कैसे सुखी बना सकते हैं? इसके साथ ही इन दुष्प्रयत्नोंसे दूसरोंकी सुख और शांति का भंग होना तो सुनिश्चित ही है।

अत: न केवल आत्मशांति प्रत्युत विश्वशांतिके लिए भी दुर्भावनाओं एवं दुष्प्रयत्नोंका त्याग ही एकमात्र उपाय है।''

यह थी पहली घोषणा जो भगवान महावीरने विश्व-कल्याणकी पवित्र भावनासे प्रेरित होकर विश्वको प्रदान की। आगे चलकर संसारके सांप्रदायिक कलहों एवं अज्ञानताको नष्ट करके सम्यक्ज्ञानको प्राप्त करनेके लिए उन्होंने जो संदेश दिया वह था दृष्टिकोणको निष्पक्ष एवं उदार बनानेका। उन्होंने बताया कि तुम्हें यदि वस्तुतत्वका पूर्ण और वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट है तो वस्तुको प्रत्येक दृष्टिसे देखनेका प्रयत्न करते रहकर उसके प्रत्येक गुणपर विचार कर निष्पक्ष भावसे जानते चले जाओ, तो तुम्हारा ज्ञान संकुचित न होकर विशाल और वास्तविक बनकर विकसित होते हुए एक दिन पूर्णताको भी प्राप्त हो सकता है। सांप्रदायिक पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति सदा ही दूषित, संकुचित एवं अनुदार हुआ करती है; जिससे मनुष्योंके ज्ञानका विकास तो रुकता ही है, साथ ही उसका वह संकुचित अधूरा ज्ञान भी पक्षपात पूर्ण होनेके कारण अवास्तविक हो जाता है और विसंवादका कारण बनकर विश्वमें अशांति फैलाता एवं नासमझ और भोले लोगोंको भ्रममें डालकर उन्हें भी दूषित मनोवृत्तिका बना डालता है। अत: प्रत्येक मनुष्यको उसके कल्याणकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि वह सत्यको, अपना समझकर उसे अपनावे, न कि अपने जाने और माने हुए अधूरे एवं संकुचित ज्ञानको ही पूर्ण ज्ञान कहकर हठ करे। यदि वह अपनी संकुचित दृष्टि बनाकर वस्तुके आंशिक ज्ञानको ही पूर्ण ज्ञान कहेगा तो इससे पदार्थके स्वरूपको तो कुछ हानि पहुंचती नहीं; अलबत्ता उसकी मूर्खता अवश्य पुष्ट हो जायगी। इसी ज्ञानात्मक निष्पक्षताको उन्होंने 'अनेकांतवाद' या 'स्याद्वाद' के नामसे व्यवहृत कर सम्यक्ज्ञानको प्राप्त करने व सांप्रदायिकताको नष्ट करनेका वास्तविक पाठ दुनियाको पढ़ाया।

इसके सिवाय उन्होंने यह भी बतलाया कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्मा बननेकी शक्ति है; अत: उसे काममें लाकर कोई भी प्राणी परमात्मा बन सकता है, और उसकी यही अवस्था वास्तविक आनंद प्रदान कर सकती है। इसके लिये धर्म पुरुषार्थकी आवश्यकता है। और धर्म वही है जिसे हम सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके नामसे या श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार कहकर पुकार सकते हैं। उन्होंने बताया कि न तो केवल श्रद्धा रखने मात्रसे कोई मुक्त हो सकता है और न केवल ज्ञान अथवा आचरण मात्रसे; प्रत्युत इन तीनोंके एक साथ पालन करनेसे ही मुक्ति मिल सकती है। जितने अंशोंमे कोई इनका पालन करता है उतने ही अंशोंमें वह सुख और शांतिको प्राप्त करता हुआ एकदिन अपने कर्मोंका सम्पूर्णत: नाशकर परमात्मा बन ही जाता है। परमात्मा कोई ऐसा ईश्वर नहीं है जो दुनियाको सुख दुख देता हो या किसीको मारता जिलाता अथवा सृष्टिकी रचना और प्रलय करता है। परमात्मा तो वह पवित्र आत्मा है जो अपने सम्पूर्ण दोषों और कमियोंको नष्टकर स्वाभाविक गुणों (अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख एवं शक्ति) को व्यक्त कर सच्चिदानंद अवस्थामें लीन रहता है। वह रागी द्वेषी कामी, क्रोधी, लालची आदि नहीं है। परमात्मतत्व की दृष्टिसे परमात्मा एक और संख्याकी दृष्टिसे अनेक हैं।

दुनियाके प्रत्येक व्यक्तिको बिना किसी भेदभावके परमात्मा बना देनेका मार्ग प्रशस्त करते हुए विश्वप्रेम, सेवा स्याद्वाद, सदाचार अहिंसा साम्यवाद आदिसे ओत प्रोत सुखमय संदेश सुनाकर भगवान् महावीरने जो विश्व का चिरकल्याण किया है उससे कोई भी समझदार व्यक्ति कृतज्ञ हुए बिना नहीं रह सकता। विश्व कल्याणके लिए आज उनके सिद्धान्तोंके प्रचारकी कितनी आवश्यकता है, इसे उनके धर्मके अनुयायीगण शायद अभी नहीं समझते। स्वयं मोहकी अज्ञानमयी निद्रामें प्रसुप्त हैं!

गुलामी

[करुणा-मय, पौराणिक, खण्डकाव्य*]

(ले० स्व० 'भगवत्' जैन)

सैन्य-संचालक अयोध्यानाथ का,
जब चला दर्बारको रथपर चढ़ा ।
चकित पुरवासी हुए निज चित्तमें,
था सभीमें एक कौतूहल बढ़ा ॥
आज किस नृपका अनिष्ट समीप है,
पतन किस साम्राज्यका अनिवार्य है ?
जो बुलाहट है हुई दर्बारसे,
है प्रकट यह आज कोई कार्य है ॥

पहुँच सेनापति गए अविलम्ब ही,
थी सभा बैठी जहाँ श्रीरामकी ।
नम्रताके साथ अभिवादन किया,
बात आई सामने फिर कामकी ॥
सौम्य आकृति वक्र थी अवधेशकी,
था झलकता क्लेश चहरेपर घना !
किन्तु दृढ़ता भी प्रकट थी दीखती,
वेदनाके साथ थी संवेदना ॥

राम बोले—'बन्धु, सीताको अभी,
छोड़ आओ तुम विपिनके अंकमें ।
जगह अब उसको नहीं प्रासादमें,
दंड है यह, डालना आतंकमें ॥
मौन र, हेसेनापतिनिस्तब्ध ही,
श्रवण कर इस वज्रसे आदेशको ॥
व्यथासे मन भर गया उनका तभी,
सहन पर करना पड़ा संक्लेशको ॥

चाकरी थी, बोल क्या वह बोलते ?
था गुलामीसे बँधा उनका गला ।
कभी आज़ादी गुलामीका रहा,
किसी भी युगमें नहीं कम फासला ॥
निर्बलोंकी बात जाने दीजिए,
शक्ति-शाली भी अगर परतंत्र है ।
देह उसकी क्या, नहीं है ध्येय भी,
दूसरेके हाथ ही का यंत्र है ॥

* * * *

चमूपतिने रथ लगाया द्वारपर,
जानकीसे वचन यों कहने लगे ।
'उठो, जननी तीर्थ-दर्शनके लिए,
भाग्यकी जिससे प्रबल रेखा जगे ॥
दे दिया आदेश है रघुनाथने,
देर करना अब तुम्हारा व्यर्थ है ।
चाव था जिन-वन्दनाका जो तुम्हें-
यान भेजा नाथने इस अर्थ है ॥

धिक् ! गुलामी, क्या कहें तेरे लिए ?
प्रकट है यह शक्तिशाली तू वही ।
धन्य है वह वीर जो तुझसे बचा,
विजयकी माला गले जिसके पड़ी ॥
दासका जीवन न कोई वस्तु है,
जो इशारोंपर हमेशा नाचता !
झूठ-सच करना सभी पड़ता उसे,
खो चुका जो गांठसे स्वाधीनता ॥

अवधकी रानी उठीं श्रद्धा भरी,
'चलो' कहकर बैठ वे रथमें गईं ।
चमूपतिका कंठ तब अवरुद्ध था,
बूँद दो अब लोचनोंमें आगईं ॥
देख सीताने कहा—क्या बात है ?
हर्ष-बेलामें प्रकट यह शोक क्यों ?

---

* यह वह दूसरा खण्ड काव्य है, जिसे भगवत्‌जी अनेकान्त के लिये अपने पीछे छोड़ गये हैं । —सम्पादक

दुखित-सा मन क्यों तुम्हारा दीखता,
श्याम मुख है, है नहीं आलोक क्यों ?
सैन्य-नायक सँभलकर कहने लगे—
'कुछ नहीं, माता न चिंता तुम करो।
देव-दर्शनका महत् सौभाग्य ले,
मानवी-तनको महत्तासे भरो ॥'
और रथ उनने बढ़ाया वेगसे,
दौड़ने घोड़े लगे रथको लिए।
नहीं सीता पूछ कुछ आगे सकी,
चुप रही वह, खिन्न अपना मन किए ॥
अपशकुन हैं आज यह क्यों हो रहे,
क्यों अशुभसा आज दिखलाता मुझे!
फड़कती है आँख यह दुख-दायिनी,
दीखता है कष्ट कुछ आता मुझे ॥
रामरानी सोचती यह जा रही
और रथ है उड़ रहा गति वायुकी।
सोचते हम विश्व-वासी हैं यथा,
उधर घटती आयु पल-पल आयुकी ॥
धूलके गुब्बार पीछे उड़ रहे,
वेगसे है यान आगे बढ़ रहा।
छूटते सब जा रहे वन-ग्राम हैं,
सारथी है जा रहा मनमें दहा ॥
सोचती फिर अवधि-पतिकी कामनी,
देव-दर्शनसे सभी होगा भला।
व्यर्थ चिंता इस लिए मैं क्यों करूँ ?
मानना है जब कि विधिका फैसला ॥

* * * *

सभी तीर्थोंकी कराकर वन्दना,
रथ घुमाया फिर चमूपतिने कहाँ ?
उस भयंकर घोर अटवीमें सखे !
मृत्युका साम्राज्य पूरा था जहाँ ॥
बाघ, चीते, सिंह, भालू, भेड़िए,
सर्प, बिच्छू आदिसे वह थी भरी।
वृक्ष थे इतने सघन उसमें खड़े,
दिवसमें भी थी प्रविष्ट विभावरी ॥
सब तरफ चिंघाड़ता गज-झुंड था,
बाघ थे ऊँची दहाड़ें मारते।
इधर भालू भेड़िए थे घूमते,
सर्प अजगर थे उधर फुंकारते ॥
हिमकोंके रूप फिरती मृत्यु थी,
काँप उठता देख कर बलवान भी।
रोक करके यान सैनानी वहाँ,
लगे रोने थे न जो रोए कभी ॥
चकित हो सीता लगी तब पूछने,
रो रहे हो क्यों, कहो ए वीरवर।
किस लिए हो रुक गए बोलो जरा,
यहाँ ठहरो मत, चलो अपने नगर ॥
यह जगह इतनी अशोभन है, जहाँ—
एक क्षणको भी ठहरना काल है।
शीघ्र ही आगे बढ़ाओ यानको,
हो रहा मेरा यहाँ बेहाल है ॥
चमूपति रोते हुए कहने लगे,
रुद्ध-स्वरमें कपट-मय अपनी व्यथा।
माँ ! क्षमा मुझको करो मैं दास हूँ,
दीन हूँ, असमर्थ हूँ, मैं सबथा ॥
दीन ही रोते सदा आए यहाँ,
रो रहा हूँ आज मैं भी दीन हो।
दीनका अस्तित्व क्या संसारमें ?
है वही जीवन कि जो स्वाधीन हो ॥
मैं गुलामीमें बँधा हूँ, भृत्य हूँ,
सबल होकर भी न कुछ कर पा रहा।
देखना वह दृश्य मुझको पड़ रहा,
दे रहा जो कष्ट प्राणों को महा ॥
चुप रही अवधेश्वरी बोली नहीं,
सोचती मनमें यही अपने रही।
है अमंगलकी घटा सिर पर खड़ी,
सोचती थी सामने है अब वही ॥
कहा—'रोओ मत, कहो जो बात हो,
सिर्फ रोनेसे चला है काम कब ?
भाग्य-निर्णय टल नहीं सकता कभी,
भोगना ही वह पड़ेगा पुत्र ! सब ॥
चमूपति कहने लगे आक्रान्त हो—

'दास है क्या वस्तु स्वामीके लिए।
पूछती हो, रो रहा हूँ किस लिए ?
रो रहा हूँ मैं गुलामीके लिए ॥
आज यदि स्वाधीन होता तो अहो,
पाप यह होता न मेरे हाथसे।
नारकीपनका घृणित मिलता नहीं,
मर्म-बेधी हुक्म ये रघुनाथसे ॥
माँ! मुझे आदेश है, अवधेशका,
प्रकट करते काँपती मेरी गिरा।
क्या करूँ? कुछ समझमें आता नहीं,
आज ऐसी उलझनोंमें हूँ घिरा ॥
दुखित वैदेही लगी तब पूछने,
काँपता स्वर और थे आँसू बहे।
क्या कहा है ? नाथने उसको कहो,
क्लेश क्यों तुम व्यर्थ ही हो पा रहे ?
तब विवश होकर यही कहना पड़ा,
माँ! तुम्हारा त्याग है प्रभुने किया।
घोर बनमें छोड़ आनेके लिए,
है मुझे आदेश राघवने दिया ॥
उठी रथसे जनकनृपकी नंदिनी,
प्राणपतिके वचन पड़ते कानमें।
कष्ट सहसा वह उसे अनुभव हुआ,
था न जो अनुमानके भी ध्यानमें ॥
उतर कर रथसे चली सीता जभी,
सैन्यपतिका हृदय सा फटने लगा।
ठीक बच्चोंकी तरह वह रो पड़े,
विपिन कोलाहल रुदन ध्वनिसे जगा॥
भयाकुल-सीता धरा पर जा पड़ी,
आसुओंसे वस्त्र भींगे थे सभी।
भूमि पर बैठी लगी अवधेश्वरी,
वीरसेनापति दुखित बोले तभी ॥
हाय! यह क्या देखता हूँ आज मैं,
फूट जाती आँख क्यों मेरी नहीं ?
मूर्खता थी जो अयोध्यामें रहा,
भाग जाता मैं विदेशोंको कहीं ॥
कृत्य यह होता न मेरे हाथसे,
हूँ दयासे शून्य बेशक नारकी।
अधम मुझ-सा कौन है संसारमें ?
कौन मुझसे अधिक होगा पातकी ?
कुसुम-सा तन, कहाँ बनकी भीमता,
दीखती है प्रकट अकुशल प्राणकी।
कहाँ यह निर्जन विपिनकी भूमि है,
कहाँ महलोंकी निवासिन जानकी ॥
मात्र स्वामीके इशारे पर खड़ा,
ले रहा हूँ मोल यह घातक-व्यथा।
कर रहा हूँ वह अनर्थ महान मैं,
हृदयके प्रतिकूल है जो सवथा ॥
आत्मा-तक हाय बिक जाती जहाँ,
विश्वके सारे वहाँ दुख क्लेश हैं।
स्वाभिमानी मन वहीं पर नष्ट है,
जहाँसे यह दासता प्रारम्भ है ॥
वह मृतकके तुल्य है, परतंत्र जो,
यदि कहें जीवित उसे तो दम्भ है।
माँ! क्षमाकी भीख दे करदो विदा,
बाट होंगे देखते रघुकुल-तिलक ॥
कुछ संदेशा भेजना हो तो कहो,
मैं उसे पहुँचा सकूँगा नाथ तक।
रो पड़ी मिथलेशकी तब लाडली,
उच्च-स्वर था, घोर करुणासे भरा ॥
गूँज तब कान्तारकी सीमा गई,
काँपने-सी लग गई जैसे धरा।
रो उठा वह भीम वन भी दीन हो,
पत्थरोंका भी हृदय फटने लगा ॥
वृक्ष भी चीत्कार-सा करने लगे,
रुक गई बहती हुई भी विपथगा।
बाघ, भालू, सर्प, हस्ती, भेड़िए,
सब चकित हो लगे उसको देखने ॥
सौम्यता उन पर झलकने थी लगी,
हों सभी जैसे कि मिट्टीके बने।
मर्म-बेधी रुदन रघुपति-नारिका,
गगनको छूने लगा निर्मुक्त हो ॥
सभी नभचर विकल हो आकाशसे,

पास आए शोकमें संयुक्त हो।
बहुत रोका था रुदन दृढ़ चित्त हो,
असह हो वह किन्तु सन्मुख आगया।।
पूछते ही चमूपतिके रो पड़ी,
टूट जैसे बाँध हो जलका गया।
देर तक सीता इधर रोती रही,
उधर सेनापति बहाते नीर थे।।
किसीको भी तो नहीं अवकाश था,
दुखित दोनों ही समान अधीर थे।
कठिनतासे कह सकी सीता यही,
'पुत्र! कहना—प्रभो! यह अरदास है।।
लोकका अपवाद सुन करके मुझे,
दे दिया जो आपने वनवास है।
आज कुछ खोटी प्रकृतिके आदमी,
धर्मका अपवाद करते हैं विभो!
श्रवण कर उस धर्मके अपवादको,
छोड़ मत तुम धर्मको देना प्रभो!
त्याग मेरा कष्टदायी कुछ नहीं,
क्यों कि मैं हूँ आपकी पद-सेविका।
किन्तु तजना धर्मका दुष्कृत्य है,
कष्ट-दायक नर्क और निगोदका।।
बस यही सन्देश कहना जा वहाँ,
नाथ! सीताने कहा है आपको।
यश निरन्तर आपका बढ़ता रहे,
धर्म पल-भरको न विस्मृत कर सको।।
वीर सैनानी दुखित रोता हुआ,
पैर छू कर पुनः रथमें जा चढ़ा।
रह गई सीता अकेली ही वहाँ,
यान खाली अवधके पथपर बढ़ा।।

* * * *

चमूपतिको देख कर आता हुआ,
रामका होने लगा मन-व्यग्रमना।
लोचनोंमें नीर आनेको हुआ,
कण्ठकी दयनीय दिखलाई दशा।।
दूरसे ही पूछने वह यह लगे,
'छोड़ आए हो कहो सीता कहाँ?
कुछ कहे हैं शब्द क्या मेरे लिए,
ठहरनेकी क्या व्यवस्था है वहाँ?
मौन सेनापति रहे कुछ देर तो,
फिर सुना सन्देश सब उनने दिया।
राम आँसू पोंछते सुनते रहे,
पाठ इससे क्या कहें कितना लिया?
अवधपति जब शोकमें संत्रस्त थे,
चमूपति कहने लगे अपनी कथा।
हे प्रभो! मुझको विदाकी भीख दो,
खल रहा जग जाल मुझको सर्वथा।।
कर चुका मैं कार्य अंतिम आपका,
अब मुझे स्वातंत्र्यका सुख चाहिए।
है मुझे करना प्रयत्न अवश्य ही,
इस दुखद घातक गुलामीके लिए।।

* * * *

दासताकी शृंखलाको तोड़ कर,
चमूपति दौड़े तपोवनके लिए।
तनिकमें सन्तुष्ट वह होते न थे,
पूर्ण आज़ादी उन्हें थी चाहिए।।
राम बोले—'बन्धु! मुझको छोड़ कर,
कहाँ जाते हो बताओ तो ज़रा?
चमूपति बोले नहीं, आगे बढ़े,
उसी पथपर जो कि था आशा भरा।।
जहाँ राघवको विकलता थी मिली,
प्राण प्यारीके विपिन परित्यागसे।
वहाँ पाया वाँछनीय प्रकाश था,
चमूपतिने उस विरहकी आगसे।।

———

सुख और दुख

(लेखक— श्री जमनालाल जैन, विशारद)

कविवर भूधरदासजीका यह कहना —"जो संसार विषै सुख होता तीर्थंकर क्यों त्यागे। काहे को शिवसाधन करते संयम सों अनुरागे।" एकाएक हृदयमें उथल-पुथल, आश्चर्य एवं आशंका उत्पन्न कर देता है कि क्या वास्तव में इस संसारमें सुख है ही नहीं, दुख ही दुख है ! उस समय और भी अधिक कौतूहलका अनुभव होता है, जिस समय वे अपनी पंक्तिमें तीर्थंकरोंका भी समावेश कर देते हैं। तीर्थंकर जैन धर्मानुसार ऐसे वैसे सामान्य मनुष्य नहीं होते, वे जन्म हीसे किसीको अपना सिर भी नहीं झुकाते— उनकी योग्यता, महानता और आदर्शके प्रतिकूल जो ठहरती है यह बात। जब इतने बड़े ऐश्वर्यवान्, महिमावान् और और तो और इन्द्रों द्वारा पूजनीय तीर्थंकरोंकी ही, यह दशा इस संसारमें है, तब फिर हमसे सामान्य प्राणियोंकी हालतका तो पूछना ही क्या है !

जो ईश्वर, परलोक, धर्म कर्म, आदि कुछ भी नहीं मानते, जिनकी संज्ञा इसके विपरीत धारणा वालोंने 'नास्तिक' रख छोड़ी है, उनका कहना है कि जो कुछ है, यहींपर है—सुख भी और दुख भी। परन्तु जब हम देखते हैं तथा प्रत्येक प्राणीके हृदयस्थ विचारोंकी थाह लेते लेते हैं, तब यही ज्ञात होता है और जिसे प्रत्येक प्राणी समझता है कि संसारमें भटकनेवाला तुच्छसे तुच्छ जीव भी सुखकी महत्त्वाकांक्षाओंको लिये चारों ओर सुखशांतिकी खोजमें फिरता रहता है। कोई भी प्राणी क्षणमात्रके लिये तो अपने प्रिय निरीह प्राणोंको दुखकी धधकती हुई ज्वाला में सहर्ष समर्पित करना नहीं चाहता। वह अपना वर्तमान दशापर, फिर वह चाहे जैसी ही दूसरोंकी दृष्टिमें क्यों न हो, कभी भी संतुष्ट नहीं रहता—निरन्तर यही सोचता रहता और भावी सुखकी आशा और अभिलाषाओंकी कल्पना कर, उनकी पूर्तिकी चिन्तामें सतत व्याकुल रह सदैव अपने अन्तरको दग्ध करता रहता है कि इससे व्यापक एवं अमिट सुख-शांति किस प्रकार प्राप्त हो। दूसरे, हम निरन्तर प्रत्यक्ष अनुभव करते ही रहते हैं कि जिस प्रकार एक धनसम्पन्न व्यक्ति भी अपनी दयनीय दशापर आकुल व्याकुल और चिंतित रहता है, उसी प्रकार एक निर्धन भी अपनी असमर्थता निस्सहायता और निर्धनताको कोसता रहता और उस धनिकके वैभव और ऐश्वर्यको निरखकर ईर्षासे भस्मसात होता रहता है। एक ओर कोई निःसंतान होनेसे दुखी रहता है, कोई कुसंतान होनेसे चिंतित रहता है तो कोई होकर मर जानेसे दुखी रहता है। एक महाशय अपनेको, अविवाहित जीवन व्यतीत करनेके कारण जहां हतभाग्य और दुर्भाग्यशाली समझते हैं वहीं दूसरी ओर उन्हींके पड़ौसमें देखनेको मिलता है कि पति पत्नी आपसमें 'जूती-पत्रम्' कर रहे हैं। इसी लिए एक कविने जगतकी विचित्रताका सूक्ष्म निरीक्षण करके कहा है—

> दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान्।
> कहूँ न सुख संसारमें, सब जग देख्यो छान ॥
>
> —पार्श्वपुराण, भूधरदास

तब यह कहना कि सुख और दुख दोनों भी यहींपर हैं और सब कुछ इसी जीवनके लिए है नास्तिकोंका कहां तक उचित और उपयुक्त स्वीकार किया जा सकता है, जब कि लोग पाप, हिंसा, अत्याचार और पाखण्डसे भयभीत होकर, कुछ पुण्य कार्य कर अपने भावी जीवनकी उज्ज्वल कल्याण कामना करते हुए पाए जाते हैं।

मान भी लें कि यह उनकी मूर्खता है अज्ञानता है और है आस्तिकताके नामपर ढोंग; तब भी प्रश्न इन नास्तिकोंके सिरपर भूत बनकर सवार ही रहता है कि महाशयजी, यदि यही जीवन सब कुछ होता—इसके आगे कुछ भी न होता तो संसारमें विधि विधानों नियमोप-नियमों, राजकीय नियमों, धार्मिक अनुष्ठानों और सामाजिक प्रथाओंकी आवश्यकता ही क्यों होती ? लोग मन-माने कार्य करते, हमारी बहन-बेटियोंपर खुले रूपसे निर्भयताके साथ बलात्कार करते और एक दूसरेको कष्ट पहुंचा

कर अपने स्वार्थ-साधनमें लिप्त रह खाते-पीते और मौज उड़ाते ! सत्य तो यह है कि ऐसा यदि होता तो यह संसार, संसार न रहकर नरक रह जाता, जहां बेचारी संस्कृति, सभ्यता धर्म तथा जीवनकी गंध भी नहीं आने पाती और असम्भव नहीं जो यहां शून्य रहता । और, यदि लोग अपने कल्याणके लिए, शुभ कार्योंके करनेमें तत्पर दिख ई पड़ते हैं तो क्या उनकी कल्याण कामना, उनकी मृत्युके उपरांत मृतिकाके ढेरके लिए है ? कह नहीं सकते, इन प्रश्नोंका उत्तर, हमारे नास्तिकता दम भरने वाले दंभी और अहंकारी सज्जन, किन शब्दोंमें देंगे ! परन्तु इतना तो निर्विवाद सुस्पष्ट है कि उस सिद्धान्तके अनुयायियोंमेंसे एक भी सज्जन ऐसा न होगा जो अपनेको, अपनी स्थितिमें हो, अथवा, उसे उसकी मांगके अनुसार समस्त सुखसाधन प्रदान कर दिए जाएँ, तो भी, वास्तविक या स्थायी सुखका पूर्ण अधिकारी सिद्ध कर सकेगा।

हो सकता है, वे यह दलील उपस्थित करके अपनेको विजयी घोषित करना चाहें कि प्राणी केवल कार्य करनेके लिए ही उत्पन्न हुआ है; वह इसकी परवाह या अभिलाषा इसलिए नहीं कर सकता अथवा उसे अधिकार ही नहीं है कि वह सोचे कि मैं सुखी होऊँ या चैनकी बंशी बजाऊँ ! लेकिन वास्तवमे यह दलील सवा सोलह आने लचर है । ऐसा कौन है जो भव्य प्रासादोंमें नरम-नरम कोमल गलीचो पर गद्दियोंपर बैठे बैठे अपने भृत्योंपर हुकुम चलानेके स्थान पर ज्येष्ठकी भरदोपहरीमें हाथमें कुल्हाड़ी लेकर जगल मे ईंधन काटनेको जानेके लिए उद्यत हो ! यह बिलकुल असम्भव है । यदि प्राणी परिश्रम करना ही उपयुक्त समझता होता तो क्यों यह देखनेमें आता है कि कई व्यक्ति कार्योंसे, जिन्हें वे मूल्य या पारिश्रमिक लेकर भी करते हैं, जी चुराते हुए पाए जाते हैं । और, यदि परिश्रम करनेमें मनुष्यको आनन्द आता अथवा वह यदि उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती तो क्यों आज आलसियों, अकर्मण्यों और ऐयाशियोंके विरुद्ध पोथेके पोथे दृष्टिगोचर होते हैं एवं क्यों परिश्रमकी प्रशंसापर प्रशंसा सुननेमें आती है ? जो कार्य, स्वभावतः प्रत्येक मानवके हृदयसे निरन्तर होते ही रहता है उसके विषयमें न तो कहीं प्रशंसा हा सुनी गई और न निंदा ही करते किसीको देखा है । परिश्रमका नाम सुनकर ही लोगोंके आगे अनिष्ट आशंकाका धुँधला चित्र उपस्थित हो जाता है और जिनके वशीभूत होकर वे कार्य करते हैं, एक तो उनपर कुढ़ते रहते हैं और दूसरे जी लगा कर कार्य भी नहीं करते। अत. यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक प्राणी, फिर वह छोटा हो या बड़ा, सुखका ही अभिलाषी है—

जे त्रिभुवनमें जीव अनंत । सुख चाहैं दुख तैं भयवंत ॥

इतना कह चुकनेके उपरांत भी, विचार करनेके लिए—विवेचना करनेके लिए—हमारे सम्मुख कतिपय प्रश्न रह ही जाते है कि सुख आखिर है क्या ? वह है तो भी कहां ? और वह प्राप्त कैसे किया जा सकता है ? अतः संक्षिप्त रूपेण इनपर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा ।

सुख-सुख तो सारा संसार चिल्लाता है—दार्शनिकोंने भी चिल्लाया, विचारकोंने भी और धार्मिकोंने भी । परन्तु हम देखते हैं कि आज भी ये दो अक्षर मनुष्योंके लिए विकट समस्या बने हुए हैं । एक निर्धन कहता है कि यदि मेरे पास इतना धन होता तो मैं यों करता, त्यों करता और न जाने क्या करता तथा सुखी रहता । परन्तु उसीके पीछे एक धनिक चिल्ला रहा है "हाय ! हाय !" न उसे खानेकी सुध है न पीनेकी, न सो पाता है न जाग ही सकता है—यह उससे भी अधिक चिन्तित और आकुल-व्याकुल दिखाई देता है । यह दुविधा सुखान्वेषी के लिए एक विचित्रता उपस्थित कर देती है कि अंतमें सुख कहां किसे जाय और उसका उपयुक्त उपभोक्ता कौन हो सकता है ? ज्यों २ वह आगे कदम बढ़ाता है दुख दावानलकी प्रचण्डता ही उसे दृष्टिगत होती है । ज्यों २ वह इस समस्याको सुलझाने के लिये प्रवृत्त होने जाता है, त्यों २ उसका जाल उलझते ही जाता है परन्तु सुखका खोजी यथार्थमें यदि कोई है और कुछ सदसद् विवेक बुद्धि रखता है तो उसे, ससारसे दूर हट कर. विचार करनेके पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि "संसारमें जितनी भी दृश्यमान वस्तुएँ हैं, सब ही दुखका कारण हैं; क्यों कि, जैसा वह देख चुका होता है, जो वस्तु एकके लिए हितावह अथवा सुखकर है, जिसे स्थायी नहीं कह सकते, वही दूसरेके लिए उसी समय हानिकारक एवं दुखःद भी है; इस लिए यह दुरंगी वस्तुएं, जिनके समूहका नाम ही यह दृश्यमान् संसार

है कभी भी स्थायी सुखप्रद नहीं हो सकती।" अतएव यह निश्चित रूपेण स्पष्टतासे कहा जासकता है कि स्थायी सुख उस भावना या आनन्दका नाम है जिसमें इच्छा, अभिलाषा, मोह, राग और द्वेषका पूर्णतया अभाव हो। सच्चा सुख निराकुलतामय है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें, यह तो हम स्पष्ट रूपसे निरख ही चुके कि निराकुलता ही सुख है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि वह है कहां? संसारमें तो सुख है नहीं, अतः वह कहीं तो भी इसके परे ही होना चाहिए, यह जाननेकी जिज्ञासा सहज ही उद्भूत हो उठती है।

एक विद्वानका अभिमत है कि—"सुख मनसे सम्बन्ध रखता है, आयोजन या आडम्बरसे नहीं।" जहां आयोजन और आडम्बर, इच्छा और अभिलाषा राग और द्वेष, बड़प्पन और अभिमान, क्रोध और माया लोभ और मोह का साम्राज्य छाया हुआ होगा, वहां सुखकी आह्लादकारी पताका, जो शांति और निराकुलताके पुनीत साम्राज्यकी प्रतीक है, नहीं फहरा सकती। जब तक मन और हृदय विकारशून्य नहीं हो जाते, "तेरा-मेरा" के चरपरे विचार चूर-चूर नहीं हो जाते, तबतक सुखका अनुभव कैसा? सुख तो वहां है, जहां आकुलता नहीं, निराकुलता है। जहाँ निराकुलता है, वहीं शांति, संतोष और आनंदकी स्थिति है। हम तनिक क्षणके लिए भी गार्हस्थिक झंझटोंसे हटकर यदि एकान्तमें जा, निर्विकार और निराकुल हो, आत्माके स्वरूप और प्रकृतिकी सुंदरताका सहृदयतापूर्वक निरीक्षण और चिंतन-मनन करें तो ज्ञात होगा कि कितना अलौकिक, अभूतपूर्व और स्वर्गीय सुखका हमें अनुभव होता है।

यह तो एक क्षणिक समय मात्रकी बात हुई। परन्तु सदा ही ऐसी अवस्था तो संसारमें रहकर उपलब्ध नहीं हो सकती, बिना चिंता और आकुलताके काम ही नहीं जो चलता यहांका। इसीलिए एक सूक्ष्मदर्शी साधक कविने उस सुखके स्थलका संकेत अपने शब्दोंमें यों किया है—
"आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यौ चहिये।"

यदि हम अपने आपको—आत्माको—शिव (मुक्ति) की ओर आकृष्ट करेंगे, आत्म-ध्यानमें तल्लीन होंगे और निरन्तर आत्मस्वरूपके चिन्तनमें ही मग्न रहेंगे तो उस हालतमें न खाना सूझेगा न पीना न पहनना सूझेगा न ओढ़ना, रातका अनुभव होगा न दिनका; वह अवस्था ही एक विचित्र दशा होती है। उसमें एक बार जो तल्लीन हो जाता है, यदि उसके शरीरपरसे भयानक विषधर भी गुजर जायँ, उसके शरीरको जंगलके मृगगण पत्थरकी दीवाल समझ कर खाज खुजलाते हुए खिसक जाय तो उस आत्मध्यानी महात्माको तनिक भी भय तो क्या, आभास भी नहीं होता कि इतनी देरमें मुझपर क्या क्या बीती है। उसे अपने ध्यानानन्दमें यह भाव ही नहीं होता कि मैं कहां हूँ, मेरा शरीर कैसा है! इस ध्यान ही ध्यानसे एक समय वह आता है जब उसके हृदयके सारे विकार, सारा मनोमालिन्य, मोह ममता, ध्यानाग्निकी धधकती ज्वालामें भस्मीभूत होजाते हैं और हृदयमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" का तेजोमय अखण्ड प्रकाश विश्वप्रांगणपर प्रकाशित एवं आलोकित हो उठता है। एक हिंदी कविके कथनानुसार उसकी यह दशा होजाती है—

"अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-कांच, निन्दन थुतिकरन।
अर्घावतारन, असि-प्रहारनमें सदा समता धरन॥"

उपरांत इसके, एक समय वह आता है जब उसके समस्त अज्ञान मेघ, निरंतर समता-सुधाका पान करते २, एक दम नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान सूर्यका देदीप्यमान आलोक, अनन्त लोकमें व्याप्त हो उठता है। इसे संपूर्ण ज्ञानदशा कहते हैं, जिसे जैन धर्ममें 'केवलज्ञान' कहा गया है। इस सुदशापर पहुँचनेके पश्चात्, जिस अश्रुतपूर्व सुखका अनुभव उसे होता है, वह लेखनी और वाणीके घेरेसे आबद्ध नहीं। इस सम्बन्धमें मनस्तुष्टि मात्रके लिए, केवल इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि जहां हमारा ज्ञान इंद्रियोंके वशीभूत होकर सीमित द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको लिए हुए है, हम जितना कुछ मनन, चिंतन, अवलोकन विश्लेषण इन इंद्रियों द्वारा देख, सुन, सूंघ, चख और स्पर्श करके कर सकते हैं, उससे भी कम उसे समझ सकते हैं अर्थात विश्वके सम्मुख उसे संपूर्ण सत्य रूपसे उपस्थित भी नहीं कर सकते—प्रत्येक विषय गूंगेका गुड़ होकर रह जाता है। वहां, उन ज्ञानियों—केवलज्ञानियों की समस्त इंद्रियां—सुख और ज्ञान-प्राप्तिके समस्त बाह्य साधन—मृत्युमुखमें पहुंच जाती हैं—निष्क्रिय हो जाती

हैं, एवं स्वयं आत्मा ही सपूर्ण इन्द्रियोंका कार्य करने लगती है। हमारा ज्ञान परावलम्बी है—यदि हम एक भी इन्द्रियसे पगु हों तो उसके विषयका रसास्वादन स्वप्नमें भी सम्भव नहीं, परन्तु आत्माको इन बाह्य आयोजनोंकी किंचित् भी आवश्यकता नहीं होती—वह संसारकी सारी प्रवृत्तियों, सारे परिवर्तनोंको हस्तामलकवत् जानती है।

कभी कभी हमें किसी बातका अथवा अनुभवका ऐसा आत्मीय आनंद होता है कि तनके रोम रोम पुलकित हो उठते हैं। जहां ज़रा-सी बातसे ही इतना अलौकिक आनंदानुभव होता है, वहां जगतके सपूर्ण व्यापारोंका एक साथ अनुभव करने वाले महात्माओं किस कोटि का आनंद होता होगा—वर्णनातीत है। संक्षेपतः उसे 'अनन्त सुख'–अखण्ड सुख कहकर मनस्तुष्टि कर सकते हैं!

प्रत्युत इसके, दुख तो दुख ही है। सारा संसार ही उसकी धू-धू करती ज्वालाप संतप्त हो रहा है। परन्तु दुख भी सुख ही है—दुखको सुखका पर्यायवाची शब्द ही समझना चाहिए क्यों? स्वाभाविकतः प्रश्न प्रस्तुत होता है!

मनुष्य जब अति असह्य दुखके भारसे दब जाता है, तब ही उसे क्रान्ति सूझती है—वह अपने हितका मार्ग खोजनेके लिए व्यग्र हो उठता है। जब तक वह आराममे खाता, पीता और मौज उड़ाता है, यह सोचनेकी परवाह भी नहीं करता कि मेरा हित किसमें कहां और क्यों है? मेरा कर्तव्य क्या है? मैं इस समय किस पथका पथिक हूँ? क्या मेरे कार्य-व्यापार उचित हैं, हेय नहीं? संसार इस समय किस परिस्थितिका अनुभव कर रहा है? एक नौकरको हम जब तक उसके जीवन-निर्वाहके लिए पर्याप्त पारिश्रमिक देते रहेंगे, तब तक उसके हृदयमें अनिष्टकी, संदेहकी या विनाशकी कल्पना भी प्रसूत नहीं हो सकती, वह अपना कार्य पूर्ववत्, पूर्ण जिम्मेदारी और ईमानदारीके साथ किए चला चलेगा। परन्तु जहां उसकी आवश्यकताएं बढ़ीं और व्ययका परिमाण वृद्धिंगत हुआ तथा हाथमें द्रव्य न रहा तो वह निस्संकोच होकर, उसी मार्गपर आरूढ़ होगा जिसे सभ्य भाषामें 'चोरी' कहते हैं। यही हालत प्रत्येक मनुष्यकी होती है—उसे सिखानेकी आवश्यकता नहीं होती।

अतृप्ति अथवा असंतोष ही एक ऐसी अलौकिक शक्ति है जो उत्थान और पतन–जैसी जिसकी संगति हो—की ओर, प्रत्येक प्राणीको प्रवृत्त करती है। असंतोषसे एक दुख होता है जिससे कुपित होकर वह, सुख-संतोष ढूंढता है, और यह सब उस प्रचण्ड और बलवती प्रेरणासे होता है, जिसके मूलमें स्पर्धा समाहित रहती है, और वह उस के साथ की जाती है जिसके निकट सुख-संतोष अधिक मात्रासे रहता है। इस दृष्टिसे कह सकते हैं कि जिस प्रकार निराशामें आशा, रश्मिमें प्रकाश, विलासमें काम, घनमें विद्युत और वेदनामें अश्रु अभिन्न भावसे सन्निहित रहते हैं, उसी प्रकार दुखमें भी सुख विद्यमान रहता है। यदि हमें दुख, अतृप्ति और असंतोषका अनुभव न हो, तो यह स्वप्न में भी विचार करना कि सुखकी ओर अग्रसर होना है, निरा दंभमात्र होगा।

किंतु एक बात ध्यानमें रखना आवश्यक है। यदि हमारा दुख और असंतोष उदासीनता–निराशामें परिणत होजाए हम किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाएं तो समझ लीजिए निश्चय ही हमारे भाग्यका सुख-सिंदूर पुंछ रहा है। असंतोष अथवा अतृप्ति हो तो हमें पूर्णत्वकी ओर अग्रसर होने का सबक सीखनेको मिलता है। वह तो हमारे भाग्य-परिवर्तनके लिए समय प्राप्त करनेकी एक चेतावनी है, घण्टी है; यदि हम उसकी आवाज सुनकर समयपर जाग गए और अपने कर्तव्यपर डट गए तो दुनियाकी ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमारे बीचमें रोडा अटका सके, परन्तु चाहिए उसके लिए साहस, धीरता, और पुरुषार्थ। और यदि नहीं जागे, अपने उस अमूल्य क्षणको नगण्य समझ यों ही 'काग उडावन मणि' के समान खो दिया, तो कर्म महारिपुओंकी जोरदार फटकार और जीवन-पुट्ठोंपर बेतोंकी लताड़ एवं पाप-पुण्यमयी जंजीरें तैयार ही हैं—इस समय भी संसारकी कोई शक्ति छुडानेमें समर्थ नहीं होसकती।

अंतमें पाठकोंका ध्यान, विशेषरूपसे कविवर पं० दौलतरामजीके निम्न पद्यांशोंपर आकृष्ट कर, उसे गंभीरता-पूर्वक मनन और अध्ययन करनेके लिए उद्धृत कर, इस आशा और इच्छाके साथ कि विद्वान लोग प्रस्तुत विषयपर सुंदरसे सुंदर विचारोंको प्रकट करेंगे, निबंध समाप्त करता हूँ।

'आतमको हित है सुख, सो सुख, आकुलता बिन कहिए।'
पुण्य-पाप–फल माहिं हरख बिलखौ मत भाई!'

वीरके वैज्ञानिक विचार

(लेखक—पं० धन्यकुमार जैन, एम० ए०, जैन दर्शनशास्त्री)

इसके पहिले कि हम, इस विषयपर कुछ भी लिखने के लिये लेखनी चलावें उस परिस्थितिका दिग्दर्शन कराना अनुचित नहीं समझते जिसका कि सामना भगवान वीरको नहीं व्यक्ति वीरको करना पड़ा था।

जब वे जीवनके कार्यक्षेत्रमें उतरे, उनके सामने एक समस्या आन खड़ी हुई। वे चलते २ ऐसे स्थलपर आ खड़े हुए जहां उन्हें एक नहीं अनेक मार्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वे इस विचारमें पड़े कि इस रास्ते जाउँ या उन रास्तोंसे जाउँ।

एक मत कह रहा था कि अगर मुक्त होना चाहते हो तो हमारी खुशामद करो, चापलूसी करो, भक्ति करो, पूजा करो, हमारी ही शरणमें आओ (मामेक शरणं व्रज) हम तुम्हारा उद्धार कर देंगे, तुम्हें वैकुण्ठवासी बना देंगे।

दूसरा मत कह रहा था किसीकी खुशामद चापलूसी करनेकी आवश्यकता नहीं, किसीकी शरण-भरणमें जानेकी जरूरत नहीं। अपनी मुक्तिके लिये दूसरे पर आश्रित होना अपनेको निकम्मा एवं आलसी सिद्ध करना है। तुम स्वय ही स्वयंके उद्धारके लिये प्रयत्नशील होओ, सफलता या मुक्ति बद्धहस्त हो तुम्हारा स्वागत करेगी।

उनके उपदेष्टा या प्रवर्तक भिन्न व्यक्ति थे। एक बड़ेसे छोटा बना, संसारमें अवतारी पुरुष कहलाया और अपने अलौकिक कृत्य दिखला जनताको आदेश देने लगा मुझे बड़ा मानो, मेरी पूजा करो, मैं तुम्हारा उद्धार कर दूंगा। दूसरेका प्रवर्तक हम आप सरीखा दो हाथ पैर वाला व्यक्ति था उसने अपने स्वरूप व शक्तिको पहिचाना, अज्ञान के पर्देको हटा कर्तव्य पथपर चल अपनी उन्नति करने लगा। उन्नतिके अंतिम शिखरपर पहुँच जनतासे निवेदन करने लगा कि तुम भी मुझ सरीखे उन्नत हो सकते हो बशर्ते कि परका आसरा छोड़ स्वावलम्बी बनो और कर्तव्य कर्म करनेके लिये पिल पड़ो।

श्रीवीर दोनों मार्गका अवलोकन कर अपना पथ निश्चित करनेके लिये विचार करने लगे। उन्होंने विचारा 'बड़े होते हुए छोटा कार्य करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है लक्षाधिपति होते हुए सैकड़ों हजारों रूपये लुटा देना, एक सहज काम है, मन भर बोझा उठानेकी सामर्थ्य रखने वाले व्यक्तिके लिये दस सेर बोझा उठाना बायें हाथका खेल है। इसी प्रकार भगवान होते हुए, अवतार ले कृत्यों द्वारा पुरुषोत्तम बन जाना, उससे प्रशंसित व पूज्य बनना उचित नहीं है। ऐसा आदर्श आत्माको उन्नत बनानेके बजाय पतनोन्मुखी बनायेगा। वह सिर्फ जनताको धोखेमें डालना कहलायेगा" मानव वीरने इसको हेय समझ, तार्किक बुद्धिका अवलम्बन ले दूसरा मार्ग अपनाया। उन्हों ने नारायणसे नर होनेकी अपेक्षा नरसे नारायण बननेको ज्यादा हितकारी एवं श्रेयस्कर समझा। स्व सुकृत्योंसे अपने व्यक्तित्वको ऊँचा उठाया, ध्यान, साधना और तपके बलसे अपनी अंतर्ज्ञानज्योतिको जागृत किया और इस प्रकार स्वयं भगवान बन गये। आज इन निम्न लिखित पंक्तियोंमें हम उन्हीं वीरवर वैज्ञानिक वीरके विचारोंपर विचार करेंगे।

भाग्य और पुरुषार्थके बीचमें लटकने वाली आत्माके लिये उन्होंने उपदेश दिया कि कर्तव्य-परायण बनो "Work is worship" को अपना लक्ष्य एवं ध्येय बनाओ। भाग्यवादी होना अपनेमें बुजदिली एवं कायरता पैदा करना है। वह मनुष्य जो भाग्याश्रित हो अपनी जीवनयात्रा करता है वह नर-कंकालको धारण कर स्वयं को पतित एवं निरुद्यमी सिद्ध करता है। अपनी मुक्तिके लिये पराश्रित होना अपना अस्तित्व नष्ट करना है। अपने ही कृत्य स्वयके उद्धार एवं पतनके कारण होते हैं अतः यह सोचना कि "भगवान हमारा उद्धार कर देंगे" अपने आपको जिम्मेदारीसे मुक्त करनेका असफल प्रयास कह-लायेगा। बबूलके बीज बोकर आम्रफलकी आशा करना आत्मप्रवंचनामात्र ही होगा। अतः "पराधीन सपने हु सुख

नाहीं" वाले अर्थको मनमें मनन कर अपने उद्धार करनेके लिये प्रयत्नशील होओ सुकृत्य करो, कर्तव्यपरायण बनो।

"परोपदेशे पाण्डित्यम्" वाली उक्ति पर अमल न करते हुए वे स्वोद्धार पथके नेता बन यात्रार्थ चल दिये। "चढ़ जा बेटा बांस पै भला करेगा राम" वाले आदेशको हेय समझ स्वयं उस स्थल पर पहुँच गये वहां होने वाले सुखादिका अनुभवन किया इस प्रकार उसमें सफल हो, आदर्श बन उन्होंने दूसरोंको भी ऐसा बननेकी प्रेरणा की। इस प्रकार उन्होने सिद्ध कर दिया कि वैज्ञानिकका अनुभव या आविष्कार केवल उसकी ही सम्पत्ति न होकर विश्वकी विभूति हुआ करती है।

उन्होंने अपना अनुभव दुनियाके सामने रक्खा। उन्होंने सिखलाया कि विद्वान् बनो, सदसद्विवेकशालिनी सन्मतिके स्वामी बनो, किसी भी कार्यको करनेके पहिले उसे बुद्धिकी कसौटी पर कस लो, तर्कका तेजाब डाल उसका खरा खोटापन परख लो। जो युक्तियुक्त हो उसे अपनाओ और इस प्रकार अपना उद्धार करो।

वे एक ऐसे अनभूत प्रयोगको सामने लाये जो अभिनव होते हुए मनोविज्ञान व प्राणिजगतके लिये अति लाभकारी सिद्ध हुआ। वह प्रयोग या सिद्धान्त था अहिंसा का और उसकी आधारशिला थी 'जियो और जीने दो" जिस चीज़को हमने दिया या पैदा नहीं किया उसका अपहरण करनेका हमें कोई अधिकार नहीं है। अतः दूसरेको पीड़ा नहीं देना चाहिये। यही अहिंसाकी परिभाषा थी। वीरने इसको भी अहिंसा बताते हुए एक कदम और बढ़ाया। उन्होंने, दूसरेको न पीडते हुए भी अपनी आत्माके घात करने, वैकारिक भावोंके विकास करनेको भी हिंसा कहा और उसके त्याग करनेको अहिंसा कहा।

उन्होंने 'रज्यते त्यज्यमानेन" वाली उक्तिका साक्षात् चित्र समोशरण-विभूति प्राप्त कर दिखला दिया। उन्होंने कहा कि यदि तुम चाहते हो कि जगतपूज्य हों तो निस्पृही होओ, वीतरागी बनो, विश्वसे उदासीन रहो, उसे उपेक्षा दृष्टिसे देखो। विश्व-विभूति तुम्हारे पांव पलोटेगी।

चित्रके स्व-स्वरूपमें स्थित होते हुए भी उसके वर्णन करनेके या देखनेके कई पहलू, कई दृष्टियाँ हुआ करती हैं। उन दृष्टिकोणोंमेंसे किसी एकको पकड़ रह कर "चित्र ऐसा ही है" ऐसा माननेसे आज विश्वमें कई सम्प्रदाय दृष्टिगोचर होरहे हैं। वे मार्गके किसी सिरेपर खड़े हो, उसकी उत्पत्ति स्थानपर ध्यान न दे कहने लगे यही एक मार्ग है लेकिन चौराहे पर खड़े होने वाले व्यक्तिने कहा भाई तुम्हारा भी कहना ठीक है लेकिन केवल वही मार्ग है यह बात नहीं है। वस्तुजात कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। वीरकी यही दृष्टि रही और उन्होंने वस्तुस्वरूप के विवेचन करने वाले इस सिद्धान्तको 'स्याद्वाद' के नामसे सुशोभित किया। चूंकि वस्तु अनेकान्तात्मक, अनेकधर्मात्मक है अतः उसका वैसा स्वरूप वर्णन करना चाहिये। अगर यह न हो सके तो एक धर्मको प्राधान्य तथा इतर धर्मोंको गौणता दे वस्तुस्वरूप बतलाओ, लेकिन तुम धर्मोंका तिरस्कार या अभाव नहीं कर सकते। वे भी अपना अस्तित्व रखते हैं।

विश्व व्यवस्थाका सुन्दर समन्वय एवं उसकी उत्पत्ति क्रमका वैज्ञानिक-निरूपण वीरवाणीमें ही पाया जाता है। आज जिस बातको वैज्ञानिकोंने कई वर्षकी खोजके बाद प्रत्यक्ष कर दिखाया उसीको वीर जिनने अपने आत्मज्ञानके आधारपर कई हजार वर्ष पहिले विवेचित कर दिया था। वैज्ञानिकोंने रेडियो यंत्र द्वारा बतलाया "शब्द" एक ऐसी चीज है जिसे पकड़ा जा सकता है, रोका जा सकता है, और फेंका भी जा सकता है। भगवान वीरने इसी बातको कई सदियों पहिले इस प्रकार कहा था—शब्द, आकाशका गुण न होते हुए, रूप, रस, गंध स्पर्श वाली एक पौद्गलिक चीज़ है। जो पुद्गल होते हैं वे पकड़े भी सकते हैं, रोके भी जा सकते हैं और फेंके भी जा सकते हैं।

इसी प्रकार यह भी बताया कि इस विश्वका निर्माण करने वाला कोई नहीं है। संयोग और विभाग होने से पदार्थजात पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं आज बड़ेसे बड़ा वैज्ञानिक भी उपरिलिखित सिद्धान्तका कायल हो उसका समर्थन ही करता है।

वीरके और भी अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं जो वैज्ञानिकों के लिये आविष्कारका क्षेत्र पैदा करदें। हम उनका लेखके विस्तार भयसे वर्णन करनेमें असमर्थ हैं।

फिर भी हम यहां एक बातके उल्लेख करनेका मोह नहीं छोड़ेंगे। आजसे कुछ वर्ष पहिलेके वैज्ञानिकोंका

कथन था कि वृक्ष पौधों वगैरहमें कोई चेतना शक्ति नहीं पाई जाती, वे जीव नहीं होते और न वे कुछ खाते पीते ही। लेकिन उस समय व उसके कई हजार वर्ष पहिलेसे वीरने प्रतिपादित कर दिया था कि न केवल वृक्ष वगैरहमें किन्तु पृथ्वी, अप, तेज व वायुमें भी जान पाई जाती है। इस कथनको वे अपनी हठ वश स्वीकार नहीं कर सके। आज आर्यावर्त्तके एक वैज्ञानिक (सर जगदीशचन्द्र वसु) ने सिद्ध कर दिया कि उनमें–वृक्ष पौधोंमें चेतना पाई जाती है, सुख दुःखका अनुभवन पाया जाता है!

हम, इस प्रकार कह सकते हैं कि वीर वैज्ञानिकोंके आचार्योंके भी आदि शिक्षक थे उन्होंने वैज्ञानिकोंके लिये एक विस्तृत कार्य क्षेत्र पैदा कर दिया और इस प्रकार विज्ञानके विकासमें बड़े प्रबल सहायक हुए।

वैज्ञानिकोंने बतलाया कि एक बेसिलसिलेसे फैली हुई चीजको सिलसिलेसे संगठित कर उसको किसी काममें लगाया जाय तो बड़ा भारी काम चल सकता और इस बातको जिनके रूपमें व्यक्त किया, वे रोक टोक यहाँ वहां फैलने वाली भाँपको रोक कर उससे गाड़ी खिचवानेका काम लिया। वीरने यह बात बहुत पहिले अनुभवमें उतार ली थी वे इनसे एक कदम और आगे बढ चुके थे। वैज्ञानिकोंने अपने सिद्धान्तको केवल भौतिक पदार्थों पर आजमाया था। वीरने इससे आत्मोद्धार किया। इन्द्रिय व मन की शक्तिको जो विषयोंमें यहाँ वहां नष्ट हो रही थी उसको केंद्रित कर आत्मदर्शन, स्वावलोकनकी ओर लगा दिया और इस प्रकार गाड़ीको मुक्ति स्थल पर रोका। इस प्रकार यह संक्षेपमें वीरके कुछ विचारोंके विवेचनका प्रयास किया गया है। वीरके समस्त सिद्धान्तोंके वर्णन करनेका प्रयास तो वैसा ही उपहासनीय होगा जैसा नभस्थित चन्द्र को पकड़नेके लिये बाल हठ। फिर भी अपनी शक्त्यनुसार कुछ लिखनेका प्रयत्न किया है।

श्री श्रमण भगवान महावीर और उनके सिद्धान्त

(ले०—उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी पंजाबी)

प्रिय सुज्ञ पुरुषो!

आत्म-विकासके लिए उन उन साधनोंकी आवश्यकता होती है जिनके कारणसे आत्मा आत्म-विकास कर सकता है। आस्तिकवादियोंका मुख्य सिद्धान्त आत्मविकास कर निर्वाण-पद प्राप्त करना ही है। जब श्री भगवान् महावीर स्वामीने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिए कर्मोंका विनाश कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त किया तब जनताके सन्मुख इस सिद्धान्तको रखा कि प्रत्येक प्राणी विद्या और चारित्रके द्वारा आत्मविकास कर संसारचक्रसे छूटकर निर्वाणपद प्राप्त कर सकता है जैसे कि—

'दोहिं ठाणेहिं अणगारे संपन्ने अणादीयं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवतेज्जा तं जहा-विज्जाए चेव चरणेण चेव।'

इस सूत्रका यह भाव है कि दो स्थानोंमे संयुक्त अनगार अनादि अनन्त चार गतिरूप संसाररूपी कान्तारमे पार होजाता है जैसे कि विद्यासे और चारित्रसे। इस सूत्रमे यह सिद्ध किया गया है कि कोई भी आत्मा जाति वा कुलसे पार नहीं हो सकता। मात्र विद्या और चारित्रकी आत्म-विकासके लिए अत्यन्त आवश्यकता है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वे अध्ययनकी द्वितीय गाथामें श्री भगवानने मोक्षके चार मार्ग कथन किए हैं जैसे कि :—

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहि॥२॥

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चारों मोक्षके मार्ग हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायके प्रथम सूत्रमें यह कथन है—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

इस सूत्रसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही मोक्षके मार्ग बतलाए गए हैं।

इस सूत्रकी सृष्टि उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययन की ३० वी गाथाके आधारपर हुई है कि:—

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

अर्थात्—विना दर्शनके ज्ञान नहीं, ज्ञानके विना चरणगुण उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सर्वकथन नयवादकी अपेक्षासे ही कथन किया गया है दर्शनका समवतार ज्ञान मे और तपका समवतार चारित्रमे हो जाता है, तब सामान्यरूपसे आत्मविकासके मुख्य कारण विद्या और चारित्र ही सिद्ध हुये। श्री भगवानने विद्याके द्वारा प्रत्येक द्रव्य गुण और पर्यायके जाननेका संकेत किया है और चारित्रके द्वारा प्राचीन कर्मोंका क्षय और नूतन कर्मोंके आस्रवका निरोध करना बतलाया है। जैसे कि—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये षट् द्रव्यमय जगत है। इन द्रव्योंके गुण और पर्यायोंको सम्यक्तया जान कर फिर हेय ज्ञेय और उपादेयके स्वरूपको अवगत कर आत्म-विकासके लिए अनुकरणीय शिक्षाओंको धारण करना चाहिए। पुद्गल-द्रव्यका वर्णन करते हुवे श्री भगवानने कथन किया है कि—

सद्दंधयार उज्जोओ पभा छायातवो इवा।
वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥
एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
मंजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं ।१३।

अर्थात्—शब्द, अन्धकार, उद्योत प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श ये सब पुद्गल द्रव्यके लक्षण हैं। एकत्व होना, पृथक् होना, संख्यावद्ध होना, संस्थानयुक्त होना और संयोग तथा विभाग होना ये सब पर्यायके लक्षण हैं, इनका सविस्तर स्वरूप जैन आगमोंमे बड़े ही सुन्दर प्रकारसे किया गया है। उदाहरणके लिए जैसे छाया एक पुद्गल द्रव्यका ही पर्याय है इसीके आधार पर वर्तमान कालमें फोटोकी सृष्टि निर्माण हुई है। जैसे कि

अद्दायं पेहमाणे मणूसे अद्दायं पेहति नो अप्पाणं पेहति पलिभागं पेहति एवं एतेणं अभिलवेणं असिं मणि दुद्धं पाणं तेल्लं फाणियं वसं॥

—प्रज्ञापनसूत्र पद १५ उद्देश १ सूत्र १९७

यह भाव है कि श्रीभगवानसे गौतमस्वामीजी पूछते हैं कि हे भगवन्! कोई व्यक्ति दर्पण (सीसा) को देखता हुआ क्या वह अपने शरीरको देखता है, दर्पणको देखता है अथवा शरीरके प्रतिबिम्बको देखता है? इस प्रश्नके उत्तर मे श्री भगवान कहते हैं कि हे गौतम! दर्पणको देखने वाला व्यक्ति अपने शरीरको दर्पणमें नहीं देखता क्योंकि उसका शरीर उसके आत्माके साथ सम्बन्धित है न तु दर्पणमे। केवल दर्पणमे शरीरके प्रतिबिम्बको देखता है, कारण कि प्रकाशनीय और निर्मल पदार्थोंमें छायाके पुद्गल प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, क्योंकि पुद्गलक सामग्री-वशात् नाना प्रकारसे परिणमन होना स्वाभाविक सिद्ध है, केवल विशेष इतना ही है कि प्रकाश और निर्मल पदार्थों मे छायाके पुद्गल उन पदार्थोंमे संक्रमणकर अपने शरीर के वर्णरूपमे अथवा अपने शरीरके आकारपनेमे परिणत हो जाते हैं। सर्वइन्द्रिया स्थूल पदार्थोंको ही अनुभव कर सकती हैं न कि सूक्ष्म परमाणुओंको। यद्यपि अन्धकारमे भी छायाके आकारमे परिणत हुए पुद्गल अवश्य होते हैं तथापि विना प्रकाशके इन्द्रियाँ उनका विभाग नहीं कर सकती। इस सूत्रकी वृत्तिके कर्ता मलयगिरिसूरि वृत्तिमे इस प्रकारसे लिखते हैं जैसे कि—

'भगवानाह—आदर्शं तावत् प्रत्येत एव तस्य स्फुट-रूपस्य यथावस्थिततया तेनोपलम्भात्, आत्मान—आत्म-शरीरं पुनर्न पश्यति, तस्य तत्राभावात्, स्वशरीरं हि स्वात्मनि व्यवस्थितं नादर्शे ततः कथमात्मशरीरं च तत्र पश्येदिति? प्रतिभागं स्वशरीरस्य प्रतिबिम्बं पश्यति, अथ किमात्मक प्रतिबिम्बं? उच्यते, छायापुद्गलात्मकं, तथाहि सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्थूलं चयापचयधर्मकं रश्मि-वच्च रश्मय इति छाया पुद्गलाः व्यवह्रियन्ते च छायाः पुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धा, सर्वस्यापि स्थूलवस्तुनः छाया, अध्यक्षतः प्रतिप्राणिप्रतीतेः, अन्यच्च यदि स्थूलवस्तु व्यवहिततया दूरस्थितयता वा नादर्शादिष्ववगाढ रश्मि भवति ततो न तत्र तद्दृश्यते तस्मादवसीयते सन्ति छाया-पुद्गला इति, ते च छायापुद्गलास्तत्तत् सामग्रीवशाद्विचित्र-परिणमनस्वभावास्तथाहि—ते छाया पुद्गलादिवा वस्तु-

न्यभास्वरे प्रतिगता: सन्त: स्वसम्बन्धिद्रव्याकारमाबिभ्राणा: श्यामरूपतया परिणमन्ते निशि तु कृष्णाभा: एतच्च प्रतरति दिवसे सूर्यकरनिकरे निशि तु चन्द्रोद्यति प्रत्यक्षएव सिद्धं त एव छाया परमाणव: आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिगता: सन्त: स्वसम्बन्धिद्रव्याकार मादधान्त: यादृगवर्ण: स्वसम्बन्धिनि द्रव्ये कृष्णो नील: सित: पीतो वा तदाभा परिणमन्ते एतदप्यादर्शादिष्वध्यक्षत: सिद्धं ततोऽधिकृत-सूत्रेऽपि ये मनुष्यस्य छायापरमाणव आदर्शमुपसंक्रम्य स्वदेहवर्णतया स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते तेषा तत्रोपलब्धिर्न शरीरस्य ते च प्रतिबिम्बशब्दवाच्या:''''इत्यादि।

उपर्युक्त वृत्तिका संक्षेपमे यह भाव है कि छाया-परमाणु ही आदर्श दर्पणमें उपसंक्रान्त होकर स्वशरीराकार रूपमें परिवर्तित होजाते हैं। आधुनिक समयमें उक्त दर्पण-गत छाया परमाणुओंको ही स्थिरीभूत कर फोटू उतारे जाते हैं। यह एक उदाहरण है भगवान महावीरने इसी भाति द्रव्य गुण तथा पर्यायोंके वास्तविक स्वरूप जाननेको ज्ञान बतलाया है। इन पर विशुद्ध विश्वास करनेका नाम दर्शन है तथा कर्मोंके आस्रवको रोकना चारित्र है एवं सचित कर्मकी निर्जरा करना तप है। आगममे कहा है :—

> नाणेण जाणइ भावे दंसणेण य सद्दहे।
> चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झइ॥
>
> —उत्तराध्ययन २८। ३७

ज्ञानके द्वारा पदार्थोंकी जानकारी होती है, दर्शनके द्वारा श्रद्धान होता है, चारित्रके द्वारा कर्मास्रवो का निरोध होता है और तपके द्वारा संचित कर्मोका नाश होकर आत्मशुद्धि होनी है।

भगवान महावीर तपश्चरणके उग्र पक्षपाती थे, आपका सर्वोपर शिक्षण अन्त में इसी सिद्धान्त को लेकर होता था। तत्कालीन बौद्ध सङ्घके प्रवर्तक भगवान बुद्ध भगवान महावीरको इसी लिए 'दीर्घ तपस्वी' के नाम से सम्बोधित करते थे। परन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि वे अनशनरूप तप का ही उपदेश करते थे, उनके पास दूसरी कोई साधना न थी। भगवान जहाँ अनशनरूपका कथन करते वहाँ ध्यान तप पर भी अधिक बल देते थे उनका कथन था कि जब तक साधक शुक्लध्यानके द्वारा आत्माको पूर्णतया पवित्र एवं स्वच्छ नही बना लेता तबतक मोक्ष नही प्राप्त कर मकता। मोक्षप्राप्तिमें मुख्य कारण ध्यान ही है। ध्यान योग विद्याका मुख्य अङ्ग है इस पर बहुत कुछ प्रकाश डालने की आवश्यकता है परन्तु स्थानाभाव से अभी अधिक नहीं लिखा जारहा है। यदि कभी फिर समय मिला तो इस पर विशेषरूपसे लिखा जायगा।

भगवान महावीर साधारण साधको की तरह शुष्क क्रियाकाण्ड तक ही अपने उपदेशों को सीमित नहीं रखते थे, उन्होने तपको सर्वप्रथम स्थान न देकर अध्ययनको दिया है। आपका कहना था कि—पहले पढो फिर चिन्तन करो और बादमे तपश्चरण करो। तथा च सूत्रम्—

> तिविहे भगवता धम्मे पं० तं० सुअधिज्झिते सुज्झाति ते सुत वस्सिते। जया सुअधिज्झितं भवति तदा सुज्झातितं भवति जया सुज्झातितं भवति तदा सुत वस्सियं भवति। से सुअधिज्झिते सुज्झातिते सुत वस्सिते सुतक्खाते णं भगवता धम्मे पण्णत्ते।
>
> —स्थानाङ्ग तृतीय स्थान

उपर्युक्त सूत्रका यह भाव है कि साधकको प्रथम विधिपूर्वक योग्य गुरुजनोके पास शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, तदनन्तर पठित शास्त्रोका गम्भीर दृष्टिसे चिन्तन करना चाहिये, तत्पश्चात् निष्काम तप अङ्गीकार करना चाहिये। जब तक विधिपूर्वक शास्त्रों का अध्ययन नही होगा तब तक सम्यक् चिन्तन नही होगा और जब तक सम्यक्तया चिन्तन नहीं होगा तब तक सम्यक् रूपसे तपश्चरण नहीं होगा।

आजकलका जैन समाज यदि भगवानको प्रस्तुत सन्देशको आचरणमें उतारे तो अवश्य ही उन्नति के शिखरपर आरूढ हो जाय, आजका शिक्षाशून्य जैन न तो इस लोककी ही आराधना कर पाता है और न परलोक की ही।

भगवान महावीरकी शिक्षाएँ केवल परलोकके लिए काममे आने वाली भिक्षुओंकी ही चीजे हों सो बात नहीं। उनकी धर्मशिक्षाएं वर्तमान जीवनको भी समुन्नत बनानेके लिए पर्याप्त हैं यदि हम उन पर ध्यान दें तो? स्थानाङ्ग सूत्रके अष्टम स्थानमें भगवान बतला रहे हैं—

> अट्ठहिं ठाणेहिं संमं संघडितव्वं जतितव्वं परक्कमि

तच्चं अस्सि च णं अट्ठे णो पयाते तव्वं भवतिअसुयाणं धम्माणं सम्मं सुण णाते अब्भुट्ठे तव्वं भवति १ सुताणं धम्माणं ओगिराहयाते अवधारणयाते अब्भुट्ठे तव्वं भवति २ पावाणं कम्माणं संजमेण य करणताते अब्भुट्ठे यव्वं भवति ३ पोराणाणं कम्माणं तवस्त विगिं चणताते विसोहणताते अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ४ असंगिहीतपरितणस्स संगिरहणताते अब्भुट्ठेयव्वं भवति ५ साहम्मिताणमधिकरणंसि उप्पराणंसि तत्थ अनिस्सिनोवस्सितो अपक्खगाही मज्झत्थभावभूते कह णु साहम्मिता अप्प सद्दा अप्प झंझा अप्प तुमं तुमा उवसामणताते अब्भुट्ठेयव्वं भवति।

उपरि लिखित सूत्रका संक्षेपमें यह भाव है कि आठ धर्म प्रवचनोंके लिए सम्यकतया चेष्टा करनी चाहिए यत्न करना चाहिए, पराक्रम करना चाहिए, किसी भी कालमे प्रस्तुत विषयमें प्रमाद न करना चाहिए। जैसे कि—(१) अश्रुत धर्मतत्वोंको सुननेके लिए तैयार रहो (२) श्रुत धर्म तत्वोंको ग्रहण करनेके लिए तैयार रहो (३) पाप कर्मोंके परित्यागके लिए तैयार रहो (४) पूर्व संचित कर्मोंको तपके द्वारा नष्ट करनेके लिए तैयार रहो (५) जो दीन हों अनाथ हों जिनका कोई नहो हो उनको हर तरहसे सहायता देनेके लिए तैयार रहो (६) धर्मके जिज्ञासुओंको यथोचित आचार विचारकी शिक्षा देनेके लिए तैयार रहो (७) रोगियोंकी प्रसन्न भावसे सेवा करनेके लिए तैयार रहो (८) संघमें यदि कोई कलह हो जाय तो बिना किसी पक्षपातके मध्यस्थभाव से शान्त करनेके लिए तैयार रहो।

भगवान महावीरके सिद्धान्तोंका पूर्णतया विवेचन करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। मात्र संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया है। भगवानकी लोक-परलोक-हितकारी शिक्षाओंके ऊपर चलकर हर कोई आत्मा स्वनिष्ठ सद् गुणोंका विकाश कर अन्तमे अजर अमर निर्वाण पदका अधिकारी हो सकता है? और निर्वाण पद प्राप्त कर सदा कालके लिए दुःखोंसे मुक्त हो अनन्त आत्मसुखोमे लीन हो जाता है। यही भगवान महावीरका सिद्धान्त है।

मोक्ष तथा मोक्षमार्ग

(लेखक—पं० बालचंद्र जैन काव्यतीर्थ)

इस परिवर्तन-स्वरूप संसारमें यह प्राणी मोहनीयकर्म के वशीभूत होकर आत्मस्वरूपमे अनभिज्ञ होता हुआ अनादिकालसे परिभ्रमण कर रहा है। यद्यपि इस परिभ्रमणमें इसे दुःखके सिवाय सुखका अंशमात्र भी अनुभव तब तक नहीं हो पाता है जब तक कि यह आत्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं हो जाता है। किन्तु आत्मस्वरूपकी जानकारीके लिये मोहनीय कर्मकी मंदता नियामक है, अर्थात् जब तक मोहनीय कर्मकी कुछ प्रकृतियाँ उपशम, क्षय, या क्षयोपशमभावको प्राप्त न होंगी तब तक आत्मस्वरूपका ज्ञाता नहीं बन सकता है। यही कारण है कि मोहनीयकर्मके आधीन होकर यह जीव परपदार्थोंमें निजत्व बुद्धि रखता हुआ सुखी बनना चाहता है, सोचता है कि मुझे अमुक २ प्रकारका अधिक दुःख है साथ २ इन दुःखोंको दूर करने का प्रयत्न करता भी है परन्तु विचारणीय बात तो यह है कि यदि कोई राहगीर पूर्व दिशासे चलकर पश्चिम दिशामें स्थित सुखी पुरुषोंके साथ रहकर सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहता है किंतु चलता है वह उत्तर दिशाकी ओर, तब फिर वह किस प्रकारसे सुखी बन सकता है। यही बात है कि यह प्राणी सुखी बननेके लिये नवीन कर्मोंका बन्ध कराने वाले कार्य करता हुआ चला जाता है, यह नहीं सोचता कि इस मार्गसे मैं सुखी बन सकता हूँ या नहीं?

निश्चित बात तो यह है कि जहां कर्मबन्धके कारण मौजूद हैं वहां सुख नहीं! इस लिये सर्व-प्रथम नवीन कर्मबन्ध न होने पावे यह ध्यान रखना पड़ेगा, अर्थात्

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योगादि बन्धके कारणोंसे दूर होना पड़ेगा तत्पश्चात् मौजूदा कर्मोंको दूर करनेके लिये सोचना होगा कि—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि साधनोंसे संचित कर्म दूर किये जा सकते हैं अतएव उनको पालना होगा और जब इस प्रकार शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जायगा। तब सच्चा अविनश्वर सुख मिल जायगा, अविनश्वर सुखका मिलना ही मोक्ष है। और अविनश्वर सुख वही है कि :—

"तत्सुखम् यत्र नासुखम्"

अर्थात्—सुख वही है कि जिसके पश्चात् दुःख नहीं हो और यह अवस्था मात्र मोक्षस्वरूप है। संसारमें इस जाति का सुख नहीं है। यथार्थमें तो संसारके अन्दर सुख है ही नहीं, किन्तु जो यह सुखी है यह दुःखी है ऐसा सुना देखा जाता है वह सब कल्पना मात्र है। अनुभव कीजिये कि एक व्यापारीने एक घोड़े पर नमकका बोझा और दूसरे घोड़े पर कपासका बोझा रख कर विदेशके लिये प्रस्थान किया, रास्तेमें वर्षा हो जानेके सबब नमक तो घुल गया और उसका बोझा कम हो गया, किंतु कपासमें पानी भर जानेके सबब दूसरेका बोझा बहुत बढ़ गया। उस समय वह दोनों परस्पर अपनी भाषामें यह तय करते हैं कि भाई तुम्हारा बोझा तो कम हो गया है अतएव तुम सुखी हो और मेरा बोझा बहुत भारी हो गया है अतएव मेरा दुःख पहिलेसे कई गुना हो जानेके कारण बढ़ गया है। इस तरह मैं बहुत दुःखी हूँ, जब कि आपके दुःखकी मात्रा कम हो गई है इस लिये आप सुखी हैं। इस तरह यह तय है कि संसारके अंदर सुख और दुःखकी बात केवल दुःखके कमती और बढ़ती पर ही निर्भर है। वास्तवमें सुख नहीं है। सुख तो आकुलताके अभाव स्वरूप ही है और वह निराकुलता मोक्षमें ही है।

आचार्य श्री उमास्वामीजीने मोक्षका लक्षण इस तरह बताया है कि:—

"बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः"

तात्पर्य यह है कि बन्धके कारणोंके अभाव और निर्जराके निमित्तसे ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव हो जाने पर आत्माकी जो शुद्ध अवस्था व्यक्त होती है वही मोक्ष है। दूसरे शब्दोंमें :—

"निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः"।

अर्थात् सम्पूर्ण कर्म कलंकके दूर हो जानेपर अशरीरी आत्माकी स्वाभाविक ज्ञानादिगुण स्वरूप तथा अव्याबाध सुख स्वरूप अवस्था ही मोक्ष है।

मोक्ष शब्दका अर्थ कर्मबन्धनसे छूटना होता है। अर्थात इस आत्माका स्वभाव ज्ञानदर्शनरूप है किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धके कारण वह शुद्धस्वरूप अव्यक्त है उसी स्वभावको व्यक्त करनेके लिये ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से छूट करके निजस्वभाव (शुद्ध ज्ञानदर्शन) को व्यक्त कर लेना ही मोक्ष है।

मोक्ष प्राप्तिके विषयमें पूज्य आचार्य श्री उमास्वामीजीने लिखा है कि:—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

अर्थात् सम्यगदिकीएकता ही मोक्षका मार्ग है। तात्पर्य यह है कि आत्मा जब रत्नत्रयगुणरूप होजाती है तब वह मुक्तात्मा बन जाती है। इन तीनोंकी एकता ही मोक्षकी प्राप्तिमें नियामक है। यदि कारण है कि यदि इन तीनोंमेंसे कोई भी एक नहीं होते तब तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अनुमान कीजिये कि यदि एक बीमार पुरुष अपनी बीमारी दूर करना चाहता है तो जब तक उसके श्रद्धा-ज्ञान और कार्य यह तीनों बातें न होंगी तब तक उसकी बीमारी दूर नहीं हो सकती है। क्यों कि उसके वैद्यराजजीको आमंत्रित करके उनकी दवाई ठीक ठीक अनुपानके साथ ले भी ली किंतु यह विश्वास नहीं हुआ कि इनकी दवाईसे मेरी तबियत ठीक होगी इस लिये बिना विश्वास-श्रद्धाके औषधिके लेने पर भी सफलता नहीं मिल सकती। अथवा श्रद्धाके होने पर भी यदि विपरीत अनुपानसे दवाई ले रहा है तब भी सफलता नहीं मिल सकती है। और यदि उसे विश्वास एवं ज्ञान है भी किंतु यदि वह कड़वी दवाईको नहीं खाता है तब भी उसकी बीमारी दूर नहीं हो सकती है। किन्तु जब वह विश्वासके साथ २ ठीक अनुपानके साथ दवाईको खाता है तब शीघ्र ही उसकी बीमारी दूर हो जाती है। उसी प्रकार मोक्षमार्गके विषयमें भी विश्वास, ज्ञान

और आचरणकी एकताका होना अनिवार्य है। इनकी एकताके होने पर ही इस प्राणीका जन्म-मरण रूपी रोग दूर हो सकता है।

इस रत्नत्रयमेंसे सम्यग्दर्शनके विषयमें आचार्योंने "तत्वश्रद्धान" अथवा "देवगुरुशास्त्रका विश्वास होना" "भेद विज्ञान" या "आत्मस्वरूपकी ज्ञानकारी" का होना आदि प्रकारसे सम्यग्दर्शनका लक्षण किया है। यद्यपि सम्यग्दर्शनकी परिभाषायें कई प्रकारकी हैं फिर भी उन सबका निचोड़ एक ही है, जहां तत्वश्रद्धानादि कोई भी एक है वहां बाकीकी सब परिभाषायें घटित होती हैं। तात्पर्य यह है कि शब्दभेदके सिवाय अर्थभेद नहीं है।

जब इस प्राणीको आत्मस्वरूपके प्रति सच्चा विश्वास हो जाता है कि हमारी आत्माका स्वभाव पुद्गलादि द्रव्यों से बिलकुल भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप है किन्तु इसकी जो यह मनुष्यादिपर्यायें व क्रोधादि रूप अवस्थायें देखी जातीं हैं, यह सब कर्म जनित है। कर्मके बलपर ही यह सब अवस्थायें हो रहीं हैं, वास्तवमें मेरा स्वरूप इनसे भिन्न है। वह सोचता है कि:—

"वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा,
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।"

अर्थात्—जो यह रागद्वेष मोहादिरूप अवस्थायें एवं वर्णादि रूप अवस्थायें हैं ये सब मुझसे भिन्न हैं, इनसे मेरा कोई भी संबंध नहीं है। उस समय उसकी यह धारणा होती है कि मेरी आत्माका जो ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव है इससे भिन्न जो भी पर पदार्थोंके प्रति राग-भाव देखा जाता है वह प्रेम ऊपरी हो, आंतरिक नहीं हो, अर्थात् सम्यग्दृष्टिका पर-पदार्थोंके प्रति वैसा ही प्रेम होता है जैसा कि एक वेश्याका परपुरुषके साथ। अथवा एक मुनीम-गुमास्तेका मालिकके लिये नफा नुकसानके समय ऊपरी हर्ष-विषाद, वहां उसकी निजत्व बुद्धि न होनेसे ऊपरी ही हर्ष-विषाद होता है। यही बात है कि सम्यग्दृष्टिका पर-पदार्थोंमें आंतरिक प्रेम नहीं होता है। मात्र ऊपरी प्रेम चारित्रमोहनीयके उदयजन्य होता है। फिर भी सम्यग्दृष्टी की भावना सदैव आत्मतत्वकी ओर रहती है, उसे ये बाह्याडम्बर विचलित नहीं कर पाते हैं। देखिये भरत महाराजके विषयमें प्रसिद्धि हैं कि वह घरमें ही वैरागी थे, क्या कारण था कि इतनी चक्रवर्तीकी संपदाके स्वामी होनेपर भी वैरागी? किंतु उनका ध्यान आत्माकी ओर भी था। यही कारण है कि उनके वैराग्यके विषयमें जानकारीके लिये आनेवाले व्यक्तिके लिये कहा गया था कि भाई आप इस कटोरीको परिपूर्णरीत्या तैलसे भर कर हथैली पर रख कर हमारे सम्पूर्ण कटकको देख आइये पर ध्यान रहे कि कटोरीमें से एक बूंद भी तैल गिरने न पावे, आनेके पश्चात्, क्या देखा? इस प्रश्नके उत्तरमें उसने यही जवाब दिया कि महाराज यद्यपि सब कुछ देखा, पर कुछ भी नहीं देखा, मात्र ध्यान कटोरी पर रहा कि एक बूंद भी गिर न जाय। अस्तु। इसी प्रकारका भरतजीका वैराग्य था। यह है एक सम्यग्दृष्टीके विचारोंका नमूना। हां? देखिये कि सम्यग्दृष्टी की उपरोक्त भावना होते हुये भी वह गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें कर्मजनित शरीरादि एवं कुटुम्बादिकका ध्यान रखता अवश्य है पर उसका विश्वास आचार्य श्री शुभचन्द्र जीके शब्दोंमें कर्म जनित पर्यायोंके प्रति उसी प्रकारका होता है कि:—

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः।
न देवः किंतु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः॥

तात्विक बात तो यह है कि सम्यग्दृष्टीको स्व और परविषयक परिपूर्ण विवेक हो जाता है। उसकी यह निश्चल भेदबुद्धि हो जाती है कि जिसके बलपर उसे नियमतः मुक्तिकी प्राप्ति होती है। नियम है कि:—

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतः बद्धाः बद्धा ये किल केचन॥"

इससे सिद्ध है कि मुक्तिकी प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शन (भेद विज्ञान) अनिवार्य है। इस वाक्यसे मात्र सम्यग्दर्शन को ही नहीं समझना चाहिये, किंतु सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ २ ज्ञानकी और यथा समय चारित्रकी उत्पत्ति नियामक ही है, इससे ही मोक्ष प्राप्तिके लिये सम्यग्दर्शनका होना अनिवार्य है, सम्यग्दर्शनके अभावमें मुनिपद भी क्यों न प्राप्त कर लिया जाय किंतु वह पूज्यता और मानता नहीं जो कि एक सम्यग्दृष्टीकी है भले ही वह गृहस्थ क्यों न हो विद्वद्वर पं० दौलतरामजीके शब्दोंमें—

"चरित मोह वश लेश न संजम पै सुरनाथ जजें हैं"।

तथा पूज्यवर कुंदकुंदाचार्यजीका भी यही अभिमत

मिलता है :—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठं जिण वरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो॥

तब यह स्वयं सिद्ध है कि मोक्ष प्राप्तिके विषयमें सम्यग्दर्शनका स्थान स्वामी समन्तभद्राचार्यजीके शब्दोंमें 'कर्णधार' रूप ही होता है। आगे चल करके भी आचार्य श्रीसमन्तभद्रस्वामीजीने सम्यग्दर्शनकी प्रधानताके विषय मे लिखा है कि :—

विद्यावृत्तस्यसंभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव॥

आशय यह है कि द्रव्यलिंगी मुनिराजके भावलिंगी मुनिराजके सदृश चारित्र होने पर भी तथा अंग और पूर्वरूप शास्त्रज्ञानके हो जाने पर भी भेदविज्ञान (सम्यग्दर्शन) के अभावमें वह ज्ञान और चारित्र कोई कामके नहीं हैं। जब कि यह नियम है कि —

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ २ ही जो कुछ भी यत्किंचित् ज्ञान होता है वही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञानका सद्भाववाला चारित्र ही सम्यक् चारित्र नाम पाता है। अतएवसम्यग्दर्शनकी प्रधानता स्वयं सिद्ध है।

उपरोक्त विषयके लिये निम्न लिखित वाक्यसे भी महत्ता मिलती है।—

"दंसणभट्ठाभट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं"

अर्थात् —जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं उनका निर्वाण नहीं होता है। इस लिये हमें सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये, यद्यपि सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये करणलब्धिका होना नियामक है। तथापि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये तत्वचिंतवन, स्वपरके विषयमें परामर्श, देवशास्त्रगुरुकी श्रद्धा, एवं आत्मस्वरूपके चिंतवनादिकमें अपने परिणामों को लगावेगा, उसके नियमसे सम्यग्दर्शनकी बाधक कर्म-प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होकर उपशमसम्यग्दर्शन, क्षायोपशमसम्यग्दर्शन या क्षायिकसम्यग्दर्शन हो जायगा। अतएव प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य होता है कि प्राप्त हुए साधनोंसे लाभ लें और सम्यग्दृष्टी बनें। बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त किये हम सुखी नहीं बन सकते हैं।

और जिस सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके साथ २ ही पूज्यपादके वचनोंमें :—

"तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति । घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत्।"

उसे उसी समयमतिज्ञान, श्रुतज्ञानकी प्राप्ति उसी प्रकार हो जाती है। जिस प्रकार कि मेघपटलके दूर होते ही सूर्यका प्रताप और प्रकाश एक साथ व्यक्त हो जाता है। और जिस सम्यक्ज्ञानके पश्चात् ही यथा समय सम्यक्-चारित्र उत्पन्न होता है।

आत्म विशुद्धिका होना चारित्र कहलाता है यह आत्म-विशुद्धि क्रम क्रमसे होती है। गृहस्थाश्रममें तो सीमित आत्म-विशुद्धि होसकती है। अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती देश-चारित्र जन्य आत्मविशुद्धि ही गृहस्थाश्रममें हो सकती है। परिपूर्ण आत्म विशुद्धिके लिये मुनिव्रत धारण करना आवश्यक है— बिना मुनिपद धारण किये परिपूर्ण आत्म-विशुद्धि हो ही नहीं सकती है; क्योंकि आत्मविशुद्धिमें बाधक परिग्रहादिकका अभाव मुनिपदमें ही हो सकता है। उस साधु अवस्थामें प्रत्याख्यानचतुष्कादिक कर्मप्रकृतियोंके क्षयोपशमके बलपर गुणस्थानवृद्धिके साथ २ ही आत्म-विशुद्धि होती जाती है। आगे मोक्षप्राप्तिका नियामक द्वार क्षपकश्रेणीको प्राप्त कर कर्मप्रकृतियोंका क्षय करता हुआ आत्मविशुद्धि करता जाता है और यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति होनेपर ६३ प्रकृतियोंके क्षय होते ही तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच कर जीवन्मुक्त परमात्मा हो जाता है। इस अर्हंत अवस्थामें वह संसारके प्राणियोंको कल्याणका मार्ग बताता है। पश्चात् यथासमय योगनिरोध पूर्वक बाकी की सम्पूर्ण ७२ और १३ कर्म प्रकृतियोंका क्षय हो जानेपर आत्माकी जो अवस्था होती है वही सिद्ध अवस्था कहलाती है। और उसी अवस्थाको मोक्ष कहते हैं। एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

गजपन्थ क्षेत्रका अति प्राचीन उल्लेख

(न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

'अनेकान्त' वर्ष ७ किरण ७–८ में 'गजपन्थ क्षेत्रके पुराने उल्लेख' शीर्षकके साथ प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीमान् प० नाथूरामजी प्रेमीका एक संक्षिप्त लेख प्रकट हुआ है, जिसमे आपने गजपन्थक्षेत्रके[*] अस्तित्व विषयक दो पुराने उल्लेख प्रस्तुत किये हैं और अपने उस विचारमे संशोधन किया है जिसमे आपने गजपन्थक्षेत्रको आधुनिक बतलाया था—अपनी उस समयकी खोजके आधारपर उसे वि० स० १७४६ के पहिलेका स्वीकार नही किया था[1]। उनके वे प्राप्त उल्लेख वि० सं० १७४६ के पूर्वके हैं। उनमें एक ता श्रुतसागर सूरिका है जो १६ वी शताब्दीके बहुश्रुत विद्वान् माने जाते हैं। दूसरा उल्लेख शान्तिनाथ-चरितके कर्ता असग कविका है जिनका समय उनके महावीर चरितपरसे शकसं० ९१० (वि० सं० १०४५) सर्वसम्मत है। असग कविने गजपन्थ क्षेत्रका उल्लेख अपने शान्तिनाथचरित (७–६८) मे किया है। शान्तिनाथ चरित महावीर-चरितके उपरान्त लिखा गया है। अत: वि० सं० १०५० के लगभग गजपन्थ एक निर्वाणक्षेत्रके रूपमे प्रसिद्ध था और वह नासिकनगरके निकटवर्ती माना जाता था। इन दो उल्लेखो से अन्वेषणप्रिय प्रेमजीने गजपन्थ क्षेत्रके अस्तित्वकी प्रामाणिकता स्वत: स्वीकार करली है और उसे पुराना—११ वीं शताब्दी तकका क्षेत्र मान लिया है।

अभी मैं प्रो० हीरालालजी एम० ए० के एक प्रश्नका उत्तर देनेके लिये पूज्यपादकी नन्दीश्वर-भक्तिको देख रहा था उसी सिलसिलेमें दशभक्त्यादिसंग्रहके पन्ने पलटते हुए पूज्यपादकी निर्वाणभक्तिके उस पद्यपर मेरी दृष्टि पड़ी जहाँ पूज्यपादने भी 'गजपन्थ' क्षेत्रका उल्लेख करते हुए उसको निर्वाणक्षेत्रोंमें गिनाया है। पूज्यपादकी निर्वाणभक्तिका वह पद्य इस प्रकार है:—

> सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे,
> दण्डात्मके गजपथे पृथुसारयष्टौ।
> ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः,
> स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन्॥३०॥

यहाँ पूज्यपाद स्वामीने 'गजपथे' पदके द्वारा गजपन्था-गिरिका स्पष्टतया उल्लेख किया है। 'गजपथ' शब्द संस्कृत भाषाका है और 'गजपंथ' प्राकृत तथा अपभ्रंशका है। और यही शब्द हिन्दी-भाषामें भी युक्त किया जाता है। अत एव 'गजपथ' और 'गजपन्थ' दोनों एक हैं। पूज्यपादका समय आमतौरसे ईसाकी पाँचवी और वि० की छठी शताब्दी माना जाता है। प्रेमीजी भी पूज्यपादका यही समय स्वीकार करते हैं (जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ११६)। अत: गजपन्थ क्षेत्र वि० की ६ ठी शताब्दीमे भी निर्वाण क्षेत्र स्वीकृत किया जाता था। अर्थात्—असग कवि (११ वी शताब्दी) से भी वह ५०० वर्ष पुराना निर्वाणक्षेत्र है और उस समय वह जैनपरम्परामें निर्वाणक्षेत्रके रूपमें ही अति प्रसिद्ध था।

यह तो निश्चित और विद्वन्मान्य है कि निर्वाण भक्ति और सिद्धभक्ति आदि सर्व भक्तियोकी रचनाएँ प्रभाचन्द्राचार्यके क्रियाकलापगत निम्न उल्लेखानुसार पूज्यपाद स्वामीकी है:—

"संस्कृताः सर्वा भक्तयः पादपूज्यस्वामिकृताः। प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः।"

—दशभक्त्यादिसं० टी० पृ० ६१।

प्रेमीजी स्वयं भी प्रभाचन्द्राचार्यके इसी उल्लेखानुसार संस्कृतकी दशों भक्तियोको जिनमे निर्वाणभक्ति भी सम्मिलित है, पूज्यपादकृत स्वीकार करते हैं और अपनी स्वीकृतिमें हेतुरूपसे यह भी कहते हैं कि 'सिद्धभक्ति आदिका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली देख कर यह सम्भव भी मालूम होता है।'—(जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १२१)। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि असग कविसे भी पांचसौ वर्ष पूर्वके साहित्यमें गजपन्थक्षेत्रका समुल्लेख मिलता है।

---

1 देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' गत 'हमारे तीर्थक्षेत्र' शीर्षक लेख।

पत्रकारके कर्तव्यकी अवहेलना

[सम्पादकीय]

'प्रो० हीरालालजीके प्रति अन्याय' नामका एक लेख पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैनमित्रके गत १० मईके अंक नं० २७ में प्रकाशित कराया था, जिसके अन्तमें उन्होंने यह भी लिखा था कि प्रो० हीरालालजीके एक नोटको, जिसमें 'संयत' शब्दके शामिल करनेकी चर्चापर प्रकाश डालने और अपनी सफाई देनेकी बात थी, किसी भी जैनपत्रने नहीं छापा और ऐसा लिखकर जैनपत्रकारोंको अपने कर्तव्य-पालनमें लापर्वाह बतलाते हुए यह चेतावनी भी की थी कि 'इस लापर्वाहीका परिणाम क्या हो सकता है' इसे पाठक सोचें।

इसी लेखको लेकर मैंने 'प्रो० हीरालालजीकी नीयत पर आक्रमण' नामका एक लेख १५ मईको लिखा था और उसे जैनमित्रमें छपनेको भेजते हुए उस पर अविकलरूपसे छापनेकी सूचना भी करदी थी। मेरा यह लेख ३१ मईके जैनमित्र अंक ३० में छपा जरूर है; परन्तु उसे अविकल-रूपसे नहीं छापा गया। उसमें साधारण अशुद्धियोंके अलावा कितनी ही अशुद्धियां ऐसी भी पाई जाती हैं जो अर्थभेदको लिये हुए हैं तथा साहित्यिक गिरावटको सूचित करती हैं— जैसे कि 'प्रवृत्त हों' की जगह 'प्रवृत्त हैं,' 'जिज्ञासु प्रकृतिके' की जगह 'जिज्ञासु प्रवृत्तिके' 'जिसे' की जगह 'जिससे', 'चिढाने' के स्थानपर 'चिल्लाने', 'शीघ्र तथा स्थायी' के स्थानपर 'शीघ्रतया स्थायी' और 'अलग रखना चाहिये' के स्थानपर 'अलग रहना चाहिये' गलत छपा है—; इतना ही नहीं बल्कि लेखका अन्तिम पैरेग्राफ बिल्कुल ही निकाल दिया गया है और उसके द्वारा लेखको लँडूरा बना कर उसका वजन ही कम नहीं कर दिया बल्कि अपने साथ 'अनेकान्त' को भी उस दोषका दोषी बना रहने दिया है जिस पर प्रेमीजीने आक्षेप किया था और जिससे 'अनेकान्त' का उक्त पैरेग्राफ द्वारा संरक्षण किया गया था। मालूम नहीं सहयोगी 'जैनमित्र' को जब मेरा लेख अविकलरूपसे छापना इष्ट नहीं था तो उसे क्यों छापा गया? छापनेके मोहको संवरण करके उसे वापिस क्यों नहीं कर दिया गया? काट-छांटकर छापनेका उसे ऐसी स्थितिमें क्या अधिकार था? अस्तु।

ता० २२ जूनके पत्रद्वारा मैंने सम्पादकजीको कुछ गलतियोंकी सूचना देते हुए उनका संशोधन प्रकट करने और छूटे हुए पैरेग्राफको छापनेका अनुरोध किया था; परन्तु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया— इस वक्तसे जैनमित्रके तीन अंक निकल चुके हैं, उनमें संशोधन प्रकट नहीं हुआ—और न पत्रका कोई उत्तर ही दिया गया है। ऐसा भी नहीं कि पत्र पहुँचा न हो; क्योंकि उस पत्रके साथ जो 'अनेकान्त' के प्रकाशनमें विलम्ब-विषयक समाचार भेजा गया था वह अगले ही अंकमें कुछ तोड-मरोड कर तथा विलम्बका कारण न प्रकट करते हुए छाप दिया गया है। अतः आज मजबूर हो कर उस पैरेग्राफको नीचे प्रकट किया जाता है:—

"लेखके अन्तमें प्रेमीजीने एक बात और भी कही है और वह यह कि 'संयत' शब्दके सामिल करनेकी चर्चापर प्रकाश डालने और अपनी सफाई देनेके लिये प्रो० साहबने एक नोट कुछ समय पहले जैनपत्रोंमें प्रकाशित करनेके लिये भेजा था परन्तु अभी अभी उन्हींसे मालूम हुआ कि उसे किसीने भी छापनेकी कृपा नहीं की।" अच्छा होता यदि प्रेमीजी यहाँपर उन पत्रोंका नाम भी दे देते, जिससे 'किसी ने भी' शब्दों द्वारा सभी पत्रोंको लाँछित होनेका अवसर न मिलता। जहाँ तक मुझे मालूम है 'अनेकान्त' आफिस में प्रो० साहबका ऐसा कोई नोट प्रकाशनार्थ नहीं आया। आता तो वह जरूर छाप दिया जाता। अस्तु; प्रेमीजीने ऐसे पत्रकारोंको अपने कर्तव्यका पालन करनेमें 'लापरवाह' बतलाया है और उस लापरवाहीका परिणाम क्या हो सकता है उसकी ओर संकेत किया है, जो बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है। प्रो० साहबके विषयमें लोग गुमराह रहें और उनकी सफाईसे भी अवगत न हो सकें, इस उद्देश्यको लेकर जिन्होंने वह नोट नहीं छापा है उन्होंने अवश्य ही पत्रकारके कर्तव्यकी अवहेलना की है।"

लेखके इस पैरेग्राफको न छापनेके लिये बज़ाहिर (प्रकटतया) कोई माकूल वजह नज़र नहीं आती; फिर भी

सहयोगी 'जैनमित्र' ने इसे जो नहीं छापा उसका क्या कारण हो सकता है और उसका ऐसा करना कोई औचित्य रखता या नहीं इसपर विज्ञ पाठकों तथा निष्पक्ष विचारकों को अवश्य ही ध्यान देना चाहिये। जहां तक मैं समझता हूँ प्रो० साहबका वह नोट 'जैनमित्र' को छपनेके लिये भेजा गया है और जैनमित्रने उसे छापा नहीं—न भेजा गया होता तो वह पं० नाथूरामजी प्रेमीके लेखको छापते हुए उनके आक्षेपपर अपनी सफाई जरूर देता और यह स्पष्ट कर देता कि उसके पास प्रो० सा० का वह नोट नहीं आया है अथवा आया है तो अमुक कारणसे नहीं छापा गया। परन्तु उसने ऐसा कुछ भी नहीं किया। और जब मेरे लेखके उक्त पैरेग्राफमें यह देखा कि मैंने 'अनेकान्त' की ओरसे सफाई प्रस्तुत करते हुए प्रेमीजीके दोषारोपणको 'बहुत कुछ ठीक' बतलाया है तथा पूर्ण ठीक होनेके लिये न छापनेके उद्देश्य को स्पष्ट किया है और उस उद्देश्यसे न छापने वालेको अवश्य ही पत्रकारके कर्तव्यकी अवहेलना करने वाला ठहराया है, तो सहयोगी जैनमित्रको इससे कुछ आंच पहुँची है और गालबन यह महसूस हुआ है कि यदि वह अब भी अपनी ओरसे कोई सफाई पेश नहीं कर सकता तो जरूर अपने पाठकोंकी नजरोंमें दोषी ठहरेगा। प्रो० सा० के नोटको न छापनेमें शुद्ध उद्देश्य जैसी कोई सफाई उसके पास थी नहीं, इस लिये मेरे उक्त पैरेग्राफको न छापना ही उसने अपनी बचत एवं रक्षाका साधन समझा, जिससे उसके पाठकोंके सामने पत्रकारके कर्तव्यकी इस तरह अवहेलनाका प्रश्न ही उपस्थित न होने पावे। यदि मेरा यह अनुमान ठीक है तो कहना होगा कि सहयोगी जैनमित्रने पत्रकारके कर्तव्यकी डबल अवहेलना की है—इधर तो प्रो० सा० के विषयमें लोग गुमराह रहें और उनकी सफाईसे भी अवगत न हो सकें, इस उद्देश्यको लेकर उसने उनका नोट नहीं छापा, जो प्रेमीजीके शब्दोंमें प्रो० सा० के प्रति जरूर अन्याय है, और उधर अनेकान्तकी सफाईको छिपाने—उसकी पोजीशनको प्रकृत विषयमें स्पष्ट न होने देने और अपने दोष (पत्रकारके कर्तव्यकी अवहेलना) पर पर्दा डालने के लिये मेरे लेखसे उक्त पैरेग्राफको ही निकाल दिया है। यदि ऐसा नहीं है तो सहयोगी जैनमित्रको अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाहिये और यह बतलानेकी कृपा करनी चाहिये कि प्रो० हीरालालजीके नोटको न छापने और मेरे लेखसे उक्त पैरेग्राफको निकाल देनेमें उसका क्या हेतु रहा है? जिससे उसकी नीतिके विषयमें समाजको कोई गलतफहमी न हो सके।

जीवट्ठाण सत्प्ररूपणाके सूत्र ९३ में मूडविद्रीकी ताडपत्रीय प्रतियोंमें 'संजद' पाठ है।

उपलब्ध प्रतियोंके उक्त सूत्रके पाठमें 'संजद' पद न होनेपर भी सम्पादकोंने जो वहां उसके होनेकी कल्पना की थी उसपर कुछ समयसे विद्वान मुझपर बेहद रुष्ट हो रहे हैं, और लेखों, शास्त्रार्थों व चर्चाओंमें नानाप्रकारके मुझपर आक्षेप कर रहे हैं। यहां तक कि उस समयके एक सहयोगी सम्पादकने तो प्रकट रूपसे अपनेको उस जिम्मेदारीसे पृथक कर लिया है। इस परिस्थितिको देखकर मैंने मूडविद्रीकी ताडपत्रीय प्रतियोंसे उस सूत्रके पुनः मिलान करानेका प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप मूडविद्रीसे पंडित लोकनाथजी शास्त्री अपने ता० २४-५-४५ के पत्र द्वारा सूचित करते हैं कि—

"जीवट्ठाण भाग १ पृष्ठ नं० ३३२ में सूत्र ताडपत्रीय मूलप्रतिमें इस प्रकार है—

'तत्रैव शेषगुणस्थानविषयारेकापोहनार्थमाह—'सम्मामिच्छाइट्ठि - असंजदसम्माइट्ठी - संजदासंजद - संजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ।'

"टीका वही है जो मुद्रित पुस्तकमें है। धवलाकी दो ताडपत्रीय प्रतियोंमें सूत्र इसी प्रकार 'संजद' पदसे युक्त है। तीसरी प्रतिमें ताडपत्र नहीं है पहले संशोधन मुकाबला करके भेजते समय भी लिखकर भेजा था। परंतु रहा कैसा, सो मालूम नहीं पड़ता, सो जानियेगा।"

इसपरसे पाठक समझ सकेंगे कि षट्खंडागमका पाठ संशोधन कितनी सावधानी और चिन्तनके साथ किया गया है। तीसरे भागकी प्रस्तावनामें हम लिख ही चुके थे कि उस भागमें हमने जिन १९ पाठोंकी कल्पना की थी उनमेंसे १२ पाठ जैसेके तैसे ताडपत्रीय प्रतियोंमें पाये गये और शेष पाठ उनमें न पाये जाने पर भी शैली और अर्थकी दृष्टिसे वहां ग्रहण किये जाना अनिवार्य है। अब उक्त सूत्र में भी 'संजद' पाठ मिल जानेसे मर्मज्ञोंको संतोष होगा, ऐसी आशा है।

हीरालाल

* ॐ अर्हम् *

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति - विज्ञान - दर्शन - इतिहास - साहित्य - कला

और समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र-मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

सरसावा जि० सहारनपुर

छठा वर्ष

[भाद्रपद वीर नि० सं० २४६९ से श्रावण वीर नि० सं० २४७० तक]

अगस्त सन् १९४३ से जुलाई सन् १९४४ तक

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

वार्षिक-मूल्य चार रुपया

जुलाई सन् १९४४

एक किरणका मूल्य छह आने

अनेकान्तके (सविज्ञप्ति अंक) छठे वर्षकी विषय-सूची

सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ

(अभिमत)

'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' नामकी पुस्तक पं० जुगलकिशोरजी साहब मुख्तार सरसावाने भेजी। इस पुस्तकके संयोजक और अनुवादक पण्डित जी आप ही हैं। यह पुस्तक पंडितजीकी अनुपम कृतियोंमेंसे एक है—आद्योपान्त इसे पढ़ा, कईबार पढ़ा-बड़ा आनन्द आया, पण्डितजी का Selection ऐतिहासिक कमको लिये हुए है और महत्त्वपूर्ण है।

पण्डितजीकी अनुवाद-शैली ग़ज़बकी है। वास्तवमें आपने महान् आचार्योंके वाक्योंके मर्मको ही अपनी सरल तथा भावव्यञ्जक हिन्दी भाषामें पाठकोंके सामने रखा है।

इस मङ्गलपाठके पढ़नेसे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति सच्ची श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है; आर्त्त-रौद्र-परिणामोंका अभाव होकर आत्मामें स्वाभाविक सुख और शान्तिकी तरंगें उठने लगती हैं।

जो व्यक्ति स्तुति-स्मरण आदिको कर्त्तावादका एक अङ्ग समझकर इनका निषेध किया करते हैं, उनके लिये यह पाठ उनकी आँखें खोलने वाला है, जैन शासनमें स्तुति और स्मरणका जो वास्तविक माहात्म्य है उसको प्रकाशित करने वाला है।

श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इस पाठको पढ़नेसे क्रमशः महान् आचार्योंकी एक पंक्ति हमारे सामने आ विराजमान होती है। उस समय हम विचारते हैं कि हमारे पुण्योदयसे ऐसा हुआ है, हमें उनके चरणोंमें नतमस्तक होकर अपनी श्रद्धाञ्जलि पेश करनेका शुभावसर प्राप्त हुआ है। हम अपनेको धन्य मानते हैं कि हमें ऐसे महान् आचार्योंके दर्शन, (परोक्षरूपसे) इस पुस्तकके द्वारा प्राप्त हुए।

उन महान् आचार्योंका स्मरण होनेपर हमारी ज़बानसे अनायास यह निकलता है—'धन्य है हमारे ऐसे २ महान् आचार्योंको कि जिन्होंने ऐसी २ अमूल्य कल्याणकारिणी कृतियां हमारे लिये छोड़ीं, हमें उनके सामने मारे शर्मके मस्तक नीचा करके खड़ा होना पड़ता है कि, हाय! हम कैसे अपराधी हैं कि हमनें अपने trust को पूरा नहीं किया, हमने केवल उनकी कृतियोंको प्राणीमात्र तक न पहुँचानेका ही अपराध नहीं किया है बल्कि अपने प्रमाद और अज्ञानतावश उनको दीमकों और चूहोंका खाजा बना डाला!! हमें इस महान् अपराधके प्रायश्चित्तके रूपमें भविष्यमें उनकी कृतियोंको सुरक्षित रखनेके लिये तथा प्राणीमात्रके हितके लिये उनका अधिकाधिक प्रचार करनेके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

यह पाठ हमें बताता है कि महानसे महान आचार्योंने भी स्तवनके मार्गको स्वात्मानुभवकी प्राप्तिके लिये कितना अपनाया है। जिन गुणों द्वारा अरहन्त सिद्ध परमेष्ठीका तथा पूर्वाचार्योंका स्मरण किया गया है, शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे वे ही गुण हमारी अपनी आत्मामें विराजमान हैं। हमारी आत्मामें स्वयं अरहन्त तथा सिद्ध परमात्मा बननेकी Potentiality मौजूद है। हम भी यथेष्ट मार्गपर चल कर क्यों न अपने स्वतन्त्र स्वाभाविक अधिकार परमात्मपद को प्राप्त करें। इस प्रकार हमारे अन्तरङ्गमें आत्मकल्याण की भावना जाग्रत होती है।

जिस दृष्टिसे भी देखा जावे यह मङ्गलपाठ भव्य-जीवोंके लिये अत्यन्त उपयोगी और कल्याणकारी है, आत्माको पवित्र बनाकर आत्मविकासके मार्गपर लगानेवाला है।

ऐसे महान् कार्यके लिये हम मुख्तार साहबका जितना भी आभार मानें थोड़ा है; आपका परिश्रम और निःस्वार्थ सेवाभाव प्रशंसनीय है। आप वीर-शासनके सच्चे भक्त और उपासक हैं इसीलिये "युगवीर" भी हैं। हमारी हार्दिक भावना है कि अभी पण्डितजी कितने ही वर्षों तक हमारे दरम्यान बने रहें और जिनवाणी माताकी सेवा उनके द्वारा होती रहे।

उग्रसैन जैन M. A., LL. B.
रोहतक।

Regd. No. A-731.

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१–आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावना सहित। मूल्य ।)

२–सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उसके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानोंद्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमङ्गलकामना, २नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति ४परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पाच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है। मूल्य ॥)

३–अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—यह पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बन्द किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीका सुन्दर अनुवाद, विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। यह बड़ा ही उपयोगी ग्रन्थ है। मू० १॥)

४–उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रन्थपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रन्थपरीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

५–न्यायदीपिका—(महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियां चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, जिनमेंसे एक बड़ा परिशिष्ट तुलनात्मक टिप्पणका भी है। साथमें सम्पादकद्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका भी एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रन्थगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके लिये कामकी चीज़ है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है कागज़की कमी के कारण थोड़ी ही प्रतियां छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मँगा लेना चाहिये।

प्रकाशनविभाग
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

विलम्बका कारण

अनेकान्तकी इस किरणको इतने विलम्बके साथ प्रकट करते हुए हमें बड़ा ही सङ्कोच तथा खेद होता है। इस विलम्बका प्रधान कारण समयपर कागज़ न मिलना है। यद्यपि न्यूजप्रिण्टका अच्छा कोटा मंजूर होकर परमिट आगया था परन्तु योग्य कागज़ न मिल सका, जो मिलता था वह बहुत ही रद्दी था और किसीको भी अनेकान्तके लिये न रुचा। अन्तको यह २८ पौण्डका कागज़ मिला, जिसके देहलीसे सहारनपुर पहुँचनेमें भी रेल्वेकी गड़बड़ीके कारण कोई २२ दिन लग गये। इस तरह १३ जूनको मैटर प्रेसमें दिया जा सका और प्रेसकी परिस्थितियोंके कारण यह किरण एक महीनेमें छपकर तय्यार हो सकी है। इस विलम्बके कारण पाठकोंको जो प्रतीक्षा-जन्य कष्ट उठाना पड़ा है उसका हमें अनुभव है और उसके लिये हम अपनी मजबूरीको सामने रखते हुए उनसे क्षमा चाहते हैं। —व्यवस्थापक

To

If not delivered please return to:—
VIR SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

अनेकान्त

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

अनेकान्तके पाठकों और लेखकोंको शुभ समाचार

कंट्रोल आर्डरके कारण अनेकान्त कई महीनोंसे बहुत ही क्षीणकाय चल रहा है और कागज न मिल सकनेके कारण समयपर उसका प्रकाशन भी नहीं हो रहा। इसीसे हमें दो दो महीनोंकी कई संयुक्त किरणें निकालनेके लिये बाध्य होना पड़ा और उनमें हम उतने भी पेज न दे सके जितने कि एक मासकी किरणमें दिया करते थे। तथा पाठकोंको जो प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा उसका कथन भी नहीं किया जासकता कितने ही उत्सुक पाठकोंको हम उत्तर देते देते थक गये और कई लेखोंको स्थानाभावके कारण वापिस भी कर देना पड़ा, जिसका हमें खेद है। परन्तु अनिच्छासे यह सब कुछ करते हुए भी भविष्यकी ओर हमारी आशा लगी हुई थी जो अब कुछ फलित हुई है। यहाँ पर पाठकोंको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि अनेकान्तको न्यूजप्रिण्टका अच्छा कोटा मंजूर हुआ है, अतः पेपर मिलतेही अनेकान्त अब अप्रैल की किरणसे पहलेकी तरह अधिक पेजोंको लिये हुए प्रकाशित हुआ करेगा। हम चाहते हैं कि पिछले महीनोंमें पेजोंकी जो कमी पड़ी है उसे अगले महीनोंमें यथाशक्ति कुछ पूरा किया जाय। अतः पाठक धैर्य रक्खें। साथ ही सुलेखकोंसे अनुरोध है कि वे अपनी सुन्दर रचनाएँ शीघ्र ही अनेकान्त आफिस वीरसेवामन्दिरको भेजने की कृपा करें; क्योंकि अप्रैलकी किरण जल्दी ही प्रेसमें दी जानेको है।

※ विषय-सूची ※

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वर्ष ७ फरवरी—मार्च १९४५ किरण ७-८

वीर-शासन-जयन्ती

अर्थात्

श्रावण-कृष्ण-प्रतिपदाकी पुण्य-तिथि

यह तिथि—इतिहासमें अपना खास महत्व रखती है और एक ऐसे 'सर्वोदय' तीर्थकी जन्मतिथि है, जिसका लक्ष्य 'सर्वप्राणिहित' है।

इस दिन—अहिंसाके अवतार श्री सन्मति-वर्द्धमान-महावीर आदि नामोंसे नामाङ्कित और भगवानका तीर्थ प्रवर्तित हुआ, उनका शासन शुरू हुआ, उनकी दिव्यध्वनि वाणी पहलेपहल खिरी, जिसके द्वारा सब जीवोंको उनके हितका वह सन्देश सुनाया गया जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाई, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्तदृष्टिको अपनानेमें है, समताको अपने जीवनका अङ्ग बनाने में है, अथवा बन्धनसे—परतन्त्रतासे—विभावपरिणतिसे छूटनेमें है। साथ ही, सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने हाथमें है, उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है।

इसी दिन—पीड़ित, पतित और मार्गच्युत जनताको यह आश्वासन मिला कि उसका उद्धार हो सकता है।

यह पुण्य-दिवस—उन क्रूर बलिदानोंके सातिशय रोकका दिवस है जिनके द्वारा जीवित प्राणी निर्दयतापूर्वक छुरीके घाट उतारे जाते थे अथवा होमके बहाने जलती हुई आगमें फेंक दिये जाते थे।

इसी दिन—लोगोंको उनके अत्याचारोंकी यथार्थ परिभाषा समझाई गई और हिंसा-अहिंसा तथा धर्म अधर्मका तत्व पूर्णरूपसे बतलाया गया।

इसी दिनसे—स्त्रीजाति तथा शूद्रोंपर होनेवाले तत्कालीन अत्याचारोंमें भारी रुकावट पैदा हुई और वे सभी जन यथेष्ट रूपसे विद्या पढ़ने तथा धर्मसाधन करने आदिके अधिकारी ठहराये गये।

इसी तिथिसे—भारतवर्षमें पहले वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था जिसका पता 'तिलोयपण्णत्ती' तथा 'धवल' आदि प्राचीन सिद्धान्तग्रंथों परसे चलता है। सावनी—आषाढ़ीके विभागरूप फ़सली साल भी उसी प्राचीन प्रथाका सूचक जान पड़ता है, जिसकी संख्या आजकल ग़लत प्रचलित हो रही है।

इस तरह यह तिथि—जिस दिन वीरशासनकी जयन्ती (ध्वजा) लोकशिखर पर फहराई संसारके हित तथा सर्व-साधारणके उत्थान और कल्याणके साथ अपना सीधा एवं खास सम्बध रखती है और इसलिये सभीके द्वारा उत्सवके साथ मनाये जानेके योग्य है। इसीलिये इसकी यादगारमें कई वर्षसे वीरसेवामन्दिर सरसावामें 'वीरशासनजयन्ती' उत्सव के मनानेका आयोजन किया जाता है। गत वर्ष यह उत्सव राजगिरिमें उस स्थान पर मनाया गया था जहाँसे वीरशासनकी तीर्थधारा प्रवाहित हुई है; और उसके बाद कलकत्तामें इसे सार्धद्वयसहस्राब्दि-महोत्सवका रूप दिया गया था।

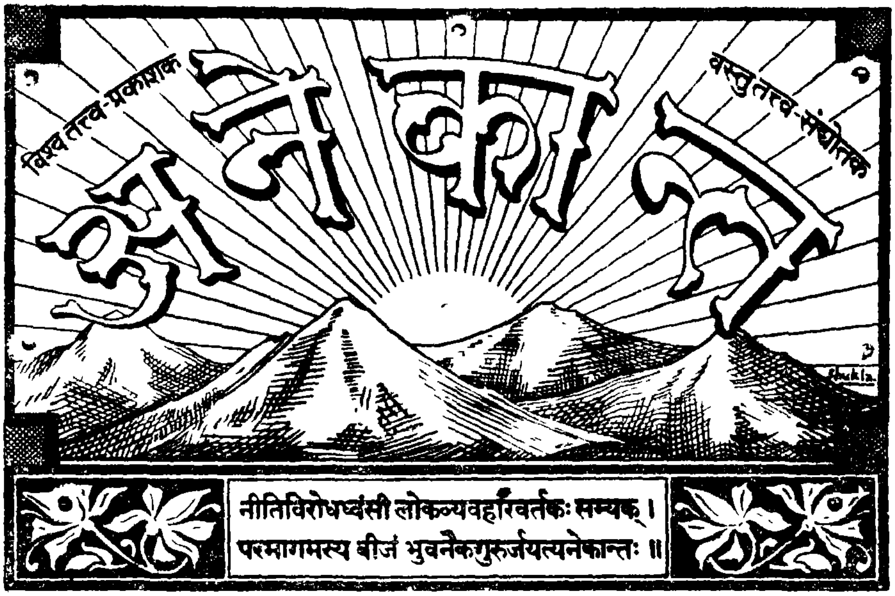
इस वर्ष—यह पावन तिथि २८ जुलाई सन् १९५४ को बुधवारके दिन अवतरित हुई है। इस दिन पिछले वर्षोंसे भी अधिक उत्साहके साथ वीरसेवामन्दिरमें वीरशासनजयन्ती मनाई जायगी और जलसा २६ ता० तक रहेगा। अतः सर्व भाईयोंको इस सर्वातिशायी पावन पर्वको मनानेके लिये अभीसे सावधान होजाना चाहिये और इस शुभ अवसरपर वीरसेवामन्दिरमें पधारनेकी ज़रूर कृपा करनी चाहिये। जो सज्जन वीरसेवामन्दिरमें न पधार सकें उन्हें अपने २ स्थानों पर उसे मनानेका पूर्ण आयोजन करके कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

निवेदक —

जुगलकिशोर मुख़्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा, ज़ि० सहारनपुर

* ॐ अर्हम् *



वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका मूल्य ।।)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ७	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	फर्वरी, मार्च
किरण ७, ८	फाल्गुन-चैत्रशुक्ल, वीरनिर्वाण संवत् २४७१, विक्रम सं० २००१-२	१९४५

श्रीअमृतचन्द्र-स्मरण

आगम-हृदयग्राही मर्म-ग्राही च विश्वतत्त्वानाम् ।
यो मद-मोह-विमुक्तो नय-कुशलो जयति स सुधेन्दुः ॥ १ ॥
यद्वचनामृतवर्षैर्जडताऽऽतपशातनादुपागच्छति ।
शान्तिः सर्वजनानां सोऽमृतचन्द्रो मुनिर्वन्द्यः ॥ २ ॥

—युगवीर:

'**जो आगमके हृदय-ग्राही हैं**—आगमशास्त्रोंके रहस्यको जिन्होंने भले प्रकार समझा है—, **विश्वतत्त्वोंके मर्मज्ञ हैं**—संपूर्ण चराचर जगत्के अन्तर्गत सभी पदार्थोंके मर्मको जिन्होंने खूब पहचाना है—, **मद-मोहसे विमुक्त हैं**—अहङ्कार और मोह जिनके पास नहीं फटकते—**और साथ ही जो नयकुशल हैं**—नयोंके सम्यक् स्वरूप तथा व्यवहार से अवगत हैं—**वे श्रीअमृतचन्द्राचार्य जयवन्त हैं** अपने प्रवचन-द्वारा सदा ही लोक हृदयोंमें अपने प्रभावको अङ्कित किये हुए हैं।'

'**जिनके वचनरूप अमृतकी वर्षासे**—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार और समयसार-कलशादि जैसे प्रवचनोंद्वारा की गई तत्त्वामृत की वृष्टिसे—**जडतारूपी आताप दूर हो जाता है**—अज्ञता-मय भारी गर्मीसे उत्पन्न हुई बेचैनी मिट जाती है—**और उसके दूर होने अथवा मिट जानेसे शान्ति स्वतः ही सब जनोंके समीप आती है**—सभी सन्तप्त-हृदय अनायास ही शान्ति-सुखका अनुभव करते हैं—**वे मुनि श्रीअमृतचन्द्रसूरि वन्दनीय हैं**—सभी आत्मशान्तिके अभिलाषियों-द्वारा नत-मस्तक होकर आराधनीय हैं।'

रत्नकरण्डश्रावकाचार और आप्तमीमांसाका कर्तृत्व

(ले०—प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०)

४ [गत किरणसे आगे]

अब यहाँ मुझे केवल एक बात पर और विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। न्यायाचार्य जी ने कहा है कि "रत्नकरण्डश्रावकाचारकारको जो दोषका स्वरूप क्षुधादि अभिमत है वही आप्तमीमांसाकारको भी अभिमत है, और इसी लिये विद्यानन्दके व्याख्यानका भी यही आशय लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो उन्हींके श्लोकवार्तिकगत व्याख्यानसे जहां सबलतामें क्षुधादि वेदनाओंका अभाव सिद्ध किया है, विरोध आवेगा, जो विद्यानन्दके लिये किसी प्रकार इष्ट नहीं कहा जा सकता।" यहां पुनः हमारे सन्मुख तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं—(१) क्या आप्तमीमांसान्तर्गत दोष शब्दका वही अर्थ स्वीकार किया जा सकता है जो रत्नकरण्डकारको अभिमत है? (२) क्या विद्यानन्दिके दोष शब्दके व्याख्यानका वह अभिप्राय हो सकता है जो रत्नकरण्डकार द्वारा प्रकट किया गया है; (३) यदि उनके व्याख्यानका वही अभिप्राय नहीं है तो उनके श्लोकवार्तिकगत व्याख्यानसे विरोध उत्पन्न होकर कैसी परिस्थिति प्रकट होती है।

(१) आप्तमीमांसाकारको दोषसे क्षुधादि अभिमत होना माननेके लिये न्यायाचार्यजीके आधार वे ही थे जिन पर हम ऊपर विचार कर चुके और देख चुके हैं कि उन उल्लेखों परसे ग्रन्थकारका वैसा अभिप्राय सिद्ध नहीं होता। स्वयं आप्तमीमांसामें जो 'दोषावरणयोर्हानि' 'बहिरन्तर्मलक्षयः' 'निर्दोष' जैसे विशेषणोंका उपयोग किया गया है उनका तात्त्विक अर्थ समझनेके हमें दो उपाय उपलब्ध हैं—एक तो स्वयं उसी ग्रंथका सन्दर्भ, और दूसरे उनका टीकाकारों द्वारा स्पष्टीकरण। आप्तमीमांसामें आप्तका लक्षण करते समय ग्रन्थकारने न केवल उन्हीं गुणोंको स्पष्ट किया है जिनका होना आप्तमें आवश्यक है, किन्तु उन विभूतियों को भी स्पष्टतः पृथक् बतला दिया है जो मायावियों और सरागियों में भी पाई जाती हैं अतएव आप्तके लक्षणमें कदापि ग्राह्य नहीं हैं। देवोंका आना, आकाशगमन, चमरादि, व विग्रह अर्थात् शरीरसम्बन्धी चमत्कार आदि इसी प्रकारकी बातें हैं। अष्टसहस्रीकारने 'विग्रहादि महोदय' का अर्थ किया है 'शश्वन्निस्वेदत्वादिः' अर्थात् पसीनाका कभी नहीं आना, इत्यादि जिससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि शरीर सम्बन्धी गुणधर्मोंका प्रकट होना न होना आप्तके स्वरूपचिन्तनमें कोई महत्व नहीं रखते। आप्तका अर्थ है ऐसा गुरु जिसके वचनपर विश्वास किया जा सके और ऐसे वचन वे ही हो सकते हैं जिनमें युक्ति और और शास्त्रमें विरोध नहीं आता एवं प्रत्यक्षसे भी जो बाधित नहीं होते। ऐसे वचन वही निर्दोषी महापुरुष कह सकता है जिसके राग-द्वेष और अज्ञान सर्वथा नष्ट हो चुके हैं और पूर्ण ज्ञानका प्रकाश हो गया है। विद्यानन्दिने कारिका ४ व ६ की टीकामें यही बात अच्छी तरह स्पष्ट की है। जैसे—"कः पुनर्दोषो नामावरणाच्छिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते, वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः।" "आवरणस्य द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो भूभृत इव महतोऽत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभृतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य प्रणेता स्तोतव्य समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च।" "दोषास्तावदज्ञान-राग द्वेषादय उक्ताः" आदि। यहां सर्वत्र उन्हीं ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों व तज्जन्य दोषोंका ग्रहण किया गया है जिनसे जीवकी दृष्टि व समझदारीमें त्रुटि उत्पन्न हो जाती है। यहां अघातिया कर्मों द्वारा उत्पन्न परिणामोंको कहीं भी दोषरूपसे ग्रहण नहीं किया। यही बात युक्त्यनुशासन की प्रथम कारिका पर ध्यान देनेसे और भी स्पष्ट हो जाती है। इस कारिकामें ग्रन्थकारने वीर भगवान्को "विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम्" ऐसा विशेषण लगाया है जिसका अर्थ होता है वे केवली जिसके दोषोंके आशय रूप कर्मबन्ध सर्वथा नष्ट हो चुके हैं। अब यदि अघातिया कर्मजन्य वृत्तियोंको भी आप्तसम्बन्धी दोषोंमें सम्मिलित किया जाय तो केवलीमें अघातिया कर्मोंके भी नाशका प्रसंग आता है जो सर्वसम्मत कर्मसिद्धान्तके विरुद्ध है। अतएव दोषसे वे ही वृत्तियां ग्रहण की जा सकती हैं जो ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे उत्पन्न होती हैं

एवं जो उन कर्मोंके साथ ही केवलीमें विनष्ट हो चुकी हैं। स्वयंभूस्तोत्रके 'स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्' (३) आदि वाक्य भी ठीक इसी अर्थका प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि सयोगी केवली जिन दोषोंके मूलको भस्मसात् कर सके हैं वे घातिया कर्म ही हैं न कि अघातिया कर्म।

(२) ऊपर हम देख ही चुके कि विद्यानन्दिने अपनी अष्टसहस्रीटीकामें दोषका क्या अर्थ किया है। यदि उन्हें आप्तमीमांसाकारके दोष शब्दसे वही अर्थ अभीष्ट था जो रत्नकरण्डकारको है तो, मैं न्यायाचार्यजीसे पूछता हूं कि, उन्होंने वही स्वरूप वहां क्यों नहीं प्रकट किया? यह बात सत्य है कि विद्यानन्दिने अपने श्लोकवार्तिकमें केवलीके क्षुधादि वेदनाओंका अभाव माना है, या न्यायाचार्यजीके शब्दोंमें उन वेदनाओंका उन्होंने "सबलतासे अभाव सिद्ध किया है।" ऐसी अवस्थामें यदि वे आप्तमीमांसाके संदर्भ परसे या उन्हीं ग्रन्थकारकी अन्य कृतियों परसे दोषका वैसा अर्थ कर सकनेकी गुंजाइश पा जाते तो अवश्य उसी प्रकार अर्थ करते, या यही कह देते कि यहाँ उसी प्रकार विशेषार्थ ग्रहण करना चाहिए जैसा उन्होंने श्लोकवार्तिकमें किया है, जैसा कि अन्य स्थलोंपर उन्होंने उल्लेख किया है। पर उन्होंने वैसा नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि उन्हें वहां वैसा अर्थ करनेके लिये सर्वथा ही कोई आधार नहीं मिला। इस परसे स्वभावतः यह अनुमान भी किया जा सकता है कि यदि उनके सन्मुख उन्हीं समन्तभद्र कृत रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसा ग्रंथ होता तो वे उस पर भी अपनी टीका लिखते या कमसे कम उसका अवतरण देकर आप्तमीमांसामें दोषका अर्थ अवश्य ही उसीके अनुसार करते, क्योंकि वे केवलीमें क्षुधादि वेदनाओंके अभाव सम्बन्धी मतके प्रबल पोषक थे। इससे भी यही बात प्रमाणित होती है कि विद्यानन्दिको न तो आप्तमीमांसामें दोषका वैसा अर्थ कर सकनेकी गुँजाइश मिली और न उनके समक्ष समन्तभद्रस्वामीकी रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसी कोई रचना विद्यमान थी।

(३) अब विचारणीय बात रह जाती है केवल विद्यानन्दिके अष्टसहस्रीगत व्याख्यानके श्लोकवार्तिकगत व्याख्यानसे विरोध की। पर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि यथार्थतः वहां ऐसा कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। टीकाकार का कर्तव्य है मूल ग्रंथकारके अभिप्रायको उनकी परिपाटीके अनुसार व्यक्त करना। अतएव आप्तमीमांसाकारका उन्हें जैसा अभिमत अर्थ ठीक जंचा उसी प्रकार उन्होंने वहां अर्थ किया है और इस कार्यमें उन्होंने एक सच्चे टीकाकार का कर्तव्य निबाहा है। पर श्लोकवार्तिक की रचना उन्होंने एक ऐसे ग्रंथ पर की हैं जिसपर उनसे पूर्ववर्ती दो टीकाएं उन्हें उपलब्ध थीं। अतएव उन्हींकी अर्थ परिपाटीके अनुसार उन्होंने वहां वह अर्थ किया है। पर यदि विचार कर देखा जावे तो वहां पर भी उनका तथा उनसे पूर्ववर्ती दोनों टीकाओं अर्थात् सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकका मत तत्त्वार्थसूत्रकारके मतसे मेल नहीं खाता जैसा कि मैं जैन सिद्धान्त भास्कर(भाग १०, किरण २) मे प्रकाशित "क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय एक ही है?" शीर्षक अपने एक लेखमें प्रकट कर चुका हूं। न्यायाचार्यजीने उसे अवश्य देखा होगा, यदि नहीं तो कृपया वे उसपर अवश्य ध्यान दे लें। इस विषम परिस्थितिपर कुछ गम्भीरतासे चिन्तन करनेपर दिगम्बर साहित्यमें हमे दो विचारधाराएं स्पष्ट दिखाई देती हैं। एक है षट्खंडागम सूत्रों, आप्तमीमांसादि ग्रन्थों तत्त्वार्थसूत्र एव पश्चात्कालीन कर्मसिद्धान्तग्रन्थोंमें स्वीकृत वह मान्यता जिसके अनुसार साता व असाता वेदनीय कर्मका उदय अयोगी गुणस्थान तक बराबर बना रहता है जिससे केवलीमें सुख-दुःख रूप वेदनाएं सिद्ध होती हैं। दूसरी विचारधारा हमें कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमे दिखाई देती है जिसके अनुसार केवली क्षुधादि वेदनाओंसे रहित माने जाते हैं। इस मान्यताका पूर्वोक्त मान्यताके साथ मेल बैठानेका प्रयत्न पूज्यपादाचार्यने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकामें किया है और उसीका अनुसरण अकलंकके राजवार्तिक व विद्यानन्दिके श्लोकवार्तिकमें भी प्राप्त होता है। इसी परम्पराका ग्रहण रत्नकरण्डश्रावकाचारमे भी किया गया है और उसके कर्ताने अपनी यह परम्परा प्रथके उपान्त पद्यमें प्रकट भी करदी है जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

अतएव आप्तमीमांसा और श्रावकाचारके कर्ता एक नहीं दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। वादिराजके उल्लेखानुसार श्रावकाचारके कर्ता 'योगीन्द्र' कहलाते थे और देवागम या आप्तमीमांसाके कर्ताकी उपाधि थी 'स्वामी'।

गजपन्थ क्षेत्रके पुराने उल्लेख

(ले०—श्री पं० नाथूराम प्रेमी)

मैंने 'हमारे तीर्थक्षेत्र' शीर्षक लेखमें[1] लिखा था कि वर्तमान गजपन्थ तीर्थका कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता और न उक्त तीर्थ पर ही अब तक उसकी प्राचीनताका कोई चिह्न मिला है। परन्तु अभी गत मार्च अप्रैलमें जब मैं उक्त तीर्थ की धर्मशालामें लगभग डेढ़ महीने तक ठहरा, तब वहाँके मुनीम बंसीलालजीने मुझसे कहा कि असग कविके शान्तिनाथचरितमें इस तीर्थका उल्लेख है। सौभाग्यसे वहां उक्त ग्रंथ भी मिल गया। उसके सातवें सर्गमें नीचे लिखा हुआ श्लोक मिला—

अपश्यन्नापरं किञ्चिद्रक्षोपायमथात्मनः।
शैलं गजध्वजं प्रापन्नासिक्यनगराद्बहिः॥ ६८॥

प्रसंग यह है कि अमिततेज और श्रीविजयने अपनी सेनासहित जब अशनिवेग विद्याधरका पीछा किया तब वह अपनी रक्षाका और कोई उपाय न देख कर भाग खड़ा हुआ और नासिक्य नगरके बाहर गजध्वज नामक पर्वतपर पहुंचा जहां कि विजय बलभद्र केवली विराजमान थे।

पहले तो मुझे शंका हुई कि 'गजध्वजं' पाठ शायद अशुद्ध है। हो सकता है कि लेखकोंके प्रमादसे 'गजाध्वानं' का 'गजध्वजं' बन गया हो। क्यों कि 'गजाध्वानं' (गजों या हाथियोंका रास्ता या पन्थ) और 'गजपन्थ' का ही एक ही अर्थ होता है। परन्तु उसी समय 'बोधप्राभृत' का स्वाध्याय करते हुए उसकी २७ वीं गाथाकी श्रुतसागरी टीकाकी निम्न पंक्तियोंपर मेरी नजर पड़ी, जिनमें तमाम तीर्थोंके नाम दिये हुए हैं—

"ऊर्जयन्त - शत्रुंजय - लाटदेशपावागिरि - आभीरदेशतुंगीगिरि-नासिक्यनगरसमीपवर्तिगजध्वज-गजपंथ सिद्धकूट-तारापुर - कैलासाष्टापद - चम्पापुरी-पावापुर-वाराणसीनगरक्षेत्र - हस्तिनागपत्तन - सम्मेदपर्वत-सह्याचल-मेढ्रगिरि - वैभारगिरि - रूप्यगिरि-सुवर्णगिरि-रत्नगिरि-शौर्यपुर - चूलाचल - नर्मदातट - द्रोणीगिरि-कुन्थुगिरि-कोटिकशिलागिरि-जम्बूकवन-चलनानदीतटतीर्थंकरपञ्चकल्याणस्थानानि।"

इस लम्बे समासपदमें गजध्वज और गजपन्थ दोनों नाम एक साथ नासिक नगरके समीप बतलाये हैं। ऐसा नहीं जान पड़ता कि एकका नाम देकर फिर उसका पर्यायवाची नाम दिया है। तब क्या गजध्वज और गजपन्थ दो जुदा जुदा पर्वत हैं?

मेरा अनुमान है कि श्रुतसागर बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने शान्तिनाथचरितके पूर्वोक्त श्लोकका गजध्वज अवश्य पढ़ा होगा और प्राकृत निर्वाणकाण्डका 'गजपंथे गिरिसिहरे' पाठ भी उनसे छुपा न होगा, इस लिए उन्हों ने गजध्वज और गजपन्थ दो पर्वत समझ लिये होंगे और विशेष जांच पड़ताल किये बिना दोनोंके ही नाम दे देना निरापद समझा होगा। नासिक्यसमीपवर्ती लिखना इस लिए आवश्यक हुआ कि उनकी दृष्टिमें गजपन्थ कहीं अन्यत्र था नहीं।

निर्वाणकांडके अनुसार गजपन्थसे कुछ बलभद्रोंको मोक्ष प्राप्त हुआ है और शान्तिनाथ चरितमें जिनकी शरण अशनिवेगने ली थी वे विजय केवली पहले बलभद्र थे। इस लिए संभावना यही है कि निर्वाणकाण्डके गजपन्थसे ही शान्तिचरितके कर्ताका अभिप्राय है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि गजपन्थको गजध्वज क्यों लिखा? उत्तर यही सूझता है कि या तो यह दूसरा नाम होगा और या फिर लेखकोंके प्रमादसे ही 'गजाध्वानं' का 'गजध्वज' लिख गया होगा।

असगने अपना महावीरचरित शक सं० ९१० (वि० सं० १०४५) में समाप्त किया था और उसके बाद शान्तिनाथचरित। अर्थात् वि० सं० १०५० के लगभग गजपन्थतीर्थ नासिक नगरके बाहर माना जाता था।

श्रुतसागरसूरिका समय १६ वीं शताब्दि है और उस समय भी वह नासिकके समीप समझा जाता था।

'बाहर' और 'समीप' से गजपन्थको उसके वर्तमान स्थान में भी माना जा सकता है परन्तु ये शब्द पासके अन्य किसी स्थानकी संभावनाको मेटनेके लिए काफी नहीं जान पड़ते।

---

१ जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० १६५

अपमान या अत्याचार ?

कल शुक्रवारको, कोई पहर रात गये खुली छतके मध्यमें शय्यापर लेटा हुआ, मैं स्त्रियोंकी पराधीनता और उनके साथ पुरुषजातिने जो अबतक सलूक किया है उसका गहरा विचार कर रहा था। एकाएक शीतल मंद-सुगंध पवनके झोकोंने मुझे निद्रादेवीकी गोदमें पहुँचा दिया और इस तरहपर मेरा वह सूक्ष्म विचारचक्र कुछ देरके लिये बंद हो गया।

निद्रादेवीके आश्रयमें पहुँचते ही अच्छे अच्छे सुन्दर और सुमनोहर स्वप्नोंने मुझे आघेरा। उस स्वप्नावस्थामें मैं क्या देखता हूं कि, एक प्रौढा स्त्री, जिसके चेहरेसे तेज छिटक रहा है और जो अपने रंग-रूप, वेष-भूषा तथा बोल-चालसे यह प्रकट कर रही है कि वह 'अखिल भारतीय महिला-महासभा' के सभापतिके आसनपर आसीन होकर आ रही है, अपनी कुछ सखियोंके साथ मुझसे मिलनेके लिये आई। अभी कुशलप्रश्न भी पूरी तौरसे समाप्त नहीं हो पाया था कि उस महिलारत्नने एक दम बड़ी ही सतर्क-भाषामें मुझसे यह प्रश्न किया कि, 'आप लोग स्त्रियोंसे जो घूँघट निकलवाते हो—उन्हें पर्दा करनेके लिये मजबूर करते हो—इसका क्या कारण है ?'

मैं इस विलक्षण प्रश्नको सुनकर कुछ चौंक उठा और उत्तर सोचना ही चाहता था कि वह विदुषी स्त्री स्वतः ही बोल उठी—'या तो यह कहिये कि आप लोगोंका स्त्रियों पर विश्वास नहीं है। आप यह समझते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषोंको देखकर कामबाणसे विकल हो जाती हैं, उनके मनमें विकार आजाता है और व्यभिचारकी ओर उनकी प्रवृत्ति होने लगती है। उसी की रोकथामके लिये यह घूंघटकी प्रथा जारी की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्त्री-जातिका घोर अपमान है। स्त्रियां स्वभावसे ही पापभीरु तथा लज्जाशील होती हैं, उनमें धार्मिक निष्ठा पुरुषोंसे प्राय अधिक पाई जाती है। चित्त भी उनका सहज ही में विकृत होने वाला नहीं होता। उन्हें व्यभिचारादि कुमार्गोंकी ओर यदि कोई प्रवृत्त करता है तो वह प्रायः पुरुषोंकी स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ और उनकी विवेकशून्य क्रियाएँ तथा निरंकुश प्रवृत्तियाँ ही हैं, जिससे किसी भी विचारशील तथा न्यायप्रिय व्यक्तिको इनकार नहीं होसकता। और अब तो प्रायः सभी विवेकी तथा निष्पक्ष विद्वान इस सत्यको स्वीकार करते जाते हैं। ऐसी हालतमें स्त्रियोंपर उपर्युक्त कलंकका लगाया जाना बिलकुल ही निर्मूल प्रतीत होता है। और वह निर्मूलता और भी अधिकताके साथ सुदृढ तथा सुस्पष्ट हो जाती है जब कि भारत और भारतसे बाहरकी उन दक्षिणी गुजराती, पारसी तथा जापानी आदि उन जातियोंके उदाहरणोंको सामने रक्खा जाता है जिनमें घूंघटकी प्रथा नहीं है और जिनकी स्त्रियोंके चरित्र बहुत कुछ उज्ज्वल तथा उदात्त पाये जाते हैं। आपका भी नित्य ही ऐसी कितनी ही स्त्रियोंसे साक्षात्कार होता है और वे खुले मुँह आपको देखती हैं। बतलाइये उनमेंसे आजतक कितनी स्त्रियां आप पर अनुरक्त हुई और उन्होंने आपसे प्रेमभिक्षाकी याचना की ? उत्तर 'कोई नहीं' के सिवाय और कुछ भी न होगा। आपने स्वतः ही दृष्टिपातके अवसर पर इस बातका अनुभव किया होगा कि उनमें कितना संकोच और कितनी लज्जाशीलता होती है। विकारकी रेखा तक उनके चेहरे पर नहीं आती। पर्दा उनकी आँखोंमें ही समाया रहता है, जिसपर उन्हें स्वतंत्रताके साथ अधिकार होता है और वे यथेष्ट रीतिसे उस अधिकारका प्रयोग करती हैं। उन्हें कृत्रिम पर्देकी—उस बनावटी पर्देकी जिसमें लालसा भरी रहती है और जो चित्तको उद्विग्न तथा शंकातुर करने वाला है—जरूरत ही नहीं रहती। और इसलिये यह कहना कि पुरुषोंको देखकर स्त्रियोंका मन स्वभावसे ही विकृत होजाता है—वे दुराचारकी ओर प्रवृत्ति करने लगती हैं—कोरी कल्पना और स्त्रीजातिकी अवहेलनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारकी बातोंसे स्त्रीजातिके शीलपर नितान्त मिथ्या आरोप होता है और उससे उसके अपमानकी सीमा नहीं रहती। साथ ही, इस बातकी भी कोई गारंटी नहीं है कि जो स्त्रियां पर्देमें रहती हैं वे सभी

उज्ज्वलचरित्रवाली होती हैं; ऐसी बहुतसी स्त्रियोंके बड़े ही काले चरित्र पाये गये हैं। अतः घूंघटकी प्रथाको जारी रखनेके लिये उक्त हेतुमें कुछ भी सार अथवा दम नज़र नहीं आता।'

ज़रासी देर रुककर और मेरे मुखकी ओर कुछ प्रतीक्षा दृष्टिसे देख कर वह उदारचरिता फिर बोली—

'यदि आप ऐसा कहना नहीं चाहते और न उक्त हेतुका प्रयोग करना ही आपको इष्ट मालूम देता है तो क्या फिर आप यह कहना चाहते हैं कि— पुरुषोंका मन स्त्रियों को देख कर द्रवीभूत हो जाता है, पुरुष नवनीतके समान और स्त्रियां अंगारके सदृश हैं— 'अंगार सदृशो नारी नवनीतसमा नराः"—अंगारोंके समीप जिस प्रकार घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रियोंके दर्शनसे पुरुषोंका मन चलायमान होजाता है—विकृत हो उठता है। उसी मनोविकारको रोकनेके लिये—उसे उत्पन्न होनेका अवसर न देनेके लिये-ही यह घूँघट निकलवाया जाता है अथवा पर्दा कराया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्त्रियों पर घोर अत्याचार है। स्त्रियोंको देख कर पुरुषोंकी यदि सचमुच ही राल टपक जाती है, उनमें इतना ही नैतिक बल है और वे इतने ही पुरुषार्थके धनी हैं कि अपनी प्रकृतिको स्थिर भी नहीं रख सकते तो यह उन्हींका दोष है। उन्हें उसका परिमार्जन अपने ही मुँह पर बुर्का डाल कर अथवा घूँघट निकाल कर क्यों न करना चाहिये? यह कहांका न्याय है कि अपराध तो करें पुरुष और सजा उस की दी जाय स्त्रियोंको? यह तो 'अंधेर नगरी और चौपट राजा' वाली कहावत हुई—एक मोटा अपराधी यदि फांसी की रस्सीमें नहीं आता तो किसी पतले-दुबले निरपराधीको ही फांसी पर लटका दिया जाय! कैसा विलक्षण न्याय है!! क्या स्त्रियोंको अबला और कमजोर समझ कर ही उनके साथ यह सलूक (न्याय) किया गया है! और क्या न्यायसत्ता पानेका यही उपयोग है और यही मनुष्योंका मनुष्यत्व है? मैं तो इसे मानव-जाति और उस संस्कृतिके लिये महान् कलंक समझती हूँ।'

'स्त्रियां पर्देमें रहनेकी वजहसे अपने स्वास्थ्य, अपनी जानकारी, अपनी संस्कृति और अपनी आत्मरक्षा वगैरह की कितनी हानियां उठाती हैं, क्या इसका आपने कभी अनुभव नहीं किया? मैंने तो ऐसी सैंकड़ों स्त्रियोंको देखा है जो घूँघट निकाले हुए अंधोंकी तरहसे चलती हैं, मार्गमें घोड़ा, गाड़ी, आदमी तथा दर-दीवार और वृक्षसे टकरा जाती हैं, ईंट पत्थर लकड़ीसे ठोकर खा जाती हैं; मार्ग भूल कर इधर उधर भटकने लगती हैं; किसी आक्रमणकारीसे अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं; और इस तरह पर बहुत कुछ दुःख उठाती हुई अपनी उस घूंघटकी प्रथा पर खेद प्रकट करती हैं। उन्हें यह भी मालूम नहीं होता कि संसारमें क्या हो रहा है और देश तथा राष्ट्रके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। वे प्रायः मकानकी चारदीवारीमें बंद रह कर उच्च संस्कारोंके विकासके अवसरसे वंचित रह जाती हैं, इतना ही नहीं बल्कि अपने स्वास्थ्यको भी खो बैठती हैं। ऐसी स्त्रियां अपनी संतानका यथेष्ट रीतिसे पालन-पोषण भी नहीं कर सकतीं और न उसे ठीक तौरसे शिक्षित ही बना सकती हैं। मैं तो जेलखानेके एक आजन्म कैदीकी और उनकी हालतमें कुछ भी अन्तर नहीं देखती। यह सब कितना अत्याचार है! बिना अपराध ही स्त्रियां ये सब दुःख, कष्ट तथा हानियां उठाती हैं और अपने मनुष्योचित अधिकारों तथा लाभोंसे वंचित रक्खी जाती हैं, इस अन्याय और अन्धेरका भी कहीं कुछ ठिकाना है!!' 'अब बतलाइये दोनोंमेंसे आप अपनी इस मनहूस प्रथाका कौनसा कारण ठहराते हैं? पहला कारण बतलाकर व्यर्थ ही स्त्रीजातिका अपमान करना चाहते हैं या दूसरे कारणको मान कर स्त्रियों पर अपने अत्याचारको स्वीकार करते हैं? दोनोंमेंसे कोई एक कारण ज़रूर मानना और बतलाना पड़ेगा अथवा दोनोंको ही स्वीकार करना होगा। परंतु वह कारण चाहे कोई हो, पुरुषोंके लिये यह बात कलंककी, लज्जाकी और सभ्यसंसारमें उनके गौरवको घटाने वाली ज़रूर है कि उन्हें प्रकृति तथा न्याय-नियमोंके विरुद्ध अपनी स्त्रियोंको पर्देसे रखना पड़ता है।'

मैं उस वीरांगनाके इस दिव्यभाषणको सुन कर दंग रह गया और मुझसे उस वक्त यही कहते बना कि, ज़रा सोचकर आपके प्रश्नका समुचित उत्तर फिर निवेदन करूंगा।

मेरा इतना कहना ही था कि, आकाशमें मेघोंकी गर्जना और वर्षाकी कुछ बूंदोंने मेरा वह स्वप्न भंग कर

दिया और मैं अपनेको पूर्ववत् शय्या पर लेटा हुआ ही अनुभव करने लगा। परन्तु अभी कुछ मिनिट पहले जो अद्भुत दृश्य देखा था और जो दिव्य भाषण सुना था उसकी याद चित्तको बेचैन किये देती थी कि, या तो इसे 'स्त्री-जातिका अपमान' कहना चाहिये और या यह कहना चाहिये कि वह 'स्त्रियों पर पुरुषोंका अत्याचार' है। अथवा यों कहना होगा कि उसमें दोनोंका ही—अपमान और अत्याचारका—सम्मिश्रण है। विचारोंकी इसी उधेड़बुनमें सबेरा होगया और मैं अपना स्वप्नसमाचार दूसरोंको सुनाने लगा।

संभव है कि पाठकोंमेंसे भी कुछ महानुभाव उस दिव्य स्त्रीके प्रश्नका अच्छा विचार कर सकें और उत्तरमें तीसरे ही किसी निर्दोष हेतुका विधान कर सकें। इसी लिये स्वप्न की यह संपूर्ण घटना आज पाठकोंके सामने रक्खी जाती है। विद्वानोंको चाहिये कि वे इस पर गहरा विचार करके अपने अपने विचारफलको युक्तिके साथ प्रकट करें। यदि उन्हें भी उक्त प्रथाकी उपयुक्तता मालूम न दे और वे उस को जारी रखनेमें पुरुषोंका ही दोष अनुभव करें तो उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे पुरुषजातिको इस कलंक तथा पाप से मुक्त करानेका भरसक प्रयत्न करें*। जुगलकिशोर मुख्तार

* यह स्वप्न मुझे आजसे कोई २१ वर्ष पहले नानौता (जि० सहारनपुर) में आया था और आनेके बाद ही ११ मई सन् १९२४ को वर्तमान रूपमें लिख लिया गया था। एक-दो पत्रोंमें उस समय इसे प्रकाशित भी किया था; जैसे जुलाई सन् १९२४ के 'परवारबन्धु' में। अभी इसके अधिक लोकपरिचयमें आने और इसपर गंभीर विचार किये जानेकी और भी अधिक आवश्यकता जान पड़ती है। अतः उपयुक्त समझकर आज इसे पाठकोंके सामने रक्खा जाता है।

विद्यानन्दका समय

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाके अन्तमें 'सत्यवाक्यार्थ-सिद्धयै' और युक्त्यनुशासनालङ्कारके अन्तिम श्लोकमें 'विजयिभिः सत्यवाक्याधिपैः' शब्दोंका प्रयोग किया है। इन परसे बाबू कामताप्रसादजीका अनुमान है[1] कि विद्यानन्दने अपने समयके राजा राजमल्लके नामका निर्देश किया है जिसकी 'सत्यवाक्य' उपाधि थी और जो विजयादित्यका लड़का था एवं सन् ८१६ के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इससे विद्यानन्दका समय ई० ८१६ के लगभग होना चाहिए। न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी[2] और प्रो० हीरालालजी[3] एम०ए० भी इसी मतका समर्थन करते हैं। यहां विचारणीय है कि विद्यानन्दने उक्त शब्दोंका प्रयोग अपने ग्रन्थरचनाकालकी अन्तिम कृतियों—आप्तपरीक्षा और और युक्त्यनुशासनालङ्कारमें किया है। इनसे पूर्व रचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदिमें नहीं किया अतः यह मानना पड़ेगा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदिकी रचना सन् ८१६ के पहले हो चुकी थी और आप्तपरीक्षा आदिकी रचना ८१६ ए० डी० के बादकी होगी। यह निर्विवाद है कि विद्यानन्दने सर्वप्रथम विद्यानन्दमहोदय इसके बाद तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक फिर अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ रचे हैं; क्योंकि उत्तर ग्रंथोंमें पूर्वग्रन्थोंके उल्लेख पाये जाते हैं। यदि इन तीनों ग्रन्थोंका रचनाकाल पांच पांच वर्ष भी माना जाय तो विद्यानन्दमहोदयकी रचना ८०१ से ८०५ ए० डी० श्लोकवार्तिककी ८०६ से ८१० ए० डी० और अष्टसहस्रीकी ८११ से ८१५ ए० डी० तक माननी पड़ेगी और विद्यानन्दमहोदय जैसे विशाल तार्किक ग्रन्थकी रचनाके समय विद्यानन्दकी अवस्था यदि कमसे कम ३० वर्षकी भी हो तो वे अकलङ्कदेव (७२०–७८० ए० डी०) को भी देख सकते हैं और उनके साक्षाच्छिष्य भी बन सकते हैं परंतु विद्यानंदको अकलंकदेव का साक्षाच्छिष्य न तो पंडितजी स्वीकार करते हैं और न दूसरे विद्वान् ही मानते हैं तथा इतिहाससे भी सिद्ध नहीं होता। ऐसा मालूम होता है कि विद्यानन्द अकलङ्कदेवसे कई दशकोंके बाद हुए हैं। एक आपत्ति यह भी उपस्थित होती है कि विद्यानन्दका ग्रन्थरचनाकाल ८१६ ए० डी० के

1 जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ३ कि० ३ पृ० ८७। 2 न्या०कु० भा० प्रस्ता० पृ० २९, ३०। 3 अनेकान्त वर्ष ७ कि५-६

करीब माना जाय तो वीरसेनस्वामी (८२३ ए० डी०) के द्वारा धवला और जयधवलामे तथा जिनसेनस्वामीके द्वारा जयधवला और आदिपुराणमें विद्यानन्द या उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (८०६ से ८१० ए० डी०) आदि ग्रंथोंके वाक्योंका उल्लेख होना अनिवार्य और सम्भव था। कोई वजह नहीं कि सैकड़ों ग्रंथों और ग्रंथकारों तथा उनके वाक्योंका उल्लेख करने वाले वीरसेनस्वामी और जिनसेन स्वामी अपनी विशाल टीकाओं–धवला और जयधवलामें विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक जैसे विशाल महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके वाक्योंको उद्धृत न करें। अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिकका वीरसेन और जिनसेन स्वामीने धवला और जयधवलामें अनेकों जगह खूब उपयोग किया है और उसे तत्त्वार्थभाष्यके नामसे उल्लिखित किया है। यदि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ८१६ ए० डी० के पहले रचा गया होता तो धवला और जयधवलामे उसका भी उपयोग होना सम्भव था। तत्त्वार्थभाष्यके नामोल्लेख से भी मालूम होता है कि उस समय तत्त्वार्थसूत्रपर दिगम्बरपरम्परामें भाष्य या वार्तिक कहा जाने वाला तत्त्वार्थवार्तिक या तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य नामकी टीका ही उपलब्ध थी, विद्यानन्दकी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक या तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य नामक टीका उस समय नहीं बन सकी थी। अन्यथा न्यायवृत्तिके लिये 'तत्त्वार्थभाष्य' के स्थानमें 'तत्त्वार्थवार्तिक या 'तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य' ही नामोल्लेख किया जाता। इस के अतिरिक्त विद्यानन्दस्वामीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायवार्तिकटीकाकार वाचस्पतिमिश्रका ''न्यायवार्तिकटीकाकार' शब्दों द्वारा नामोल्लेख किया है। जैसा कि निम्न उद्धरणसे प्रकट है—

'तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति।'
त० श्लो० पृ० २०६।

यहां स्पष्ट तौरसे 'न्यायवार्तिकटीकाकार' वाचस्पति मिश्रका नामोल्लेख हुआ है जिनका समय उनके 'न्यायसूचीनिबन्ध' ग्रन्थपरसे ८४१ ए० डी० सर्वसम्मत माना जाता है। यद्यपि उद्योतकरके न्यायवार्तिकपर वाचस्पतिमिश्र ने जो टीका लिखी है वह 'तात्पर्यटीका' या 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' के नामसे अभिहित है तथापि 'न्यायवार्तिकटीका' शब्दसे भी वही 'न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका' विद्यानन्द को इष्ट है क्योंकि न्यायवार्तिक पर जो टीका लिखी गई है वह अकेली यही टीका है। दूसरे, विद्यानन्दने न्यायवार्तिक और उसके कर्ताका न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिककार, वार्तिककार और उद्योतकर नामोंसे ही सर्वत्र उल्लेख किया है।[1] तथा न्यायभाष्य और उसके कर्ताका न्यायभाष्य भाष्यकार और न्यायभाष्यकार[2] नामसे निर्देश किया है। तीसरे, अनुमानसूत्रका त्रिसूत्रीकरण वाचस्पतिमिश्रने ही किया है। अतः 'न्यायवार्तिकटीकाकार' पदसे विद्यानन्दने वाचस्पति मिश्र ई० सन् ८४० का ही स्पष्टतया नामोल्लेख किया है। माननीय पण्डितजीने जो यह लिखा है कि 'आ० विद्यानंद ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० २०६) में न्यायदर्शनके 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रका निरास करते समय केवल भाष्यकार और वार्तिककारका ही मत पूर्वपक्षरूपसे उपस्थित किया है। वे न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायको अपने पूर्व पक्षमें शामिल नहीं करते। वाचस्पतिमिश्रने तात्पर्यटीका ई० ८४१ के लगभग बनाई थी। इससे भी विद्यानन्दके उक्त समय (ई० ८१६) की पुष्टि होती है। यदि विद्यानन्द का ग्रन्थरचनाकाल ई० ८४१ के बाद होता तो वे तात्पर्यटीकाका उल्लेख किये बिना न रहते।'' मालूम होता है कि पंडितजीको कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'न्यायवार्तिकटीकाकार' शब्दपर नहीं गई जान पड़ती है। अन्यथा उपर्युक्त अपना निर्णय देनेके लिये बाध्य न होते। यह उपरोक्त विवेचन और उद्धरणसे स्पष्ट ही है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकारके अभिप्रायका भी निरसन किया गया है। ऐसी हालतमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिककी रचना न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (ई० ८४१) के बादकी सिद्ध होती है और इस तरह विद्यानन्दका ग्रंथ-रचनाकाल ई० ८१६ न होकर ई० ८३२ के लगभग प्रारंभ होना चाहिए। इस समयको माननेमे विद्यानन्दको अकलंकदेव (७२० से ७८० ए० डी०) का साक्षात शिष्य होने, धवला ८१६ ए० डी०) जयधवला (८३७ ए० डी०) और आदि पुराण (८३८ ए० डी० में उनके उल्लेखकी संभावना करने आदि का भी प्रसङ्ग नहीं आता है।

१ देखो, पृ० २०६, २८४, २८७, २८६ आदि।
२ देखो, पृ० २८४, २९५, २९७ आदि।

जगत्-रचना

(लेखक—श्री कर्मानन्द)

यह जगत् भी एक अजीब पहेली है। अनादि कालसे जीव इसको समझनेका प्रयत्न कर रहा है परन्तु यह आज तक वैसी ही रहस्यमय बनी हुई है जैसी की हजारों लाखों वर्ष पहले थी। यद्यपि आज विज्ञानने आश्चर्यजनक उन्नति की है परन्तु वह भी इस समस्याका हल नहीं कर सका कि यह जगत् क्यों बना, कैसे बना और कब बना? मनरूपी वायुयानपर सवार होकर मनुष्यने बड़ी बड़ी लम्बी उड़ानें भरीं परन्तु आज तक वह प्राय: कल्पना-कौशलके सिवा और कुछ भी सिद्ध न कर सका। बड़े बड़े दार्शनिकोंने अपनी बुद्धिके चमत्कार दिखलाये लेकिन वे सब शुष्क तर्कवाद ही सिद्ध हुए, अन्तमें उनको भी असफलताका मुख देखना पड़ा। जैनशास्त्र एक स्वरसे कहते हैं कि यह लोक किसीसे धारण किया हुआ नहीं है और न किसीने इसको बनाया है, यह अनादि कालसे इसी प्रकार चला आ रहा है तथा अनन्त काल तक इसी प्रकार रहेगा, इसको ठहरनेके लिये किसी ईश्वरादिके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है, यह नित्य, अजर अमर है, पर्यायरूपसे अवश्य अनित्य है। अर्थात् इसकी अवस्थाओंमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, परन्तु ये सूर्य आदि जातिरूपसे हमेशा बने रहते हैं। अभिप्राय यह है कि ऐसा कभी नहीं होता कि यह सम्पूर्ण जगत् किसी समय परमाणु होजाये और पुन इसकी रचना हो या यह जगत किसी समय परमाणु रूप था और उसके पश्चात् यह जगत रूपमें बना हो। यह अनादि निधन है, न यह कभी बना न इसका कभी नाश होगा।*

वैदिक मत

यद्यपि आज वैदिकधर्मी इस जगतकी उत्पत्ति मानते हैं परन्तु हजारों वर्ष पूर्व वैदिकमहर्षियोंने जगत रचनाका बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें खण्डन किया है। यही नहीं अपितु आज तक सब दार्शनिकोंने जगत रचना के विषयमें युक्तियां दी हैं उन सबका उत्तर भी महत्वपूर्ण सुन्दर व सरल शब्दोंद्वारा दिया गया है। हम सबसे पहले ऋग्वेद को ही लेते हैं क्योंकि यही सबसे पुराना है। इसके प्रथम मंडलका १६४ वां सूक्त दर्शनीय है। यह प्रथम मंडल ही इसमें सबसे अधिक पुरातन है।

त्रिनाभिचक्रमजरमभवनम् ॥ ऋ० १-१६४-२

अर्थात्—यह त्रिनाभि रूप चक्रवाला सूर्य, अजर-अमर, अविनाशी है। आगे चलकर इसी जगह लिखा है कि

सन्तदेव न शीर्यते स नाभिः ॥ मन्त्र ११

यह सूर्यलोक सनातन (शाश्वत) है इसलिये इसका कभी अभाव नहीं होता। वेद इतनेपर ही सन्तोष नहीं करता, अत: आगे कहता है कि—

द्वादशारं नहि तज्जराय। मन्त्र ११

बारा मासरूपी आरे इसको वृद्ध नहीं बताते यह जैसा था वैसा ही अब है तथा भविष्यमें भी इसी प्रकारका रहेगा। अर्थात् कालकी अपेक्षासे यह नित्य है। इन बातों को सुनकर अनेक व्यक्तियोंके हृदयमें यह शंका उत्पन्न होने लगी कि इस सूर्य मण्डलमेंसे प्रतिपल लाखों टन गर्मी बाहर निकलती है, इस अवस्थामें अवश्य यह एक दिन समाप्त हो जायगा। क्योंकि जिस खजानेमेंसे नित्यप्रति व्यय होता हो तो वह अवश्य एक दिन खाली हो जायेगा। इसका वैज्ञानिक उत्तर अथर्ववेदमें दिया गया है कि—इसमें से जो व्यय होता है उसकी पूर्ति प्रजापति (प्राकृतिक नियम) द्वारा होती रहती है—

यत त उश्नं तत् आ पूरयति प्रजापतिः।

अथर्ववेद कां० १२ सू० १-६१

इस प्रकार दुनियाकी सबसे पुरानी पुस्तकने इस जगत की नित्यताका समर्थन किया है। इसका अभिप्राय यह

* धृन: कुतो न केनापि स्वयं सिद्धो निराश्रय:।
निरालम्ब: शाश्वतश्च विहायसि परं स्थित: ॥—लोकप्र० १२

नहीं है कि उस समय सभी एकमतके थे, उस समय भी अनेक सम्प्रदाय थे, अनेक विद्वान् जगतको उत्पन्न हुआ मानते थे। उन माननेवालोंमेंसे वैदिक मुनियोंने अनेक ऐसे प्रश्न किये हैं जिनका उत्तर आज तक भी जगत-रचनावादियोंसे नहीं बन पड़ा है। वेद कहता है—अय सृष्टिकी उत्पत्तिमाननेवालो! आप यह बताओ कि पृथ्वी, चांद, सूरज तथा असंख्य तारागणोंमेंसे पहले किसको उत्पन्न किया गया। क्योंकि यह सम्पूर्ण चीजें एक दूसरेके आश्रय से ठहर रही हैं। यदि इनमें एक भी न हो तो यह सारा जगत गिर कर चकनाचूर हो जायेगा। अब यदि आप कहें कि पृथ्वी पहले बनी तो वह किसके आश्रयपर स्थित की गई, यदि कहो कि वह अपने ही आधारपर स्थित थी तो आत्माश्रय दोष आता है। और अन्य सूर्य आदि उस समय थे ही नहीं जिनके आकर्षणसे यह ठहर सकती—

कतरा पूर्वा कतरा परायः कथाजातो कवयो को विवेद ॥ ऋ० मं० १ सू० १८५।१

इसीके साथ वेद एक महत्वपूर्ण प्रश्न और भी करता है वह है—क्यों, और कैसे, अर्थात् वेद कहता है कि यदि आप इसका उत्तर नहीं दे सकते कि पहले कौनसी चीज बनी है तो यही बतादो कि यह जगत क्यों बना है? (कथाजातः) और कैसे बना है एवं कौनसा वह विद्वान है जिसने इसको बनते देखा है, अथवा किसी अन्य प्रमाणसे जाना है। तथा च वेद यह भी प्रश्न करता है कि यही बतादो कि अमुक व्यक्तिने इस संसारको बनते हुए देखा है जिससे जनताको कुछ तो सन्तोष हो सके—

को ददर्श प्रथमं जायमानम् ॥ ऋ० १।१६४।४

यदि आप यह कहें कि क्या हुआ यदि हम इसको नहीं जानते हमारे पूर्वज अथवा देवता आदि तो जानते होंगे। इसका उत्तर वेद स्वयं स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य शब्दों द्वारा देता है कि न तो आज तक किसीने इसको बनते देखा है और न किसी विद्वान्ने इसका समर्थन किया है कि यह जगत बना है। जिन देवोंका आप जिक्र करते हैं वे भी आपके सिद्धान्तानुसार पृथ्वी आदिके पश्चात् ही उत्पन्न हुए होंगे। फिर उन्होंने जगतको बनते हुए कैसे देख लिया?

कोअद्धावेदकइह प्रवोचत्, कुतःआजाताकुत इयं विसृष्टिः अर्वाङ्ग देवा अस्य विसर्जने नाथ,
को वेद यत आ बभूव ॥

ऋ० मं० १० सू० १२९।६

यह सब पसारा कहांसे आया इसका कथन विश्वास पूर्वक कौन कर सकता है?' वे देव भी बादमें बने होंगे जिनकी तुम साक्षी देना चाहते हो। वेद आगे कहता है कि
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन सोअंग वेद यदि वा न वेद॥

मन्त्र ७

यदि यह कहो कि सर्वज्ञ आदि गुणयुक्त हिरण्यगर्भ प्रजापति इसकी रचनाके विषयमें जानते हैं। यह कहना भी ग़लत है क्योंकि (सो न वेद) वह भी नहीं जानता, जब यह जगत नित्य अजर अमर है इसकी बनावटको वह कैसे जान सकता है। अथर्ववेदमें तो स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा की गई है—

न विजानामि यतरा परस्तात् ॥ कां० १०-७-४३

हिरण्यगर्भ प्रजापति कहता है कि मैं नहीं जानता कि कौन प्रथम उत्पन्न हुआ। अतः यह कहना कि सर्वज्ञादि जानते हैं यह भी मिथ्या कल्पनामात्र है।

पूर्वमीमांसा और जगत

वैदिकदर्शनमें पूर्वमीमांसाका बहुत ऊँचा स्थान है। इसी दर्शनके सुप्रसिद्ध आचार्य कुमारिलभट्टने श्लोकवार्तिक मे उपरोक्त वैदिक प्रश्नोंको दोहराया है। आप लिखते हैं

ज्ञाता च कस्तदा तस्य यो जनान बोधयिष्यति।
उपलब्धेर्विना चैतत् कथमध्यवसीयताम् ॥

श्लो० वा० ५।४६

प्रजापतिने जब सृष्टि रची उस समय उसके देखने वाला कौन था जिसने सृष्टि बननेकी सूचना जनताको दी। क्योंकि बिना साक्षात्कारके उसका निश्चय कैसे होसकता है?

प्रवृत्ति कथमाद्या च जगतः संप्रतीयते।
शरीरादेर्विना चास्य कथमिच्छापि सर्जने ॥४७॥
शरीराद्यथ तस्य स्यात्तस्योत्पत्ति वै तत्कृता।
तद्वदन्यप्रसङ्गोऽपि नित्यं यदि तदिष्यते ॥४८॥
पृथिव्यादावनुत्पन्ने किम्मयं तत्पुनर्भवेत्।
प्राणिनां प्राय दुःखांश्चसिसृक्षास्य न युज्यते ॥४९॥
साधनं चास्य धर्म्मादितदा किंचन विद्यते।
न च निस्साधनः कर्ता कश्चित्सृजति किंचन ॥५०॥

अभावाच्चानुकम्प्यानां नानुकम्पास्य जायते ।
सृजेच्च शुभमेवैकमनुकम्पा प्रयोजितः ॥ ५२॥
अथाशुभाद्विना सृष्टिः स्थितिर्वा नोपपद्यते ।
आत्माधीनाभ्युपाये हि भवेत् किं नाम दुष्करम् ॥५३॥
तथा चापेक्षमाणस्य स्वातन्त्र्यं प्रतिहन्यते ।
जगच्चासृजतस्तस्य किं नामेष्टं न सिद्ध्यति ॥५४॥
प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।
एवमेव प्रवृत्तिश्चेच्चैतन्येनास्य किं भवेत् ॥५५॥
क्रीडार्थायां प्रवृत्तौ च विहन्येत कृतार्थता ।
बहुव्यापारतायं च क्लेशो बहुतरो भवेत् ॥५६॥

अर्थात — जब कुछ भी नहीं था तो सृष्टि रचनेकी प्रथम इच्छा अथवा प्रवृत्ति कैसे हुई, जब कि आपके मतानुसार ईश्वर अशरीरी है और इच्छाके लिये शरीरी होना आवश्यक है । यदि ईश्वरको शरीरी माना जाये तो यह प्रश्न उठता है कि उस शरीरकी रचना किस तरहसे हुई । यदि उससे पूर्वशरीरको इस शरीरका कारण माना जाये तो उस शरीरका कारण अन्य शरीरको मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्थादि दोष आयेगा । यदि आप उस शरीरको नित्य भी मानलें तो वह शरीर पृथ्वी आदिके विना किस आधारपर ठहरेगा । यदि उपरोक्त प्रश्नोंको हम न भी उठावें तो भी यह तो सभी जानते हैं कि यह संसार दुःखमय है, इसीलिये बड़े बड़े राजा महाराजाओंने भी इसके त्यागमे ही कल्याण समझा है । ऐसे दुःखमय जगतको बनानेकी इच्छा ईश्वर जैसे दयालुके मनमें उत्पन्न होना उसपर निर्दयताका कलंक लगाना है । यदि इच्छा हो भी गई तो भी इच्छामात्रसे किसीके मनोरथ पूर्ण होते नहीं देखे गये । अत. इच्छापूर्तिके लिये साधनोंकी आवश्यकता है परन्तु प्रलयावस्थामें साधनोंका सर्वथा अभाव था । यदि जीवोंके धर्मादिको साधन माना जाये तो वे भी प्रलयकालमें नहीं थे । यदि दुर्जन तोषन्यायसे यह मान भी लें कि धर्म अधर्मादि शेष थे तो भी अदृष्ट धर्मादिसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती । क्योंकि हम देखते हैं कि कारीगर कितना ही चतुर क्यों न हो परन्तु वह इष्ट साधनके विना इच्छाभावसे कार्य नहीं कर सकता । यदि यह कहो कि ईश्वरने जीवोंपर दयाभावसे जगत रचा है तो दया तो दुखोंको देखकर होती हैं, परन्तु प्रलयकालमें आत्मायें अशरीरी होनेसे मुक्तात्माओंकी तरह सुखी थीं । अतः उन पर दया करनेका विचार ही उत्पन्न नहीं होता । यदि भविष्यके दुःखका रोना हो तो ईश्वरको चाहिये था इस संसारको आनन्दमय बनाता अथवा न बनाता । संसार दुखमय बनाकर उसने जीवोंपर क्या दया की ? यदि आप यह कहें कि सुख और दुख सापेक्ष हैं अतः दुखके बिना सुखका अनुभव ही नहीं हो सकता । यह भी गलत है; क्योंकि ईश्वर और मुक्तात्मा सुखी हैं तो क्या वे भी विना दुखके सुखका अनुभव नहीं करते । यदि कहो कि हां, तब तो हमारे आपमें और ईश्वरमें कुछ भी अन्तर न रहा । यदि कहो नहीं तो आपका यह कथन गलत हुआ कि विना दुखके सुखकी अनुभूति नहीं होती । अतः यह बताओ कि यदि आपका ईश्वर इस दुखमय जगतको बनाकर अनन्त जीवोंको दुखी न बनाता तो क्या उसके ईश्वरपनेमें बट्टा आता था । यदि कहो कि जीवोंका कुछ प्रयोजन नहीं था तो क्या ईश्वरने अपने स्वार्थसाधनके लिये जगत बनाया है—यदि ऐसा है तो ऐसे स्वार्थीको ईश्वर कहनेके लिये कौन बुद्धिमान तय्यार होगा ? यदि कहो कि वह तो कृतकृत्य है उसका कुछ भी स्वार्थ नहीं तो यह जगत उसने रचा क्यों ? क्योंकि हम देखते हैं कि मूर्खसे मूर्ख व्यक्ति भी विना प्रयोजन किसी कार्यको आरम्भ नहीं करता । यदि कहो कि अपने स्वभाववश योंही जगत रचता है तो उसको ज्ञानी किस प्रकार सिद्ध कर सकेंगे? क्योंकि स्वभावके लिये ज्ञानकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है । यदि इसको ईश्वरका खेल मानों तो उसमें और पागलोंमें क्या अन्तर रहेगा ? क्योंकि विना प्रयोजन निस्सार क्रीड़ा तो उन्मत्त आदि ही करते हुए दृष्टिगत होते हैं । फिर क्रीड़ा भी कैसी अनन्त ब्रह्माण्डका उससे रचा जाना । एक तो इस विशाल संसारकी रचना ही महान दुखरूप है । फिर उसका रक्षण आदि करना तथा कर्मोंका फैसला करते रहना तो महान् दुखमय है । भला ऐसा खेल खेलकर ईश्वरने दुखके सिवा क्या लाभ उठाया । जिस प्रकार जगतरचनाकी अवस्था है वही हाल प्रलयका भी है । उसका भी कुछ प्रयोजन आप सिद्ध नहीं कर सकते । यदि यह कहो कि सृष्टिरचनामें वेद प्रमाण हैं तो इसका उत्तर कुमारिलभट्टने बड़े ही मनोमोहक शब्दोंमें दिया है । आप कहते हैं कि—

न च तद्वचनेनैषां प्रतिपत्तिः सुनिश्चिता।
असृष्टान्यप्यमी ब्रूयादात्मैश्वर्यं प्रकाशनात् ॥६०॥

वेदका प्रमाण इस विषयमें नहीं माना जा सकता। क्योंकि वेद ईश्वरप्रणीत हैं संभव है बिना बनाये ही ईश्वरने अपनी प्रशंसाके लिये वे वाक्य लिख दिये हों जिनमें विश्व बनानेका कथन है। यदि कहो कि वेद नित्य हैं तो—

यदि प्रागप्यमी तस्मादर्थासीन्न तेनसः।
सम्बन्ध इति तस्यान्यस्तदर्थोन्यप्ररोचना ॥ ६२ ॥

क्या सृष्टिसे पूर्व भी वेद विद्यमान थे ? यदि ऐसा है तो वेदोंमें कहे हुए पृथ्वी आदि पदार्थोंके साथ वेदोंका सम्बन्ध था या नहीं। यदि था तो उन कार्यरूप पृथ्वी आदिका होना उस समय सिद्ध होगया जब वेद थे। अतः वेदोंकी तरह सम्पूर्ण जगत भी नित्य सिद्ध हो गया। यदि कहो कि सम्बन्ध नहीं था तो नित्यवेदोंके साथ नवीन पदार्थका सम्बन्ध किस प्रकार हो सकता है। अर्थात् नित्य वेदोंमें अनित्य पदार्थोंका वर्णन कैसे हो सकता है। अतः जिन मन्त्रोंमें सृष्टिरचनाका कथन है वह अर्थवाद है। अर्थात् वह कवियोंकी अपने देवताकी प्रशंसा मात्र है। वास्तवमें वैदिकसाहित्यमें जगतरचनाका खण्डन किया गया है। उन श्रुतियोंका समन्वय भी तभी हो सकता है जब हम उन श्रुतियोंको स्तुतिमात्र मानें जिनमें सृष्टिरचनाका कथन है।

उपनिषद् और जगत

वैदिक साहित्यमें उपनिषदोंका स्थान वेदोंके समान ही है। उसमें लिखा है कि—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
कठोपनिषद् ३-२-१

यहां संसार रूपी वृक्षको स्पष्ट शब्दोंमें सनातन कहा गया है।

गीता

सनातनधर्मका सर्वमान्य ग्रंथ श्रीमद्भगवत गीतामें भी संसारको वृक्षकी उपमा दी है।

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
अ० १५-१

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते।
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

अर्थात्—यह ऊर्ध्वमूल और अधः शाखा वाला संसार रूपी वृक्षको अव्यय (सनातन) नित्य कहा है। क्योंकि न तो इसके प्रारम्भका ज्ञान होता है और न इसके अन्तका अनुमान किया जा सकता है। अत इसका जो स्वरूप दीख रहा है यदि ज्ञानचक्षुसे देखा जाये तो वह मिथ्या सिद्ध होता है। अतः इसको आदि-अन्त-रहित नित्य ही कहना चाहिये।

महाभारत

महाभारतमें महर्षिव्यासजीने इसी विषयको विस्तार पूर्वक लिखा है तथा च सुन्दर शब्दोंमें इसकी नित्यताका वर्णन किया है।

सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः।
आजीव्यसर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ॥
—महाभारत अश्वमेधपर्व अ० ३५-३७-१४

महाभारतकारने इस जगतरूपी वृक्षको सदा पुष्प और सदापर्ण एवं सनातन आदि शब्दों द्वारा अलकृत करके सम्पूर्ण विवादोंका फैसला कर दिया। क्योंकि उन्होने स्पष्ट कह दिया कि इस वृक्षके इन चान्द तारे आदि फूल फलोंसे हमेशा प्रफुल्लित रहता है। यह सनातन है न कभी बना और न कभी बिगड़ेगा। यही वैदिक मान्यता है यही भारतीय दर्शनका सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

जिन श्रुति आदिमें जगत् रचनाका आभास प्रतीत होता है वे सब अर्थवाद स्तुतिपरक मात्र हैं।

बौद्धदर्शन

बौद्धदर्शन भी विश्वकी नित्यताका समर्थन प्रबल युक्तियों द्वारा करता है। बौद्धदर्शनके महाविद्वान श्रीशान्तिरक्षितजीने अपने तत्वसंग्रह नामक ग्रंथमें सृष्टि कर्ताका खण्डन उन अकाट्य युक्तियोंसे किया है कि जिनका उत्तर असंभव है। आप लिखते हैं कि, प्रत्येक अनुमानकी सिद्धिके लिये अन्वय और व्यतिरेककी आवश्यक्ता है। जैसे जहां जहां अग्नि है वहां वहां धुवां है रसोईघरकी तरह। यह तो हुआ अन्वय, और जहाँ जहां अग्नि नहीं है वहाँ वहाँ धुवाँ भी नहीं हैं जैसे तालाबादिमें, यह हुआ व्यतिरेक। इन दोनोंसे यह सिद्ध हुआ कि अग्निके कारणसे धुवां होता है। परन्तु आप लोग ईश्वरको सर्वव्यापक मानते हो अतः

उसमें व्यतिरेक दृष्टान्तका अभाव है इस लिये उसका कर्तापन सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कर्तावादी सामान्य रूपसे कर्तापन सिद्ध करें तो वे कहते हैं इसमें हमको कुछ आपत्ति नहीं है, क्योंकि हम भी जीवोंके कर्म्मादिको कर्ता मानते ही हैं। यदि आप उनका भी कर्ता ईश्वरको सिद्ध करोगे तो सिद्धसाधनमें दोष होगा। तथा जो स्वयं उत्पत्तिवाला न हो वह अन्यको उत्पन्न नहीं कर सकता यह नियम है जिस प्रकार आकाशका फूल किसी पदार्थको नहीं बना सकता। यदि हम ईश्वरको कर्ता भी मानलें तो उसके सर्वव्यापक होनेसे सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ उत्पन्न होने चाहियें, सब मोसमोंमें सब जगह एकसा ही पदार्थ बनने चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यह क्रमविकाश भी ईश्वरके कर्तापनका खंडन करता है। इत्यादि सैंकड़ों युक्ति देकर आपने जगत-रचनावादका प्रबल खंडन किया किया है। जो विद्वान उन युक्तियोंका रसास्वादन करना चाहें उनको उस ग्रंथका अवलोकन करना चाहिये*।

*अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां तत्कार्यं यस्य निश्चितम्।
निश्चयस्तस्य तद्दृष्टावतिन्यायो व्यवस्थितः॥ ६२॥
बुद्धिमत्पूर्वकत्वं च सामान्येन यदीष्यते।
तत्र नैव विवादो नो वैश्वरूप्यं ही कर्मजम्॥ ८०॥
नेश्वरो जन्मिनां हेतुरुत्पत्तिविकलत्वतः।
गगनाम्भोजवत्सर्वमन्यथा युगपद् भवेत्॥ ८६॥

छद्मवेषी खद्दरधारियोंसे

(ले०—श्री पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित')

जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

जो देश-प्रेमका छद्म धार,
मर-मिटनेका फ़तवा देते।
कागज़ की काली लहरोंपर—
आज़ादी की नैय्या खेते।
पर, वे दोज़कके कीड़े हैं, जिनका प्रपंच ही गहना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

बाहर तो वे कुछ और, और—
अन्तरतम जिनका काला है।
बाहर दिखते मकरन्द मञ्जु,
अन्दर उनके विष-हाला है।
इस कारण, आज गुलामीमें हम सबको पड़ता रहना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

जो विश्व-विदित होनेकी धुन—
में ही उधेड़-बुन करते हैं।
भारतके वे मानव कृतघ्न,
जो घरमें ही घुन करते हैं।
धिक्, ऐसे पूत-कपूतोंसे माँको पड़ता दुख सहना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

सबको देते उपदेश, किन्तु,
अपने पर जिनको लाचारी!
ढोंगी, लम्पट, स्वार्थान्ध, धूर्त,
कुछ ऐसे भी खद्दरधारी!!
चारित्र हीनताके कलङ्क से भी जिनको डर-भय ना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

उनकी बगुला-भक्ती करती—
मानवता पर जब चोट एक।
कम्पित हो उठते शील-सत्य,
साश्चर्य देखते एकमेक!
पर-हित की पालिश करके निज-स्वारथका जामा पहना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

जब तक नहिं होते दूर-दूर वे,
तब तक होती बरबादी!
ऐसे छलियोंके हाथों पर—
मिल पाएगी नहिं आज़ादी!
अमृतमें विष भर कर पीना, जीवनकी शून्य कल्पना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

है नम्र निवेदन उनसे यह,
वे पोज़ीशनका ध्यान करें!
अन्याय-अनीतीमें पल कर—
मत कुत्तेकी वे मौत मरें!
कुछ करें अहिंसा-सत्पथपर, नहिं, जीवन व्यर्थ जल्पना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे कविको कुछ कहना है!

मेरा वक्तव्य यही, उनसे;
वे सीधे पथ पर आ जाएँ!
अपनी काली करतूतों से—
माँ को लज्जित न बना पाएँ!
हे राष्ट्रदूत, हो सावधान! घातकसे किसको लहना है!
जो अपने पथको भूल चले, उनसे ही सब कुछ कहना है!

हुआ जाता उस वक्त तक प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो पाती।

इस प्रकार जब योग्य साधनों द्वारा ममताभाव जाग्रत होता है तब निःसङ्ग वृत्तिका मार्ग सूझता है। वास्तवमें समता ही सुखका मूल है, समता रखनेवाले पर कभी दुःख नहीं आता; क्यों कि वस्तुस्वभावका यथार्थ ज्ञान होने से उसे दुःख दुःख रूप नहीं लगता। जो आध्यात्मिक मार्ग के पथिक बननेके इच्छुक हैं उनके लिये समताका विषय सबसे अधिक आवश्यक है, समताके बिना प्रत्येक धर्मक्रिया जप, तप उपवास आदि बहुत ही अल्प फलके देने वाली हैं। जब कोई कार्य समता सहित किया जाता है तो उस कार्यमें कुछ इस प्रकारका सौंदर्य तथा मधुरता आजाती है कि जिससे उसमें एक प्रकारका अपूर्व आनन्द अनुभवमें आने लगता हैं। यह अपूर्व आनन्द जिव्हासे वर्णन नहीं किया जा सकता, मिसरीके यथार्थ स्वादको वचनो द्वारा कौन कह सकता है? मिसरीकी डलीको स्वयं अपनी जिव्हापर रख कर और उसे चखकर ही कोई उसके स्वाद को जानता है, उसी प्रकार समता द्वारा प्राप्त हुए आनन्दको उस रसके रसिक अनुभवी योगी ही जानते हैं—वह अंतरानन्द अवर्णनीय और अनिर्वचनीय है—अनुभवगम्य है।

समताके द्वारा हृदयकी शुद्धि होती है, उसमें जो मलीन वासनायें अपना अड्डा जमाये रहती हैं, कषायरूप कूड़ा करकट भरा हुआ होता है वह समता बिना निकलता नहीं, और जब तक हृदय-मंदिर शुद्ध और पवित्र नहीं होता, हम उसमें शुद्ध चिदानंदरूप आत्मदेवको स्थापित नहीं कर सकते और न हमारे ध्येयकी पूर्ति ही हो पाती है। मोक्षाभिलाषियोंके लिये समताभाव प्राप्त करना बड़ा ज़रूरी है। कोई कहे कि आजकल मोक्ष इस क्षेत्रसे होता नहीं, समता की क्या आवश्यक है? इसके उत्तरमें इतना ही कहना है कि इस समय इन्द्रियोंकी अशुभ प्रवृत्तिको रोक कर उनको शुभप्रवृत्तिमें लगाना अपने जीवनको आनन्दमय बनाना समताके द्वारा ही हो सकता है, समताका अभ्यास कर अपने जीवनको जितना ऊंचा और आनन्दमय इस क्षेत्रमें हम बना सकते हैं उतना तो बनावें, वह अभ्यास हमारा निष्फल नहीं जाता भविष्य जीवनका निर्माण बहुत कुछ उसके आधार पर होता है। कामकषायको जीतनेपर ही समता जाग्रत होती है—सम्यक्दृष्टि महात्माओंके लिये तो यह सर्वेसर्वा है इसके बिना वे अपने जीवनकी एक घड़ी भी जाना अपने लिये हानिकारक समझते हैं—समता उनका सर्वस्व है। श्रीकुलभद्राचार्य सारसमुच्चयमें फर्माते हैं :—

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभाव-निर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम्॥

अर्थात्—जो सज्जन सुमनधारी सर्व प्राणी मात्रमें समता भाव रखता और ममत्वभावको छोड़ता है, वह अविनाशी पदको पाता है। श्रीकुंदकुंदचार्य फर्माते हैं :—

समसत्तुबधुवग्गो समसुह-दुक्खो पसंस-णिंद-समो।
समलोट्ठ-कंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

अर्थात्—जो शत्रु तथा मित्र वर्गको समभावसे देखते हैं जो सुख व दुःखमें समभावके धारी हैं, जो प्रशंसा तथा निंदा किये जाने पर सम भाव रखते हैं, जो सुवर्ण और कंकरको एक दृष्टिसे देखते हैं, जिनके लिये जीना तथा मरना एक समान है, वही श्रमण हैं।

मोहरूपी अग्निको शांत करनेके लिये, संयमरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करनेके लिये, रागरूपी महावनको काट डालनेके लिये समताभावका धारण करना ही एक उपाय है। समता भावसे ही केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, समभावसे ही अर्हंत पद होता है। जब एक संयमी योगी समताभावरूपी सूर्यकी किरणो द्वारा रागादि अंधकारके समूहको नष्ट कर देता है तब ही वह अपने आत्मामें परमानन्द स्वरूपको देखता है। अनादिकालसे चला आया आत्माके साथ कर्म संबन्ध भी समता भावकी प्राप्ति होनेपर ही आत्मासे विच्छेदको प्राप्त कर पृथक् होजाता है। वीरभगवानने समताभावको ही उत्तम ध्यान कहा है, उसीकी प्राप्तिके हेतु सब व्रत, तप, संयम, उपवास स्वाध्याय आदि किये जाते हैं। ध्यानका आधार समभाव पर है, समभावका आधार ध्यान पर है। श्रीशुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णवमें लिखते हैं :—

सौधोत्संगे स्मशाने स्तुति शपन विधौ कर्दमे कुङ्कुमे वा,
पल्यङ्के कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु।
शीर्णाङ्के दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं॥

अर्थात्—जिस महात्माका चित्त महलोंको या श्मशान को देखकर स्तुति वा निंदा किये जाने पर, कीचड़ व केशर से छिड़के जाने पर, पल्यंक शय्या व काँटोंपर लिटाये जाने

पर पाषाण और चंद्रकान्तिमणिके निकट आने पर, चर्म व चोनके रेशमी वस्त्रोंके दिये जाने पर, क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्रीके देखने पर, अपूर्व शान्तभावके प्रतापसे राग-द्वेष विकल्पोंको स्पर्श नहीं करता है वही चतुर मुनि समता-भावके आनन्दको अनुभव करता है। श्रीपद्मनंदिमुनि एकत्व सप्ततिमें निर्देश करते हैं :—

साम्यं सद्बोध निर्माणं शाश्वदानन्दमंदिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनो रूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः॥

अर्थात्—समताभाव ही सम्यक्ज्ञानको रखनेवाला है। समताभाव ही सहजानंदका अविनाशी मंदिर है। समता-भाव शुद्धात्माका स्वभाव है, यह मोक्षका एक द्वार है।

जो रागद्वेषकी प्रवृत्तिको रोकना चाहते हैं उनके लिये समताभावकी प्राप्ति परमावश्यक है, जो महात्मा समभाव की भावना प्रकट करता है उसकी आशाएँ शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जाती हैं, उसका अज्ञान क्षणमात्रमें नष्ट हो जाता है और उसका चित्त काबूमें हो जाता है। जिस समय यह आत्मा अपनेको सर्वपर्यायोंसे व परद्रव्योंसे विलक्षण निश्चय करता है, उसी समय समताभाव जाग्रत होता है। यह समताभाव ही ध्यान की सिद्धिका एकमात्र उपाय है। जब सम्यक् ज्ञानके प्रभावसे राग द्वेष मोहका अभाव होता है-ममताभाव जाग्रत होता है तब आत्मामें रमण करनेका उत्साह बढ़ता है, सहज सुखका साधन बन जाता है, स्वानु-भव जाग्रत होजाता है जिसके प्रतापसे सुख-शान्तिका लाभ होता है, आत्मबल बढ़ता है, कर्मका मैल कटता है और यह जीवन परम स्वर्णमय होजाता है। ऐसा जान कर स्वहित वाञ्छकोंका कर्तव्य है कि वे जिनेन्द्र-प्रणीत परमागमके अभ्याससे सम्यक्ज्ञानको प्राप्त कर अपनेमें समताभावको जाग्रत करें। जो राग-द्वेष-मोह-ममताको त्याग कर समताको अपनाता है वही आत्मदर्शन पाता है और वही मोक्ष सुखकी बानगी इस मनुष्य जन्ममें चख लेता है।

भारतीय इतिहासका जैनयुग

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन विशारद एम० ए०, L L B.)

इतिहास जातीय-जीवनके अतीतका सर्वाङ्गीण प्रति-बिम्ब होता है। अतीतमेंसे ही वर्तमानका जन्म होता है। दोनोंका परस्पर इतना घनिष्ट सम्बंध है कि बिना अतीतकी यथार्थ जानकारीके वर्तमानका वास्तविक स्वरूप समझना कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव है। अतः जातीय उन्नतिके हित समाज शास्त्रके प्रधान अङ्ग जातीय इतिहासका ज्ञान परमावश्यक है।

ऐतिहासिक अन्वेषण एवं अध्ययनकी सुगमताके लिये इतिहासकाल विभिन्न भागोंमें विभक्त कर लिया जाता है। इसी कारण भारतवर्ष अथवा भारतीय जातिका इति-हास भी विविध युगोंमें विभक्त हुआ मिलता है।

सर्व प्रथम, लगभग तीन हजार वर्षका वह 'शुद्ध ऐतिहासिक काल' है जिसके अन्तर्गत राज्य सत्ताओं, सामाजिक संस्थाओं, धर्म, सभ्यता, साहित्य एवं कला आदिका नियमित, काल क्रमानुसार, बहुत कुछ निश्चित इतिहास (Regular History) उपलब्ध है।

शुद्ध ऐतिहासिक युगके प्रारम्भ कालसे पूर्वका कई सहस्र वर्षका अनिश्चित समय ऐसा है जिसके अन्तर्गत होने वाले अनेक प्रसिद्ध पुरुषों, महत्वपूर्ण घटनाओं, धर्म, सभ्यता आदिके विषयमें यद्यपि जातीय अनुश्रुति, पुरातत्व, जाति विज्ञान, मानुषमिति कपालमिति, भूविज्ञान इत्यादिके द्वारा अनेक ज्ञातव्य बातोंका ज्ञान तो प्राप्त हो जाता है, किन्तु कोई नियमितता और कालक्रमकी निश्चितता नहीं है। उस काल-सम्बन्धी इतिहास धुँधला, सन्दिग्ध तथा अनिश्चित कोटिका होनेसे, 'अशुद्ध अथवा अनियमित इतिहास' (Proto History) कहलाता है।

उससे भी पूर्वका काल शुद्ध प्रागैतिहासिक (Pre-historic) है और इतिहासकी परिधिके बाहिर है।

शुद्ध ऐतिहासिक कालके भी तीन विभाग किये जाते हैं—

(१) प्राचीन युग, जिसका वर्णन बौद्ध-हिन्दुयुग, अथवा केवल बौद्धयुग करके भी किया जाता है। यह युग नियमित इतिहासके प्रारम्भ कालसे लगा कर मुसलमानों द्वारा भारत विजय तक चलता है (ई० सन् की १२ वीं शताब्दी तक)।

(२) मध्य युग—जिसे मुस्लिम युग भी कहते हैं, प्राचीन युगकी समाप्तिसे प्रारम्भ होकर अङ्गरेजोंकी भारत विजय तक चलता है (१८ वीं शताब्दीके मध्य तक)।

(३) अर्वाचीन युग अथवा आंग्लयुग अङ्गरेजोंकी भारत विजयके साथ प्रारंभ होता है।

साधारणतया, भारतीय इतिहासकी पाठ्य पुस्तकोंमें सर्व प्रथम प्रागैतिहासिक कालीन पूर्व पाषाण युग, उत्तर पाषाणयुग, ताम्रयुग, लौहयुग, द्राविड़ जातिका भारत-प्रवेश तथा उसकी सभ्यता, आर्योंका भारतप्रवेश और वैदिक सभ्यता आदिका अति संक्षिप्त वर्णन करनेके उपरान्त रामायण तथा महाभारतके आधार पर कल्पित पौराणिक युग अथवा 'महाकाव्य-काल' (Epic Age) का वर्णन होता है। और उसके ठीक बाद भारतवर्षके नियमित इतिहासका प्रारंभ बौद्धयुगके साथ २ कर दिया जाता है। महात्मा बुद्धके समयकी राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थिति, उनका जीवन-चरित्र, उपदेश और प्रभाव मगध-साम्राज्यका उत्कर्ष, सिकन्दर महान्का आक्रमण, सम्राट् अशोकके द्वारा बौद्धधर्मप्रचार, मगधराज्यकी अवनति, शुङ्ग कन्व तथा गुप्त राजोंके शासनकालमें आंशिक ब्राह्मणपुनरुद्धार और शक हूण आक्रान्ताओंका वृतान्त देते हुए ई० सन् की ७ वीं शताब्दीमें बौद्ध राजा हर्षवर्धनके साथ बौद्धयुग (Bubdhistic Period) की समाप्ति हो जाती है। तदुपरान्त राजपूत राज्योंका उदय तथा संक्षिप्त इतिवृत्त बतलाते हुए १२ वीं शताब्दीके अन्तमें मुहम्मद गौरी द्वारा भारत विजयके साथ साथ भारतीय इतिहासका प्राचीन युग समाप्त होजाता है।

भारतवर्षके अधिकांश इतिहास-ग्रन्थोंका यही ढांचा है। इसका श्रीगणेश १६ वीं शताब्दीके प्रारंभमें एलफिन्सटन आदि पाश्चात्य विद्वानोंने किया था और उनका अनुकरण भारतीय विद्वान आज तक करते आरहे हैं।

किन्तु २० वीं शताब्दीके विकसित ज्ञान, बढ़े हुए अध्ययन तथा नवीन खोजोंके आधारपर इस ढांचेमें बहुत कुछ हेर फेर हुआ है। प्रागैतिहासिक कालके विशेषज्ञोंका मत है कि भारतवर्षमें मनुष्यका अस्तित्व अन्य देशोंकी अपेक्षा सबसे पहिलेसे पाया जाता है[1]। आर्योंके भारत प्रवेशसे पूर्व कमसे कम एक हज़ार वर्ष पूर्व-द्राविड़ जाति पड़ौसी देशोंसे आकर इस देशमें बसी थी और द्राविड़ोंके आनेसे भी पहिले मानव, यक्ष, ऋक्ष, नाग, विद्याधर आदि मनुष्य-जातियां इस देशमें बसी हुई थीं। उनकी उन्नत नागरिक सभ्यता तथा सुविकसित धार्मिक विचारोंके निर्देश हड़प्पा, महेन्जोदड़ो प्रभृति पुरातत्व तथा प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिमें पर्याप्त मिलते हैं।

ईस्वी पूर्व तीनसे चार हज़ार वर्षोंके बीच आर्य लोगोंने पश्चिमोत्तर प्रान्तोंसे भारतमें प्रवेश किया। यहां बसनेके लगभग एक हज़ार वर्ष बाद वेदोंकी रचना की, उसके कुछ समय बाद रामायण वर्णित घटनायें घटीं, और सन् ईस्वी पूर्व १५०० के लगभग प्रसिद्ध महाभारत युद्ध हुआ। यह युद्ध वैदिक सभ्यता और वैदिक आर्य-राज्यसत्ताओंके ह्रास का सूचक था।

भारतवर्षके नियमित इतिहासका, उसके प्राचीन युग का वास्तविक प्रारंभ महाभारत युद्धके उपरान्त हो जाता है[2]। युधिष्ठिरके वंशजोंका इतिहास, उत्तर वैदिक साहित्य का निर्माण, ब्रह्मवादी जनकोंकी उपनिषद विचारधारा, सोलह महजन पदोंका उदय और परस्पर द्वन्द, अन्तमें मगधकी विजय, हमें बुद्धजन्मके समय तक पहुँचा देती है। इससे आगेका इतिहास पूर्ववत् चलता है।

इस प्रकार ईस्वी पूर्व १४०० से सन् ईस्वी १२०० तकका लगभग २६०० वर्षका लम्बा काल भारतीय इतिहासका प्राचीन युग माना जाता है। अनेक विद्वान इसके आदिके ८०० व अन्तके ४०० वर्षोंको प्रधानतया हिन्दु तथा बीचके लगभग चौदह सौ वर्षोंको प्रधानतया बौद्ध-

1 Pre-Historic India P. C Mitra, P. 106.

2 Pargitor-Ancient Indian Historical tradition; Dr. K. P. Jayaswal, Bhandarkar &c.

मयी देखते हैं। कुछ एक तो सारे प्राचीन युगको मुख्यतया बौद्धदृष्टिसे ही निरूपण करते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि सभ्यता एवं संस्कृति केवल अथवा अधिकांशमें बौद्धमयी ही थी ? क्या उस युगमें जैन संस्कृतिकी कोई सत्ता ही न थी, उसका कोई प्रभाव क्या कभी भी नहीं रहा ? क्या भारतीय इतिहासमें कभी कोई 'जैनयुग' नहीं हुआ ? क्या वास्तवमें प्राचीन भारतीय इतिहासके उक्त बहुभागको 'बौद्धयुग' का नाम देना संगत तथा ऐतिहासिक सत्य है ?

इन प्रश्नोंका उत्तर खोजनेसे पूर्व एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐतिहासिक युगविभागोंको मात्र प्राचीन, मध्य, अर्वाचीन-युग ही न कह कर हिन्दु, बौद्ध, मुसल्मान, आंग्ल आदि संस्कृति अथवा धर्मसूचक नाम क्यों दिये जाते हैं ?

वास्तवमें जिस युगमें जिस संस्कृतिको सर्वाधिक महत्ता प्रभाव एवं व्यापकता रही हो, प्रसिद्ध प्रसिद्ध व्यक्तियों एवं प्रमुख राज्यवंशोंसे जिसे प्रोत्साहन, सहायता एवं आश्रय मिला हो, जनसाधारणके जीवनमें जो सर्वाधिक ओतप्रोत रही हो, जातीय साहित्य, कलाओं, राजनीति, समाज-व्यवस्था, जनताके रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रिवाजों पर जिस संस्कृतिने विवक्षित युगमें सर्वाधिक प्रभाव डाला हो उसी संस्कृतिका निर्देशपरक नाम उक्त ऐतिहासिक युगको देदिया जाता है, और वैसा करना युक्तियुक्त भी है।

दूसरी बात यह है कि भारतवर्ष सदैवसे एक धर्मप्राण देश रहा है। जितनी संस्कृतियें यहाँ जनमीं और पनपीं उनमेंसे प्रत्येकका किसी न किसी धर्मविशेषके साथ संबन्ध रहा है। धर्म और संस्कृतिका संबंध यहां अविनाभावी था, इसी कारण भिन्न भिन्न धर्मोंके नामोंसे ही भिन्न भिन्न संस्कृतियें प्रसिद्ध हुईं, यथा व्रात्य, श्रमण अथवा जैन, बौद्ध, हिन्दु—वैदिक अथवा पौराणिक, मुसलिम इत्यादि।

अब देखना यह है कि प्राचीन भारतके उस अढ़ाई सहस्र वर्षके लम्बे कालमें किस संस्कृति तथा धर्मका इस देशमें सर्वाधिक व्यापक प्रभाव एवं प्रसार रहा और उपलब्ध ऐतिहासिक प्रमाण कहां तक उस बातकी पुष्टि करते हैं ?

भारतवर्ष विन्ध्य पर्वतमेखला द्वारा उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत ऐसे दो विभागोंमें विभक्त है। इन दोनों प्रदेशोंका इतिहास प्राचीनकालके अधिकांशमें एक दूसरेसे प्रायः पृथक तथा स्वतन्त्र ही चला है। अस्तु दोनों प्रान्तों का पृथक २ विवेचन ही अधिक उपयुक्त होगा।

यह तो प्रायः निश्चित है कि भारतीय इतिहासके प्राचीन युगमें इस देशमें हिन्दु बौद्ध तथा जैन यह तीन ही धर्म विशेषरूपसे प्रचलित थे। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्मकी उत्पत्ति ईस्वी पूर्व छठी शताब्दीमें महात्मा बुद्ध द्वारा हुई थी। उससे पूर्व स्वयं बौद्ध अनुश्रुति एवं साहित्यके अनुसार इस धर्मका कोई अस्तित्व न था। कोई स्वतन्त्र प्रमाण भी इस मतके विरोधमें उपलब्ध नहीं है।

हिन्दु धर्म, जिसका पूर्वरूप वैदिक था तथा उत्तर रूप पौराणिक हिन्दु धर्म हुआ, सन् ईस्वी पूर्व लगभग ३ से ४ हज़ार वर्षके बीच भारतमें प्रविष्ट आर्य जातिके धर्म और संस्कृतिसे संबन्धित था। और बौद्ध धर्मकी उत्पत्तिके बहुत पहिलेसे यह इस देशमें विद्यमान था।

अब रहा जैनधर्म। गत पचास वर्षकी खोजों तथा अध्ययनके आधार पर आज प्रायः सर्व ही पाश्चात्य एवं पौर्वात्य प्राच्यविद्याविशारद इस विषयमें एकमत हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्मसे सर्वथा भिन्न, उससे अति प्राचीन, एक स्वतन्त्र धर्म है। वैदिक धर्मके साथ साथ वह इस देशमें नियमित इतिहासकालके प्रारंभके बहुत समय पूर्वसे प्रचलित रहा है, और संभवतः आर्योंके भारत प्रवेशसे पूर्व भी इस देशमें प्रचलित था। यह शुद्ध भारतीय धर्मोंमें जो आज तक प्रचलित हैं, सबसे प्राचीन है*।

इस प्रकार, महाभारत युद्धके उपरान्त अर्थात् भारतीय इतिहासके प्राचीन युगके प्रारम्भमें इस देशमें केवल दो धर्म—वैदिक और जैन ही विशेषतः प्रचलित थे, तथा बौद्ध धर्मका उस समय कोई अस्तित्व न था।

*Studies in South Indian Jainism Pt. I P. 12, by M.S Rama Swami Ayangar & B Sheshagiri Rao. & Intro. to Heart of Jainism P. XIV— Mrs. Sinclair.

महाभारतसे ठीक पूर्वका समय उत्तरी भारतमें पश्चिमोत्तर वैदिक, याज्ञिक अथवा ब्राह्मण संस्कृतिके चरमोत्कर्षका युग था, किन्तु महाभारतके विनाशकारी युद्धने समस्त वैदिक राज्योंको परस्परमें लड़ा कर शक्ति एवं श्रीहीन कर दिया। एक प्रबल क्रान्ति हुई, सैकड़ों, सम्भवतः सहस्रों वर्षोंसे दबी हुई, दबाई हुई व्रात्य-सत्ता देशमें सर्वत्र सिर उठाने लगी। नवागत वैदिक आर्योंसे विजित, दलित, पीड़ित व्रात्य क्षत्रियोंकी, नाग यक्ष विद्याधर आदि प्राचीन भारतीय जातियोंकी सत्ता लुप्त नहीं हो गई थी। जनसाधारण, यथा छोटे मोटे राज्यों, गणों और संघोंके रूपमें वह इधर उधर बिखरी पड़ी थी, इस समय अवसर पाकर उबल उठी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि ईसाकी १७ वीं १८ वीं शताब्दी में अकस्मात मराठों, राजपूतों, सिक्खों, जाटों आदिके रूपमें भड़क उठने वाली चिर सुषुप्त हिन्दुराष्ट्र शक्तिके सन्मुख भारत व्यापी दीखने वाली महा ऐश्वर्यशाली प्रबल मुस्लिम शक्ति बिखर कर ढेर होगई उसी प्रकार सन् ईस्वी पूर्व दूसरे सहस्राब्दके अन्तमें तत्कालीन वैदिक आर्य सत्ता भी नाग आदि प्राचीन भारतीय व्रात्य क्षत्रियोंकी चिरदलित एवं उपेक्षित शक्तिके पुनरुत्थानसे अस्त-व्यस्त होगई। और लगभग डेढ़ सहस्र वर्षों तक एक सामान्य गौण सत्ताके रूपमें ही रह सकी। उसके उपरान्त, इस बीचमें जब वह प्राचीन जातियोंमें भली भांति सम्मिश्रित होकर, अपने धर्म तथा आचार-विचारोंमें देशकालानुसार सुधार करके अर्थात् व्रात्य धर्म-विरोधी याज्ञिक हिंसा आदि प्रथाओंका त्याग कर अपनी संस्कृतिका नवसंस्कार करनेमें सफल होसकी तभी गुप्तराज्य कालमें (ईसाकी ३री-४थी शताब्दीमें) उसका पुनरुद्धार हुआ, किन्तु प्राचीन वैदिक रूपमें नहीं, नवीन हिन्दु पौराणिक रूपमें। उस पूर्वरूप तथा इस उत्तररूपमें प्रत्यक्ष ही आकाश—पातालका अन्तर था।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया गया है, महाभारत युद्धके पश्चात् ही पश्चिमोत्तर प्रान्तमें तक्षशिला तथा पंजाबमें 'उरगपन' (उद्यानपुरी) के नागराजोंने अवसर पाकर वैदिक आर्योंके केन्द्र तथा शिरमौर कुरु-पाञ्चाल देशोंपर प्रबल आक्रमण करने प्रारंभ कर दिये। युधिष्ठिरके उत्तराधिकारी राजा परीक्षितको नागोंके हाथ अपने प्राण खोने हुवे, परीक्षितके पुत्र जन्मेजयको सारा जीवन नागोंके साथ लड़ते बीता, और अन्तमें उनके वंशज निचक्षुको तथा अन्य कुरु-पाञ्चाल-देशोंके नागराजोंको स्वदेश छोड़कर पूर्वस्थ कौशाम्बी आदिमें शरण लेनी पड़ी[1]। परिणामस्वरूप हस्तिनागपुर, अहिच्छेत्र, मथुरा, पद्मावती, भोगवती, नागपुर आदिमें नागराज्य स्थापित होगये। सिंधमें पातालपुरी (पाटल) के नग तथा दक्षिणी पंजाबमें सम्भुत्तर महाजनपदके साम्भवव्रात्य प्रबल हो उठे। पूर्वस्थ अंग, बंग, विदेह, कलिंग, काशी आदि देशोंमें भी नाग, नागवंशज (शिशुनाग), तथा लिच्छवि, वज्जी, मल्ल, मल्ल, मोरिय नात आदि व्रात्य-सत्ताएँ प्रबल हो उठी।

व्रात्य श्रमणोंके संसर्ग और प्रभाववश कशल, वत्स, विदेह आदि देशोंके वैदिक आर्य भी याज्ञिक हिंसा एवं वेदोंके लौकिकवाद (Matterialism) को छोड़ अध्यात्मके रंगमें रंग गये। आत्मामें लीन, संसार-देह-भोगोंमे विरक्त विदेह व्रात्योंके सम्पर्कमें ब्रह्मवादी, यज्ञविरोधी, अहिंसाप्रेमी जनक लोग भी विदेह कहलाने लगे। इस धार्मिक सामञ्जस्य एवं उदारताके कारण कुछ काल तक विदेहके जनक राजे, तत्कालीन राजनैतिक क्षेत्रमें प्रमुख रहे, किन्तु पश्चिमके वैदिक आर्य उनसे भी व्रात्योंकी भांति घृणा करने लगे, उन्हें भी अपनेसे वैसा ही हीन समझने लगे। उधर व्रात्य क्षत्रियोंके प्रबल गणतन्त्र तथा नागोंके कितने ही राज्यतन्त्र स्थान स्थानमें स्थापित होरहे थे। काशीमें उरगवंशकी स्थापना हुई। काशीके उरगवंशी जैन चक्रवर्ती ब्रह्मदत्तने समस्त तत्कालीन राज्योंसे अपना आधिपत्य स्वीकार कराया[2]। उनके वंशज काशीनरेश अश्वसेनकी पट्टरानी वामा देवीने सन् ई० पूर्व ८७७ में २३ वें जैन तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथको जन्म दिया। भगवान पार्श्वकी ऐतिहासिकता आज निर्विवाद रूपसे

---

१ भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ० २८६ जयचन्द्र विद्यालंकार तथा A Political History of Ancient India P. 16—Dr. H. Ray Choudhry.

२ Political History of Ancient India P. 47—Dr. H. C. Raychoudhry.

सिद्ध हो चुकी है[1]। वह युग नागयुग था। भगवान पार्श्व का जन्म नागवंश (उरगवंश) में ही हुआ था। उनके अनुयायी तथा भक्तोंमें भी नागजातिका ही विशेष स्थान था। उनका लाँछन (चिन्हविशेष) भी नाग ही था। उन की प्राचीनसे प्राचीन प्रतिमाएँ नागच्छत्रयुक्त ही मिलती हैं। मोहेन्जोदड़ो तथा मथुराके पुरातत्वमें अनेक नागकुमार तथा नागकुमारियाँ योगीराज पार्श्व जिनकी भक्ति करती दीख पड़ती हैं। भगवान पार्श्वके धर्मप्रचारसे रही सही याज्ञिक हिंसा भी समाप्त होगई। याज्ञिक, दैवतावादी वैदिकधर्म तथा अहिंसाप्रधान आत्मवादी जैनधर्मके बीच सामञ्जस्य और समन्वय बैठानेके प्रयत्न होने लगे। अनेक दर्शन तथा मत-मतान्तर पैदा होने लगे।

ई० पूर्व ७७७ में बिहार प्रान्तके सम्मेदशिखरसे भगवान पार्श्वने निर्वाण लाभ किया। वह इस जैन युगके द्वितीय युगप्रवर्तक थे (प्रथम युगप्रवर्तक महाभारतकालीन २२ वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि थे) और जैनधर्मके पुनरुद्धारक थे। उनके प्रचारसे जैनधर्मका प्रसार अधिकाधिक विस्तृत होगया था। किन्तु इस पुनरुद्धार कार्यमें वह जैन संघकी पूर्ण सुदृढ़ व्यवस्था न कर पाये थे। उनके पश्चात अनेक नवोदित मत-मतान्तरोंके कारण जैन दार्शनिक सिद्धान्त तथा आचार-नियम भी अच्छे व्यवस्थित एवं सुनिश्चित रूपमें न रह गये थे। स्वयं उनकी शिष्य-परम्परामें बुद्ध-कीर्ति, मौद्गलायन, मक्खलिगोशाल, केशीपुत्र आदि विद्वानोंमें सैद्धान्तिक मतभेद होने लगा था, उन विद्वानोंने अपने २ मन्तव्योंका प्रचार भी स्वतन्त्र धर्मोंके रूपमें करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसे समयमें एक अन्य युगप्रवर्तक महापुरुषकी आवश्यकता थी। अस्तु, ई० पूर्व ६०० में अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरका जन्म हुआ। ३० वर्ष की आयु तक गृहस्थमें रहकर १२ वर्ष पर्यन्त उन्होंने दुद्धर तपश्चरण और योगसाधन किया। तदुपरान्त केवल-ज्ञान (सर्वज्ञत्व) को प्राप्त कर नातपुत्त निर्ग्रन्थ महावीर जिनेन्द्रने ३० वर्ष पर्यन्त सर्वत्र देश-देशान्तरोंमें विहार कर धर्मोपदेश दिया। जिस प्रान्तमें उनका सर्वाधिक विहार हुआ वह बिहारके ही नामसे प्रसिद्ध होगया। ई० पूर्व ५२७ में भगवानने 'पावा' से निर्वाण प्राप्त किया।

उन्होंने मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघकी स्थापना की, आचार नियमोंसे संघकी सुदृढ़ व्यवस्था करदी। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पाँच प्रकार व्रतोंको यथाशक्य मन, वचन कायसे पालन करते हुए क्रोधमान मायालोभादि कषायोंका दमन करते हुए, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्ति ही अक्षय सुखके स्थान मोक्षकी प्राप्तिका मार्ग प्रतिपादन किया। वस्तुस्वरूपके यथार्थ परिज्ञानके हित अनेकान्तात्मक स्याद्वाद, आत्मस्वातन्त्र्यके हित साम्यवाद, पुरुषार्थका महत्त्व हृदयङ्गत करानेके हित कर्मवाद तथा स्वपर कल्याण के लिये परमावश्यक अहिंसावादका सदुपदेश दिया। उनके उपदेशका प्रभाव सर्वव्यापक हुआ, आबालवृद्ध, स्त्रीपुरुष, ऊँचनीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आर्य, अनार्य, सब ही उनके अनुयायी थे। उनके प्रधान शिष्य ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम आदि गणधरोंने उनके उपदेशित सिद्धान्तोंको द्वादशाङ्गश्रुतके रूपमें रचनाबद्ध किया और तदुपरान्त विशाल जैनसंघों द्वारा सहस्राब्दियों पर्यन्त इस देशके कोने-कोनेमें ही नहीं दूसरे प्रदेशोंमें भी भगवान महावीरके कल्याणमयी अहिंसाधर्मका स्रोत बहता रहा है।

(क्रमशः)

---

1 Intro to Jaiva Bibbo graphy—Dr. Guerinor; Camb. History of India (The History of the Jain) fol I, P. 152-160; Intro. to Uthradyayan P. 21—Charpenter.

धनपाल नामके चार विद्वान कवि

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

जैनसमाजमें 'धनपाल' नामके कई विद्वान् हो गये हैं जिन्होंने विभिन्न समयोंमें अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य-सेवाका अच्छा कार्य किया है। उनमेंसे एक तो 'भविसयत्त कहा' (भविष्यदत्तकथा) नामक ग्रंथके कर्ता हैं, जो गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदासे प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थकी अन्तिम २२ वीं संधिके ६ वें कडवकवाले घत्तेमें ग्रन्थकारने अपना कुछ परिचय दिया है, जिससे मालूम होता है कि यह कवि धर्कट नामके वैश्य वंशमें उत्पन्न हुए थे इनके पिताका नाम माएसर और माताका धनश्री देवी था ×। इन्हें सरस्वतीका वर प्राप्त था और इन्होंने भी अन्य दिगम्बर ग्रन्थकारोंके समान अपनी कथाके अवतारका सम्बन्ध विपुलाचल पर्वतपर भगवान महावीरके समवसरणमें गौतम गणधरसे श्रेणिकके तत्सम्बन्धी प्रश्नके साथ किया है*। अपनी इस कृतिपरसे ये अच्छे प्रतिभाशाली कवि जान पड़ते हैं। साथ ही यह भी मालूम होता है कि वे दिगम्बर संप्रदायके विद्वान् थे। क्योंकि ग्रन्थमें 'भंजि वि जेण दियंबरि लायउ' (संधि ५-२०) जैसा वाक्य आया है, १६ वें स्वर्गके रूपमें अच्युत स्वर्गका नामोल्लेख है, और आचार्य कुंदकुंदकी मान्यतानुसार सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रत† अंगीकार किया गया है। ग्रंथकी प्रस्तावनासे भी, प्रो० जेकोबीके निर्णयको स्वीकार तथा पुष्ट करते हुए उन्हें दिगम्बर लिखा है।

दूसरे धनपाल श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं। इनके पिताका नाम सर्वदेव और पितामहका देवर्षि था। गोत्र काश्यप था। जातिसे ब्राह्मण थे और पहले जैनधर्मसे द्वेष रखते थे, परन्तु अपने लघुभ्राताके उसमें दीक्षित होजाने पर खुद भी उसके अनुयायी बन गए थे। यह संस्कृत प्राकृतके अच्छे विद्वान् थे। इनकी कई कृतियां उपलब्ध हैं इन्होंने राजा भोजकी आज्ञासे तिलकमंजरी नामका एक गद्य काव्य लिखा था। उपलब्ध रचनाओंमें तिलकमंजरी नामका संस्कृत काव्य अपनी खास विशेषता रखता है यदि उसे संस्कृति साहित्यकी अनुपम कृति कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजा मुंजने इन्हें 'सरस्वती' की उपाधि भी दी थी। ये विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे; इन्होंने 'पाइयलच्छी नाममाला' नामका ग्रंथ वि० सं० १२२६ में अपनी लघुभगिनी सुन्दरीके लिये बनाया था×। इनकी और भी कृतियां उपलब्ध हैं, एक

×घत्ता—"धक्कड वणिवंसि माएसर हो समुब्भविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण॥"

*"चिंतिय धणवालि वणिवरेण सरसइ बहुलद्ध महावरेण।
विउलइरिपरिट्ठिउ वड्ढमाणु, जसु समवसरणु जोयणपमाणु॥
तहो गणहरु गोयमु गुणवरिट्ठु, तिं तइयहुं जं सेणियहो सिट्ठु।
पुच्छंतहु सुयपंचमि विहाणु तहिं आयउ एउ कहाणिहाणु॥
—भविसयत्तकहा पत्र २, आमेरप्रति

† चउथउ पुणु सल्लेहण भावइ, सो परलोइ सुरत्तणु पावइ।
भविसयत्तकहा १७-१२

जुवइउ होंति चयारि वियप्पहो,
मणु मोहंति मिलि वि कंदप्पहो।
माणुसि देवि तिरियगइसंभम,
चित्ति कट्ठि पाहाणि सब्भिम।
चउंहिमि नारिहुं मणवयकायहिं,
कियकारियअणुमोयणभेयहिं।
पंच वि इंदियाइं जो रंभइ,
अखलिय बंभयारि सो वुच्चइ।
जो पुणु तासु अणुव्वउ पालइ,
सो अन्नहिं संगमु न निहालइ।
नियदारहो संतोसि अच्छइ,
अन्नइं विविहइं न नियच्छइ।—भविसयत्तकहा १६-६

× विक्कमकालस्स गए अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि (१०२६)
मालवनरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥
धारानयरीए परिट्ठिएण मगो ठिआए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठबहिणीए सुंदरीनामधिज्जाए॥पायल० ना०

दो कृतियां जैनसाहित्यसंशोधक नामके ऐतिहासिक पत्रमें प्रकाशित हुई हैं।

तीसरे धनपाल अणहिलपुरके वासी थे, इनकी जाति पल्लीवाल थी, इनके पिता समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वान और कवि थे, उनका नाम आमन था, इन्होंने 'नेमिचरित' नामका महाकाव्य बनाया था। इनके चार पुत्र थे अनंतपाल, धनपाल, रत्नपाल और गुणपाल। अनन्तपाल ने पट्टीगणितकी रचना की थी और धनपालने अज्ञ होनेपर भी अपने पिताकी अश्रान्त शिक्षाके प्रभावसे 'तिलकमंजरीसार' नामका ग्रन्थ सं० १२६१ में कार्तिक शुक्ला अष्टमी गुरुवारके दिन लिखकर समाप्त किया था*।

धनपाल नामके इन तीन विद्वानोंके सिवाय मुझे हालमें आमेरके 'भ० महेन्द्रकीर्ति भण्डार' को देखते हुए एक चौथे धनपाल नामके विद्वानका अभी पता चला है, जिन्होंने अपभ्रंश भाषाके 'बाहुबलिचरित' नामक ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रंथकी पत्र संख्या २७० है और उसमें भगवान आदिनाथ के सुपुत्र भरतचक्रवर्तीके लघुभ्राता बाहुबली स्वामीके जीवनका चित्रण किया गया है। ग्रन्थ अठारह संधियोंमें समाप्त चरित हुआ है। और उससे यह सहज ही मालूम होता है कि कविने यथाशक्ति चरित्रको सरस बनानेका भरसक प्रयत्न किया है। ग्रंथकी भाषा पुष्पदन्तादि महाकवियोंकी भाषा जैसी दुरूह मालूम नहीं होती किन्तु वह हिन्दी भाषाके बहुत कुछ विकसित रूपको लिये हुए है। उसमें देशी भाषाके शब्दोंकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है, जिससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि विक्रमकी १५ वीं शताब्दीमें हिन्दी भाषा बहुत कुछ विकास पा गई थी। रचना सरस और गंभीर है और वह पढ़नेमें रुचिकर प्रतीत होती है।

ग्रंथमें ग्रन्थ बनवानेमें प्रेरक साहु वासाधरके वंशका अच्छा परिचय दिया गया है। ग्रंथके आदिमें कविने अपना भी कुछ परिचय देनेकी कृपा की है जो इस प्रकार है :—

गुजरात देशके मध्यमें 'पल्हणपुर' नामका एक विशाल नगर था, वहां राजा वीसलदेव राज्य करते थे, जो पृथ्वीके मंडन और सकल उपमाओंसे युक्त थे। उसी नगर में निर्दोष पुरवाड वंशमें जिसमें अगणित पूर्वपुरुष हो चुके हैं 'भोवह' नामके एक राजश्रेष्ठि थे जो जिनभक्त और दयागुणसे युक्त थे*। यह कवि धनपालके पितामह थे। इनके पुत्र सुहडप्रभ श्रेष्ठि थे जो धनपालके पिता थे। कवि धनपालकी माताका नाम सुहडा देवी था। इनके दो पुत्र और भी थे, जिनका नाम संतोष और हरराज था×। इन के गुरुगणि प्रभाचन्द्र थे जो अपने बहुतसे शिष्योंके साथ जैनतीर्थोंकी वंदना तथा देशाटन करते हुए उसी पल्हणपुर में आए थे। धनपालने इन्हें देखकर प्रणाम किया मुनिने देखकर उसे आशीर्वाद दिया कि तुम मेरे प्रसादसे विचक्षण होगे। मस्तकपर हाथ रखकर कहा कि मैं तुम्हें मंत्र देता हूँ. तुम मेरे मुखसे निकले हुए अक्षरोंको याद करो। आचार्यके वचन सुनकर धनपालका मन आनंदित हुआ

---

* अणहिल्लपुरख्यात: पल्लीपालकुलोद्भव: ।
जयत्यशेषशास्त्रज्ञ: श्रीमान् सुकविरामन: ॥ १ ॥
सुश्लिष्टशब्दसन्दर्भमद्भुतार्थ रसोर्मिमत् ।
येन श्रीनेमिचरितं महाकाव्यं विनिर्ममे ॥ २ ॥
चत्वार: सूनवस्तस्य ज्येष्ठस्तेषु विशेषवित् ।
अनन्तपालश्चक्रे स्पष्टां गणितपाटिकाम् ॥ ३ ॥
धनपालस्ततो नव्यकाव्यशिक्षापरायण: ।
रत्नपालस्फुरत्प्रज्ञो गुणपालश्च विश्रुत: ॥ ४ ॥
धनपालोऽल्पज्ञश्चापि पितुरश्रान्तशिक्षया ।
सारं तिलकमंजर्या: कथाया: किञ्चिदग्रथत् ।
इन्दु-दर्शन-सूर्याङ्कि वासरे मासि कार्तिके ।
शुक्लाष्टम्यां गुरावेष: कथासार: समापित: ॥ ६ ॥

इनके विशेष परिचयके लिये देखो, 'जैनसाहित्य और इतिहास' पृ० ४७०।

* गुजरदेस मज्झि णयट्टणु, वसइ विउलु पल्हणपुर पट्टणु ।
वीसल एउराउ पय पालउ, कुवलय मडणु सयलु वमालउ।
तहिं पुरवाडवंस जायामल, अगणिय पुव्वपुरिस णिम्मलकुल
पुण हुउ रायसेट्ठि जिणभत्तउ भोवइ णामें दयगुणजुत्तउ ।
सुहडपउ तहो णंदणु जायउ गुरुसज्जणहिं भुअणिविक्खायउ
बाहुबलिचरित पत्र २

×गुज्जरपुरवाडवंसतिलउ सिरि सुहडसेट्ठि गुणगणणिलउ ।
तहो मणहर छायागेहणिय सुहडाएवी णामें भणिय ।
तहो उवरि जाउ बहु विणयजुओ धणवालु वि सुउ णामेण हुओ
तहो त्रिण्णि तणुब्भव पिउलगुण संतोसु तहय हरिराउ पुण॥
बाहुबलिचरित अंत्यप्रशस्ति

और उसने विनयसे उनके चरणकमलोंकी वन्दना की। और गुरुके आगे आलसरहित होकर शास्त्राभ्यास किया और सुकविपना प्राप्त किया था। पश्चात् मिथ्यात्वरूपी मद के विनाशक वे गणिप्रभाचन्द्र खंभातनगर धारनगर और देवगिरि (दौलताबाद) होते हुए योगनीपुर (देहली) आए। देहली निवासियोंने उस समय एक महोत्सव किया था और भट्टारक रत्नकीर्तिके पट्टपर उन्हें (प्रभाचन्द्रको) स्थापित किया। भट्टारक प्रभाचन्द्रने मुहम्मदशाह तुगलक के मनको रंजित किया था और विद्याद्वारा वादियोंका मन भग्न किया था* ।

प्रभाचन्द्रका भट्टारकरत्नकीर्तिके पट्टपर प्रतिष्ठित होनेका समर्थन भगवती आराधनाकी उस पंजिकाकी लेखक-प्रशस्ति (पुष्पिका) से भी होता है जिसे संवत् १४१६ में इन्हीं प्रभाचन्द्रके शिष्य ब्रह्मनाथूरामने अपने पढ़नेके लिये देहलीके बादशाह फीरोजशाह तुगलकके शासनकाल में लिखवाया था। उसमें भ० प्रभाचन्द्रका रत्नकीर्तिके पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेका स्पष्ट उल्लेख है। वह लेखक पुष्पिका निम्न प्रकार है :—

"संवत् १४१६ वर्षे चैत्रसुदि पञ्चम्यां सोमवासरे सकलराजशिरोमुकुटमाणिक्यमरीचिपिंजरीकृतचरणकमल - पादपीठस्य श्रीपेरोजसाहेः सकलसाम्राज्यधुरीविभ्राणस्य समये श्रीदिल्ल्यां श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारकश्रीरत्नकीर्तिदेवपट्टोदयाद्रितरुणतरणित्वमुर्वीकुर्वाणं (णः) भट्टारकश्रीप्रभाचन्द्रदेवतच्छिष्याणां ब्रह्मनाथूराम । इत्याराधनापंजिकायां ग्रंथ आत्मपठनार्थं लिखापितम्।"

कविवर धनपाल गुरु आज्ञासे सौरिपुर तीर्थके प्रसिद्ध भगवान नेमिनाथ जिनकी वन्दना करनेके लिए गए। मार्गमें इन्होंने 'चंद्रवाडि या चन्द्रवाड' नामका नगर देखा जो जन धनसे परिपूर्ण और उत्तुंग जिनालयोंसे विभूषित था, वहां साहू वासाधरका बनवाया हुआ जिनालय भी देखा और वहांके श्री अरहनाथ जिनकी वन्दना कर अपनी गर्हा तथा निंदा की, और अपने जन्म-जरा और मरणका नाश होनेकी कामना भी व्यक्त की। इस नगरमें कितने ही ऐतिहासिक पुरुष हुए हैं जिन्होंने जैनधर्मका अनुष्ठान करते हुए वहांके राज्यमंत्री रहकर प्रजाका पालन यकि है। ग्रन्थोंमें उल्लिखित ऐतिहासिक आख्यानोंसे इस नगर की महत्ता एवं प्रतिष्ठाका कितना ही बोध होता है जो आज एक छोटेसे तीर्थके रूपमें ही प्रसिद्धिमें आरहा है* ।

१ एतहिं तहिं जिण तित्थ णमंतउ माहि भमंतु पल्हणपुर पत्तउ।
सिरि पहचंदु महागणि पावणु बहुसीसेहि सहिउ य विरावणु।
णंवाए सरिसरि रयणायरु सुअय कणय सुपरिक्खण णायरु।
दिट्ठु गणीसें पयपणवंतउ बहुधणवालु विबुहजण भत्तउ।
मुणिणा दिट्ठउ इत्थु विणीए होसि वियक्खणु मज्झु पमाएं।
मंतु देमि तुह कय मत्थए करु महुमुहणिग्गउ घोसहिं अक्खरु
सुरिवयणु सुणि मणआणंदिउ विणएं चरणजुअलमइवंदिउ
पढिय सत्थ गुरुपुरउ अणालस हुअ जससिद्धि सुकइ आणावस।
घत्ता—पट्टणे खंभायच्चे धारणयरि देवगिरि।
मिच्छामय विहुणंतु गणि पत्तउ जोइणिपुरि ॥१-३
तहिं भव्वहिं सुमहोच्छउ विहियउ सिरिरयणकित्तिपट्टे णिहियउ
महमंदसाहि मणुरंजियउ विज्जहि वाइय मणु भंजियउ।

* चंद्रवाड या चन्द्रपाट नामका यह नगर जमुना तटपर आगराके समीप फिरोजाबादके दक्षिणमें स्थित है। और आजसे बहुत पहले यह नगर अपनी विशालता एवं वैभव के लिये प्रसिद्ध था, यहाँ अनेक राजाओंने राज्य किया है। कविवर लक्ष्मणके सं० १३१३ में बनाये गए 'अणुवयरयणपईव' से मालूम होता है कि उस समय चन्द्रवाडमें चौहानवंशी राजाओंका राज्य था। और वहाँ इस वंशके आहवमल्ल, श्री वल्लाल, जाहड, अभयपाल और भरत नामके राजाओंने राज्य किया है। इनके समय में लंबकंचुक कुलके कण्हण (कृष्णादित्य) शिवदेव, गोकु साहू, अमृतपाल और हल्लण साहु राज्यश्रेष्ठि और मंत्री हुए हैं। देखो, जैनसि० भास्कर भाग ६, किरण ३।

प्रस्तुत बाहुबलिचरितके कर्ताने भी संभरिराय, सारंग-नरेन्द्र, अभयपाल, जयचंद और रामचंद्र नामके राजाओ के राज्यकालमें जायस या जैसवालवंशी, जसधर, गोकण (गोकर्ण) सोमदेव, वासाधर नामके व्यक्ति राज्यमंत्री और राजश्रेष्ठि रहे हैं। —देखो बाहुबलिचरितप्रशस्ति

इनके सिवाय सं० १५३० में कविवर श्रीधरने भविष्य-दत्तचरितकी रचना चंद्रवाड नगरके माथुरकुलके नारायण के पुत्र और वासुदेवके ज्येष्ठ भ्राता मतिवर सुपट्ट साहूकी

यह 'बाहुबलिचरित' विक्रम संवत् १४५४ में वैशाख शुक्ला त्रयोदशीको स्वाति नक्षत्रमें स्थित सिद्धियोगमें सोमवार के दिन जबकि चन्द्रमा तुलाराशिपर स्थित था, पूर्ण किया गया है, जैसाकि उसकी प्रशस्तिके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

"विक्कमणरिंदअंकियसमए, चउदहसयसंवच्छरहे गए।
पंचासवरिस चउअहिय गणि, वइसाहहो सिय तेरसि-सुदिणि-
साईं णक्खत्ते परिट्ठियइं, वरसिद्धिजोगणामें ठियइं।
ससिवासरे रासिमयक्तुले, गोलग्गें मुत्ति सुक्कें सवलें॥"

प्रस्तुत ग्रंथ चंद्रवाडनगरके प्रसिद्ध राजश्रेष्ठि और राजमंत्री जो जायस या जैसवालवंशके भूषण थे, साहू वासाधरकी प्रेरणासे की है, और उक्त ग्रंथ उन्हींके नमांकित किया गया है। ग्रंथके आदि और अंतमें ग्रथनिर्माणमें प्रेरक साहू वासाधरके कुलादिका कितना ही परिचय दिया गया है। इनकेपिताका नाम सोमदेव था, जो संभरिनरेन्द्र (कर्णदेव) के मंत्री थे। कविने साहू वासाधरको सम्यक्त्वी जिनचरणोंके भक्त, जिनधर्मके पालनेमें तत्पर, दयालु बहुलोकमित्र मिथ्यात्वरहित, और विशुद्धचित्त बतलाया है, साथ ही आवश्यक दैनिक षट्कर्मोंमें प्रवीण, राजनीति में चतुर और अष्टमूल गुणोंके पालनमें तत्पर प्रकट किया है। इनकी पत्नीका नाम उदयश्री था जो पतिव्रता और शीलव्रतका पालन करनेवाली तथा चतुर्विधसंघके लिये कल्पनिधि थी। इनके आठ पुत्र थे+ (१ जसपाल २ जस(य) पाल ३ रतपाल ४ चदपाल ५ विहराज ६ पुण्यपाल ७ वाहड ८ रूपदेव) जो अपने पिताके समान ही योग्य चतुर और धर्मात्मा थे। इन आठ पुत्रों सहित साहू वासाधर अपने धर्मका साधन करते थे।

इस ग्रंथमें कविने अपनेसे पूर्व होनेवाले कुछ खास विद्वानोंका और उनकी कुछ प्रसिद्ध कृतियों सहित उल्लेख किया है, जैसे १ कविचक्रवर्ती धीरसेन २ व्याकरणकर्ता श्री देवनंदि (पूज्यपाद) जैनेन्द्रव्याकरण ३ श्री वज्रसूरि और इनके द्वारा रचित षट्दर्शनप्रमाणग्रंथ, ४ महासेन—सुलोचनाचरित्र, ५ रविषेण-पद्मचरित, ६ जिनसेन हरिवंश-पुराण, ७ मुनिजडिल-वरांगचरित, ८ दिनकरसेन-कंदर्प-चरित, ९ पद्मसेन-पार्श्वचरित, १० अमृताराधना-गणि अंबसेन ११ चंद्रप्रभचरित, धनदत्तचरित, कवि विष्णुसेन, मुनिसिंहनन्दि-अनुप्रेक्षा, १३ णवकारमंत्र-णरदेव, १४ कवि असग-वीरचरित, १५ सिद्धसेन १६ कवि गोविंद, १७ कवि धवल, १८ शालिभद्र, १९ चतुर्मुख, २० द्रोण, २१ स्वयंभु २२ पुष्पदंत और २३ वीर कविका उल्लेख किया गया है*।

वीरसेवामन्दिर

प्रेरणासे की है। श्वेताम्बरीय तीर्थमालामे भी चंद्रवाडका उल्लेख देखा जाता है, इन सब उल्लेखोपरसे उसके ऐतिहासिक नगर होने और जैन धर्मका वहां अर्से तक बना रहना उसकी महत्ताका स्पष्ट प्रतीक जान पड़ता है। इसके सम्बन्धमें फिर किसी समय एक स्वतंत्र लेख द्वारा प्रकाश डालनेका विचार है। समाजको चाहिये कि वह ऐसे ऐतिहासिक नगरोंमें पाई जाने वाली ऐतिहासिक सामग्रीका संकलन करा कर प्रकाशित करे। जिससे जैनधर्मका गौरव उद्दीपित हो।

+पढमपुत्तु जसपालु गुणंगउ, रूवेणं पच्चक्ख अणंगउ।
हुउ जस(य)पाल वियक्खणु बीयउ, पुणु रउपाल पसिद्धउ तीयउ।
तुरियउ चंदपालु सिरि मन्दिरु, पंचमु सुउ विहराजु सुहंकरु।
छट्ठउ पुरणपाल पुरणायरु, सत्तमु बाहडु णाम गुणायरु।
अट्ठमु रूवएव रूवड्ढउ, एअहिं अट्ठसुअहिं चिरु वड्ढउ॥
—बाहुबलिचरित अंतप्रशस्ति

*सुअ पवणुहु विय कुमयरेणु, कइचक्कवट्टिसिरि धीरसेणु।
महिमंडलि वरिणउ विबुहवंदि, वायरणकारि सिरि देवणंदि।
जइणेंद णामु जइयणु दु लक्खु, किउ जेण पसिद्ध स वाय लक्खु।
सम्मत्ता ………:…रायभव्वु, दंसण पमाणु वरु रयउ कव्वु।
सिरिवज्जसूरि गणि गुणणिहाणु, विरयउ मइ छद्दंसण पमाणु॥
महसेण महामइ विउ समहिउ घणगाय सुलोयणाचरिउ कहिउ।
रविसेणें पउमचरित्तु वुत्तु, जिणसेणें हरिवंसु वि पवित्तु।
मुणि जडिलि जडत्तण वारणत्थु णं वरंगुचरिउ खंडणु पयत्थु।
दिणयरसेणें कंदप्पचरिउ, वित्थारउ महिहि णवरसहं भरिउ।
जिणपासचरिउ अइसय वसेण, विरयउ मुणिपुंगवपउमसेण।
अमियाराहण विरइय विचित्त, गणि अंबसेण भवदोसचत्त।
कंदप्पहचरिउ मणोहिरामु, मुणिविण्हुसेण किउ धम्म धामु।
धणयत्तचरिउ चउवग्गसारु, अवरेहिं विहिउ णाणापयारु।
मुणिसीहणंदि सद्दत्थ वासु, अणुपेहा कय संकप्पणासु।
णवयारणेहु णरदेव वुत्तु, कइअसग विहिउ वीरहो चरित्तु।
सिरिसिद्धसेण पवयण विणोउ, जिणसेणें विरइउ आरिसेणु?
गोविंद कइ दंसणकुमारु, कइ रयणसमुद्दहो लद्धपारु।
जय धवलु सिद्धगुण मुणिउ तेउ, सुय सालिहत्थु कइ जीवदेउ।
वर पउमचरिउ किउ सुकइ सेढु, इय अवरजाय वर वलयवीढु।
घत्ता—चउमुह दोणु सयंभु कइ, पप्फयंतु पुणु वीरभणु।
ते णाणदुमणि उज्जोयकर, हउ दीवोवमु हीणु गुणु॥१-८॥

स्वयंवरा !

[पौराणिक खण्ड-काव्य*]

रचयिता—स्व० 'भगवत्' जैन

वनवासके दिन थे कि मुसीबतका वक्त था !
लक्ष्मण भी साथमें था जो भाईका भक्त था !!
सीता थी, हृदय जिसका पती-प्रेमासक्त था !
तीनोंमें भरा गोया मुहब्बतका रक्त था !!
थे खुश, न परेशानीका मुँहपर निशान था !
यह इसलिए ही था कि भरा दिलमें ज्ञान था !!

खाते थे सभी, प्रेमसहित तोड़के वन फल !
झरनोंसे अपनी प्यास बुझाते थे लेके जल !!
सोते थे बीहड़ोंमें, बिछा भूमि पै कम्बल !
चलते थे क्रीड़ा करते हुए बा खुशी पैदल !!
कर्मोंकी कुटिलताकी थी ये क्रूर-कहानी !
वन वनमें जो रही थी भटक रामकी रानी !!

सीता थी, जिसे स्वामीकी सेवाका चाव था !
सोते हुए भी जागता राघवका ख्वाब था !!
रघुवरका हृदय सौम्यतामें ला-जवाब था !
लक्ष्मण था चपल, कौतुकी उसका स्वभाव था !!
आनन्द-मग्न, दिलमें अभय लेके विचरते !
आए थे 'खेमांजल' के निकट घूमते-फिरते !!

जब बैठे, मिटा भोजनोंसे भूखके ज्वरको !
लक्ष्मणने कहा—'भैय्या' झुका पाँवोंमे सरको !!
तब बोले राम—'क्या है?' उठा अपनी नज़रको !
बोला कि—हुक्म हो तो देख आऊँ नगरको !!'
आदेश राघवेन्द्रने देकर विदा किया !
वह धीर वीर 'पुर' के तभी पथपै चल दिया !!

पग धरते हुए जैसे हो धरतीको कँपाता !
पुर-जनने उसे देखा यों बाज़ारमें आता !!
सब देख उठे, छोड़के धन्धेकी अमाता !
यह यों कि वीर-वेष जो था मनको लुभाता !!
आपसमें लगे कहने—'भद्र रूप है कैसा ?
आँखोंने नहीं आज तलक देखा था ऐसा !'

कुछ कहने लगे—'राज्यका सम्वाद है पाया !
शक्तीकी इसलिए ही चोट झेलने आया !!
लगता है वीर बांका कि मज़बूत है काया !
इसपर भी मात खाए तो भगवानकी माया !!'
लक्ष्मणको सुन पड़ी जो अधूरी-सी ये कथा !
आगे न बढ़ सका कि जगी मनमें कुछ व्यथा !!

बोला कि 'भाई ! मुझको कहो माजरा क्या है ?
शक्तीकी चोट झेलनेको किसने कहा है ?'
उनमेंसे एक बोला—'क्या तुमको न पता है ?
इस राजदुलारीकी तो मशहूर कथा है !
हैं 'शत्रुदमन' राजा शक्ति शौर्यके धारी !
'जितपद्मा' उन्हीं की है एक राजकुमारी !!

सौन्दर्यकी प्रतिमा है गुणोंसे हरी भरी !
भ्रम होता देखते ही, नरी है या किन्नरी !!
कमला व कमल दोनोंकी जिसने प्रभा हरी !
बस दिलमें समझिए कि है अत्यन्त-सुन्दरी !!
अपने अनूप रूपका उसको घमण्ड है !
यह और भी यों है कि पिता भी प्रचण्ड है !!

पुरुषोंसे घृणा है कि नाम तक नहीं भाता !
'पुल्लिंग शब्द' कोई वहां कह नहीं पाता !!
इतनी है कड़ाई कि कहा कुछ नहीं जाता !
'लोटा' भी उसके सामने 'लुटिया' है कहाता !!'
सुनता रहा रघुवीर-अनुज, मुँह नहीं खोला !
चुप रहके तनिक कहनेवाला आप ही बोला !!

'महराजकी ये घोषणा दुनियामें है ज़ाहिर !
गोया ये की है सबके लिए मौत मुकर्रिर !!
जो मेरी शक्ति-चोटको सह लेगा वीर-नर !
जितपद्मा कुमारीका वही हो सकेगा वर !!
महाराजकी शक्तीसे भला कौन बचेगा ?
वह मूर्ख ही होगा जो प्राण इस तरह देगा !!

---

* यह और एक दूसरा और ऐसे दो खण्ड-काव्य श्री स्वर्गीय 'भगवत्' जी अनेकान्तके लिये छोड़ गये हैं, ऐसी भगवत्-भवनसे सूचना मिली है। अतः उनकी यह कृति ज्योंकी त्यों अनेकान्तके पाठकोंको अर्पित है। —सम्पादक

कन्याकी बात क्या है स्वर्ग-राज्य भी पाए !
स्वीकार किसे होगा कि जो प्राण गँवाए ?
प्राणोंसे मूल्यवान क्या है, कोई बताए ?
जब प्राण ही गए तो कोई आए या जाए ?
कन्यामें गोया मृत्युका इतिहास लिखा है !
नादान-पतंगोंके लिये दीप-शिखा है !!
है किसको मोह मौतसे, जो आगको चाहे ?
है कौन जो राजाकी कुटिलताको सराहे ?
सामर्थ्य है किसमें कि जो शर्त्तोंको निभाहे ?
है कौन भाग्यवान जो कन्याको विवाहे ?'
सुनकरके सुमित्राका नन्द कह उठा मनमें !
'है कितनी अकर्मण्यता इस नरके वचनमें !!
वह क्या है पुरुष जो कि है पुरुषत्वसे रीता !
निज बलके परखनेका भी जिसको न सुभीता !!
कमज़ोरियोंमें ज़िन्दगीका वक्त ही बीता !
जीवनका समर जिससे नहीं जा सका जीता !!'
फिर मुस्कराके कहने लगा, रामका भाई !
'हे भद्र ! बात आपने ये खूब सुनाई !!
फिर आगे बढ़ा, छोड़ नगर-वासियोंका दल !
मनमें था समाया हुआ इस वक्त कुतूहल !!
'देखूं है कैसी कन्या, जो दुनियाको अमंगल !
रखते हैं प्रजापाल भी शक्तीका कितना बल ?'
पहले तो सुनके मनमें ज़रा क्रोध-सा आया ।
पर, देखनेकी लालसाने उसको दबाया !!
फिर क्या था, अपने आप दोनों बढ़ने लगे पग !
मनका इशारा पाके पकड़ बैठे राज-मग !!
रह सकते कहां पग थे मनके हुक्मसे अलग ?
उत्सुक था क्योंकि देखनेको जिस्मका रग-रग !!
देखे गगनको छूते-से, वैभव-भरे महल !
सुन्दर थे सुर-विमान-से, थे पुण्य-से उज्वल !!
आया प्रवेश द्वार सुमित्राका दुलारा !
बोला-'है देखना मुझे शक्तीका नज़ारा !!'
प्रहरीने कहा 'भद्र ! क्या परिचय है तुम्हारा ?'
'सेवक हूँ भरतका मैं !' ये लक्ष्मणने उचारा !!
गंभीर गिरा, वीर-वेश, इन्द्र-सी काया !
प्रहरीने देख पाई तो सिर अपना झुकाया !!

आज्ञा ले महीपतिकी भृत्य ले चला भीतर !
बैठे थे नृपति, योद्धा तथा दूसरे अफ़सर !!
दर्बारमें, वीरत्वका फैला था समुन्दर !
लेकिन नहीं लक्ष्मणने झुकाया किसीको सर !!
बोला वो निडर होके गरजते हुए स्वरमें !
आया हो गोया शेर-बबर स्यालके घरमें !!
'कह तो कहाँ है तेरी अधम राजकुमारी ?
उद्यत है अहंकारकी लेकर जो कटारी !!
कन्या है, काल-कन्या है कि कालकी आरी ?
गौ है वो मरखनी, कि है पाषाणकी नारी ?'
आए थे तब तो मुग्ध हुए थे सभाके जन !
अब कांप उठे मन, जो सुने वज्र-से वचन !!
महाराजके मनमें भी विषैला विकार था !
वह भस्म होचुका था कि आया जो प्यार था !!
आदी थे, यों सन्मानको दिल बेक़रार था !
लक्ष्मण प्रणाम-हीन था, यह नागवार था !!
ख़ामोश थे अपनेमें नहीं जब था हिलाया !
अब रह सके ख़ामोश, ये मुश्किल-सा दिखाया
जलने लगी थी मनमें कुटिल-क्रोधकी ज्वाला !
मुँह सुर्ख था, आंखें हुई थीं रक्तका प्याला !!
कुछ मौन रहे, क्योंकि था आवेशका ताला !
फिर क्रोधने ललकारके वाणीको निकाला !!
बोले कि 'कहां, कौन हो ? आए हो क्यों यहां !
मैं चाहता हूँ जानना रहते हो तुम कहां ?'
लक्ष्मणका तभी गूँजा वहीं फिरसे कण्ठ-स्वर !
'मैं हूँ प्रतापशाली भरत-राजका अनुचर !!
दुनियाकी शैर करनेको निकला हूँ छोड़ घर !
यों घूमते-फिरते हुए आया हूँ महीपर !!
आकर सुनी यहां, तेरी कन्याकी कहानी !
पाकर पिताके बलको हुई है जो दिवानी !!
है देखना मुझको, दिखा शक्तीका नज़ारा !
सुन लोग जिसके नामको करते हैं किनारा !!
कन्याके अहंकारका है जिसको सहारा !
बैठा जो बहाने किसीके खूनकी धारा !!'
वाणीको दे विश्राम थे बैठे हुए भूपाल !
गो, जल रहा था दिल कि थीं आँखें भी लाल-लाल

वे बोले, तड़क करके रंग क्रोध जो लाया !
'नादान ! क्यों मरनेके लिये सामने आया ?
होकर उद्दण्ड, क्यों घमण्डपर है लुभाया ?
जा भाग, बचा करके जवानी-भरी काया !!'
लक्ष्मणको हँसी आई, हँसे ज़ोरसे इसपर !
धरती-सी लगी कांपने, थर्रा गया अम्बर !!
सारी सभामें उस समय आतंक छा गया।
गज-झुण्डमें जैसे कि हो गजराज आ गया !!
चहरोंका नूर सबका, एकदम बिला गया !
योद्धा था मगर फिर भी नृपति तिलमिला गया !!
जितपद्मा कुमारी भी झरोखेमें आ गई !
देखा जो सुमित्राका नन्द, मुस्करा गई !!
मन जाने लगा हाथसे, मर्यादसे बाहर !
गोया थे निकल आए उसके मनमें आज 'पर' !
लक्ष्मणका रूप देख मुग्ध होगया अन्तर !
आवेशसे, आनन्दसे नीची हुई नज़र !!
मनका गरूर दूर था मनहूस अभागा !
या यों ही समझ लीजिए 'नारीत्व' था जागा !!
उस ओर कह रहा था अयोध्याका वीरवर !
'कर शीघ्र अपना वार तू क्यों होरहा कायर ?
जिनपर हो भरोसा वे ला तू शक्तियां जाकर !
क्या होगा एक शक्तीसे मेरे शरीर पर ?
खिलवाड़ देखना है तेरे बलका, वारका !
देना सुयोग है तुझे शक्ती-प्रहारका !!
बल तौल ले अपना कि रणकी खाज मिटाले !
या अपने अहंकारको मिट्टीमें मिलाले !!
कन्याकी दुष्टताको मिष्टतामें डुबाले !
मर्यादसे बाहरके वचन बोलनेवाले !!'
वैरीदमनने क्रोधमें भर शक्ती उठाई !
लक्ष्मणको तभी-'ओह !'की आवाज़-सी आई !!
'क्या है' ये देखनेके लिए भाल उठाया।
कन्याको झरोखेमें था बैठे हुए पाया !!
आँखोंमें मुहब्बत थी कि भयभीत थी काया !
लक्ष्मण भी हुआ मुग्ध, धन्य ! प्रेमकी माया !!
करती थी यों संकेत वो पर्देकी ओटसे !
'प्राणेश ! अलग हूजिए शक्तीकी चोटसे ॥
गर आपका शक्तीसे हुआ कुछ भी अमंगल।
तो जिन्दगी हो जाएगी मेरी सभी निष्फल !!'
लक्ष्मणने इशारेमें कहा—'प्रेमकी पागल !
घबराओ न, रखता हूं मैं भरपूर आयु-बल !!'
फिर देखा, प्रजापालने शक्तीको है ताना।
है साध रहा साधना से दिलका निशाना ॥
तब बोला लखन—'व्यर्थ ही क्यों देर लगाता ?
क्या शक्ति-बाण तक नहीं है मारना आता ?
कंजूसके पैसेकी तरह करमें दबाता !
उसपर ये गर्व है कि—है वीरत्वसे नाता ॥'
फिर क्या था शक्ति खींचके भूपालने मारी।
'उफ् !' करके उधर गिरने लगी राजदुलारी॥
लेकिन ये देख करके दंग रह गए सब जन।
लक्ष्मण खड़ा है और बदस्तूर है जीवन॥
जितपद्माने देखा तो बढ़ा उसके मोद मन।
पर, हो रहा था बाप का चेष्टा-विहीन-तन॥
जिसपर घमण्ड था वो बात खोखली निकली !
लक्ष्मणने दाएँ हाथमें शक्ती थी पकड़ ली॥
वह कह रहा था 'एक ही शक्तीको मारकर !
ओ, मूढ़ अहंकारी ! बता क्यों रहा ठहर ?
ला और भी, रखता है जो शक्तिका बल अगर !
वर्ना तू वीरकी जगह कहलाएगा कायर !!'
भूले नरेश था कि जो फ़र्मान निकाला !
कब सोचता कानूनको है मारने वाला !!
वह आप ही अपमानकी ज्वालामें पड़े थे !
कुछ क्रोधका बल था कि जो पैरोंसे खड़े थे !!
गो, शर्मदार थे न बल्कि चिकने घड़े थे।
शक्तीको मारकर भी जो लड़नेको खड़े थे॥
फिर क्या था दूसरी भी शक्ती तानके छोड़ी !
सीमा जो न्यायकी थी वो अन्यायसे तोड़ी !!
अचरज कि अबकी बार भी वह दृश्य ही दीखा।
पर, उससे प्रजापालने कुछ पाठ न सीखा !!
थामा था बाँएँ हाथमें वह अस्त्र भी तीखा !
यह देखके अन्यायीका मन और भी चीखा !!
लक्ष्मणने कहा—'और भी तीखे प्रहार कर !
रह जाए नहीं दिलके कोई हौसला अन्दर !!'

-फिर तीसरी, चौथी भी चोट कर गया क़ातिल !
अपमानसे पागलकी तरह हो रहा था दिल !!
घबरा रहे थे और जोश होश थे गाफ़िल !
वह सोच रहे थे कि 'फ़तह पाना है मुश्किल !!'

लक्ष्मणने दोनों शक्तियां कांखोंमें दबालीं !
यह इसलिए कि मुट्ठियां उसकी न थीं खालीं !!

उन चार शक्तियोंको वो थामे था इस तरह !
चौदन्ता गज खड़ा हो धीर वह भयावह !!
सब सोच रहे थे हृदयमें बात ये रह-रह !
'नर है कि असुर है ये शक्ति-शौर्यका संग्रह ?'

ललकारके लक्ष्मणने कहा तामसी-स्वरमें ।
'ला और भी वे तीक्ष्ण-शक्तियां जो हों घरमें ॥'

जितपद्मा जो कठोर थी वो आज थी कोमल !
भय उसको अमंगलकेने कर रक्खा था चंचल ॥
मुश्किलसे काट पा रही थी विह्वला पल-पल !
यह सोच रही थी कि 'न हो स्वामीकी अकुशल!'

फिर पांचवीं शक्तीका लखनपर प्रहार था ।
जो सबसे खतरनाक और दुर्निवार था ॥

पर देखनेमें दृश्य वही सामने आया ।
लक्ष्मणने 'शक्ति-बाण'को दांतोंसे दबाया ॥
बैरीदमनने देखी—बदस्तूर है काया ।
श्रद्धासे और प्रेमसे तब भाल नवाया ॥

'ला और!' जबकि भूपसे कहने लगा लक्ष्मण ।
अम्बरसे बरसने लगे लक्ष्मणपै पुष्प-कण ॥

'जयघोष' सब दिशाओंसे देता था सुनाई ।
आनन्दकी मुस्कान-सी हर मुँहपै थी छाई ॥
जितपद्मा नज़र डाले हुए सामने आई ।
सौभाग्य था जीवनकी पूर्णता थी जो पाई ॥

लक्ष्मण भी हुआ सौम्य, मुहब्बतका रंग भर ।
'भगवत' यों हुआ राजकुमारीका स्वयंबर !!

अनेकान्तको सहायता

अनेकान्तकी गत किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः इस प्रकार है:—

१००) रावराजा सर सेठ हुक्मचंदजी जैन इन्दौर । (अजैनादि संस्थाओंको अनेकान्त भिजवानेके लिये)

२०) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी जैन बजाज सहारनपुर (अनेकान्त फ्री भिजवानेके लिये)।

५) ला० पन्नालालजी (जैनी ब्रादर्स) और ला० रतनलाल जी मादीपुरिया (पुत्रपुत्रीके विवाहकी खुशीमें)

५१) ला० फेरूमल चतरसैनजी जैन मालिक वीर स्वदेशी भंडार सरधना जि० मेरठ (चि० प्रकाशचंद्रके विवाह की खुशी में) मार्फत पं० जिनेश्वरदासजी ।

४) ला० बांकेलालजी, मुरादाबाद, ला० श्यामलालजी हरियाना, और ला० होरीलालजी बुखारी (पुत्रोंके विवाह की खुशीमें) मार्फत वैद्य विष्णुकान्तजी मुरादाबाद ।

३) ला० नन्दकिशोरजी जैन, बिजनौर ।

२) बा० मनोहरनाथजी जैन बी० ए० वकील बुलन्दशहर और बा० गिरीलालजी मुख्तार, मेरठ, (पुत्री और भाईके विवाहकी खुशीमें) ।

५) ला० हरिश्चंद्रजी रामपुर जि० सहारनपुर और ला० पद्मप्रसादजी जगाधरी जि० अम्बाला (पुत्र पुत्री के विवाहकी खुशी में) ।

२५) बा० रामसुखजी वाकलीवाल, इन्दौर (श्री शान्तिलाल वाकलीवाल नासिकवालोंके स्वर्गवासके अवसर पर निकाले हुए दानमेंसे ।

२०५) व्यवस्थापक 'अनेकान्त' ।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

पिछली किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवा-मंदिर सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है और उसके लिये दातार महोदय धन्यवादके पात्र हैं—

१५) ला० जुगलकिशोरजी जैन (कागजीवाले) देहरादून (चि० पुरुषोत्तमदासके विवाहकी खुशीमें) ।

११) बा० पन्नालालजी जैन अग्रवाल देहली और ला० दीपचन्दजीजैन (गुहानावाले) न्यू देहली (चि० प्रेमचंद और चि० कनकमाला देवीके विवाहकी खुशीमें) ।

१००) सेठ सेवमल दयाचन्दजी जैन कलकत्ता । (सेठ बलदेवदासजीकी माताके स्वर्गवासके अवसरपर निकाले हुए दानमेंसे) मार्फत बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता ।

२) ला० नन्दकिशोरजी जैन बिजनौर ।

१।) गुप्त सहायता, देहलीके एक सज्जनकी ओरसे ।

२१) ला० हरिश्चंद्रजी जैन रामपुर जि० सहारनपुर और ला० पद्मप्रसादजीजैन जगाधरी जि० अम्बाला (पुत्र-पुत्री के विवाहकी खुशीमें) ।

१५०।) अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर'

वीरसेवामन्दिरके नये प्रकाशन

१ आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—नया प्राप्त संक्षिप्त सूत्र, मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी सानुवाद व्याख्या और प्रस्तावना सहित। मूल्य ।)

२ सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी अनेक प्राचीन पद्योंको लेकर नई योजना, सुन्दर हृदयग्राही अनुवादादि सहित। इसमें श्रीवीर वर्द्धमान और उसके बादके जिनसेनाचार्य पर्यन्त, २१ महान् आचार्योंके अनेकों आचार्यों तथा विद्वानोंद्वारा किये गये महत्वके १३६ पुण्य स्मरणोंका संग्रह है और शुरूमें १ लोकमंगलकामना, २ नित्यकी आत्मप्रार्थना, ३ साधुवेषनिदर्शक जिनस्तुति, ४ परमसाधुमुखमुद्रा और ५ सत्साधुवन्दन नामके पांच प्रकरण हैं। पुस्तक पढ़ते समय बड़े ही सुन्दर पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और साथ ही आचार्योंका कितना ही इतिहास सामने आजाता है, नित्य पाठ करने योग्य है मू० ॥)

३ अध्यात्म-कमल-मार्तण्ड—यह पंचाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रंथोंके कर्ता कविवर राजमल्लकी अपूर्व रचना है। इसमें अध्यात्मसमुद्रको कूजेमें बंद किया गया है। साथमें न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्दशास्त्रीका सुन्दर अनुवाद विस्तृत विषयसूची तथा मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी लगभग ८० पेजकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना है। बड़ा ही उपयोगी ग्रंथ है। मू० १॥)

४ उमास्वामिश्रावकाचार-परीक्षा—मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी ग्रंथपरीक्षाओंका प्रथम अंश, ग्रंथपरीक्षाओंके इतिहासको लिये हुए १४ पेजकी नई प्रस्तावना सहित। मू० ।)

५ न्यायदीपिका—(महत्वका नया संस्करण)—न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया द्वारा सम्पादित और अनुवादित न्यायदीपिकाका यह विशिष्ट संस्करण अपनी खास विशेषता रखता है। अबतक प्रकाशित संस्करणोंमें जो अशुद्धियां चली आरही थीं उनके प्राचीन प्रतियोंपरसे संशोधनको लिये हुए यह संस्करण मूलग्रन्थ और उसके हिन्दी अनुवादके साथ प्राक्कथन, सम्पादकीय, प्रस्तावना, विषयसूची और कोई ८ परिशिष्टोंसे संकलित है, जिनमेंसे एक बड़ा परिशिष्ट तुलनात्मक टिप्पणका भी है। साथमें सम्पादकद्वारा नवनिर्मित 'प्रकाशाख्य' नामका भी एक संस्कृतटिप्पण लगा हुआ है, जो ग्रंथगत कठिन शब्दों तथा विषयोंका खुलासा करता हुआ विद्यार्थियों तथा कितने ही विद्वानोंके लिये कामकी चीज़ है। लगभग ४०० पृष्ठोंके इस बृहत्संस्करणका लागत मूल्य ५) रु० है कागजकी कमीके कारण थोड़ी ही प्रतियां छपी हैं। अतः इच्छुकोंको शीघ्र ही मंगालेना चाहिये।

प्रकाशनविभाग

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

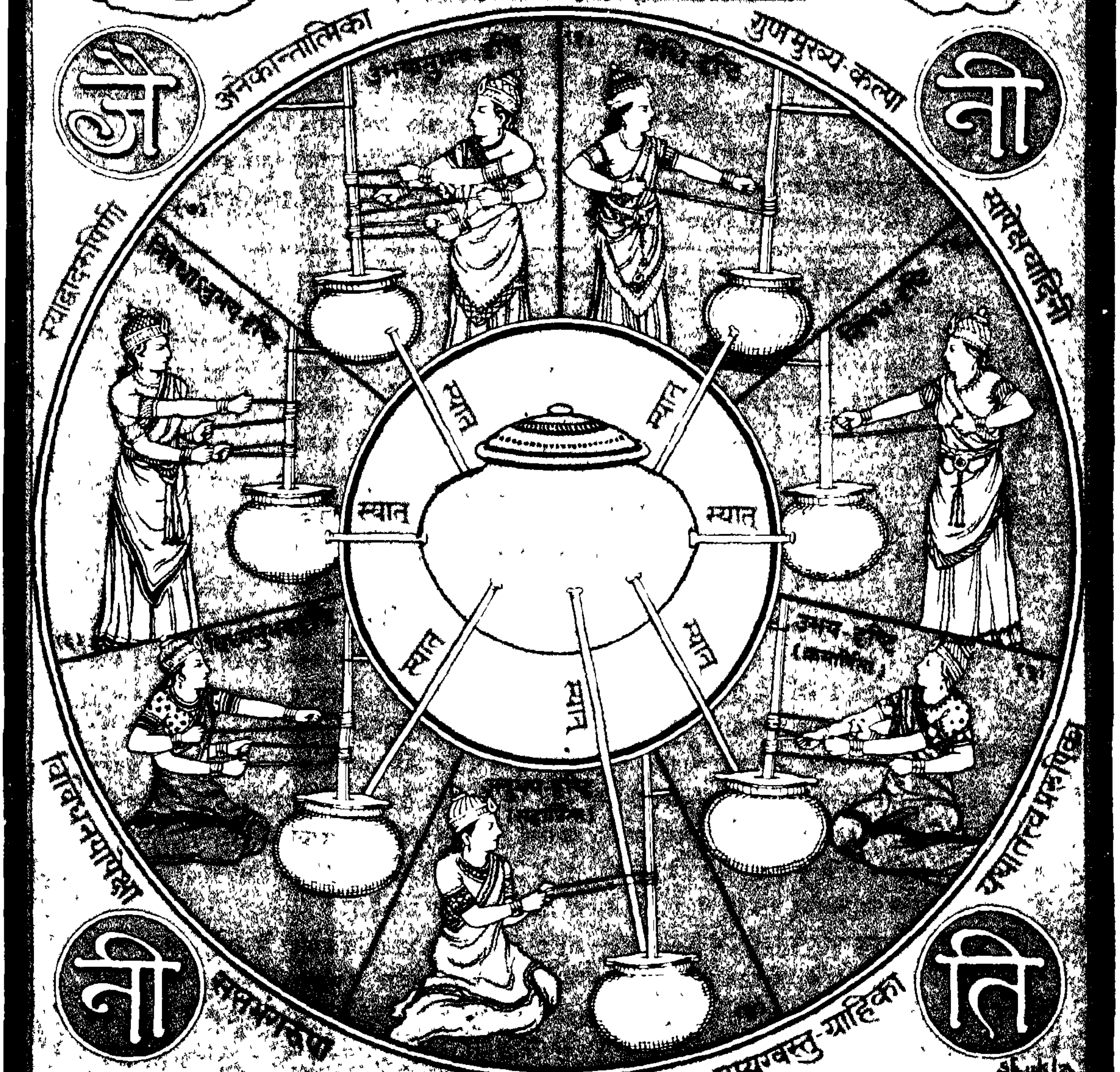
बाबू छोटेलालजीका स्वास्थ्य-समाचार

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताके स्वास्थ्यमें जो खराबी उत्पन्न हुई थी वह कुछ महीने मदनपल्ली पो० आरोग्यवरम् में रहकर चिकित्सा करानेपर दूर होगई है। अब उनके शरीरमें वैसा कोई दोष नहीं रहा। ऐसा परीक्षाओंसे जान पड़ा है और इसलिये वे अप्रेलके प्रथम सप्ताह सप्ताहमें वहाँसे कलकत्ताके लिये रवाना हो जावेंगे तथा कुछ दिन मद्रास ठहरते हुए कलकत्ता पहुंचेंगे। और अपनी आयोजित संस्थाके कार्यभारको संभालेंगे जिसकी स्कीमका कितना ही कार्य वे वहां रहते भी करते रहे हैं। हार्दिक भावना है कि आपको अपने मिशनमें शीघ्र ही पूर्ण सफलताकी प्राप्ति होवे। संपादक

To

If not delivered please return to:—
VIR SEWA MANDIR,
SARSAWA. (SAHARANPUR)

अनेकान्त



वर्ष ७
कि. ११-१२

विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

जून, जुलाई
१९४५

सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

विषय-सूची

ला० जम्बूप्रसादजीका दुःखद वियोग !

यह प्रकट करते हुए बड़ा ही दुःख होता है कि नानौता जि० सहारनपुरके जैन रईस ला० जम्बूप्रसादजी, जो श्री दादीजीके कौटुम्बिक पौत्र थे, आज इस संसारमें नहीं हैं--ता० १५ अगस्तकी रात्रिको उनका अचानक ही स्वर्गवास होगया है ! वे पूरे एक दिन भी बीमार नहीं रहे। पहले दिन रातको उन्हें कुछ बदहजमीकी शिकायत हुई जो साधारण-सी बात समझी गई, इसीसे उनकी कोई खास चिकित्सा न हो सकी और अगले ही दिन उनका प्राण पखेरु एकदम उड़ गया !! अनेक पुत्र-पुत्रियों, पुत्रवधू और पत्नीके होते हुए भी कोई भी उस समय घरपर उनके पास नहीं था --सबके सब कुछ दिन पहलेसे ही दूसरे स्थानोंको गये हुए थे। इसीसे वे न तो अपनी किसीसे कुछ कह सके और न दूसरोंकी सुन सके !! एकाएक बड़ा ही हृदयविदारक दृश्य उपस्थित होगया और सारी नगरीमें शोक छा गया !!! दैवकी इस विचित्र लीलाको देखकर सभी दांतोंतले अंगुली दबाते थे और कुछ भी कहते नहीं बनता था।

स्व० ला० जम्बूप्रसादजी बड़े ही सज्जन-स्वभावके युवक थे, निरभिमानी थे। सरलप्रकृति थे और धर्मसे बड़ा प्रेम रखते थे। धर्मके कार्योंमें बराबर भाग लिया करते थे---उसका प्रचार देखनेकी उनके हृदयमें लगन थी और तड़प थी। पिछले दिनों उन्होंने श्रीमद्राजचंद्रनामक एक विशाल ग्रंथकी बहुत सी प्रतियां एक साथ खरीदकर उन्हें वितरण किया था---उन्हें अच्छी अच्छी लायब्रेरियों तथा खास खास अजैन विद्वानोंको भिजवानेके लिये वे उनके पते पूछा करते थे और इस बातके लिये बड़ी आतुरता व्यक्त किया करते थे कि यह ग्रन्थराज ऐसे स्थानोंपर अवश्य पहुँचे जहां इसका सदुपयोग हो सके। ग्रंथसंग्रहका उन्हें शौक था और कुछ ऐसे सर्वसाधारणोपयोगी ग्रंथोंके नाम वे अक्सर पूछा करते थे जिन्हें मँगाया जावे अथवा छपाकर वितरण किया जा सके। समयसारकी वर्णी गणेशप्रसादजी कृत टीकाको छपानेके लिये वे तय्यार हो गये थे और उसके लिये उन्होंने वर्णीजीको लिखा भी था। हालमें वे एक कन्या पाठशालाका निर्माण करा रहे थे, जिसके कामको अधूरा ही छोड़ गये हैं।

इसके सिवाय अतिथिसेवा और मिलनसारीका भी उनमें बड़ा गुण था। जब कभी मैं नानौता जाता तो वे खबर पाते ही मिलनेको आते भोजनका आग्रह करते और जब तक वहां ठहरता तब तक दिनरातमें एक दो बार बराबर मिला करते और अनेक धार्मिक तथा सामाजिक विषयोंपर घंटों बातचीत किया करते थे। अतः आपके इस आकस्मिक वियोगसे मेरे चित्तको बड़ा आघात पहुंचा है। समाजकी भी आपके निधनसे कुछ कम क्षति नहीं हुई। हार्दिक भावना है कि आपको परलोकमें सुखशान्तिकी प्राप्ति होवे। साथ ही आपके स्त्री-बच्चों तथा अन्य कुटुम्बी जनों के साथ इस दुःखमें मेरी हार्दिक सहानुभूति है और दिली कामना है कि उन्हें धैर्य मिले तथा बच्चोंका भविष्य उज्वल होवे।

जुगलकिशोर मुख्तार

* ॐ अर्हम् *



वार्षिक मूल्य ४)

इस किरणका मूल्य १)

सम्पादक—जुगलकिशोर मुख्तार

वर्ष ७ किरण ११, १२	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर आषाढ, श्रावणशुक्ल, वीरनिर्वाणसंवत् २४७१, विक्रम सं० २००२	जून, जुलाई १९४५

ध्यानारूढ आदिजिनेन्द्र

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्यान्हे यस्य भास्वानुपरिपरिगतो राजते स्मोग्रमूर्तिः।

चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतो दूरमौदास्य-वात-
स्फूर्जत्सद्ध्यानवन्हेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः॥ १॥

—श्रीपद्मनन्द्याचार्यः

'कायोत्सर्गरूपसे ध्यानमें स्थित विस्तीर्ण अंगके धारक वे महाराजा नाभिरायके पुत्र महात्मा श्रीआदिजिनेन्द्र जयवन्त हैं—अपनी तपस्याके प्रभावको लोक-हृदयोंमें अंकित किये हुए हैं—जिनके मस्तकपर दोपहरके समय प्राप्त हुआ ग्रीष्मकालीन—गर्मीकी मौसमका—अत्यन्त तप्तायमान सूर्य ऐसी शोभाको धारण करता हुआ मालूम होता था मानों वह सूर्य नहीं है किन्तु वैराग्यरूपी पवनसे अतीव दहकती हुई और कर्मरूप ईन्धनके समूहको भस्म करती हुई भगवानकी शुक्लध्यानात्मक प्रचण्ड अग्निमेंसे यह अति देदीप्यमान (चमकता हुआ) फुलिंगा (चिनगारीके सदृश) निकल कर आकाश में दूर चला गया है।'

व्याख्या—यह आदिजिनेन्द्र (भ० श्री ऋषभदेव) की ध्यानावस्थाका एक चित्र है जिसमें उन्होंने बहुतसी कर्मप्रकृतियोंको भस्मकर उनके समूल विनाश-द्वारा आत्मशक्तियोंको विकसित किया था। यहां आचार्य महोदयने सूर्यको ध्यानाग्निके फुलिंगेकी उपमा देकर यह भाव दर्शाया है कि जिन ज्ञानावरणादि कर्मोंके वशवर्ती हुआ अनादिकालसे यह जीव चतुर्गतिरूप संसारके चक्करमें पड़कर अनेक प्रकारके परिभ्रमण करता और दुख उठाता हुआ फिरता है वह कर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आसानीसे भस्म कर दी जाय और आसानीसे उसका सम्बन्ध आत्मासे छुड़ा दिया जाय। संसारमें ऐसी कोई भी अग्नि नहीं है जो आत्माके साथ लगे हुए अनादि कर्ममलको भस्म कर सके—हालमें आविष्कृत यूरेनियम धातु और उससे निर्मित परमाणु बमकी शक्तिसे भी वह बहुत परेकी चीज़ है। कर्मोंको भस्म कर उनका आत्मासे सदाके लिये सम्बन्ध विच्छेद करनेवाली जो अग्नि है वह शुक्लध्यानाग्नि ही है, और वह ऐसी तीक्ष्ण अग्नि है जिसका फुलिंगा सूर्यकी उपमाको धारण करता है। साथ ही, आचार्यश्रीने यह भी सुझाया है कि जिस प्रकार अग्निसे उत्पन्न हुआ फुलिंगा उस अग्निको आतापकारी नहीं होता उसी प्रकार ध्यानाग्निका फुलिंगा भी ध्यानस्वरूप आत्माको किसी प्रकार भी आतापकारी नहीं हो सकता। अर्थात् श्री आदिजिनेश्वर ऐसे ध्यानारूढ थे कि ग्रीष्मकाल (ज्येष्ठ-आषाढ मास) के सूर्यका घाम (तपिश) उनको कुछ भी आतापकारी न था और न उक्त धीरवीर महात्माके अटल और निर्विकल्प ध्यानमें किसी प्रकारसे बाधक ही था।

हां, एक महत्वकी बात यहांपर और भी प्रदर्शित की गई है और वह यह कि उक्त सद्ध्यानकी अग्नि वैराग्य-पवनसे प्रज्वलित होती है। वैराग्यकी मात्रा जितनी अधिक होगी—संसारके पदार्थों और विषयभोगोंके साथ जितनी विरक्ति, अनासक्ति, उदासीनता अथवा अलिप्तता बढ़ेगी—उतनी ही अधिक ध्यानाग्नि प्रज्वलित होगी और वह कर्मोंके गहन वनको दहन करनेमें समर्थ हो सकेगी। यह हमारी राग-परिणति और आसक्ति ही है जो कर्मोंके साथ बराबर सम्बन्ध बनाये रखती है, आत्माकी शक्तियोंको पूर्णत: विकसित नहीं होने देती और न उसे अपने स्वतंत्र-स्वाधीन सहजानन्द-सुखस्वरूपका अनुभवन ही करने देती है। अत: इस रागपरिणति और आसक्तिको घटाकर आत्माके विकास-मार्गको प्रशस्त बनाना चाहिये और सदा सद्ध्यानके अभ्यासमें लगना चाहिये। यही भगवान ऋषभदेवके इस आदर्शसे शिक्षणीय है।

वैराग्य-कामना और राग-वैराग्यका अन्तर

(१)

कब गृहवाससों उदास होय बन सेऊँ, बेऊँ निजरूप गति रोकूँ मन-करी[1]की।
रहिहौं अडोल एक आसन अचल अंग, सहिहौं परीसा शीत-घाम-मेघझरीकी॥
सारंग-समाज[2] खाज कबधों खुजै है आन, ध्यानदल जोर जीतूं सेना मोह-अरीकी।
एकल विहारी जथाजातलिंगधारी[3] कब, होउँ इच्छाचारी बलिहारि हूँ वा घरीकी॥

(२)

राग-उदै भोगभाव लागत सुहावनेसे, विना राग ऐसे लागें जैसे नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तनमें सदीव जीव, राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं॥
रागसों जगतरीति झूठी सब सांच जाने, राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी-विनरागीके विचारमें बड़ो ही भेद, जैसे भटा[4] पथ्य काहु काहुको बयारे हैं॥

—कविवर भूधरदास

---

१ मनरूपी हाथी। २ हरिणोंका समूह। ३ दिगम्बरवेषधारी। ४ बैंगन।

समीचन-धर्मशास्त्र और उसका हिन्दी भाष्य

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

अब रही 'समीचीन' विशेषणकी बात। धर्मको प्राचीन या अर्वाचीन आदि न बतलाकर जो समीचीन विशेषणसे विभूषित किया गया है उसमें खास रहस्य संनिहित है।

[इस विशेषणकी व्याख्याको बहु वक्तव्यात्मक होनेसे यहां छोड़ा जाता है, पाठक उसे कुछ महीनोंके बाद प्रकाशित होने वाले सभाष्य ग्रन्थमें ही देखनेकी कृपा करें।]

एकमात्र धर्म-देशना अथवा धर्म-शासनको लिये हुए होनेसे यह ग्रंथ 'धर्मशास्त्र' पदके योग्य है। और चूंकि इसमें वर्णित धर्मका अन्तिम लक्ष्य संसारी जीवोंको अक्षय-सुखकी प्राप्ति कराना है इस लिये प्रकारान्तरसे इसे 'सुखशास्त्र' भी कह सकते हैं। शायद इसीलिये विक्रमकी ११ वी शताब्दीके विद्वान् आचार्य वादिराजसूरिने, अपने पार्श्वनाथ-चरितमें स्वामी समन्तभद्र योगीन्द्रका स्तवन करते हुए, उनके इस धर्मशास्त्रको "अक्षय्यसुखावहः" विशेषण देकर अक्षय-सुखका भण्डार बतलाया है[1]।

कारिकामें दिये हुए 'देशयामि समीचीनं धर्मं' इस प्रतिज्ञा-वाक्यपरसे ग्रन्थका असली अथवा मूल नाम 'समीचीन-धर्मशास्त्र' जान पड़ता है, जिसका आशय है 'समीचीन धर्मकी देशना (शास्ति) को लिये हुए ग्रंथ', और इस लिये यही मुख्य नाम इस सभाष्य ग्रन्थको देना यहां उचित समझा गया है, जो कि ग्रंथकी प्रकृतिके भी सर्वथा अनुकूल है। दूसरा 'रत्नकरण्ड' (रत्नोंका पिटारा) नाम ग्रन्थमें निर्दिष्ट धर्मका रूप रत्नत्रय होनेसे उन रत्नोंके रक्षणोपायभूतके रूप में है और ग्रन्थके अन्तकी एक कारिकामें 'येन स्वयं वीत-कलङ्कविद्या - दृष्टि-क्रिया - रत्नकरण्डभावं नीतः' इस वाक्यके द्वारा उस रत्नत्रय धर्मके साथ अपने आत्माको 'रत्नकरण्ड' के भावमें परिणत करनेका जो वस्तु निर्देशात्मक उपदेश दिया गया है उसपरसे भी फलित होता है। दोनों में 'समीचीनधर्मशास्त्र' यह नाम प्रतिज्ञाके अधिक अनुरूप स्पष्ट और गौरवपूर्ण प्रतीत होता है। समन्तभद्रके और भी कई ग्रंथोंके दो दो नाम हैं; जैसे देवागमका दूसरा नाम आप्तमीमांसा, स्तुति-विद्याका दूसरा नाम जिनस्तुतिशतक (जिनशतक) और स्वयम्भूस्तोत्रका दूसरा नाम समन्तभद्र स्तोत्र है, और ये सब प्रायः अपने अपने आदि-अन्तके पद्योंकी दृष्टिको लिये हुए हैं। अस्तु।

अब आचार्य महोदय प्रतिज्ञात धर्मके स्वरूपादिका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

धर्म-लक्षण

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

'धर्मके अधिनायकोंने—धर्मानुष्ठानादि-तत्पर अथवा धर्मरूप परिणत आप्त-पुरुषोंने—सद्दृष्टि—सम्यग्दर्शन—, सत्ज्ञान—सम्यग्ज्ञान—और सद्वृत्त—सम्यक् चारित्र—को 'धर्म' कहा है। इनके प्रतिकूल जो असद्दृष्टि, असत्ज्ञान, असद्वृत्त—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र—हैं वे सब भवपद्धति हैं—संसारके मार्ग हैं।'

व्याख्या—मूलमें प्रयुक्त 'सत्' शब्दका सम्बन्ध दृष्टि, ज्ञान, वृत्त तीनोंके साथ है और उसका प्रयोग सम्यक्, शुद्ध, समीचीन, तथा वीतकलंक (निर्दोष) जैसे अर्थमें हुआ है; जैसा कि श्रद्धानं परमार्थानां, भयाशास्नेहलोभाञ्च, प्रथमानुयोगमर्थां, येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या, इत्यादि कारिकाओंसे प्रकट है। 'हिमाऽनृतचौर्येभ्यो' इस कारिकामें 'संज्ञस्य' पदका 'सं' भी इसी अर्थको लिये हुए है और इसीके लिये स्वयम्भूस्तोत्रमें 'समञ्जस'[2] जैसे शब्दका प्रयोग किया गया है।

---

१ त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्यसुखावहः।
अर्थिने भव्य-सार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः॥

२ "समञ्जस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा" का० १

'दृष्टि' को दर्शन तथा श्रद्धान; 'ज्ञान' को बोध तथा विद्या और 'वृत्त' को चारित्र, चरण तथा क्रिया नामोंसे भी इसी ग्रन्थमें उल्लेखित किया गया है[१]। इसी तरह 'सद्-दृष्टि'को सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त सम्यक्त्व तथा निर्मोह और 'सतज्ञान' को 'तथामति' नाम भी दिया गया है[२]। साथ ही अपनी स्तुतिविद्या (जिनशतक) में ग्रन्थकार महोदयने सद्दृष्टिके लिये 'सुश्रद्धा'[३] शब्दका तथा स्वयम्भूस्तोत्रमें सद्वृत्तके लिये 'उपेक्षा'[४] शब्दका भी प्रयोग किया है और इस लिये अपने अपने वर्गानुसार एक ही अर्थके वाचक प्रत्येक वर्गके इन शब्दोंको समझना चाहिये।

यहां सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको जो 'धर्म' कहा गया है वह जीवात्माके धर्मका त्रिकाला-बाधित सामान्य लक्षण अथवा उसका मूलस्वरूप है। इसी को 'रत्नत्रय' धर्म भी कहते हैं जिसका उल्लेख स्वयं स्वामी समन्तभद्रने कारिका नं० १३ में 'रत्नत्रयपवित्रिते' पदके द्वारा किया है, और स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका ८४ में भी 'रत्नत्रयातिशयतेजसि' पदके द्वारा जिसका उल्लेख है। ये ही वे तीन रत्न हैं जिनके स्वरूप-प्रतिपादनकी दृष्टिसे आधारभूत अथवा रक्षणोपायभूत होनेके कारण इस ग्रन्थको 'रत्नकरण्ड' (रत्नोंका पिटारा) नाम दिया गया जान पड़ता है। अस्तु; धर्मका यह लक्षण धर्माधिकारी आप्त-पुरुषों (तीर्थंकरादिकों) के द्वारा प्रतिपादित हुआ है, इससे स्पष्ट है कि वह प्राचीन है, और इस तरह स्वामीजीने उस के विषयमें अपने कर्तृत्वका निषेध किया है।

जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको 'धर्म' कहा गया है तब यह स्पष्ट है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र 'अधर्म' हैं-- पापके मूल-रूप हैं। इनके लिये ग्रन्थमें 'पाप' शब्दका प्रयोग भी किया गया है और पापको 'किल्विष' नामके द्वारा भी उल्लेखित किया है; जैसा कि कारिका नं० २७, २६, ४१, १४८ आदि से स्पष्ट ध्वनित है। और इन्हें जब 'भवपद्धति' बतलाकर संसारके मार्ग—संसारपरिभ्रमणके कारण अथवा सांसा-रिक दुःखोंके हेतुभूत—निर्दिष्ट किया गया है तब यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिले हुए ही 'मोक्षपद्धति' अर्थात् मोक्षका एक मार्ग हैं— संसारदुःखोंसे छूटकर उत्तम सुखको पानेके उपायस्वरूप हैं; क्योंकि 'मोक्ष' 'भव' का विपरीत (प्रत्यनीक) है, और यह बात स्वयं ग्रंथकार महोदयने ग्रन्थकी 'अशरणमशु-भमनित्यं' इत्यादि कारिका (१०४) मे भवका स्वरूप बत-लाते हुए 'मोक्षस्तद्विपरीतात्मा' इन शब्दोंके द्वारा व्यक्त की है। इसीसे तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें श्रीउमास्वाति आचार्यने भी कहा है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

और यही बात श्रीप्रभाचन्द्राचार्यने अपने तत्त्वार्थसूत्र में 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तात्मा मोक्षमार्गः सनातनः' तथा 'सम्यग्दर्शनावगमवृत्तानि मोक्षहेतुः' इन मंगल तथा सूत्रवाक्योंके द्वारा प्रतिपादित की है। इसी रत्नत्रयरूप धर्मको स्वामी समन्तभद्रने प्रस्तुत ग्रंथमे 'मोक्षमार्ग' के अतिरिक्त 'सन्मार्ग' तथा शुद्धमार्ग' भी लिखा है, और शुद्धसुखात्मक मोक्षको शिव, निर्वाण तथा निःश्रेयस नाम देकर 'शिवमार्ग' 'निर्वाणमार्ग' 'निःश्रेयसमार्ग' भी इसीके नामान्तर हैं ऐसा सूचित किया है[१]। साथ ही 'ब्रह्मपथ' भी इसीका नाम है, ऐसा स्वामीजीके युक्त्यनुशासनकी ४ थी कारिकामे प्रयुक्त हुए 'ब्रह्मपथस्य नेता' पदोंसे जाना जाता है, जो उमास्वामीके 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' पदोंका स्मरण कराते हैं। यही संक्षेपमें जिनशासन[२] है जैनमार्ग है, अथवा वास्तविक सुखमार्ग है, और इस लिये मिथ्यादर्शनादिकको कुमार्ग, मिथ्यामार्ग, कापथ तथा दुःखमार्ग समझना चाहिये। ग्रन्थकी १४ वीं कारिकामें इसके लिये 'कापथ' शब्दका स्पष्ट प्रयोग है और उसे 'दुःखानां पथि' लिखकर 'दुःख-मार्ग' भी बतलाया गया है। ६वीं कारिकामें भी 'कापथ-घट्टनं' पदके द्वारा इसी कुमार्गका निर्देश और आगममें उसके खण्डन-विधानका प्ररूपण है।

---

१ देखो, कारिका नं० ४, २१, ३१ आदि; ३२, ४३, ४६ आदि; ४६, ५०, १४६ आदि।

२ देखो, कारिका ३२, ३४; ४४।

३ 'सुश्रद्धा मम ते मते' इत्यादि पद्य नं० ११४

४ मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टि-संविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः ॥ ६० ॥

---

५ देखो, कारिका ११, १५, ३१, ३३, ४१, १३१।

२ 'जिनशासन' नामसे इसमार्गका उल्लेख ग्रन्थकी कारिका १८ तथा ७८ में आया है।

यही सम्यग्दर्शनादिरूप वह धर्म है जिसे ग्रन्थकी द्वितीय कारिकामें 'कर्मनिवर्हण' बतलाया है और जो स्वयम्भूस्तोत्रकी कारिका ८४ के अनुसार वह सातिशय अग्नि है जिसके द्वारा कर्म-प्रकृतियोंको भस्म करके उनका आत्मा से सम्बन्ध विच्छेद करते हुए आत्मशक्तियोंको विकसित किया जाता है[1]। और इस लिये जिसके विषयमें उक्त कारिकाकी व्याख्याके समय यह बतलाया जा चुका है कि वह वस्तुतः कर्मबन्धका कारण नहीं, जो ठीक ही है; क्यों कि चार प्रकारके बन्धोंमेंसे प्रकृतिबन्ध तथा प्रदेशबन्ध योगसे और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं[2], सम्यग्दर्शनादिक न योगरूप हैं और न कषायरूप हैं तब इनसे बन्ध कैसे हो सकता है?[3] इस पर यह शंका की जा सकती है कि आगममें सम्यग्दर्शनादि (रत्नत्रय) को तीर्थंकर, आहारक तथा देवायु आदि पुण्यप्रकृतियोंका जो बन्धक बतलाया है उसकी संगति फिर कैसे बैठेगी? इस के उत्तरमें इतना ही जान लेना चाहिये कि वह सब कथन नयविवक्षाको लिये हुए है, सम्यग्दर्शनादिके साथमें जब रागपरिणतिरूप योग और कषाय लगे रहते हैं तो उनसे उक्त कर्मप्रकृतियोंका बन्ध होता है और संयोगावस्थामें दो वस्तुओंके दो अत्यन्त विरुद्धकार्य होते हुए भी व्यवहारमें एकके कार्यको दूसरेका कार्य कह दिया जाता है, जैसे घीने जला दिया—जलानेका काम अग्निका है घीका नहीं, परन्तु दोनोंका संयोग होनेसे अग्निका कार्य घीके साथ रूढ होगया। इसी तरह रागपरिणतिरूप शुभोपयोगके साथमें जब सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय होते हैं तो इन्हें व्यवहारतः उक्त पुण्य प्रकृतियोंका बन्धक कहा जाता है, और इस लिये यह शुभोपयोगका ही अपराध है—शुद्धोपयोगकी दशामें ऐसा नहीं होता। अन्यथा, रत्नत्रयधर्म वास्तवमें मोक्ष (निर्वाण) का ही हेतु है, अन्य किसी कर्मप्रकृतिके बन्धका नहीं; जैसा कि आगम-रहस्यको लिये हुए श्री अमृतचन्द्राचार्यके निम्न-वाक्योंसे प्रकट है—

"सम्यक्त्व-चारित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥
सति सम्यक्त्वचारित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।
योग-कषायौ नाऽसति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥
ननु कथमेवं सिद्ध्यतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्॥
रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नाऽन्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥
एकस्मिन्समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि इस रत्नत्रयधर्मके मुख्य और उपचार अथवा निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेद हैं, जिनमें व्यवहारधर्म निश्चयका सहायक और परम्परा मोक्षका कारण है, जब कि निश्चय धर्म साक्षात मोक्षका हेतु है। और इनकी आराधना दो प्रकारसे होती है—एक सकलरूपमें और दूसरी विकलरूप में। विकलरूप आराधना प्रायः गृहस्थोंके द्वारा बनती है और सकलरूप मुनियोंके द्वारा विकलरूपसे (एकदेश अथवा आंशिक) रत्नत्रयकी आराधना करने वालेके जो शुभराग जन्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह मोक्षकी साधनामें सहायक होनेसे मोक्षोपायके रूपमें ही परिगणित है, बन्धनोपायके रूपमें नहीं[4]। इसीसे इस ग्रंथमें, जो मुख्यतया गृहस्थोंको और उनके अधिक उपयुक्त व्यवहार रत्नत्रयको लक्ष्य करके लिखा गया है, समीचीन धर्म और उसके अंगोपाङ्गोंका फलवर्णन करते हुए उसमें निःश्रेयस सुखके

१ 'हुत्वा स्वकर्म-कटुकप्रकृतीश्चतस्रो,
रत्नत्रयाऽतिशयतेजसि जातवीर्यः।
बभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता,
व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान्॥

२ जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।
— द्रव्यसंग्रह ३३

३ योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।
दर्शन-बोध-चरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥
दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

४ असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अलावा अभ्युदयसुख अथवा लौकिक सुखसमृद्धि (उत्कर्षका) भी बहुत कुछ कीर्तन किया गया है।

अब एक प्रश्न यहां पर और रह जाता है और वह यह कि धर्मके अभिनायकोंने तो वस्तुस्वभाव[1] को धर्म कहा है, चारित्र[2] को धर्म कहा है, अहिंसाको परमधर्म तथा दयाको धर्मका मूल बतलाया है और उत्तम क्षमादि दश लक्षण[3] धर्मका खास तौरसे प्रतिपादन किया है, तब अकेले रत्नत्रय को ही यहां धर्मरूपमें क्यों ग्रहण किया गया है?—क्या दूसरे धर्म नहीं हैं अथवा उनमें और इनमें कोई बहुत बड़ा अन्तर है? इसके उत्तरमें मैं सिर्फ इतना ही कह देना चाहता हूँ कि धर्म तो वास्तवमें 'वस्तुस्वभाव' का ही नाम है, परन्तु दृष्टि, शैली और आवश्यकतादिके भेदसे उसके कथनमें अन्तर पड़ जाता है। कोई संक्षेपप्रिय शिष्योंको लक्ष्य करके संक्षिप्त रूपमें कहा जाता है, तो कोई विस्तार-प्रिय शिष्योंको लक्ष्यमें रखकर विस्तृत रूपमें। किसीको धर्मके एक अंगको कहनेकी जरूरत होती है, तो किसीको अनेक अंगों अथवा सर्वाङ्गोंकी। कोई बात सामान्यरूपसे कही जाती है, तो कोई विशेषरूपसे। और किसीको पूर्णतः एक स्थानपर कह दिया जाता है, तो किसीको अशोंमें विभाजित करके अनेक स्थानोंपर रक्खा जाता है। इस तरह वस्तुके निर्देशमें विभिन्नता आजाती है, जिसके लिये उसकी दृष्टि आदिको समझनेकी जरूरत होती है और तभी वह ठीक रूपमें समझी जा सकती है। धर्मका 'वस्तुस्वभाव' लक्षण वस्तुमात्रको लक्ष्य करके कहा गया है और उसमें जड तथा चेतन सभी पदार्थ आजाते हैं और वह धर्मके पूर्ण निर्देशका अतिसंक्षिप्त रूप है। इस ग्रंथमें जडपदार्थों का धर्मकथन विवक्षित नहीं है बल्कि 'सत्वान्' पदके वाच्य जीवात्माओंका स्वभाव धर्म विवक्षित है और वह न-अति संक्षेप न-अति विस्तारसे सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप है। इसके सम्यक्चारित्र अंगमें 'चारित्तं खलु धम्मो' का वाच्य चारित्त आ ही जाता है। चूँकि वह सम्यक्चारित्र है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानके बिना नहीं होता और सम्यग्ज्ञान सम्यक्दर्शनके बिना नही बनता, अतः सम्यक्चारित्र कहनेसे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका भी साथमें ग्रहण हो जाता है। स्वयं प्रवचनसारमें उससे पूर्वकी गाथामें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो' इस वाक्यके द्वारा चारित्रका दर्शन-ज्ञान-प्रधान विशेषण देकर उसे और भी स्पष्ट कर दिया है। अहिंसा चारित्रका प्रधान अंग होनेसे परमधर्म कहलाता है 'दया' उसीकी सुगंध है। दोनोंमें एक निवृत्तिरूप है तो दूसरा प्रवृत्तिरूप है। इसी तरह दशलक्षणधर्मका भी रत्नत्रयधर्ममें समावेश है। और इसके प्रबल प्रमाणके लिये इतना ही कह देना काफी है कि जिन श्री उमास्वाति आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके पूर्वोद्धृत प्रथम सूत्रमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्रको 'मोक्षमार्ग' बतलाया है उन्हींने इस सूत्रके विषयका स्पष्टीकरण[4] करते हुए संवरके अधिकारमें दशलक्षण धर्मके सूत्रको रक्खा है, जिससे स्पष्ट है कि ये सब धर्म सम्यग्दर्शनादिरूप रत्नत्रय धर्मके ही विकसित अथवा विस्तृत रूप हैं। ऐसी हालतमें आपत्तिके लिये कोई स्थान नही रहता और धर्मका यह प्रस्तुतरूप बहुत ही सुव्यवस्थित, मार्मिक एवं लक्ष्यके अनुरूप जान पड़ता है। अस्तु।

अब आगे धर्मके प्रथम अंग सम्यग्दर्शनका लक्षण प्रतिपादन करते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—

सम्यग्दर्शन-लक्षण

श्रद्धानं परमार्थानामाप्ताऽऽगमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

'परमार्थ आप्तों, परमार्थ आगमों और परमार्थ तपस्वियोंका जो अष्ट अङ्गसहित, तीन मूढता-रहित तथा मद-विहीन श्रद्धान है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।—अर्थात यह सब गुण-समूह सम्यग्दर्शनका लक्षण है—अभिव्यञ्जक है—अथवा यों कहिये कि आत्मामें सम्यग्दर्शन धर्मके प्रादुर्भावका संद्योतक है।'

व्याख्या—यहाँ 'श्रद्धान' से अभिप्राय श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, प्रत्यय (विश्वास), निश्चय, अनुराग, सादर मान्यता, गुणप्रति, प्रतिप्रीति (सेवा, सत्कार) और भक्ति जैसे शब्दोंके

१ धम्मो वत्थुसहावो।

२ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहूणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥ —प्रवचनसार

३ उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-सत्य-शौच-संयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणिधर्मः। —तत्त्वार्थसूत्र

४ सारा तत्त्वार्थसूत्र वास्तवमें इसी एक सूत्रका स्पष्टीकरण है।

आशयसे है। इनमेंसे श्रद्धा, रुचि, गुणप्रीति, प्रतिपत्ति और भक्ति जैसे कुछ शब्दोंका तो स्वयं ग्रन्थकारने इसी ग्रंथमें--सम्यग्दर्शनके अंगों तथा फलका वर्णन करते हुए प्रयोग भी किया है[१]। और दूसरे शब्दोंका प्रयोग अन्यत्र प्राचीन साहित्यमें भी पाया जाता है। आप्तादिके ऐसे श्रद्धानका फलितार्थ है तदनुकूल वर्तनकी उत्कण्ठाको लिये हुए परिणाम—अर्थात् निर्दिष्ट आप्त-आगम-तपस्वियोंके वचनोंपर विश्वास करके (ईमान लाकर) उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोपदेशको सत्य मानकर--उसके अनुसार अथवा आदेशानुसार चलनेका जो भाव है वही यहां 'श्रद्धान' शब्दके द्वारा अभिमत है।

और 'परमार्थ' विशेषणके द्वारा यह प्रतिपादित किया *गया है कि वे आप्तादिक परमार्थ-विषयके—मोक्ष अथवा* अध्यात्मविषयके--आप्त-आगम (शास्त्र)—तपस्वी होने चाहिये--मात्र लौकिक विषयके नहीं, क्योंकि लौकिक विषयोंके भी आप्त, शास्त्र और गुरु (तपस्वी) होते हैं। जो जिस विषयको प्राप्त हैं—पहुंचा हुआ है—अथवा उसका विशेषज्ञ है एक्सपर्ट (Expert) है--वह उस विषयका आप्त है। विश्वसनीय (Trustworthy, reliable), प्रमाणपुरुष (Gaurantee) और दक्ष तथा पटु (Skilful, clever) को भी आप्त कहते हैं[२]। और ऐसे आप्त लौकिक विषयोंके अनेक हुआ करते हैं। आप्तके वाक्यका नाम 'आगम' है अथवा आगम शब्द शास्त्रमात्रका वाचक है[३]--स्वयं ग्रन्थकारने भी शास्त्रशब्दके द्वारा उसका इसी ग्रन्थमें तथा अन्यत्र भी निर्देश किया है[४]। और लौकिक विषयोंके अनेक शास्त्र होते ही हैं; जैसेकि वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, शब्दशास्त्र, गणितशास्त्र, मंत्रशास्त्र, छंदःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, निमित्तशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, इत्यादि। इसी तरह अनेक विद्या, कला तथा लौकिकशास्त्रोंकी शिक्षा देनेवाले गुरु भी लोकमें प्रसिद्ध ही हैं अथवा लौकिकविषयोंकी सिद्धिकेलिये अनेक प्रकारकी तपस्या करनेवाले तपस्वी भी पाये जाते हैं; जैसे कि आजकल स्वराज्यकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारकी कठिन तपस्या करनेवाले सत्याग्रही वीर देखनेमें आते हैं अथवा अद्भुत अद्भुत आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिक उपलब्ध होते हैं। परमार्थ विशेषणसे इन सब लौकिक आप्तादिकका पृथक्करण होजाता है। साथ ही, परमार्थका अर्थ यथार्थ (सत्यार्थ) होनेसे इस विशेषणके द्वारा यह भी प्रतिपादित किया गया है *कि वे आप्तादिक यथार्थ अर्थात् सच्चे होने चाहियें*--अयथार्थ एवं झूठे नहीं। क्योंकि लोकमें परमार्थ विषयकी अन्यथा अथवा आत्मीय धर्मकी मिथ्या देशना करनेवाले भी आप्तादिक होते हैं, जिन्हें आप्ताभास, आगमाभास आदि कहना चाहिये। स्वयं ग्रन्थकार महोदयने अपने 'आप्तमीमांसा' ग्रंथमें ऐसे आप्तोंके अन्यथा कथन तथा मिथ्या देशनाको लेकर उनकी अच्छी परीक्षा की है और उन्हें 'आप्ताभिमानदग्ध' बतलाते हुए[५] वस्तुतः अनाप्त सिद्ध किया है। इस विशेषणके द्वारा उन सबका निरसन होकर विभिन्नता स्थापित होती है। यही इस विशेषण पद ('परमार्थानां')के प्रयोगका मुख्य उद्देश्य है और इसीको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थमें इस वाक्यके अनन्तर ही परमार्थ आप्तादिका यथार्थ स्वरूप दिया हुआ है।

परमार्थ आप्तादिकका श्रद्धान--उनकी भक्ति- वास्तवमें सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) का कारण है—स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं। कारणमें यहां कार्यका उपचार किया गया है[६]

---

१ देखो, कारिका ११, १२, १३, १७, ३७, ४१।

२ देखो, वामन शिवराम आप्टेके कोश—संस्कृत इंग्लिश डिक्सनरी तथा इंग्लिश संस्कृत डिक्सनरी।

३ आगमः शास्त्रआगतौ (विश्वलोचन), आगमस्त्वागतौ शास्त्रेऽपि (हेमचन्द्रअभिधानसंग्रह); आगमः शास्त्रमात्रे (शब्दकल्पद्रुम)।

४ देखो, इसी ग्रन्थकी 'आप्तोपज्ञ' इत्यादि कारिका ९ तथा आप्तमीमांसाका निम्न वाक्य—

'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्' ॥६॥

५ त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥

६ श्रावकप्रज्ञप्तिकी टीकामें श्री हरिभद्रसूरिने भी अर्हच्छासनकी प्रीत्यादिरूप श्रद्धाको, जो कि सम्यक्त्वका हेतु है, कारणमें कार्यके उपचारसे सम्यक्त्व बतलाया है और परम्परा मोक्षका कारण लिखा है। यथा—इत्थमेतत् व्यवहारनयस्य सम्यक्त्वं सम्यक्त्वहेतुरपि अर्हच्छासन-

और उसके द्वारा दर्शनके इस स्वरूपकथनमें एक प्रकारसे भक्तियोगका समावेश किया गया है। ग्रन्थमें सम्यग्दर्शनकी महिमाका वर्णन करते हुए जो निम्न वाक्य दिये हैं उनसे भी भक्तियोगके इस समावेशका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

"अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे।३७

"लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः" ॥ ४१ ॥

और दर्शनिक प्रतिमाके स्वरूपकथन (का० १३७) में सम्यग्दृष्टिके लिये जो 'पञ्चगुरुचरणशरणः'—'पंचगुरुओं के चरण (पादयुगल अथवा पद-वाक्यादिक) ही हैं एकमात्र शरण जिसको' ऐसा जो विशेषण दिया गया है तथा ग्रन्थकी अन्तिम कारिकामें जो दृष्टिलक्ष्मी (सम्यग्दर्शनसम्पत्ति) को 'जिनपदपद्मप्रेक्षणी' बतलाया गया है वह सब भी इसी बातका द्योतक है। पंचगुरुसे अभिप्राय पंचपरमेष्ठीका है, जिनमेंसे अर्हन्त और सिद्ध दोनों यहां 'आप्त' शब्दके द्वारा परिग्रहीत हैं और शेष तीन आचार्य उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठीका संग्रह 'तपस्वी' शब्दके द्वारा किया गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसके सिवाय, प्रकृत पद्यमें वर्णित सम्यग्दर्शनका लक्षण चूंकि सरागसम्यक्त्वका लक्षण है—वीतराग सम्यक्त्वका नहीं[1], इससे इसमें भक्तियोगके समावेशका होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है।

प्रीत्यादि कारणे कार्योपचारात्। एतदपि शुद्धचेतसा पारम्पर्येणापवर्गहेतुरिति।"

१ सराग और वीतराग ऐसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं—स द्वेधा सरागवीतरागविषयभेदात्"

—सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० २

भक्तिको स्पष्टतया सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन)का गुण लिखा भी है, जैसा कि निम्नगाथासूत्रसे प्रकट है, जिसमें संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा, ये सम्यक्त्वके आठ गुण बतलाये हैं—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरुहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥

—वसुनन्दि श्रावकाचार ४९

पंचाध्यायी और लाटीसंहितामें, इसी गाथाके उद्धरणके साथ, अर्हद्भक्ति तथा वात्सल्य नामके गुणोंको संवेगलक्षण गुणके लक्षण बतलाकर सम्यक्त्वके उपलक्षण बतलाया है और लिखा है कि वे संवेग गुणके बिना होते ही नहीं—उनके अस्तित्वसे संवेग गुणका अस्तित्व जाना जाता है—

"यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवाऽर्हताम् ॥
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥

इसी तरह निन्दा और गर्हा गुणोंको सम्यक्त्वके उपलक्षण बतलाया है; क्योंकि वे प्रशम (उपशम) गुणके लक्षण हैं—अभिव्यञ्जक हैं[2]। अर्थात् प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शनके लक्षण हैं, तो अर्हद्भक्ति, वात्सल्य, निन्दा और गर्हा ये चार गुण उसके उपलक्षण हैं। इससे भी 'भक्ति' सम्यग्दर्शनका गुण ठहरता है। (असमाप्त)

२ देखो, पंचाध्यायी उत्तरार्ध, श्लोक ४६७ से ४७६ तथा लाटीसंहिता, तृतीयसर्ग श्लोक ११० से ११८।

विनय स्वीकारो !

(पं० सूरजचन्द 'सत्यप्रेमी')

हे जिनदेव। विनय स्वीकारो ! मन-मंदिरमें आज पधारो ॥
अर्हन्तादि पंच परमेश्वर सकल-संघ-पति धर्म-गणेश्वर !
समिति-गुप्तिका बीज वपन कर इस जीवनका क्षेत्र सुधारो !!
हे जिनदेव ! विनय स्वीकारो, मनमंदिरमें आज पधारो !
रागद्वेषकी ग्रन्थि छुडाओ रत्नत्रयका रूप दिखाओ !!
गुणस्थान—सोपान चढ़ाकर अष्टकर्म आवरण विदारो !
हे जिनदेव ! विनय स्वीकारो मनमंदिरमें आज पधारो !!
जीव-अजीव विवेक कराओ, पुन्य पापका मर्म बताओ !
आस्रव रोक बंध क्षयकरके इस भवसागरसे उद्धारो !!
हे जिनदेव ! विनय स्वीकारो मनमंदिरमें आज पधारो !
धर्माऽधर्माऽऽकाश जीवमय काल और पुद्गलका संचय !
षट्कर्मोंका परिचय देकर नित्यानित्यैकांत निवारो !!
हे जिनदेव! विनय स्वीकारो, मनमंदिरमें आज पधारो !
जगमें स्वार्थोंका प्रचार है, विषय भावका अंधकार है !
सत्यप्रेमके सूर्यचंद्रकी दिव्य ज्योति उरमें विस्तारो !!
हे जिनवदेव! विनय स्वीकारो, मनमंदिरमें आज पधारो !

सुलोचनाचरित्र और देवसेन

(लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री)

संस्कृत और प्राकृतकी तरह अपभ्रंश भी साहित्यिक भाषा रही है और जनसाधारणके व्यवहारमें इसका उपयोग भी होता रहा है। इसके साहित्यका समवलोकन करनेसे भली-भाँति निश्चित हो जाता है कि यह भाषा बड़ी ही लोकप्रिय रही है। जैनियोंके चरित्रग्रन्थोंका अधिकतर निर्माण इसी भाषामें हुआ है। अब तक इस भाषाके जो ५०-६० ग्रन्थ देखनेको मिले हैं उनसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि यह भाषा अपने समयमें बहुत ही उत्कर्षपर रही है। इसकी कितनी ही रचनाएँ तो पढ़ते समय इतनी प्रिय मालूम होती हैं कि छोड़नेको जी नहीं चाहता। अस्तु।

आज मैं पाठकोंको अपभ्रंश भाषाके एक ऐसे ही चरित ग्रन्थका कुछ परिचय करानेका उपक्रम कर रहा हूँ जो प्रायः अब तक अनुपलब्ध था। इस ग्रंथका नाम 'सुलोयणा चरिउ' है। इसमें भगवान आदिनाथके सुपुत्र भरत चक्रवर्ती (जिनके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष प्रख्यात हुआ है) के प्रधान सेनापति जयकुमारकी धर्मपत्नी सुलोचनाका, जो उन्हें स्वयंवर द्वारा प्राप्त हुई थी और राजा अकंपनकी पुत्री थी, चरित्र दिया हुआ है।

इस ग्रंथके कर्ता मुनि देवसेनगणी या गणधर हैं जो निवडिदेवके प्रशिष्य और विमलसेन गणधरके शिष्य थे। विमलसेन पंचेन्द्रियोंके सुखरागके विनाशक, शीलगुणोंके धारक, गुणोंके रत्नाकर, उपशम, क्षमा और संयमरूपी जल के सागर, मोहरूपी महामल्ल तरुके लिये उत्तम हस्ती और भव्यजनरूप कुमुदवनखंडोंको विकसित करनेके लिये चन्द्रमा थे। साथ ही महान तपस्वी थे, दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि पंचाचाररूप परिग्रहके धारक थे, पंचसमिति, तीन गुप्तियोंसे समृद्ध थे, मुनिगणोंके द्वारा वंदित और लोकमें प्रसिद्ध थे। उन्होंने कामदेवके प्रसारको रोका था। दुर्धर पंचमहाव्रतोंको धारण किया था। वे मलधारीदेवके नामसे भी पुकारे जाते थे। इन्हीं विमलसेनके शिष्य प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता देवसेन हैं। जिन्होंने मदविजयी होते हुए गुरुके उपदेशसे तपका निर्वाह किया था, जो धर्मके उपदेशक, संयमके परिपालक और भव्यजनरूपी कमलोंके अज्ञानान्धकार विनाशक रवि (सूर्य) थे। शास्त्र ही जिनका परिग्रह था, कुशीलके विनाशक थे, धर्मकथाके द्वारा प्रभावना करना उनका स्वभाव था, और वे उपशमके निलय, रत्नत्रयके धारक, सुजनोंमें सौम्य तथा जिनगुणोंमें अनुरक्त थे।

उक्त गुणोंसे विशिष्ट कविवर देवसेनने सुलोचनाके जीवन चरित्रको बड़े ही सुन्दर ढंगसे पद्धड़ी, चौपाई, सग्गिणी और भुजंगप्रयात आदि विविध छन्दोंमें रचा है। जिनसेनाचार्य तथा महाकवि पुष्पदन्तके आदिपुराणगत सुलोचनाचरित का भी ग्रन्थमें उपयोग किया गया है और इस तरह ग्रंथको खूब लोकोपयोगी बनानेकी ओर खास ध्यान रक्खा गया मालूम होता है। सुलोचनाकाचरित्र स्वतः बड़ा ही उज्ज्वल और प्रभावशाली रहा है, कविने उसे और भी सरस बनाने का प्रयत्न किया है। ग्रन्थकी महत्ताका दूसरा कारण यह भी है कि देवसेनकी यह प्रायः निजकी कृति नहीं है, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्दके एक गाथाबद्ध **'सुलोचनाचरित'** का पद्धड़िया आदि छन्दोंमें अनुवाद है, जैसा कि उसके छठे कडवककी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

जं गाहाबंधे आसि उत्तु, सिरिकुंदकुंदगणिणा णिरुत्तु।
तं एत्थहि पद्धडियहिं करेमि, परि किंपि न गूढउ अत्थु देमि।
तेण वि कवि गाउ संसा लहंति, जे अत्थु देखि वसणहि खिवंति

इस उल्लेखपरसे कविकी जहाँ प्रामाणिकता दृष्टिगोचर होती है वहां आचार्य कुन्दकुन्दके एक महत्वपूर्ण सुलोचना चरितका भी स्पष्ट पता चलता है जो आजतक अनुपलब्ध है। अब तक सिर्फ महाकवि महासेनके सुलोचनाचरित्रका ही उल्लेख* उपलब्ध होता था और उसकी बड़ी प्रशंसा

---

*महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥३३॥—हरिवंशपु०

भी सुनी जाती है, परन्तु दुर्भाग्यवश वह ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है। इसी तरह अनेक महत्वपूर्ण मौलिक कृतिया आज हमारी आखोंसे ओझल हो चुकी हैं—उनका कहीं पता भी नहीं चलता। आशा है विद्वानों और श्रीमानोंका लक्ष्य पुरातन साहित्यके अन्वेषण एवं प्रसारकी ओर अग्रसर होगा।

पाठकोंकी जानकारीके लिये मैं ग्रन्थगत एक दो छन्दों के उदाहरण भी प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ जिससे पाठक उनके स्वरूपका बोध करते हुए ग्रन्थकी रचना शैली और उसके विषयसे भी परिचित हो सकें। अतः सबसे प्रथम भगवान आदिनाथकी दीक्षाका प्ररूपक 'सर्गिणी छंद' नीचे दिया जा रहा है, जिसमें भगवान आदिनाथकी दीक्षाका वर्णन करते हुए उनके प्रेम अथवा भक्तिवश साथमें दीक्षित होनेवाले कच्छ महाकच्छादि चार हजार राजाओंका भी उल्लेख है, जो दुष्कर तपश्चर्यासे खेदखिन्न होकर पथभ्रष्ट होगए थे—मुनिधमके विरुद्ध आचरण करने लगे थे :—

"गामिणी सामिणी मेल्लिऊणं जिणो,
मायरी माणिणी त्थामिऊणं जिणो।
थवकु णिग्गंथुहो एवि जोईसरो,
मुक्कवाहो अवाहो हु तित्थंकरो।
सीस केसा असेसा विणिद्धाडिया,
णाइं कम्मस्स मूला समुप्पाडिया।
हेमवत्ते धरेऊण ते एक्किणा,
घल्लिया खीरतोए समुद्देतिणा।
तं णिएऊण मारो मणा सकिउ,
लायणाहो फुडं अज दिक्खं किउ।
मुक्कझाणासिणा णित्तुलं मारिही,
मज्झभजाणा रंडत्तणं कारिही।
भीमचित्तो अणंगो बुहाए पिया,
मुक्कवासा अकेसा णरेसाथिया।
होइ णिग्गंथरूवा सहस्सा चऊ,
केत्तिए कालवि ते किलिट्ठावऊ।
कच्छयाई महाकच्छ भग्गा तवे,
णाइं णट्ठा अधीरा भडा आहवे।

तारण जाया मई पावसंसग्गिणी,
एरिसो छंदओ बुचए सग्गिणी।

स्वयंवरमंडपमें जब सुलोचना भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्ति जैसे राजकुमारोंको छोड़कर जयकुमारके गलेमें वरमाला डालती है, तब अर्ककीर्ति और अन्य दूसरे राजकुमार, जो स्वयंवरकी नीतिसे असंतुष्ट थे, अपने अपमानका बदला लेनेके लिये जयकुमारके साथ युद्ध करनेके लिये प्रस्तुत होगए, परन्तु उनमें कितने ही न्यायप्रिय राजाओंने जयकुमारका भी साथ दिया। दोनों ओरकी सेनाएँ रणभूमि मे सुसज्जित होकर आगई और परस्पर युद्ध भी होने लगा। कविने उस समयके युद्धका जो चित्रण दिया है, उसे भी बतौर उदाहरणके नीचे दिया जाता है, जिससे यह सहज ही मालूम होजाता है कि प्राचीन कालमें रणभूमिमें धार्मिक मर्यादाका उल्लंघन नही किया जाता था। उस समय युद्धमें धार्मिक मर्यादाका उल्लंघन करना बड़ा भारी पाप समझा जाता था, इतना ही नहीं किन्तु अस्त्रविहीनोंपर शस्त्रका प्रहार नहीं किया जाता था, प्रत्युत जो जिस शस्त्रका धारक होता था उसपर उसी शस्त्रसे प्रहार करनेका उपक्रम किया जाता था और जो भट रणभूमिसे भाग जाता था उस पीठ दिखाने वालेके विरुद्ध कभी शस्त्रसंचालन नही किया जाता था* परन्तु आज कल युद्धका कुछ रूप ही दूसरी तरहका दृष्टिगोचर होरहा है। उसमें धार्मिकताकी तो गंध भी नहीं; किन्तु कूटनीतिका साम्राज्य ही यत्र तत्र दिखलाई दे रहा है। अस्तु, उस युद्धका प्ररूपक एक कड़वक इस प्रकार है—

भडो को वि खग्गेण खग्गं खलंतो,
रणे सम्मुहे सम्मुहो आहणंतो।
भडो को वि बाणेण बाणो दलंतो,
समुद्धाइ उद्धुद्धरो णं कयंतो ?
भडो को वि कोंतेण कोंतं सरंतो,
करे गाढचक्को अरी संपहुंतो।
भडो को वि खंडेहि खंडी कयंगो;
लडत्ता ण मुक्को सगा जो अहंगो।
भडो को वि संगामभूमि घुलंतो,

श्वेताम्बरीय विद्वान् उद्योतनसूरिने भी 'कुवलयमाला के ३९ वें पद्यमें, और महाकवि धवलने हरिवंशपुराणमें महासेनकी सुलोचनाका उल्लेख किया है।

* यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्, यः कंटको वा निजमंडलस्य
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति, न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥
—यशस्तिलक उ० पृ० ९६

विवरणोह गिद्धावली णीयअंतो।
भडो को वि घाएण णिव्वट्टि सीसो,
असि वा वरेई अरीसाण भीसो।
भडो को वि रत्तप्पवाहे तरंतो,
फुरंतप्पएणं तडि सिग्धपत्तो।
भडो को वि मुक्का उहे वज्जइत्ता,
रहे दिण्णयाउ विवण्णोह णित्ता।
भडो को वि हत्थी विसाणेहिं भिण्णो,
भडो को वि कटोट्ट छिण्णो णिसण्णो।

घत्ता—तहिं अवसरि णियसेण्णु पेच्छिवि सर-जज्जरियउ।
धाविउ भुयतोलंतु जउ वक्कु मच्छर भरियउ॥६-१२

युद्धके समय सुलोचनाने जो कुछ विचार किया उसे ग्रंथकारने गूंथनेका प्रयत्न किया है। अर्थात् सुलोचनाको जिनमन्दिरमें बैठे हुए जब यह मालूम हुआ कि महंतादिक पुत्र बल और तेज सम्पन्न पाँचसौ सैनिक वैरिपक्षने मारे डाले हैं जो तेरी रक्षाके लिये नियुक्त किये गए थे। तब वह अपनी आत्मनिंदा करती हुई विचार करती है कि यह संग्राम मेरे कारण ही हुआ, जो बहुतसे सैनिकोंका विनाशक है। अतः मुझे ऐसे जीवनसे कोइ प्रयोजन नहीं। यदि युद्ध मे मेघेश्वर (जयकुमार) की जय हो और मैं उन्हें जीवित देखलूँगी, तभी शरीरके निमित्त आहार करूँगी। इससे स्पष्ट है कि उस समय सुलोचनाने अपने पतिकी जीवन-कामना के लिये आहारका भी त्याग कर दिया था। इससे उसके पातिव्रत्य और पतिभक्तिका उच्चादर्श सामने आता है। जैसा कि निम्न कडवकसे प्रकट है—

इमं जंपिऊणं पउत्तं जयेणं,
तुमं एह कण्णा मनोहारवण्णा।
सुरक्खेह णूणं पुरेणेह ऊणं,
तउ जोह लक्खा अणेया असंखा।
सुसत्था वरिण्णा महं रक्खदिण्णा,
रहा चारुचिधा गया जो मयंधा।
महंताय पुत्ता बला—तेयजुत्ता,
सयापंचसंखा हया वैरिपक्खा।
पुरीए णिहायं वरं तुंग गेहं,
फुरंतीह णीलं मणीलं करालं।
पिया तत्थ रम्मोवरे चित्तकम्मे,
अरंभीय चित्ता सुउ हुल्लवत्ता।
णियं सोययंती इणं चिंतवंती,
अहं पावयम्मा अलज्जा अधम्मा।
महं कज्ज एयं रणं अज्ज जायं,
....
बहूणं णराणं विणासं करेणं,
महं जीविएणं ण कज्जं असेणं।
जयाहंसताउ (ओ) स-मेहेसराई,
सहे मंगराई इमो सोमराई।

घत्ता—ए सयलवि संगामि, जीवियमाणकुमारहो।
पेच्छमि होइ पवित्ति, तो सरीरआहारहो॥

इन नमूनेके तौरपर दिये हुए दो तीन कड़वकोंपरसे पाठक प्रस्तुत ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय और कविकी भाव-भंगीका अंदाजा लगानेमें समर्थ हो सकेंगे। ग्रन्थका कथा-भाग बड़ा ही रुचिकर है और उसे विविध छन्दोंमें पढ़कर और भी आनन्द आता है।

कविवर देवसेनने इस ग्रन्थमे अपनी ओरसे कालिदास हरिस, वाण, मयूर, हलिय, गोविन्द, चउमुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त और भूपाल नामके कवियोंका स्मरण किया है*। साथ ही, ग्रन्थकी दशमी संधिके शुरूमें एक गाथामें यहाँ तक प्रकट किया है कि चतुर्मुख और स्वयंभू प्रमुख कवियोंके द्वारा रक्षित और महाकवि पुष्पदन्त द्वारा दुहित सरस्वतीरूपी गौके पयका देवसेनने पान किया जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है—

चउमुह-सयंभु-पमुहेहिं रक्खिय दुहिय पुप्फयंतेण।
सुरसइ सुरहीए पयं पीयं सिरि देवसेणेण।'

रचनाकाल

कविवर देवसेनने 'सुलोचनाचरित' की रचना 'मम्मल' राजाकी नगरीमें निवास करते हुए की है। 'मम्मल पुरी'

*जहिं वम्मीयवास सिरि हरिसहिं,
कालियाम जे पमुह कइ सरसहिं।
वाण-मयूर-हलिय-गोविन्दहिं,
चउमुह अवरु सयंभू कइंदहिं।
पुप्फयंत – भूपाल पहाणहिं,
अवरे हिमि बहु सत्थ वियाणहिं।
—सुलोयणाचरिउ, आदिभाग

किस देशकी नगरी है यह प्रयत्न करनेपर भी अभी तक मालूम नहीं हो सका। बहुत संभव है कि उक्त नगरीका नामकरण 'मम्मल या मम्मट' राजाके द्वारा बसाये जानेके कारण हुआ हो, और वह नाम उस समय अत्यधिक प्रसिद्धिमें आरहा हो, इसीसे ग्रन्थकारने उसका विशेष उल्लेख करनेकी आवश्यकता न समझी हो।

ग्रन्थमें जिन विद्वानोंका नामोल्लेख किया गया है उन सबमें समयकी दृष्टिसे पुष्पदन्त ही बादके विद्वान मालूम होते हैं, क्योंकि उनका अस्तित्वकाल शक सं० ८६४ वि० सं० १०२६ तक तो निश्चित ही है। उसके बादका उनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। मालूम होता है प्रस्तुत देवसेन पुष्पदन्तके महापुराणादि ग्रन्थोंसे अवश्य परिचित रहे हैं। अत: देवसेनके समयकी पूर्वावधि पुष्पदन्त का उक्त समय या उससे कुछ बादका समय हो सकता है।

इस ग्रन्थकी रचना राक्षस संवत्सरमें श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवारके दिन पूर्ण हुई है। जैसा कि उस ग्रन्थ के निम्न पद्यसे प्रकट है—

रक्खससंवच्छरे बुहदिवसए । सुक्कचउद्दिसि सावणमासए।
चरिउ सुलोयणाहि णिप्पण्णउ, सद्द-अत्थ-वण्णण-संपुण्णउ॥

साठ संवत्सरोंमेंसे राक्षस संवत्सर ४६ वा है। ज्योतिष की गणनानुसार एक राक्षस संवत्सर १०७५ A. D. (वि० सं० ११३२) २६ जुलाईको श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवारके दिन पड़ता है। और दूसरा १३१५ A. D. (वि० सं० १३७२) में १६ जुलाईको उक्त चतुर्दशी और बुधवारको पड़ता है*। इन दोनों समयोंमें २४० वर्ष का अन्तर है, शेष संवतोंमें श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवारका दिन नहीं पड़ता। अत: इनमेंसे यहा कौन सा संवत् उपयुक्त है—कौनसा नहीं, और किस देवसेनके साथ प्रस्तुत ग्रन्थकर्ता देवसेनका सामंजस्य स्थापित हो सकता है, ये दोनों बातें ही विचारार्थ प्रस्तुत हैं।

दिगम्बर जैन सम्प्रदायमें 'देवसेन' नामके अनेक विद्वानोंका उल्लेख मिलता है और उनमें किसी किसी देवसेनकी ग्रन्थकर्तृत्वरूपसे भी प्रसिद्धि है, किन्तु नाम-साम्य के कारण उनका समय निर्णय करनेमें इतिहासज्ञोंके लिये बड़ी ही कठिनाई उपस्थित हो जाती है। यहा ऐसे कुछ देवसेन नामक विद्वानोंका परिचय एवं विचार उपस्थित किया जाता है —

(१) प्रथम देवसेन वह हैं जिनका उल्लेख श्रवण-बेल्गोलके चन्द्रगिरि पर्वतपर शक सं० ६२२ वि० सं० ७५७ में उत्कीर्ण शिलावाक्यमें पाया जाता है। यह महामुनि देवसेन व्रतपाल स्वर्गगामी हुए हैं×।

(२) दूसरे देवसेन वह हैं जो धवला टीकाके कर्ता आचार्य वीरसेनके शिष्य थे और जिनका उल्लेख आचार्य जिनसेनने जयधवला टीकाकी प्रशस्तिके ४४ वे पद्यमें किया है+। चूंकि वीरसेनका समय निश्चित है अत: इन देवसेन का समय भी वही होना चाहिये।

(३) तीसरे देवसेन वे हैं जिन्होंने धारानगरीमें रहते हुए विक्रम संवत् ६६० में 'दर्शनसार' की रचना की है। पिटर्सन साहबने इन्हें अपनी रिपोर्टमें रामसेनका शिष्य लिखा है=।

दर्शनसारमें ग्रन्थकर्ताने अपने गण-गच्छादिका कोई उल्लेख नहीं किया है और न अपनी कोई गुरुपरम्परा ही दी है जिससे उनके जीवनादि सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जाता। किन्तु उनके दर्शनसारको देखते हुए यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि वे मूल-संघके विद्वान थे। मूलसंघान्तर्गत काष्ठासंघादिके नहीं; क्योंकि ग्रन्थकार उन्हें स्वयं जैनाभास लिख रहे हैं। दर्शनसारमें देवसेनने अपनी अन्य किसी रचनाका कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी तत्त्वसार, आराधनासार, नयचक्र और आलापपद्धति ये चार ग्रन्थ भी इन्हींकी कृति मालूम होते हैं, अन्यभाव-

* ज्योतिषकी गणनानुसार राक्षस संवत्सरका उक्त समय मित्रवर पं० नेमीचन्दजी न्याय-ज्योतिषशास्त्री, मैनेजर जैनसिद्धान्त भवन आराने निकाल कर भेजनेकी कृपा की है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

× देखो, जैनशिलालेख संग्रह पृ० १३।

+ देखो, जयधवला प्रशस्ति पद्य नं० ४४।

= पिटर्सन सा० ने देवसेनको रामसेनका शिष्य कैसे लिखा, उसका क्या आधार है? यह कुछ समझमें नहीं आया। हो सकता है कि उन्हें कोई परम्परा ऐसी मिली हो जिसमें देवसेनको रामसेनका शिष्य लिखा हो, यदि यह सत्य हो तो भी दोनोंकी एकता नहीं बनती।

संग्रहादि नहीं, परन्तु पं० नाथूरामजी प्रेमी 'नयचक्र और देवसेनसूरि' नामके अपने लेखमें नयचक्रादिके साथ दर्शनसार और भावसंग्रहकी एक कर्तृकता ही प्रकट नहीं करते किन्तु दर्शनसारके कर्ताको भी विमलसेन गणी या गणधरका शिष्य प्रकट करते हैं। प्रेमीजीकी इस एक कर्तृकताका आधार दर्शनसारकी कुछ गाथाओंका भावसंग्रहमें पाया जाता है। परन्तु प्रेमीजीकी उक्त कल्पना ठीक नहीं है। दर्शनसारके कर्ता और भावसंग्रहके कर्ता देवसेन दोनों अभिन्न व्यक्ति नहीं हैं, उनकी भिन्नताके निम्न कारण हैं—

(१) दर्शनसारके कर्ता विमलसेन गणीके शिष्य नहीं हैं; क्योंकि ग्रंथमें अपने गुरुका ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। जबकि भावसंग्रहके कर्ता देवसेन अपनेको विमलसेन गणीके शिष्य लिखते हैं।

(२) दर्शनसारकी कतिपय गाथाओंका भावसंग्रहमें पाया जाना भी उसकी एक कर्तृकताका आधार अथवा नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि बादका ग्रन्थकार भी अपने ग्रन्थमें उनका उपयोग कर सकता है—उन्हें ग्रंथमें शामिल कर उसका अंग बना सकता है। और भी कितने ही ग्रंथकारोंने अपनेसे पूर्ववर्ती विद्वानोंके ग्रन्थोंके वाक्यों आदि को मूलरूपमें शामिल कर लिया है।

(३) दर्शनसार मूलसंघका ग्रन्थ है; क्योंकि वह मूल संघको छोड़कर अन्य काष्ठासंघ और द्राविड़ संघादिको समय मिथ्यात्वी या जैनाभास घोषित करता है। परन्तु भावसंग्रह केवल मूलसंघका ग्रंथ नहीं है वह मूलसंघान्तर्गत काष्ठासंघादिका मालूम होता है। साथ ही, उसमें त्रिवर्णाचारके समान ही आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत और पंचामृतअभिषेकका विधान पाया जाता है, इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और सोमादिको सशस्त्र तथा युवति, वाहन सहित* आह्वानन करने, बलि चरु आदि पूज्य द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षर नामयुक्त मंत्रोंसे देनेका विधान किया गया है, जैसा कि उसकी निम्न दो गाथाओंमें प्रकट है—

आवाहिऊण देवे सुरवइ-सिहि-कालणेरिए वरुणे।
पवणे जक्खे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थे य ॥४३६॥
दाऊण पुज्जदव्वं बलि चरुयं तह य जण्णभायं च।
सव्वेसिं मंतेहिं य बीयक्खरणामजुत्तेहिं ॥ ४४० ॥

ऊपरके इस कथनसे स्पष्ट है कि दर्शनसारके कर्ता देवसेन विमलसेन गणीके शिष्य न होने और भावसंग्रहके मूलसंघकी किसी एक शाखाका ग्रन्थ होने आदिके कारण उन दोनोंका एकत्व नहीं हो सकता।

इनके सिवाय जिन देवसेनका ग्रन्थ प्रस्तुत 'सुलोचनाचरिउ' है उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा देते हुए अपनेको विमलसेन गणीका शिष्य सूचित किया है। अतः भावसंग्रह और सुलोचनाचरितके कर्ता देवसेन दोनों एक ही व्यक्ति जान पड़ते हैं। क्योंकि दोनोंके गुरु एक हैं।

इनके सिवाय, एक चतुर्थ देवसेन वह हैं जिनका उल्लेख सुभाषितरत्न सन्दोह और धर्मपरीक्षादिके कर्ता आचार्य अमितगतिने अपनी गुरुपरम्परामें किया है और उन्हें माथुर-संघी वीरसेनका शिष्य बतलाया है। ये अमितगति विक्रमकी ११ वीं सदीके विद्वान् हैं।

पंचम देवसेन वह हैं जिनका उल्लेख दूबकुण्डके सं० ११४५ के शिलालेखमें पाया जाता है, जो लाड़-वागडसंघके उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रयके धारक थे और समस्त आचार्य जिनकी आज्ञाको नतमस्तक होकर हृदयमें धारण करते थे×। इस मन्दिर-प्रशस्तिके लेखक विजयकीर्तिसे देवसेन कमसे कम यदि ७५ वर्ष पहले ही मान लिये जायं तो इन देवसेनका समय वि० सं० १०७० होगा और यदि सौ वर्ष कम किए जायं तो १०४५ में इन देवसेनका अस्तित्व मानना पड़ेगा।

छठे देवसेन वे हैं जिनका उल्लेख माथुरसंघके भट्टारक गुणकीर्तिके शिष्य यशःकीर्तिने वि० सं० १४९७ में के अपने पाण्डवपुराणमें किया है*। परन्तु यशःकीर्ति

* सोमसेन त्रिवर्णाचारमें भी दश दिक्पालोंका, आयुध, वाहन और युवति सहित पूजनेका विधान है—"ॐ इंद्राग्नियमनैऋत्यवरुणपवनकुवेरेशानधरणसोमाः सर्वेप्यायुधवाहनयुवतिसहिता आयात आयात इदमर्घ्यमित्यादि दिक्पालार्चनम्। —त्रिवर्णाचार पृ० १३६

× आसीद्विशुद्धतरबोधचरित्रदृष्टि-निःशेषसूरिनतमस्तकधारिताज्ञः श्रीलाटवागडगणोन्नतरोहणाद्रि-माणिक्यभूतचरितो गुरुदेवसेनः —देखो, दूबकुण्डका शिलालेख

* सिरि कट्ठसंघ माहुरहो गच्छ, पुक्खरगणि मुणिवई वि लच्छि संजायउ वीर जिणुक्कमेण, परिवाडिय जइवर णिहयएण।

और कवि रइधूके अनुसार यह देवसेन माथुरसंघके विद्वान् थे, जो संभवत: ग्वालियरकी गद्दीके पट्टपर आसीन हुए थे। किन्तु प्रशस्तिमें इन देवसेनके बाद विमलसेनका नाम दिया हुआ है। यदि यह नाम समयक्रमसे नहीं दिये गये हैं तब तो कोई बात नहीं है। और यदि पाण्डवपुराण प्रशस्तिवाले नाम समयक्रमसे दिये गए हैं तब देवसेनके बाद विमलसेनका नाम रखना आपत्तिजनक होजाता है। परन्तु जहां तक मैं समझता हूं प्रस्तुत विमलसेनके शिष्य ही देवसेन जान पड़ते हैं। यदि मेरा यह विचार ठीक हो तो 'भावसंग्रह' और 'सुलोचनाचरिउ' के कर्ता देवसेनको माथुरसंघका विद्वान् मानना होगा, और तब ६६० में रचे जाने वाले दर्शनसारके कर्ता देवसेनसे इनका कोई संबध नहीं बन सकेगा। और फिर इनका समय विक्रमकी १२ वीं या तेरहवी शताब्दी मानना अनुचित नहीं होगा। आशा है विद्वान् इसपर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

ता० ५।८।४५

सिरि देवसेणु तह विमलसेणु, तह धम्मसेणु पुणभावसेणु।
तहो पट्ट उवएणउ सहसकित्ति, अणवरय भमिय जह जासुकित्ति
तह विक्खायउ गुणकित्तिणामु, तवतेएं जासु सरीरु खामु।
तहो णिय बंधउ जसकित्ति जाउ, आयरिय पणासिय दोसु-राउ।
—देखो, पाण्डवपुराण देहलीप्रति।

सम्पादकीय

१ अनेकान्तकी वर्ष समाप्ति—

इस किरणके साथ 'अनेकान्त' का ७ वाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी कितनी सेवाकी, कितने महत्वके लेख प्रस्तुत किये, कितनी नई खोजे सामने रक्खी, क्या कुछ विचार-जागृति उत्पन्नकी और समाजके राग-द्वेषसे कितना अलग रहकर यह ठोस सेवा कार्य करता रहा, इन सब बातोंको बतलानेकी जरूरत नहीं—पाठक उनसे भली प्रकार परिचित हैं। पर मैं इतना जरूर कहूँगा कि जितनी सेवाएँ की जानेको थीं और की जानी चाहियें थी वे इस वर्ष नहीं होसकी। उनमें सर्वोपरि मुख्य सेवा थी 'वीरशासनाङ्क' नामक एक असाधारण विशेषाङ्कके निकालनेकी, जिसे सरकारके पेपरकंट्रोल आर्डरोंने अशक्य बना दिया, उसके विचारोंको बलात् दबाना पड़ा और पाठक दर्शनोंके लिये उत्कण्ठित ही रहगये! कहीं प्रस्तावितरूपमें यह विशेषाङ्क निकल जाता तो जैनसाहित्यमें एक बड़ी ही उपयोगी तथा अपूर्व चीजकी सृष्टि हो जाती। परन्तु कण्ट्रोल आर्डरका प्रहार इतने तक ही सीमित नहीं रहा, उसने मासिक अंकों (किरणों) की कायाको भी अत्यंत क्षीण बना दिया। सरकारसे कागज न माँगनेपर भी, कोई चोर बाजारसे खरीदकर निर्दिष्ट (अधिकृत) से अधिक कागज अपने पत्रमें इस्तेमाल नहीं कर सकता था। और निर्दिष्ट कागजके समयपर मिलनेका सरकारकी ओरसे कोई प्रबन्ध नहीं था। इसीसे दो दो महीनोकी किरणोंका एक एक अंक निकालनेके लिये बाध्य होना पड़ा, और वह भी समयपर कागज न मिलने तथा कागजके जैसे तैसे मिलनेपर प्रेसका उसे समयपर छापकर न देने आदि कारणोंसे विलम्बके साथ*। इससे पाठक एक तरफ लेखोंके कुछ टॉटेमें रहे तो दूसरी तरफ उन्हे प्रतीक्षाजन्य कष्ट भी उठाना पड़ा, जिसका मुझे खेद है! प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाते उठाते कितने ही सज्जनोका तो धैर्यका बाँध टूट गया और उन्होंने यद्वा तद्वा शब्दोंमें अव्यवस्थाकी भर्त्सना तक कर डाली! एक-दोने अपना चन्दा भी वापिस मांगा जो उन्हें भेज दिया गया, और कुछ सज्जन ऐसे भी निकले जो प्रेम भरे शब्दोंमें इस प्रकारसे लिखते रहे—'अनेकान्त ही समाजमें एक ऐसा पत्र है जिसे देखने और दिखलानेकी बराबर उत्कण्ठा बनी रहती है अत: कृपया इसे समयपर ही भेजा कीजिये।' इसमें

* देशमें और भी कितने ही मासिक पत्र इसी चक्करमें पड़कर द्विमासिक त्रिमासिकके रूपमें तथा विलम्बसे निकले हैं।

सन्देह नहीं कि श्रीमान्‌के अनवकाशके कारण ही ऐसा (विलम्बके साथ प्रकाशन) होना होगा तो भी 'अनेकान्त' प्रेमियोंके लिये यह अवश्य बेचैनीका कारण है। आशा है भविष्यमें आप अनेकान्त-प्रेमियोंकी बेचैनीपर भी ध्यान रक्खेंगे।' अस्तु।

जिन दो चार ग्राहकोंने रोष व्यक्त किया वह मुझे बुरा नहीं लगा; क्योंकि मैंने देखा, उसमें उनका कोई कसूर नहीं—आखिर मासिक पत्रको समय पर निकलना ही चाहिये। परन्तु मैं मजबूर था—परिस्थितियोंके कारण पराधीन था। फिर भी मैंने इस बातपर अधिक ध्यान रक्खा कि थोड़ेमें ही पाठकोंको अधिक मैटर पढ़नेको मिले और वह सब अधिक उपयोगी तथा स्थायी महत्वका हो, जिससे वे अधिक टोटेमें न रहें। इसके लिये अधिक चार्ज देकर प्रायः सभी लेखोंमें बारीक टाइपका प्रयोग कराया गया और लेखोंके स्टेंडर्डको सदा ही ऊंचा रखनेका यत्न किया गया। उसीका फल है कि यह पत्र आज भी लोकमें आदरका पात्र बना हुआ है—परिचित जनता इसे गौरवकी दृष्टिसे देखती है, इसके लिये उत्कण्ठित रहती है और समाज इसे अपना एक आदर्शपत्र मानता है। और यह सब सौभाग्य इस पत्रको उन विद्वान लेखकोंकी कृपासे ही प्राप्त है, जिन्होंने अपने अच्छे अच्छे लेखों द्वारा इसकी सेवा की है और इसे इतना उन्नत, उपादेय तथा स्पृहणीय बनानेमें मेरा हाथ बटाया है। अतः इस अवसर पर मैं उनका धन्यवाद किये बिना नहीं रह सकता। उन सज्जनोंमें पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, पं० परमानन्दजी शास्त्री, बा० ज्योतिप्रसादजी एम० ए०, प्रो० हीरालालजी, बा० जयभगवानजी वकील, श्रीकर्मानन्दजी, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, स्व० भगवत्स्वरूपजी 'भगवत्', मुनिश्री आत्माराम जी उपाध्याय, श्रीकानजी स्वामी, पं० रतनलालजी संघवी, श्रीअगरचंदजी नाहटा, श्रीफतेहचन्दजी बेलानी, बा० माणिकचन्दजी बी. ए, बा. उग्रसेनजी एम० ए०, श्रीजमनालालजी विशारद, पं० बलभद्रजी, पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर और श्री 'पुष्पेन्दु'जीके नाम खासतौरसे उल्लेखनीय हैं। आशा है भविषयमें अयेकान्तको और भी सुलेखकोंका सहयोग प्राप्त होगा और सभीके सहयोगसे यह पत्र ऊँचा उठकर लोकहितकी साधना-द्वारा अपने ध्येयको पूरा करनेमें समर्थ हो सकेगा।

यहांपर मैं उन सज्जनोंका खासतौरसे आभार प्रकट करता हूँ और उन्हें धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस वर्ष समय समय पर अनेकान्तको आर्थिक सहायता भेजी तथा भिजवाई है और जिनके नाम अनेकान्तमें प्रकट होते रहे हैं। उनमें सेठ हुकमचंदजी इन्दौर, साहू श्रेयांसप्रसादजी बम्बई, बाबू लालचन्दजी एडवोकेट रोहतक, ला० फेरूमल चतरसेनजी सर्धना (मेरठ), ला० रामसुखजी काशलीवाल इंदौर, बा० फूलचन्दजी सेठी नागपुर और ला० उदयराम जिनेश्वरदास जी सहारनपुरके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस वर्षके सम्पादन-कार्यमें मुझसे जो कोई भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय कर्तव्यके अनुरोधवश किये गये मेरे किसी कार्यव्यवहारसे, टीका-टिप्पणीसे या स्वतंत्र लेखसे किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये मैं हृदय से क्षमा प्रार्थी हूँ। क्यों कि मेरा लक्ष्य जान बूझकर किसी को भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यसे उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है।

२ अनेकान्तका अगला वर्ष—

चूँकि अनेकान्त बहुत लेट होगया है—उसकी जून-जुलाईकी किरण अब सितम्बरकी समाप्तिपर प्रकाशित होरही है, और इस लेटको जल्दी पूरा करनेका कोई साधन नजर नहीं आता। अतः अगला वर्ष इन्हीं महीनोंके सिलसिले में अर्थात् अगस्त १६४५ से प्रारम्भ नहीं हो सकेगा—उसके लिये नया ही सिलसिला शुरू करना होगा, और वह भी तब जब प्रेसकी ठीक व्यवस्था होकर उसमें समयपर काम मिलनेकी पूरी गारण्टी मिल जावेगी; क्यों कि मैं इस वर्ष प्रेसकी वजहसे बहुत ही तंग आगया हूँ और उसके कारण मुझे कितना ही मानसिक कष्ट उटाना पड़ा है। जहाँ तक खयाल है आठवें वर्षकी पहली किरण दीवालीके बाद कार्तिकी पूर्णिमा तक प्रकाशित हो सकेगी। साथ ही, यह भी संभव है कि इसपत्रका रूप तब और भी उन्नत हो जाय। अतः पाठकोंको उस वक्त तकके लिये धैर्य रखना चाहिये।

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ तीनपुष्प—ले०, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री भादवा (जयपुर)। प्रकाशक, ललिताकुमारी मन्त्रिणी श्रीशारदा सहेली संघ, जयपुर। पृष्ठ संख्या ३४०। मूल्य २) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तकमें तीन सामाजिक नाटकोंका संकलन किया गया है। वृद्धविवाह, विधवा और उत्सर्ग। इस पुस्तकके लिखनेका उद्देश्य स्त्री पात्रों द्वारा सामाजिक रूढ़ियोंका निरसन करना है, साथ ही जनतामें कुरीतियोंके प्रति अरुचि और सुरीतियोंके प्रति प्रेम उत्पन्न करना है। लेखक महोदय अपने उद्देश्यके अनुसार उक्त नाटकोंके लिखनेमें बहुत कुछ सफल हुए हैं। यद्यपि भाषाकी दृष्टिसे कहीं २ पर कुछ वाक्य-विन्यास अथवा शब्द समुचित रूपमें नहीं हुआ, फिर भी पुस्तक उपादेय है। और इससे राजपूतानेमें फैली हुई कुरीतियोंको दूर करनेमें जरूर सहायता मिलेगी। इसके लिये लेखक महाशय धन्यवादके पात्र हैं।

२ भगवान महावीरका अचेलकधर्म—लेखक, पं० कैलाशचंदजी शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय भदैनीघाट, बनारस। प्रकाशक, मंत्री प्रकाशन विभाग भा० दि० जैनसंघ चौरासी मथुरा। पृष्ठ ३६, मूल्य पाच आने।

यह वही निबन्ध है जो वीरशासन-महोत्सवके अवसर पर कलकत्तामें पढ़ा गया था। निबन्ध बहुत ही परिश्रमके साथ गवेषणापूर्ण लिखा गया है। भाषा सौम्य और सरल है।

इसमें विद्वान् लेखकने प्राचीन श्वेता० साहित्यके अनेक ग्रन्थोद्धरणों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि प्रारंभमें श्वेताम्बरपरम्परामें भी भ० महावीरका अचेलक धर्म ही था और पीछे पीछे अचेलकताके स्थानमें सचेलता बौद्धभिक्षुओं की तरह आई है। वस्त्र और पात्रोंकी क्रमिक बढ़ोतरी पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही, दिगम्बर साहित्यसे यह सिद्ध किया है कि उसमें सर्वत्र भ० महावीरके अचेलक धर्म का ही प्रतिपादन और समर्थन है। इस तरह यह पूरा ही निबन्ध बहुत ही प्रामाणिकताके साथ लिखा गया है, और इस लिये महत्वपूर्ण एवं प्रत्येकके लिये पठनीय है।

—परमानन्द शास्त्री

३ 'सौरभ'—लेखक, कवि श्री हरिप्रसाद शर्मा 'अविकसित'। प्रकाशक, दी स्टूडेण्ट्स ओन हाउस पबलिशर्स एण्ड स्टेशनर्स, सहारनपुर। पृष्ठ १०४, मू० १॥)।

कवि 'अविकसित' जी जम्बूविद्यालय जैन हाई स्कूल सहारनपुरमें हिन्दीके प्रधान अध्यापक हैं और उन्होंने अपनी यह रचना सौरभ-प्रेमी रायसाहब ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस सहारनपुरको समर्पित की है, जिनकी प्रेरणाको पाकर ही वे अपने काव्य-कुसुमोंके इस सौरभमय संग्रहको प्रकाशित करने में प्रवृत्त हुए हैं। इसमें विभिन्न विषयोंपर ३७ कविताएँ हैं। साथमें कनखलके श्री किशोरीदासजी बाजपेयी की मनोरंजक 'भूमिका' भी। कविताएँ प्राय: सब सुन्दर, सरल, सुबोध, रुचिकर तथा रस-भरी हैं, हृदयको स्पर्श करती हैं और जनताके साथ सम्पर्कको लिये हुए हैं। अत: ग्राह्य हैं। यों छापने और गूँथनेकी कुछ भूलें जरूर हैं: परन्तु भावोंके सौरभके सामने सब नगण्य हैं। इस विषयमें भूमिकाकी निम्न पंक्तियाँ पाठकोंका अच्छा पथ-प्रदर्शन करती हैं और उनमें सांकेतिक रूपसे पुस्तककी कितनी ही आलोचना तथा गुण-ग्रहण-विषयक प्रेरणा आजाती है—

"सौरभ जहाँ है, वहाँ कुछ पुरानी सूखी पत्तियां भी हो सकती हैं, कुछ और भी ऐसी ही चीजें। यह स्वाभाविक है। इनका न होना ही अनैसर्गिक है। आप सौरभ ग्रहण करें, जहां मिल जाय। दूसरी वैसी चीजोंकी ओर ध्यान ही क्यों दें? अच्छे रस-ग्राहीका, रस लेते समय, इधर-उधर ध्यान जायगा ही क्यों? सहारनपुरी-मीठे गन्नेमें क्या गाँठें नहीं होती हैं? नीचे जड़ और ऊपर नीरस पत्ते क्या उसमें कुछ बट्टा लगा देते हैं? सौरभ-पूर्ण कस्तूरी काली और सुवर्ण सौरभ-हीन! तो, क्या इन दोनोंका महत्व कुछ घट गया? ऐसी किसकी कविता है, जिसमें कोई पख न निकाली जा सके? यह भी एक मानवकृति है।"

आशा है इस सौरभके फूटनेसे 'अविकसित' जी अब विकसित हो उठेंगे।

—सम्पादक 'अनेकान्त'

इतिहासमें भगवान महावीरका स्थान

(ले०—बा० जयभगवान जैन एडवोकेट, पानीपत)

महावीरसे पूर्वकी स्थिति—

दुनियाके इतिहासमें ईसासे ६०० वर्ष पहिलेका काल आजके कालसे बहुत कुछ मिलता जुलता हुआ है, इस लिये उस युगकी परिस्थिति, प्रवृत्ति और उनके परिणामोंको अध्ययन करना हमारी अपनी कठिनाईयोंको हल करनेके लिये बहुत जरूरी है। यह वह ज़माना था, जब इन्सानका जीवन मानसिक, धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों से जकड़ा हुआ था। उसके विकासका स्वाभाविक स्रोत बहते बहते कर्तव्य-विमूढ़तासे रुककर ठहर गया था। वह अनेक देवी-देवताओंकी पूजा-प्रार्थना करते करते अपनी गुलामीसे ऊब चुका था और जाति, वर्ण तथा धर्मके नाम पर लड़ते-झगड़ते उसका मन थक गया था। तब आज़ादी की भावनायें उठ उठ कर उसे वाचाल बना रही थीं। तब उसका मन किसी ऐसे सत्य और हकीकतकी तलाशमें घूम रहा था, जिसे पा कर वह सहज सिद्ध शिव शान्ति और सुन्दरताका आभास कर सके; तब वह किसी ऐसी दुनिया की रचनामें लगा था, जहां वह सबके साथ मिलजुल कर सुखका जीवन बिता सके।

यह ज़माना दुनियाकी तवारीखमें मानसिक जागृति, धार्मिक क्रान्ति और सामाजिक उथल-पुथलका युग था। इस ज़मानेने पूर्व और पश्चिमके सभी देशोंमें अनेक महापुरुषोंको जन्म दिया था। तब योरुपमें पाइथेगोरस और एशियामें कन्फ्यूसस, लाओज़े जैसे महात्माओंने जन्म लिया था। उस समय हिन्दुस्तानमें भगवान महावीर और भगवान बुद्धने इस जागृतिमें विशेष भाग लिया था।

उस ज़मानेके भारतमें तीन बड़ी बड़ी विचारधारायें काम कर रही थीं, जिन्हें हम आज देवतावाद, जड़वाद और अध्यात्मवादके नामसे पुकार सकते हैं। पहली धारा वैदिक ऋषियोंकी उस हैरतभरी निगाहसे पैदा हुई थी जो प्राकृतिक दृश्यों और चमत्कारोंको देख देख कर उनमें मनुष्योत्तर दिव्य शक्तियोंका भान कर रही थी। दूसरी धारा व्यवहार-कुशल लोगोंकी उस दुनियावी दृष्टिकी उपज थी, जो मनुष्यके ऐहिक-जीवनको सुखी और सम्पन्न देखना चाहती थी। तीसरी धारा वीतरागी श्रमणोंके उन भरपूर हृदयोंसे निकली थी, जो इस निस्सार, दुःखमय जीवनसे परे किसी अक्षय अमर सच्चिदानन्द जीवनका आभास कर रहे थे। इन्हीं तीनों धाराओंके संगमपर भगवान महावीर का जन्म हुआ था।

यद्यपि उस समय ये तीनों विचारधारायें अपनी अपनी पराकाष्ठाको पहुँच चुकी थीं—देवतावादमें "एकमेव अद्वितीय ईश्वर" का भान हो चुका था, जड़वाद अपने लौकिक अभ्युदयके लक्ष्यको चक्रवर्तियोंकी निर्बाध समृद्धिसम्पन्न एकछत्र राष्ट्रीयताकी ऊंचाई तक उठ चुका था और अध्यात्मवाद 'निर्विकल्पकैवल्यं' जैसे आत्माके सर्वोच्च आदर्शको छूकर परमात्मपदकी सिद्धि कर चुका था, वह 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' के मन्त्रोंकी दीक्षा देकर सर्वसाधारणमें आत्मा और परमात्माकी एकताको मान्य बना चुका था—परन्तु कालदोषसे बिगड़कर उस समय ये तीनों धारायें अपने अपने लक्ष्य, सद्ज्ञान और सत्पुरुषार्थको छोड़कर केवल ऊपरी चमत्कारों, मौखिक वितण्डावादों और दैहिक क्रियाकाण्डोंमें फंस गई थीं। अहंकार, विमूढ़ता और दुराग्रहने इन्हें तेरा-तीन किया हुआ था। इनके पोषक और उपासक कुछ भी रचनात्मक कार्य न करके केवल अपनी स्तुति और दूसरोंकी निन्दा करनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मान रहे थे। पक्षपात इतना बढ़ गया था कि सभी सचाई के उस एक पहलूको देखते जो उन्हें मान्य था, अन्य सभी पहलुओंकी वे अवहेलना करते थे—वे सब एकान्तवादी बने थे। इनकी बुद्धि कूटस्थ हो चली थी। तब इनमें न दूसरोंके विचारोंको सुनने और समझनेकी सहनशीलता थी न दूसरोंको अपनानेकी उदारता थी, न ज़मानेकी परिस्थिति के साथ बदलने सुधरने और आगे बढ़नेकी ताकत थी। तब इनके दिलोंमें संकीर्णता, ज़बानमें कटुता और बर्तावमें हिंसा भरी थी।

ऐसे वातावरणमें जात पाँत और वर्णव्यवस्थाके सकीर्ण भावोंको फलने-फूलनेकी खूब आजादी मिली थी। तब जन्मके आधार पर छुटाई बड़ाईकी कल्पनाओंने भारतीय जनताको अनेक टुकड़ोंमें बांट दिया था। भारतकी मूल जातियोंकी दशा जो मानवताके क्षेत्रसे निकाल कर क्षुद्रताके गड्ढेमें धकेल दी गई थी, पशुओंसे भी परे थी। उन्हें अपने विकासके लिये धार्मिक, राष्ट्रिक और सामाजिक कोई भी अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त न थीं। तब धर्मके नाम पर सब ओर हिंसा, विलासिता और शिथिलाचार बढ़ रहा था। मांस, मदिरा और मैथुन व्यसन खूब फैल रहे थे, स्त्री गोया स्वयं मनुष्य न होकर मनुष्यके लिये भोग-वस्तु बनी हुई थी। व्यर्थके अन्धविश्वासों, क्रियाकाण्डों और विधि-विधानोंमें समाजके धन, समय और शक्तिका ह्रास हो रहा था। तब धर्म सीधेसादे आचारकी चीज न रहकर जटिल आडम्बरकी तिजारती चीज बन गई थी, जो यज्ञ-हवन कराकर देवी-देवताओंसे, दान-दक्षिणा देकर पुरोहित पुजारियोंसे खरीदी जा रही थी।

उस समय भारतके श्रमण साधु भी विकारसे खाली न थे। उनमेंसे बहुतसे तो ऋद्धि-सिद्धिके चमत्कारोंमें पड़कर हठयोगके अनुयायी बने थे। बहुतसे साधुओं जैसा बाहरी रंगरूप बना कर रहनेमें ही अपनेको सिद्ध मानते थे। बहुत से तनकी बाहरी शुद्धिको ही अधिक प्रधानता दे रहे थे। बहुतसे सुख शीलतामें पड़ कर थोथी सैद्धान्तिक चर्चाओं और वाक्संघर्षमें ही अपने समयको बिता रहे थे। बहुत से दम्भ और भयसे इतने भरे थे कि वे दूसरोंको अध्यात्म विद्या देनेमें अपनी हानि समझने लगे थे।

भारतकी इस परिस्थितिमें जब धर्मके नामपर मानवताका खून और आत्माका शोषण हो रहा था, सब ही हृदयोंमें प्रचलित विश्वासों, मान्यताओं और प्रवृत्तियोंके विरुद्ध एक विद्रोहकी लहर जाग रही थी, विचारोंमें उथल-पुथल मची थी, स्थितिपालकों और सुधारकोंमें संघर्ष चल रहा था। इस संघर्षके फलस्वरूप तब सभी धाराओंके विद्वान अपने अपने सिद्धान्तोंकी संभाल, शोध और उनके इकट्ठा करनेमें लगे थे। एक तरफ वैदिक परम्पराकी रक्षाके लिये भास्कराचार्य, शौनक और आश्वलायन जैसे विद्वान पैदा हो रहे थे। दूसरी तरफ वैदिक संस्कृतिको मिटाने और भौतिक संस्कृतिको फैलानेके लिये जड़वादके प्रसिद्ध आचार्य अजितकेशकम्बली और बृहस्पति मैदानमें आ रहे थे। तीसरी तरफ भौतिकवादकी निस्सारता दिखानेके लिये अक्षपाद गौतम जैसे न्यायदर्शनको जन्म दे रहे थे। इनके साथ ही साथ मस्करी गौशाल, संजय, प्रक्रुद्ध कात्यायन और पूर्णकश्यप जैसे कितने ही आध्यात्मिक तत्ववेत्ता अपने अपने ढगसे जीवन और जगतकी गुत्थियोंको सुलझानेमें लगे थे।

जैनधर्मका उद्धार और तत्कालीन स्थितिका सुधार —

ऐसे वातावरणमें लोगोंके दिलोंमें समता, मनमें उदारता, बर्तावमें सहिष्णुता और जीवनमें संयम-सदाचार भरने के लिये भगवान महावीरने अपने आदर्श जीवन और उपदेश-द्वारा जिस श्रमण संस्कृतिका पुनरुद्धार किया था वह उनके पीछे जैनधर्मके नामसे प्रसिद्ध हुई। भगवान महावीर इस धर्मके कोई मूल-प्रवर्तक न थे वह उसके उद्धारक ही थे; क्योंकि यह धर्म उनसे बहुत पहिले, वैदिक आर्यगणके आनेसे भी पहिले, यहाँके मूलवासी द्रविड़ और नाग लोगोंमें अर्हत, यति, व्रात्य, जिन,निर्ग्रन्थ अथवा श्रमण-संस्कृतिके नामसे बराबर जारी था और पीछे से विदेह और मगध देशोंमें आकर बसने वाले सूर्यवंशी आर्यगणसे अपनाया जाकर आर्यधर्ममें बदल गया था। यह धर्म भारत-भूमिकी ऐसी ही मौलिक उपज है, जैसे कि यहाँके शैव और शाक्त नामके प्राचीन धर्म। इस ऐतिहासिक सच्चाईको माननेकेलिये गो शुरू शुरूमें ऐतिहासज्ञोंको बड़ी कठिनता उठानी पड़ी, किन्तु आज प्राचीन साहित्य और पुरातत्वकी नई खोजोंसे यह बात दिन पर दिन अधिक प्रमाणित होती जा रही है कि जैनधर्म भारतके मूलवासी द्रविड़ लोगोंका धर्म है[1]। और महावीरसे भी पहिले इस

1 (अ) Prof Belvalkar—Brahma Sutra P 107

(आ) Prof Hermann Jacobi—S B. E Vol. XLV Jaina Sutras Part II. 1895—Introduction pp XIV —XXXVI.

धर्मके प्रचारक ऋषभदेव आदि २३ तीर्थंकर और हो चुके हैं। इनमेंसे अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ तो आज बहुत अंशोंमें ऐतिहासिक व्यक्ति भी सिद्ध हो चुके हैं।

श्रमण-संस्कृति सदा ही जीवन-विकासके लिये सात तत्वोंको मुख्यता देती रही है—आत्मविश्वास, मानसिक उदारता, संयम, अनासक्ति, अहिंसा पवित्रता और समता। भगवान महावीरने इन्हें ही साधना-द्वारा अपने जीवनमें उतारा था और इन्हीं की सबको शिक्षा-दीक्षा दी थी। यही सात आध्यात्मिक तत्व आज जैन दार्शनिकोंकी बौद्धिक परिभाषामें जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षके नामसे प्रसिद्ध हैं।

वर्णव्यवस्था और मानवता—

भगवानने सामाजिक क्षेत्रमें जन्मके आधारपर बने हुए मानवी भेदभावोंका घोर विरोध किया। उन्होंने बतलाया कि जन्मकी अपेक्षा सभी मनुष्य समान हैं—सब ही एक समान गर्भमें रहते हैं, एक समान ही पैदा होते हैं। सबके शरीर और अंगोपाङ्ग भी एक समान हैं, किन्हीं दो वर्णोंके समागमसे मनुष्य ही उत्पन्न होता है। इस लिये मनुष्यों में जन्मकी अपेक्षा विभिन्न जातियोंकी कल्पना करना कुदरत नियमके खिलाफ है। जन्मसे कोई भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, शिल्पी और चोर नहीं होते वे सब अपने कर्म, स्वभाव और गुणोंसे ही ऐसे होते हैं। मनुष्योंमें श्रेष्ठता और नीचता उनके अपने आचार-विचार पर ही निर्भर है। जो लोग कुल, गोत्र, वर्ण आदि लोक-व्यवहृत संज्ञाओंके अभिमानसे बंधे हुए हैं, वे कल्याणके मार्गसे बहुत दूर हैं। इन अभिमानोंको छोड़े बिना मनुष्य न अपना हित कर सकता है, न दूसरोंका।

देवतावाद और अध्यात्मवाद—

धर्मक्षेत्रमें तो यहांकी आम जनता पुरानी रूढियोंकी अनुयायी होनेसे अजीब अन्ध-विश्वासों और मूढ प्रथाओंमें फँसी हुई थी। अनार्य लोग रोग, मरी, दुर्भिक्ष, जलबाढ, आन्धी तूफान, भूकम्प ज्वालास्फोट, टिड्डीदल, चूहे और सांप आदिक भयानक उपद्रवोंको अनेक क्रूरकर्मा रुद्र स्वभाव देवी-देवताओंकी शक्तियां कल्पित करते थे, और इन की शान्तिके लिये अनेक प्रकारके घिनावने तान्त्रिक विधान पशुबलि और नरमेधका प्रयोग करते थे। वैदिक आर्योंके देवता यद्यपि इनसे अपेक्षा सौम्य और सुंदर थे परन्तु दृष्टि वही आधिदैविक थी। ये इन्सानी जिन्दगीको सुख-सम्पत्ति देने वाले इन्द्र, यम, वायु, वरुण आदि देवताओं को मानते थे। इस लिये धन धान्यकी प्राप्ति, पुत्र-पौत्रोंकी उत्पत्ति, दीर्घायु आरोग्यताकी सिद्धि शत्रु विजय आदिकी भावनाओंसे उन देवताओंको यज्ञों-द्वारा खूब सन्तुष्ट करते थे। इन यज्ञोंमें वनस्पति घी आदि सामग्रीके अलावा पशुओंकी भी खूब बलि दी जाती थी। इस तरहके विश्वासों से मनुष्यको आत्मविश्वास और पुरुषार्थसे हीन बना कर देवताओंका दास ही बना दिया था। इस हालतसे उभारने के लिये महावीरने बतलाया था कि मनुष्यका दर्जा देवताओंसे बहुत ऊंचा है। मनुष्य अपने बुद्धिबल और योगबलसे न केवल देवताओंको अपने आधीन कर सकता है बल्कि वे काम भी कर सकता है, जो देवताओंके लिये असम्भव हैं। मनुष्य योगसाधनासे अणिमा, गरिमा आदि अनेक सिद्धियोंको हासिल कर सकता है और अपनेको परमात्मा तकसे मिला सकता है।

मनुष्यका सुख दुःख देवताओंके आधीन नहीं है। बल्कि स्वयं अपनी ही वृत्तियों और कृतियोंके आधीन है—जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। कर्मसे ही स्वर्ग और कर्मसे ही नरक मिलता है। इस लिये मनुष्यको कर्म करनेमें बड़ा सावधान होना चाहिये। संसार के सभी जीव स्वभावसे सौम्य और श्रेष्ठ हैं, ऊर्ध्वगामी हैं। सभीमें परमात्मत्व ओतप्रोत है—अन्तर केवल उनके विकासमें है जीवोंका यह विकास जहां उनके निजी भावोंपर निर्भर है वहां बाहिरके द्रव्य, क्षेत्र और काल पर भी निर्भर है। इस भीतर और बाहिरकी स्थितिका आपसमें बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है एकका प्रभाव दूसरे पर निरन्तर पड़ता रहता है। इन स्थितियोंकी प्रतिकूलतामें जीवका पतन होता है और इनकी अनुकूलतासे उसका उद्धार होता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने भावोंके सुधारके

---

(६) R. B Ramprasad Chanda—Survival of the Prehistoric civilisation of the Indus Valley—pp. 25-33.

साथ अपने देश कालका भी सुधार करता रहे। वास्तवमें लोकका सुधार अपना ही सुधार है। और परकी सेवा अपनी ही सेवा है। संसारमें जीवको जितनी जितनी मात्रा में स्वतन्त्रता, सुविधा, सहायता और नेक सुझाव मिलते चले जाते हैं, उसका जीवन उतना ही विकसित होता चला जाता है। इस लिये मनुष्यका सबसे बड़ा धर्म यह है कि वह सब जीवोंको अपने समान समझे और अपने समान ही उनके साथ मैत्रीका व्यवहार करे। जो जीव दुःखी और भयभीत हैं, पराधीन और असहाय हैं उनके साथ दया का व्यवहार करे। जो अपनेसे गुणोंकी अपेक्षा बड़े हैं उन के प्रति श्रद्धा और प्रमोदका वर्ताव करे। जो जीव विपरीत-बुद्धि वा दुर्व्यवहारी हैं, उनसे भी क्षुभित होकर हिंसाका व्यवहार न करें, बल्कि उन्हें रोग और विकारग्रस्त समझ कर उनके साथ माध्यस्थ्यवृत्तिसे रहकर चिकित्सकके समान बर्ताव करे।

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद—

विचारकोंके हठाग्रह, पक्षपात और एकान्त-पद्धतिके कारण लोगोंमें जो अहंकार संकीर्णता, मनोमालिन्य, कलह क्लेश बढ़ रहे थे। उन्होंने भगवान महावीरके ध्यानको विशेषरूपसे आकर्षित किया था। भगवानने इस एकान्त पद्धतिको ही ज्ञान अवरोध, मानसिक संकीर्णता, हार्दिक द्वेष और मौखिक वितण्डोंका कारण ठहराकर इसकी कठोर समालोचना की थी और बतलाया था कि सत्य, जिसे जाननेकी सबमें जिज्ञासा बनी है, जिसके सम्यक्ज्ञानसे मुक्तिकी सिद्धि होती है, बहुत ही गहन और गम्भीर है, वह अनेक अपेक्षाओंका पुञ्ज है, अनेक विरोधोंका संगम है, वह भीतर और बाहिर सब ओर फैला हुआ है, वह अनादि और अनंत है, वह हमारी सारी बौद्धिक मान्यताओं और विधिनिषेधरूप सारे शब्द-वाक्योंसे बहुत ऊपर है। वह अनेकान्तमय है, इस लिये उसके अध्ययनमें हमें बहुत ही उदार होना चाहिये और तत्सम्बन्धी सभी विचारोंको समझने और अपनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

भगवानके प्रति लोगोंकी श्रद्धा—

इस तरह महावीरका जीवन इतना तपस्वी त्यागपूर्ण, दयामय, सरल और पवित्र था; उनके विचार इतने उदार, व्यापक और समन्वयकारक थे, उनके सिद्धान्त ऐसे आशा-पूर्ण उत्साहवर्धक और शान्तिदायक थे कि वह अपने जीवनकालमें ही अर्हन्त, सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि नामोंसे प्रसिद्ध हो चले थे। केवलज्ञानप्राप्तिके पीछे वह भारतके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, मध्य और दक्षिणके देशोंमें जहां कहीं भी गये, सभी राजा और रंक, पतित और प्रतिष्ठित, ब्राह्मण और क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, पुरुष और स्त्रीने उनका खूब स्वागत किया, सभीने उनके उपदेशों को अपनाया और सभी उनके मार्गके अनुयायी बने। इनमें वैशालीके राजा चेटक, अङ्गदेशके राजा कुणिक, कलिङ्गके राजा जितशत्रु, वत्सके राजा शतानीक, सिन्धु-सौवीरके राजा उदयन, मगधके सम्राट श्रेणिक बिम्बसार, दक्षिणके हेमांगदके राजा जीवंधर विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त सम्राट श्रेणिकके अभयकुमार, वारिषेण आदि २३ राजकुमार और नन्दा, नन्दमती आदि १३ रानियाँ तथा उपरोक्त राजाओंमेंसे उदयन और जीवन्धर तो उनके समान ही जिनदीक्षा ले जैनश्रमण बन गये। इनके अलावा वैदिक वाङ्मयके पारंगत विद्वान इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और स्कन्दक जैसे अपनी सैकड़ोंकी शिष्यमण्डली सहित तथा शालिभद्र, धन्यकुमार, प्रीतंकर आदि मगधके धनकुबेर, विद्युच्चर, अञ्जन जैसे डाकू और चण्डकौशिक जैसे महाघातक भी उनके द्वारा दीक्षित हो जैनमुनि हो गये[1]। उस समय उनकी मान्यता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि वह सभीके लिये एक अनुपम आदर्श, धर्म अवतार हो गये थे। सभीके लिये परमशान्ति, परमज्ञान, परमानन्द और विश्वकल्याणके प्रतीक बन गये थे। उस जमानेके लोग उनके आदर्श जीवनको ही दूसरे श्रमण अर्हन्तोंकी पूर्णता और सर्वज्ञता जाँचनेके लिये मापदण्ड की तरह काम में लाते थे[2]।

१ (अ) बा० कामताप्रसाद—भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध—पृ० ६५-६६

(आ) पं० कल्याणविजयजी—श्रमण भगवान महावीर—तीसरा परिच्छेद

२ (अ) Dr. B. C. Law—Historical gleanings p 78.

(आ) Buhler—Indian Sect of the Jainas p. 132.

उस समयके लोगोंकी भगवानके प्रति कितनी श्रद्धा और भक्ति थी, इस बातका अन्दाज़ा लगानेके लिये इतना कहना ही काफी होगा कि भारतके ऐतिहासिक युगमें सब से पहला सम्वत जो कायम हुआ वह इन्हींके निर्वाणकी शुभ स्मृतिमें कायम हुआ था[1]। यह सवत आज भी वीर-सवतके नामसे जैन लोगोंमें प्रचलित है। कुछ विद्वानोंका मत है कि द्वापर युगमें महाराज युधिष्ठरके राज्यारोहणकी स्मृतिमें भी एक सवत भारतमें जारी हुआ था, परन्तु इसका ऐतिहासिक युगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान के तपस्या कालकी बगालप्रान्तगत वह पर्यटन-भूमि जो कभी राढ अथवा लाड नामसे प्रसिद्ध थी, इन्हीं के वीर अथवा वर्धमान नामोंके कारण आज तक वीरभूम और वर्द्धवानके नामसे प्रसिद्ध है[2]।

भारतके धर्मोंमें जैनधर्मका स्थान—

भगवानने अपने जीवनकाल में जिस धर्मकी देशना की थी वह उनके निर्वाणके बाद उनके अनुयायी अनेक त्यागी और तपस्वी महात्माओंके प्रभावके कारण और भी अधिक फैला। वह फैलते फैलते भारतके सब ही देशोंमें पहुच गया और सब ही जातियों के लोगोंने इससे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। यद्यपि इस धर्मके माननेवालोंकी संख्या आज केवल २० लाखके लगभग है और यह धर्म आजकल अधिकतर वैश्य जातियों के लोगोंमें ही फैला हुआ दिखाई देता है परन्तु इससे यह भ्रान्ति कदापि न होनी चाहिये, कि यह धर्म सदासे लघुसंख्यक लोगोंद्वारा ही भारतमें अपनाया गया अथवा यह धर्म सदासे वैश्य लोगोंमें ही प्रचलित रहा है। नहीं-साहित्य, शिलालेख, पुरातत्त्व और स्मारकोंके अगणित प्रमाणोंसे यह बात पूरे तौरपर सिद्ध है कि यह धर्म भारतके उत्तर-दक्षिणमें काम्बोज, गान्धार और बलखसे लेकर सिंहलद्वीप तक और पूर्व-पश्चिममें अंग-बंगसे लेकर सिन्धु, सुराष्ट्र तक सब ही स्थानों और जातियोंमें फैला हुआ था, और इसके माननेवालोंकी संख्या ईसाकी १६ वी सदी अर्थात् मुगल सम्राट अकबरके शासनकाल तक करोड़ से भी अधिक रही है। वास्तवमें इस धर्मका उद्भव क्षत्रिय वीरोंकी योगसाधनासे हुआ है और उन्हींके राजवंशोंकी संरक्षता में ईसाकी १६ वीं सदी तक इसका उत्कर्ष होता रहा है। भारतके ऐतिहासिक युगमें ईसा पूर्वकी छठी सदी से लेकर अर्थात् भगवान महावीरकालसे ईसाकी पहिली सदी तक हम इस धर्मको लगातार विदेह देशके लिच्छवी और मल्ल जातिके क्षत्रियोंमें मगधके शिशुनाग, नन्द और मौर्यराजवंशोंमें मध्यभारतके काशी, कौशल वत्स, अवन्ति, मथुराके राज्यशासकोंमें, कलिंगके खारवंशी सम्राट खारवेल आदिके राजघरानोंमें, सुराष्ट्र राजपूतानाके लोगोंमें, उत्तरमें गान्धार तक्षशिला आदिक देशोंमें, दक्षिणके पाण्ड्य, पल्लव, चेर, चोल आदि तामिल देशोंमें हम इस धर्मको एक आदरणीय धर्मके रूपमें सर्वत्र फैला हुआ देखते हैं। मौर्यसाम्राज्यके बिखर जानेके उपरान्त, ईसा पूर्वकी दूसरी सदीमें जो यूनानी, इण्डो सीथियन अथवा शक जातिके लोग एक दूसरेके बाद उत्तरीय देशोंसे आकर भारतके पश्चिम उत्तरके पञ्जाब, सिंध, मालवा आदि प्रान्तों के अधिकारी होगये थे, वे भी जैनधर्मसे काफी प्रभावित हुए थे[1]। भारत के प्रसिद्ध यवन राजा मिनेन्द्र (Menander), जो जैन श्रमणोंके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे—'अपने अन्तिम जीवनमें जैनधर्ममें दीक्षित होगये थे'[2]। क्षत्रप नहपाने भी जैनधर्मके बड़े प्रेमी थे। उनके सम्बन्ध में विद्वानोंका विचार है कि वह जैनधर्ममें दीक्षित होकर भूतबलि नामके एक दिगम्बर जैन आचार्य बन गये थे जिन्होंने षट्खण्डागम शास्त्रकी रचना की थी[3]। मथुराके प्रसिद्ध जैन पुरातत्त्वसे सिद्ध है कि कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव शक राजाओंके शासनकालमें जैनधर्मकी मान्यता

(इ) मज्झिम निकाय—१४ वा सुत्त, अङ्गुत्तर निकाय १-२२०

१ (अ) महा० हीराचन्द ओझा—भारतीय प्राचीन लिपिमाला। पृ० २, ३

(आ) लोकमान्य तिलक-सन् १९०४ में जैनकान्फरेंसमें दिया हुआ भाषण।

२ (अ) N. L. Dey. Ancient Indian Geographical Dictionary p. 164

(आ) नागेन्द्रनाथ वसु—बंगला विश्वकोष— १९२१

१ Dr. B C. Law Historical Gleaning p 78

२ वीर-वर्ष २, पृ० ४४६-४४९

३ बा० कामताप्रसाद—दिगम्बरत्व पृ० १२०

बहुत फैली हुई थी।

मध्यकालीन युगमें भी यह धर्म राजपूतानेके राठौर, परमार, चौहान, गुजरात और दक्षिणके गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, कलचूरि और होयसल आदि राजवंशों का राजधर्म रहा है, गुप्त, आन्ध्र और विजयनगर साम्राज्य कालमें भी इस धर्मको राज्यशासकोंकी ओरसे सदा सम्मान मिलता रहा है। यह इन्हींकी संरक्षता और प्रोत्पादनका फल है कि जैनधर्म मध्ययुगमें श्रवणबेलगोल और कारकल की विशालकाय गोम्मटेश्वरकी मूर्तियों और आबू पर्वतके दिलवाड़ा मन्दिर, चित्तौड़गढ़के जैनकीर्तिस्तम्भ जैसे लोक-प्रसिद्ध स्मारकोंको पैदा कर सका है और समन्तभद्र, सिद्ध-सेन दिवाकर, सिद्धसैन गणि, पूज्यपाद-देवनन्दी, अकलंक-देव, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, सोमदेव, माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, हरिभद्रसूरि, नेमिचन्द्र सि० चक्रवर्ति आदि रचित अनेक साहित्य और दर्शनशास्त्रके अमूल्य रत्नोंको जन्म देसका है।

जैनधर्म और बाहिरके देश—

जैनधर्मको न केवल भारतमें, बल्कि भारतसे बाहिरके देशोंसे भी सम्पर्क रखने, वहां पर सन्मान पाने और वहां के संस्कृति-प्रवाहको प्रभावित करनेका सदा गौरव प्राप्त रहा है। महावंश[१] नामक बौद्ध ग्रन्थमें साबित है कि ४३७ ईस्वी पूर्वमें सिंहलद्वीपके राजाने अपनी राजधानी अनुरुद्ध-पुरमें जैनमन्दिर और जैनमठ बनवाये थे, जो ४०० साल तक कायम रहे। इतना ही नहीं भगवान महावीरके समय से लेकर ईसाकी पहिली सदी तक मध्य एशिया और लघु एशियाके अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, फिलिस्तीन, सीरिया आदि देशोंके साथ अथवा मध्यसागरसे निकटवर्ति यूनान, मिश्र, ईथोपिया (Ethopia) और एबा-सीनिया आदि देशोंके साथ जैन श्रमणोंका सम्पर्क बराबर बना रहा है। यूनानी लेखकोंके कथनसे जहां यह सिद्ध है कि पायथेगोरस (Pythagoras) पैरहो (Pyrrho), डायजिनेस (Diogenes) जैसे यूनानी तत्त्व-वेत्ताओंने भारतमें आकर जैनश्रमणोंसे शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी वहां यह भी सिद्ध है कि यूनानी बादशाह सिकन्दर महानके साथ भारतमें जाने वाले जैन ऋषि कल्याणके समान सैकड़ों जैनश्रमण समय समय पर उक्त देशोंमें जाकर अपने धर्मका प्रचार करते रहे हैं और उन देशोंमें अपने मठ बनाकर रहते रहे हैं[१]। जैन साहित्यमें भी विदित है कि मौर्यसम्राट अशोकके पोते सम्राट् सम्प्रतिने ईसाकी तीसरी सदीमें बहुतसे जैनश्रमणोंको जैनधर्म-प्रचारार्थ अनार्य देशोंमें भिजवाया था[२]।

जैनधर्म और ईसाईधर्म—

कितने ही विद्वानोंका मत है कि प्रभु ईसाने इन्हीं श्रमणोंसे, जो बहुत बड़ी संख्यामें फिलिस्तीनके अन्दर अपने मठ बना कर रहते थे, अध्यात्मविद्याके रहस्यको पाया था। और इन्हींके आदर्श पर चल कर उसने अपने जीवनकी शुद्धिअर्थ आत्म-विश्वास, विश्वप्रेम, जीव-दया, मार्दवक्षमा, संयम, अपरिग्रह, प्रायश्चित्त, समता आदि धर्मो की साधना की थी[३]। इससे भी आगे बढ़कर अनेक प्रामाणिक युक्तियोंके आधार पर अब विद्वानोंका यह निश्चय होता जा रहा है कि ईसा जब १३ सालके हुए और घर-वालोंने उनकी शादीकी सलाह करना शुरू की, तो वह घर छोड़ कर कुछ सौदागरोंके साथ सिन्धके रास्ते हिन्दुस्तानमें चले आये, वह जन्मसे ही बड़े विचारक और सत्यके खोजी थे और दुनियाके भोग-विलासोंसे उदासीन थे। यहां आकर वे बहुत दिनों तक जैनश्रमणोंके साथ रहे, बौद्ध भिक्षुओंके साथ भी रहते रहे, फिर वे नेपाल और हिमालय

१ Prof. Buhler, An Indian Sect of the Jainas p. 37.

१ (अ) Dr. B. C. Law – Historical Gleanings' p. 42.

(आ) पं०सुन्दरलाल–विश्ववाणी अप्रैल १९४२p.४९४

(इ) Sir William James—Asiatic Researches vol III to 6

(ई) Megasthenes—Ancirent India p. 104.

(उ) बा० कामताप्रसाद—दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि पृ० १११–११३, २४३,

२ श्री हेमचन्द्राचार्य कृत परिशिष्ट पर्व—श्लोक ६९–१०२

३ पं० सुन्दरलाल–हजरत ईसा और ईसाई धर्म पृ० २२

होते हुए ईरान चले गये और वहांसे अपने देशमें जाकर उन्होंने अहिंसा और विश्वप्रेमका प्रचार शुरू कर दिया[1]। प्रभु ईसाने अपने आचार-विचारके मूल तत्वोंकी शिक्षा श्रमणोंसे पाई थी। इस बातसे भी सिद्ध है कि उन्होंने अपने उपदेशोंमें जिन तीन विलक्षण सिद्धान्तों पर जोर दिया है वे देवतात्मप्रधान यहूदी संस्कृतिसे सम्बन्ध नहीं रखते, वे तो भारतकी श्रमण संस्कृतिके ही मूल आधार हैं— वे हैं आत्मा और परमात्माकी एकता, आत्माका अमरत्व, आत्माका दिव्यजीवन। ईसा सदा अपनेको ईश्वरका बेटा कहा करते थे[2]। जब आदमी उनसे पूछते कि ईश्वर कहां है तो वह अपनी ओर संकेत करके कहते कि वह स्वयं ईश्वर का साक्षात् रूप है, जो उसे देखते और जानते हैं वे ईश्वर को देखते और जानते हैं[3] चूँकि वह और ईश्वर दोनों एक हैं[4]। वह अपने उपदेशोंमें पुनर्जन्म और अमर जीवन के सिद्धान्तों पर भी काफी प्रकाश डाला करते थे। वह कहा करते थे कि यह मेरा पहिला जन्म नहीं है, मैं अबसे पहिले भी मौजूद था—हजरत अब्राहमके समयमें भी मौजूद था[5]। जो जीवनकी अमरता और पुनर्जन्ममें यकीन करता वह कभी नहीं मरेगा[6]। बिना पुनर्जन्मके सिद्धान्तको माने दिव्य साम्राज्यकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती[7]। दिव्य साम्राज्य (Kingdom of heaven) से उनकी

१ पं० सुन्दरलाल—हजरत ईसा और ईसाई धर्म। १६२
२ Bible- St. John 5-18
३. ,, ,, 8-19.
४ ,, ,, 10-30
("I and my father are one")
५ Bible- St John 8-56-59
(Verily, verily. I say unto you, before Abraham was 'I am'.)
६. Bible- St. John. 10-25
"I am the resurrection and the life, he that believeth in me though, he were dead, yet shall he live"
७. Bible- St. John 3- 3
"Verily verily I say into you, except a man be born again, he cannot see the Kingdom of God"

मुराद जीवनकी उस अवस्थासे थी जब मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं, वासनाओं, कषायोंको विजय करके अपना स्वामी हो जाता है, जन्म मरणके सिलसिलेको खतम करके अक्षय सुख और अमृतका मालिक होजाता है।

ये उक्त सिद्धान्त फिलिस्तीनमें बसने वाली यहूदी जातिकी प्रचलित मान्यताओंसे बिलकुल विभिन्न थे, यहूदी लोग इनके प्रचारको नास्तिकता समझते थे और इन सिद्धान्तोंके प्रचारको रोकनेके लिये वे सदा प्रभु ईसाको ईंट पत्थरोंसे मारनेको तय्यार रहते थे। इन्हीं सिद्धान्तोंके प्रचारके कारण प्रभु ईसाको पकड़ कर उनके विरुद्ध अभियोग चलाया गया था और उन्हें सूलीकी सजा मिली थी[1]। प्रभु ईसाको अपने जिन आध्यात्मिक आचार-विचारोंके कारण उमरभर अपने देशवासियोंसे पीड़ा और यन्त्रणा सहनी पड़ी, वही पीछेसे देशवासियोंकी सनबुद्धि द्वारा अपनाये जाकर और देशकी पुरानी यहूदी संस्कृतिकी अनेक मान्यताओं और प्रथाओंसे मिलकर ईसाईधर्मके रूपमें प्रकट हुए। वास्तवमें ईसाईधर्म श्रमणसंस्कृतिका ही यहूदी संस्करण है।

भारत और जैन-संस्कृति—

जहाँ तक भारतका सवाल है, उसके जीवन पर तो जैन-संस्कृतिने बहुत ही गहरा प्रभाव डाला है, जैसा कि लोकमान्य तिलकका मत है—इसके अहिंसा तत्वने तो भारतीय रहन सहन पर एक अमिट छाप लगाई है। पूर्वकालमें यज्ञोंके लिये जो असंख्य पशुओंकी बलि होती थी वह जैन अहिंसाके प्रचारसे ही बन्द हुई है[2]। इस धर्मने यहांके खान-पानमें भी बहुत बड़ा सुधार किया है। भारतकी जो जो जातियां इसके प्रभावमें आईं सभी मांसाहारको छोड़ कर शाक-भोजी होती चली गईं। इस तत्वने भारतके फौजदारी कानूनके दण्डविधानको भी काफी नरम बनाया है। इससे सजाओंकी अमानुषिक सख्ती और बेरहमीमें बहुत कमी हुई है। इस धर्मके कारण दण्डविधानकी जगह प्रायश्चित्तविधानको विशेष स्थान मिला है[3]। यह

१ पं० सुन्दरलाल—हजरत ईसा और ईसाईधर्म पृ० १३३-१४०
२ लोकमान्यतिलक—१९०४ में जैन कान्फ्रेंसमें दिया हुआ व्याख्यान।
३ ओझा जी—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० ३४

धर्म लोगोंके जीवनमें उतरते उतरते इतना गहरा घर कर गया कि इसके विरुद्ध चलनेमें सभीको लोकनिन्दाका भय होने लगा। इसी कारण महावीरके उत्तरकालमें हिन्दु स्मृतिकारों और पुराणकारोंने जितना आचार-सम्बन्धी साहित्य लिखा है, उस सबमें उन्होंने नरमेध, अश्वमेध, पशुबलि और मांसाहारको लोकविरुद्ध होनेसे त्याज्य ठहराया है[१]।

जैनधर्मके आध्यात्मिक विचारोंका भी भारतीय संस्कृति पर कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। पशुबलि और मांसाहार के बन्द होनेसे याज्ञिक क्रियाकाण्डको भी बहुत धक्का पहुंचा, और होते होते वह भी सदाके लिये भारतसे विदा हो गया। उसके स्थानमें सदाचारको बड़ी मान्यता मिली। यम नियम व्रत, उपवास, दान, संयम ही लोगोंके जीवनके पुनः धर्म बन गये। ज्ञान, ध्यान, सन्यास और तपस्वी त्यागी वीर महापुरुषोंकी भक्तिके पुराने आध्यात्मिक मार्गोंका पुनरुत्थान हुआ। महावीरके उपरान्त वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों जैसे क्रियाकाण्डी साहित्यकी बजाय हिन्दुओंमें उपनिषद् ब्रह्मसूत्र, गीता, योगवासिष्ठ अथवा रामायण जैसे आध्यात्मिक और भक्तिपरक ग्रन्थोंको अधिक महत्व मिला। इस सम्बन्धमें बहुतसे विद्वानोंका मत है कि हिन्दुओंमें जो २४ अवतारोंकी कल्पना पैदा हुई, उसका श्रेय भी जैनियोंकी २४ तीर्थङ्कर वाली मान्यताको ही है।[२] खैर कुछ भी हो, इतनी बात तो प्रत्यक्ष है कि इन्द्र, अग्नि, वायु, वरुण सरीखे प्रोत्साप्रिय मनोकल्पित देवताओंके स्थानमें जो महत्ता भगवान कृष्ण और भगवान राम जैसे ऐतिहासिक क्षत्रिय वीरोंको मिली है उसका श्रेय भी भारतकी उस प्राचीन श्रमण संस्कृतिको ही है, जो सदा महापुरुषोंको साक्षात् देवता अथवा दिव्य अवतार मानकर पूजती रही है।

भारतीय कला और साहित्यमें जैनधर्म का स्थान—

इन अध्यात्मवादी श्रमणोंके उपासक लोगोंमें अपने माननीय तीर्थङ्करोंकी मूर्तियां और मन्दिर बनाने, उनकी पूजा भक्ति करने और उत्सव मनानेकी जो प्रथायें प्राचीन कालसे जारी थीं उनसे महावीरके उत्तरकालमें—याज्ञिक क्रियाकाण्डोंके उत्सव बन्द होजानेपर—भारतके अन्य धर्म वाले बड़े प्रभावित हुए। ईसाकी पहली और दूसरी सदीके क़रीब हम देखते हैं कि जैनियोंके समान बौद्ध और हिन्दु भी अपने अपने माननीय महापुरुषोंकी मूर्तियाँ और मन्दिर बनाने, उनकी भक्ति करनेमें लग गये। उस समय शुरूमें बौद्धोंने भगवान बुद्ध और हिन्दुओंने भगवान कृष्ण की मूर्तियां निर्माण कीं। पीछे तो इस प्रथाने इतना जोर पकड़ा और मूर्तिकलाने इतनी उन्नति की, कि भारतमें ब्रह्मा, शिव, पार्वती, गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती, कृष्णके अतिरिक्त विष्णुके अन्य अवतारों, बोधिसत्व आदि अनेक प्रकारकी सौम्य मूर्तियोंकी एक बाढ़सी आगई। फिर क्या था, जैन, बौद्ध, और हिन्दु सभी धर्मवालोंने अपने अपने महापुरुषों की मूर्तियों और मन्दिर बनाकर सारे भारतको ढांक दिया।

भगवान महावीरने अपने ज़मानेके विभिन्न विचारों और मान्यताओंमें एकता लानेके लिये जिस अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद (Relativity) के सिद्धान्तोंको जन्म दिया था, उसने भारतीय विचारकोंमें सत्यको अनेक पहलुओंसे देखने और जाननेके लिये एक विशेष स्फूर्ति पैदा करदी। इससे भारतको धार्मिक साहित्यके अतिरिक्त सभी प्रकारका साहित्य सृजन करनेमें बड़ी प्रगति मिली। महावीरके उपासकोंने तो इस दिशामें खास उत्साह दिखलाया। उन्होंने भारतके साहित्य और कलाका कोई क्षेत्र भी ऐसा न छोड़ा जिसमें उन्होंने अपनी स्वतन्त्र रचनायें और टीकायें करके उसे ऊँचा न उठाया हो। इसी लिये हम देखते हैं कि अन्य धर्मों की तरह जैनसाहित्य केवल दार्शनिक, नैतिक और धार्मिक विचारोंका ही भण्डार नहीं है बल्कि वह इतिहास, पुराण, कथा, व्याख्यान, स्तोत्र, काव्य, नाटक चम्पू, छन्द, अलंकार, कोष, व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष, गणित, राजनीति, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वनस्पतिविद्या, मृगपक्षिविद्या, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, शिल्पकला और संगीतकला आदिके अनेक लोकोपयोगी ग्रन्थोंसे भी भरपूर हैं[१]। इतिहासज्ञोंके लिये तो जैनियोंके साहित्यमें इतनी अधिक और प्रामाणिक

१—याज्ञवल्क्य स्मृति १-१५६, वृहन्नारदीय पुराण, २२ १२-१६, ओझा जी—मध्यकालीन भा० संस्कृति पृ० ३४

२—ओझा जी मध्यकालीन भा० संस्कृति पृ० १७

१-Dr. Winternitz, History of Indian Lit vol II—pp.. 594, 595

सामग्री भरी हुई है कि इसके अध्ययनसे भारतीय इतिहास की अनेक गुत्थियां आसानीसे सुलझ सकती हैं।

न्यायशास्त्रके क्षेत्रमें तो जैन विद्वानोंकी सेवायें भारत के लिये बहुत ही मूल्यवान हैं। ईसा पूर्वकी छठी सदीमें अक्षपाद गौतमने बुद्धिवाद-द्वारा भौतिकोंके जड़वादका निराकरण करनेके लिये जिस न्यायशास्त्रको जन्म दिया था, उसे गहरे शोध और अनुसन्धान द्वारा पूरी ऊँचाई तक उठाना और उसका अध्यात्मविद्याके साथ सम्मेलन करना जैननैयायिकोंका ही काम था। इसके लिये महा० उपा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे प्रकाण्ड विद्वानने जैनन्यायकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है, उनका कहना है कि ईसाकी पहली सदीमें होनेवाले जैनाचार्य उमास्वाति जैसे अध्यात्म विद्याविशारद तथा छठी सदीके सिद्धसेन दिवाकर और आठवीं सदीके अकलंकदेव जैसे नैयायिक इस भूमि पर बहुत कम हुए हैं[1]।

भारतीय भाषाओंको जैनधर्मकी देन—

भगवान महावीरकी दृष्टि बहुत ही उदार थी और उनका उद्देश्य प्राणीमात्रका कल्याण था; वह अपने सन्देशको सभी तक पहुंचाना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने ब्राह्मणोंकी तरह कभी किसी भाषामें ईश्वरीय भाषा होनेका आग्रह नहीं किया। उन्होंने भाषाकी अपेक्षा सदा भावोंको अधिक महत्ता दी। उनके लिये भाषाका अपना कोई मूल्य न था, उसका मूल्य इसीमें था कि वह भावोंको प्रकट करनेका माध्यम है। जो भाषा अधिकतर लोगोंके पास भावों को पहुँचा सके वही श्रेष्ठ है। भाषाकी श्रेष्ठता उपयोगितापर निर्भर है, जातीयतापर नहीं। इसीलिये उन्होंने अपने उपदेशोंके लिये संस्कृतको माध्यम न बनाकर अर्द्धमागधी नामकी प्राकृत भाषाको माध्यम बनाया, जो उस समय हिन्दुस्तानी भाषाकी तरह भारतके सभी पूर्वीय और मध्य देशोंमें आम लोगों-द्वारा बोली और समझी जाती थी। इस भाषामें न केवल मगधदेशकी बोली ही शामिल थी, बल्कि विदेह, काशी, कौशल, मालवा, कौशाम्बी जैसे आसपासके सभी इलाकोंकी बोलियों शामिल थीं। भगवान की इस उदार परिणतिसे भारतकी सभी बोलियोंको अपने उत्कर्षमें बड़ी सहायता मिली है। इसी कारण जैनधर्म भारतके जिन जिन देशोंमें फैला अथवा जिन जिन कालोंमें से गुजरा, यह सदा उन्हींकी बोलियोंमें ज्ञान देता और साहित्यसृजन करता चला गया। इसलिये जैनसाहित्यकी यह विशेषता है कि यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मागधी शौरसेनी महाराष्ट्री गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, तामिल, तैलगु, कनडी आदि भारतके उत्तर और दक्षिणकी, पूर्व और पश्चिमकी सभी पुरानी और नई भाषाओंमें लिखा हुआ मिलता है[1]। यही एक साहित्य ऐसा है, जिससे कि हम भारतीय भाषाओंके क्रमिक विकासका भली भांति अध्ययन कर सकते हैं।

उपसंहार और कृतज्ञता—

इस तरह भगवान महावीरने अपने आदर्श जीवन और उपदेशसे जिस जैनसंस्कृतिका पुनरुद्धार किया था उसने भारतीय सभ्यता, साहित्य, कला और भाषाओं के विकास और उत्थानमें बहुत बड़ा भाग लिया है। इस भगवान महावीरका, जिसने भारतके विचारको उदारता दी, आचारको पवित्रता दी, जिसने इन्सानके गौरवको बढ़ाया, उसके आदर्शको परमात्मपदकी बुलन्दी तक पहुँचाया, जिसने इन्सान और इन्सानके भेदोंको मिटाया, सभीको धर्म और स्वतन्त्रताका अधिकारी बनाया, जिसने भारतके बाह्य देशों तक अध्यात्म सन्देशको पहुँचाया और उनके सांस्कृतिक स्रोतोंको सुधारा, भारत जितना भी गर्व करे वह सब थोड़ा है*।

पानीपत
२५-४-४५

१—देखो, महा० सतीशचन्द्र द्वारा १९१३में स्याद्वादविद्यालय काशीमें दी हुई स्पीच।

१ Winternitz—History of Indian Lit vol II—pp 594, 595

* यह लेख २५-४-४५ को महावीर-जयन्तीके अवसरपर देहली रेडियो स्टेशनसे ब्राडकास्ट किये गये लेखका संशोधित और परिवर्द्धित रूप है।

जैन अनुश्रुतिका ऐतिहासिक महत्व

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, 'विशारद' एम० ए०, एल-एल० बी०)

जिस प्रकार इतिहास जातीय साहित्यका एक महत्वपूर्ण अङ्ग होता है, उसी प्रकार ऐतिहासिक साधनोंमें जातीय अनुश्रुतिका भी प्रमुख स्थान है। वास्तवमें अनुश्रुति इतिहासकी जननी है। यद्यपि इतिहासकार इतिहास-सृजनका प्रधान निमित्त है तथापि उसकी सफलता अधिकांशमें तत्सम्बंधित उपादानोंपर ही अवलम्बित होती है। इतिहास निर्माणके उपादान वे सर्व साधन और सामग्रियां हैं, जिनके कुशल एवं यथार्थ उपयोगसे योग्य इतिहासकार अतीतका यथावत् चित्र वर्तमानमें हमारी मनःचक्षुओंके सम्मुख ला उपस्थित करता है।

जातीय अनुश्रुति उसका प्रधान उपादान होती है। अनुश्रुतिका अर्थ है- 'इत्येवमनुश्रुतम्' अर्थात् ऐसा अगलों से सुना है, पूर्वजोंसे परम्परागत ऐसा सुनते चले आये हैं। मि० पार्जीटरने अपने 'Ancient Indian Historical Tradition' (प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक अनुश्रुति पृ० १८) नामक ग्रन्थमें 'ट्रैडीशन' शब्दसे तथा पं० जयचन्द्र विद्यालङ्कारने "भारतीय इतिहासकी रूपरेखा" नामक ग्रन्थमें 'अनुश्रुति' शब्दसे यही भाव लिया है। किंतु विशेषरूपसे इसका अर्थ पुराणादिक धार्मिक कथा-ग्रन्थों, आख्यानों तथा धार्मिक साहित्यमें उपलब्ध अन्य ऐतिहासिक निर्देशों तक ही सीमित किया गया है। अस्तु, प्रस्तुत लेखमें 'जैनअनुश्रुति' से हमारा अभिप्राय भी जैन धार्मिक ग्रन्थोंमें उपलब्ध कथानकों, आख्यायिकाओं, वंशावलिओं, पट्टावलिओं, गुर्वावलिओं, चारित्रों, घटनाओं इत्यादिसे है।

आधुनिक इतिहासकार भारतवर्षके नियमित इतिहास का प्रारंभ महाभारत युद्धके उपरान्तसे अर्थात् लगभग १५०० सन् ईस्वी पूर्वसे मानने लगे हैं। किन्तु भारत देश, भारतीय समाज और भारतीय संस्कृतिसे घनिष्टतया सम्बद्ध अनेक महापुरुष तथा महत्वपूर्ण घटनाएँ, जो जातीय जीवनका अङ्ग बने हुए हैं और जिनका एकमात्र आधार जातीय अनुश्रुति ही है—उक्त कालसे पूर्व होचुके हैं। अन्य वैज्ञानिक साधनोंसे उनकी पुष्टि न होनेके कारण आजका इतिहासविशेषज्ञ उन्हें प्रामाणिक इतिहासकी कोटि में नहीं रखता, किन्तु एकाएक उन्हें नितान्त कपोलकल्पित कहनेमें भी हिचकिचाता है।

भारतीय इतिहासका प्राचीन युग महाभारत युद्धके बादसे मुसलमानोंके भारत प्रवेश (८वीं शता० सन् ई०) तक लगभग २२०० वर्षका लम्बा काल है। इसके बहुभागका ढांचा अनुश्रुतिके ही आधारपर बना है, और ज्यों ज्यों उसकी पुष्टि अलिखित-लिखित पुरातत्व, राजमुद्राओं समसामयिक साहित्य, यात्राविवरणों, राजकीय उल्लेखों एवं वर्णनों, वैयक्तिक कथनों, समसामयिक तथा उत्तरकालीन इतिहासग्रन्थों इत्यादि प्रमाणोंके ऐतिहासिक उपादानोंद्वारा होती गई, तत्सम्बन्धी व्यक्तियां तथा घटनाएँ प्रमाणकोटि में आती गईं। मध्य तथा अर्वाचीन युगके इतिहासके लिये अनुश्रुति अवश्य ही गौणतम साधन रह जाती है तथापि सर्वथा अनुपयोगी नहीं।

प्रारम्भमें अनुश्रुति मौखिक ही हुआ करती है किन्तु कालान्तरमें प्रायः लिपिबद्ध हो जाती है। एक समय ऐसा भी था जब कि लिपिका आविष्कार नहीं हुआ था किन्तु समाज, धर्म और सभ्यताके उदयके साथ साथ परस्पर भाव-व्यञ्जनाके लिये उपयुक्त भाषाका आविष्कार अवश्य ही हो चुका था। प्राचीन भारतीय अनुश्रुतिके आधारपर धर्म और समाजके आदि प्रवर्तक, वैदिक साहित्यके महा व्रात्य, हिन्दुपुराण-ग्रन्थोंके छठे अवतार, नाभिपुत्र ऋषभ तथा जैनोंके प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ थे[1]। उन्हीं आदिदेव ऋषभके ज्येष्ठपुत्र भरत चक्रवर्ती भारतके प्रथम

१ 'धर्मका आदि प्रवर्तक'—स्वामी कर्मानन्द

सम्राट[1] थे। प्राचीन यूनानी लेखकोंने भारतीय तत्कालीन अनुश्रुतिके आधारपर जिन भारतीय डायोनिसियस तथा उनके पुत्र हरकुलीज़का वर्णन किया है वह उन्हीं पितापुत्र ऋषभदेव तथा भरतचक्रवर्तीका ही विकृत वर्णन प्रतीत होता है[2]।

भगवान ऋषभदेवने ही सर्वप्रथम सामाजिक व्यवस्था स्थापित की, सभ्यताका प्रचार किया, धर्मका उपदेश दिया और अपनेसे पूर्व भोगभूमिकी अवस्थाका वर्णन किया। उनके पश्चात् समय समयपर होनेवाले अन्य जैन तीर्थंकर अपनेसे पूर्वकी अनुश्रुत-घटनावलिका पुनरुद्धार और प्रचार करते रहे और वह परम्परागत धारणाद्वारसे प्रवाहित होता रहा। ब्राह्मी लिपिके प्रचलनके प्रमाण प्राचीन युगके प्रारम्भ से ही मिलते हैं। किन्तु पूर्वजोंको अपनी धारणाशक्ति और मस्तिष्क-बलपर इतना भरोसा था कि उन्होंने अपनी धार्मिक अनुश्रुतिको तब तक लिपिबद्ध करना आवश्यक नहीं समझा जब तक कि उन्हें विकृत अथवा विस्मृत हो जानेका भय नहीं हुआ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रत्येक जैनतीर्थंकरके उपदेशमें अतीतकी ऐतिहासिक अनुश्रुतिका कथन अनिवार्यरूपसे रहता था। ऐतिहासिक कालके भीतर ही महाभारत कालीन २२ वें जैनतीर्थंकर अरिष्टनेमिने अपनेसे पूर्वकी अनुश्रुत (traditional) घटनावलिका पुनरुद्धार किया। उनके पश्चात् सन् ई० पू० ८४६-७७७ तक २३ वें जैनतीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथने उसका प्रचार किया और अन्तमें सन् ५५७-५२७ ई० पू० तक अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरने अपने धार्मिक उपदेशके साथ साथ उस समय तकके पूर्व इतिहासका भी यथावत वर्णन किया। भगवान महावीरके पश्चात् भद्रबाहु श्रुतकेवली एवं उनके शिष्य सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्यके समय तक भगवान-द्वारा उपदेशित श्रुतज्ञान ज्योंका त्यों चलता रहा।

भगवान महावीरके प्रधान शिष्य गौतमादि गणधरोंने भगवानके उपदेशको द्वादशाङ्गश्रुतके रूपमें वर्गीकरण करके उसका सकलन किया था। द्वादशाङ्गके बारहवें अङ्ग 'दृष्टिवाद' का तृतीय भेद 'प्रथमानुयोग' था। यह अनुयोग मूलमें ५००० पद प्रमाण था। इसमें बारह अतीत जिनवंशों तथा प्रमुख राजवंशोंका संक्षिप्त वर्णन था। साथ ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि त्रेसठ प्राचीन महापुरुषोंके जीवनचरित्र आदि तथा अन्य भी मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील अनेक विशिष्ट स्त्री-पुरुषोंके कथानक थे। तीर्थंकर धर्मप्रवर्तक होनेके कारण 'प्रथमपुरुष' (पुरुषश्रेष्ठ) होते हैं, उनके सम्यक्त्वप्राप्ति लक्षण पूर्वभव आदिकका वर्णन करनेवाला होनेसे, जिनवाणीका यह अङ्ग प्रथमानुयोग कहलाया। दूसरे, जैनाचार्य भारी मनोविज्ञानवेत्ता होते थे। वे जानते थे कि अधिकांश मानवसमाज अल्पबुद्धि होता है, और इसी कारण कथाप्रिय भी। एक तो अपने पूर्वजों की स्मृतिको, उनके इतिवृत्तको स्थायी रखनेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वभावतः होती है। दूसरे, वह गूढ़ धार्मिक सिद्धान्तों, तत्त्वज्ञान एवं शुष्कचारित्र नियमोंकी इतनी रुचि और शीघ्रताके साथ हृदयङ्गत नहीं कर पाता जितनी कि अपनेसे पूर्वमें हुए महापुरुषोंके जीवन-वृत्तान्तों तथा पुण्य-पाप फलमयी दृष्टान्तोंकी। इन कथानकोंको सर्व ही जनसाधारण-आबालवृद्ध स्त्री पुरुष-बड़े चावसे पढ़ते और सुनते हैं, प्रभावित होते हैं तथा पापसे भय और पुण्यसे प्रीति करना सीखते हैं। यह जानकारी और विश्वास होनेसे कि उक्त कथानक सच्चे और ऐतिहासिक हैं, उनका प्रभाव विशेष होता है। वैसा एक कपोलकल्पित समझा जानेवाली कहानी-उपन्यासादिका नहीं होता। इसी मनोवैज्ञानिक तत्त्वको दृष्टिमें रखते हुए जैनाचार्योंने 'प्रथम' का अर्थ अव्युत्पन्न मिथ्यादृष्टि[3] भी किया कारण कि इस कोटिमें अधिकांश जनसाधारण परिगणित हो जाते हैं। ऐसे आत्मसंवेदन रहित, धर्ममार्गपर न आरूढ हुए इन सामान्यबुद्धि मनुष्योंके लिये जो साहित्यका अङ्ग, जातीय अनुश्रुतिके आधार पर जैनाचार्योंने सुरक्षित रक्खा उसे उन्होंने 'प्रथमानुयोग' नाम दिया।

भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् उस महाविपुल श्रुतज्ञान का धीरे धीरे ह्रास होने लगा, किन्तु जैनाचार्योंने उसके प्रयोजनभूत तथा उपयोगी अंशोंको लुप्त अथवा विस्मृत

१ भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ०१४६, भारतका प्रथमसम्राट्

२ Mc. Crindle's Ancient India.

३ 'मोक्षमार्गप्रकाश'—पं० टोडरमल्लजी।

नहीं होने दिया और जैन तत्त्वज्ञान, जैनदर्शन तथा जैन आचारशास्त्रकी भांति प्राचीन भारतीय इतिहासको भी 'नामावलीनिबद्ध गाथाओं' तथा कथासूत्रोंके रूपमें सुरक्षित रक्खा। वे महावीरकालीन तथा उनके पश्चात्‌की घटनावलि तथा इतिहास और विशिष्ट व्यक्तियोंके जीवनचरित्रोंको भी उन्हींमें निबद्ध करते गये। अन्तमें, सन् ईस्वीपूर्व १ ली शताब्दीमें अन्य जैन धार्मिक विषयोंकी भांति जैन प्राचीन अनुश्रुति भी लिपिबद्ध होने लगी।

वर्तमानमें ज्ञात अथवा उपलब्ध साहित्यकी दृष्टिसे ही सन् ३ ईस्वी (वि० सं० ६०) में आचार्य विमलसूरिने प्राकृत 'पउमचरिउ' ग्रन्थकी उक्त नामावलि निबद्धगाथाओं तथा कथासूत्रोंके आधार पर रचना की। ३ री शताब्दीके लगभग शिवकोटि आचार्यने अपने 'भगवती आराधना' ग्रन्थ में पचासों अनुश्रुतियोंका उल्लेख किया है। ४वी शताब्दी की 'तिलोयपरणत्ति' में भगवान महावीरके पश्चात्‌की आचार्य-परम्परा तथा एक हजार वर्ष पर्यन्तकी राज्य-वंशावलि मिलती है। ६ठी शताब्दीमें परम्परागत कल्प-सूत्रादि श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ भी लिपिबद्ध किये जाने लगे। इनमें प्राचीन, महावीरकालीन तथा पीछेकी भी अनुश्रुतियां सुरक्षित हैं, यद्यपि कहीं कहीं विकृत रूपमें। ७ वी शताब्दिमें रविषेणाचार्यने पद्मचरित्र, जटासिंहनन्दि ने वरांगचरित्र, महाकवि धनञ्जय ने द्विसधान महाकाव्यकी रचनाएँ की। ८ वी शताब्दीमें आ० हरिषेणने प्रसिद्ध कथाकोष, आ० जिनसेनने आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय आदि ग्रन्थ रचे। ६ वी शताब्दीमें आ० गुणभद्रने उत्तरपुराण, जिनसेन द्वि० ने हरिवंशपुराण, महाकवि पुष्पदन्तने अप-भ्रंश महापुराण, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ आदि रचनाएँ की।

इसके उपरान्त उपर्युक्त तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों, अनुश्रुतियों (Traditions) आदिके आधारपर सैकड़ों पुराण, चरित्र, कथाग्रन्थ, गद्यपद्य काव्य, चम्पू, रासा आदिके रूपमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कनडी, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि विविध भाषाओंमें रचे जाते रहे हैं। सुदूर दक्षिणकी तामिल, तैलगु भाषाओंमें भी ईस्वीसन्‌के प्रारम्भ समयसे ही अनेक प्रसिद्ध एवं विशाल-उच्चकोटिके जैन काव्यकथाग्रन्थ मिलते हैं। इस प्रकार जैन अनुश्रुतिके रूपमें प्राचीन तथा शुद्ध भारतीय अनुश्रुति देशके कोने-कोने में सहस्र धाराओंमें निरन्तर प्रवाहित होती रही तथा सुरक्षित बनी रही।

इसके अतिरिक्त जैन विद्वानोंने बहु संख्यक शिलालेखों, लेखाभिलेखों, प्रतिमालेखों, मुद्रालेखों, ताम्रपत्रों प्रज्ञप्त-पत्रों, ग्रन्थप्रशस्तियों, पुष्पिकाओं, पट्टावलियों, गच्छावलियों, गुर्वावलियों, राजवंशावलियों, ग्रन्थदाताओं, प्रतिलिपिकारों, तत्कालीन राज्याधिकारियों सम्बन्धी सूचनाओं—तथा 'मूल-नेणसीकी ख्यात' जैसे स्वतन्त्र ऐतिहासिक ग्रन्थोंके रूपमें विपुल ऐतिहासिक सामग्री अन्य भारतीय समाजोंकी अपेक्षा कहीं अधिक निष्पक्ष, स्पष्ट, निश्चित कालक्रमानुसार और प्रमाणीक ढङ्गसे हमें प्रदान की है। उनमें प्राप्त प्रदेशों, राज्यों, नगरों, स्थानविशेषोंके निर्देश भौगोलिक-इतिहास की दृष्टिसे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

प्राचीन भारतीय पुरातत्व जैन अनुश्रुतिका पूर्णतया समर्थन करता है। डा० भगवानलाल इन्द्र, मि० लुइस-राइस, प्रो० बूल्हर इत्यादि विद्वानोंने उड़ीसा, मथुरा तथा मैसूरप्रान्तस्थ जैन पुरातत्वके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा है। उनका मत है कि इन प्रान्तोंमें पाये जाने वाले प्राचीन जैन शिलालेख जैनोंकी प्राचीन अनुश्रुतिका अधिकांशमें समर्थन करते हैं और सिद्ध करते हैं कि ईस्वी सन्‌के पूर्वकी शताब्दियोंमें जैनसमाज भारतवर्षके दूरस्थ प्रदेशों तक फैला हुआ एक सम्पन्न और प्रमुख समाज था। जैनग्रन्थोंमें उल्लिखित बातोंकी सचाईका भारी समर्थन अभी हालमें ही प्रकाशित बौद्धनिकाय ग्रन्थोंसे भी होता है जो पर्याप्त प्राचीन है[१]।

प्रो० बूल्हर अपने "जैन अनुश्रुतिकी प्रामाणिकता"[२] नामक लेखमें अपना तथा डा० जैकोबीका मत इस विषयमें उल्लेख करते हैं और सिद्ध करते हैं कि जैन अनुश्रुतिकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं। उनका कहना है कि जैन अनुश्रुति ही क्यों विशेष कड़ी परीक्षा तथा असाधारण आलोचनाकी पात्र बनाई जाय, यदि उसका समर्थन अन्य स्वतन्त्र आधारोंसे, ऐतिहासिक विवरणोंसे तथा अन्य

१ Encyclo Brit. Vol. XXIX p. 661-662
२ On the Authenticity of Jaina Tradition—by Buhler, p. 180.

सम्प्रदायोंकी अनुश्रुतियोंसे हो तो उसे पूर्णतया विश्वसनीय मानना चाहिये। और यदि इस प्रकारका समर्थन न भी मिले तो उक्त विषयमें जैन सिद्धान्त स्याद्वादका उपयोग करना चाहिये—अर्थात यह भी सत्य हो सकता है, ऐसा निर्णय देना चाहिये।"

स्व० बैरिस्टर श्री के० पी० जायसवालने ज़ोरके साथ यह लिखा था कि "जैनोंके यहां कोई २५०० वर्षकी संवत गणनाका हिसाब हिन्दुओं भरमें सबसे अच्छा है। उससे विदित होता है कि पुराने समयमे ऐतिहासिक परिपाटीकी वर्षगणना यहां थी। और जगह लुप्त और नष्ट होगई, केवल जैनोंमे बच रही। जैनोंकी गणनाके आधार पर हमने पौराणिक और ऐतिहासिक बहुतसी घटनाओंको जो बुद्ध और महावीरके समयसे इधरकी हैं, समयबद्ध किया और देखा कि उनका ठीक मिलान जाती हुई गणनासे मिल जाता है। कई एक ऐतिहासिक बातोंका पता जैनोंकी ऐतिहासिक लेख पट्टावलियोंमे ही मिलता है[१] आदि।

एक अन्य अजैन विद्वानके शब्दोंमे—"जैन ग्रन्थोंके मङ्गलाचरण और प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े कामकी चीजे हैं, इतिहास—प्रणेता अन्वेषकोंके लिये ये कितने काम की हैं इस बातका सहजहीमे पता लग सकता है। बड़े दु:खकी बात है कि भारतके इतिहास लेखकोंने पारसी, अरबी आदि अन्यान्य सम्प्रदायके साहित्य एवं इतिहासका अनुशीलन करनेका कष्ट तो उठाया किन्तु भारतीय साहित्य तथा इतिहासके सर्वश्रेष्ठ साधन जो जैनग्रन्थ हैं उनकी ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया[२]।"

इस प्रकार जैन अनुश्रुतिका मूल्य उन सभी पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वानोंने भले प्रकार समझा है जिन्होंने उसका किञ्चित भी अध्ययन किया है। वास्तवमें अनेक ऐतिहासिक गुत्थियां जो आज तक उलझी पड़ी हैं वे जैन अनुश्रुतिके सदुपयोगसे आसानीसे सुलझाई जा सकती हैं। कितने ही ऐतिहासिक भ्रमोंका उसकी सहायतासे निराकरण होसकता है। उदाहरणके लिये, महावीर, बुद्ध, विक्रम, शक आदि संवतों के प्रचलनकाल-विषयक जो मतभेद और शङ्काएँ विद्वानों मे चली आरही हैं उनका सबका समाधान यदि केवल जैन अनुश्रुतियोंके आधारपर ही किया जाय तो आसानीसे होजाय[३]।

जैन अनुश्रुतिका आधार जैसा कि ऊपर कहा जाचुका है, अति प्राचीन प्राग् ऐतिहासिक कालसे चली आई तथा उत्तर समयमें निरन्तर सर्वद्धित होती गई परम्परा है। वह परम्परा भगवान महावीर-द्वारा पुन. संगठित जैन श्रमण-संघमे उपाध्याय, उच्चारणाचार्य, वाचकाचार्य, पृच्छकाचार्य, इत्यादि अनेक वर्गके विद्वान श्रमणों-द्वारा सुरक्षित रक्खी गई। उपाध्यायोंका कार्य पठन-पाठन होता था, वाचकाचार्यो का कार्य अनुश्रुति एवं सिद्धान्तका वाचन होता था, उच्चारणाचार्य उच्चारणकी शुद्धता बनाये रखते थे, पृच्छकाचार्य प्रश्नोत्तरों द्वारा विविक्षित विषयोंको अस्पष्ट अथवा विस्मृत न होने देते थे। ये जैन श्रमण गृहत्यागी, अपरिगृही, निस्पृही, ज्ञान-ध्यान-तप-लीन परोपकारी साधु होते थे। ईर्षा द्वेष पक्षपात आदिसे उन्हें कोई सरोकार न था। धर्म-साधन तथा धर्म-प्रचार ही उनका उद्देश्य था। अत. असत्य, असगत, पक्षपातपूर्ण, अप्रामाणिक बातोंके प्रचारकी उनके द्वारा विशेष सम्भावना न थी।

इसके अतिरिक्त, जैन अनुश्रुतिका लिपिबद्ध होना भी हिन्दु अनुश्रुतिके साथ-साथ ही हुआ, खासकर बौद्ध अनुश्रुतिके लिपिबद्ध होनेसे काफी पहिले। इस प्रकार लिपिबद्ध होनेके समयकी अपेक्षा भी जैन अनुश्रुति, हिन्दु, बौद्ध, जैन—तीनों धाराओंमे सर्व प्राचीन ही ठहरती है। फिर बौद्ध अनुश्रुति भारतेतर प्रदेशोंमे विदेशियों द्वारा संकलित हुई। वह म० बुद्ध पूर्वके कालके सम्बन्धमें प्राय मौन ही है। विदेशी प्रभाव उसमें स्पष्ट है। हिन्दु अनुश्रुतिका आधार प्राचीन वैदिक अनुश्रुति था अवश्य, किन्तु वैदिक धर्मके पौराणिक शैव, वैष्णव आदि विविध विभिन्न सम्प्रदायोंमें रूपान्तरित होजानेसे हिन्दु पौराणिक अनुश्रुति का सीधा एक रस सम्बन्ध प्राचीन वैदिक अनुश्रुतिसे न रह सका। कालदोष और सम्प्रदाय भेदोंके कारण उसमे अनेक विचार तथा मत विरोध आगये। तथापि प्राचीन इतिहासके लिये उसका उचित मूल्य मि० पार्जीटर, डा० जायसवाल, प्रो० भण्डारकर, डा० राम चौधरी, प० जयचन्द्र विद्या

१ जैनसाहित्य संशोधक ख० १ अ० ४—२११

२ जैनसिद्धान्त भास्कर भा० २ पृष्ठ १०५

३ भगवान महावीर और उनका समय-जुगलकिशोर मुख्तार

लंकार, पं० सत्यकेतु विद्यालंकार आदि अनेक विद्वान इतिहासकारोंने समझा, और यथासम्भव उसका उपयोग भी किया।

किन्तु खेदका विषय है कि जैन अनुश्रुतिका—जो कि वैदिक अथवा हिन्दु अनुश्रुतिसे कम प्राचीन नहीं है, और बौद्ध अनुश्रुतिसे अवश्य ही प्राचीन है और जो उक्त दोनों अनुश्रुतियोंकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक, संगत, स्वतन्त्र ऐतिहासिक प्रमाणों तथा सामग्रियोंसे अनुमोदित, विशुद्ध भारतीय अनुश्रुति है—जैसा उपयोग होना चाहिये था उसका शतांश भी नहीं होपाया। निस्सन्देह उसमे अधिक दोष उक्त अनुश्रुतिकी संरक्षक जैन समाजका है, जिसने अपने ग्रन्थरत्नोंको संसारके सम्मुख सहज सुलभ और सुबोधरूपमें न रक्खा। गत २००० वर्षोंमें जितना जैन साहित्य विविध भारतीय भषाओंमें रचा गया उसके पूर्णांश का तो इस समय किसीको भी ज्ञान नहीं, जितनेका ज्ञान है उसका अल्पांश ही उपलब्ध है। अब भी अनेक ग्रन्थ-रत्न नागौर, ईडर आदि कईएक शास्त्र-भंडारोंमें बन्द कीड़ों का ग्रास बन रहे हैं। उपलब्ध ग्रन्थ भी सब ही अबतक प्रकाशित नहीं होपाये। जो प्रकाशित भी हुए हैं उनमें थोड़ेसे ही ऐसे हैं कि जिनका जैनेतर विद्वत्समाज समुचित उपयोग कर सके।

ऐसी स्थितिमें यदि भारतीय इतिहासके निर्माणमें जैन दृष्टिको उपयुक्त स्थान देना है, जोकि परमावश्यक है, तो उसकी अनुश्रुति तथा अन्य यत्र तत्र बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्रीका एकत्रीकरण तथा वर्गीकरण करके उसे विद्वत्समाज एवं जनसाधारणके लिये सुलभ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। तभी उनका सच्चा मूल्य आंका जा सकता है, उनका यथार्थ उपयोग किया जा सकता है और जैन संस्कृति के साथ ही नही वरन् भारतके अतीत एवं इतिहास-विज्ञान के प्रति उचित न्याय किया जा सकता है।

लखनऊ, ता० २०–६–१९४५

प्रकाश-रेखा

इसमें कैसा भेद ?

गाते हो स्वदेशका गाना, भाता है खद्दरका बाना।
किन्तु ग़रीबोंको ठुकराना, यह क्या माया-वेद ?
इसमें कैसा भेद ?

क़लम जेबमें लगा 'पार्कर' चढ़े घूमते निजी कारपर।
महक रहे हैं सैंट लवैंडर, इसका होता खेद !
इसमें कैसा भेद ?

दवा विदेशी खाते-पीते, धर्म-कर्मसे होकर रीते !
पशुताका बल लेकर जीते, पहिने वस्त्र सफेद !
इसमें कैसा भेद ?

हिन्दी-भाषाके हिमायती, किन्तु बोलते खुद विलायती !
क्या इसमें देखते उन्नती ? या जड़ रहे कुरेद ?
इसमें कैसा भेद ?

[स्व० 'भगवत्' जैन]

क्या रत्नकरण्ड-श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है ?

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

[द्वितीय लेख]

(गत किरणसे आगे)

अब हम प्रो० सा०के द्वारा प्रस्तुत की गई आप्तमीमांसा की ९३वी कारिकापर सूक्ष्म विचार करते हैं जिसके आधार से वे यह कहते हैं कि वहां ग्रन्थकारको केवलीमें सुखदुःख की वेदना स्वीकार है। वह कारिका निम्न प्रकार है:—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥९३

इस कारिकापर विचार करनेके पहले इसके पूर्वकी कारिकापर भी विचार कर लेना आवश्यक है जो इस प्रकार है:—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥९२॥

यहां पुण्य और पापबन्धकी व्यवस्थाका प्रकरण है और यह दोनों कारिकाएँ ग्रन्थकारने पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके परमान्यतामें दोषोद्भावन दिखाया है। प्रश्न यह है कि पुण्य और पापका बन्ध किस प्रकार होता है? यदि यह कहा जाय कि 'दूसरेमें दुःख उत्पन्न करनेसे निश्चय ही पापबन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्यबन्ध होता है तो अचेतन कण्टक, दूध आदि वस्तुएँ और कषायरहित जीव भी पुण्य और पापसे बँधेंगे; क्योंकि वे दूसरोंके सुख दुःखोत्पादनमें निमित्तकारण पड़ते हैं।' यदि यह कहा जाय कि दूसरोंमें नहीं, किन्तु 'अपनेमें दुःख पैदा करनेसे पुण्यका और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है तो वीतराग मुनि और विद्वान् मुनि भी बन्धको प्राप्त होंगे; क्योंकि वे भी अपनेमें दुःख और सुखके उत्पन्न करनेमें निमित्तकारण होते हैं।' वीतराग मुनि (तपस्वी साधु) तो अपनेमें कायक्लेशादि दुःख उत्पन्न करता है और विद्वान् मुनि (उपाध्याय परमेष्ठी) तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोष-लक्षण सुख पैदा करता है। ऐसी हालतमें ये दोनों भी दुःख और सुखरूप निमित्तोंसे पुण्य तथा पापसे युक्त होंगे; जबकि केवल इन निमित्तोंसे बन्ध नहीं होता। इसी बात को आचार्य विद्यानन्द निम्न प्रकारसे व्यक्त करते हैं:—

"स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूप दुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसंतोष-लक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।"

जब पूर्वपक्षने उपर्युक्त अपनी पुण्य और पापकी व्यवस्थामें उत्तरपक्षी (जैन) द्वारा प्रदर्शित उक्त दोनों जगहके दोषोंका परिहार करते हुए यह कहा कि अचेतन कण्टकादिक और कषायरहित जीवके तथा वीतरागमुनिके सुख-दुःखोत्पादनका—दुःख अथवा सुख पहुंचानेका अभिप्राय (कषायांश) नहीं रहता इस लिये वे सुख-दुःख रूप निमित्तों मात्रसे ही बन्धसे युक्त नहीं हो सकते हैं क्योंकि अभिप्राय बन्धका कारण है। तब उसके लिये उत्तर दिया कि इस तरह तो अनेकान्त ही सिद्ध हुआ—पुण्य पापके बन्धका उक्त एकान्त न रहा। यही अष्टसहस्रीकारके निम्न व्याख्यानसे प्रकट है—

"तेषामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः सम्भवति।" (९२)

"स्यान्मतं—स्वस्मिन् दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसन्धेरभावान्न पुण्य-पापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसन्धिनिबन्धनत्वात्, इति तह्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता।" (९३)

इससे अगली दो कारिकाओंमेंसे ९४ नं० की कारिका के द्वारा तो उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्तमें दोष दिखाये हैं और ९५ नं० की कारिकाके द्वारा सिद्धान्तमत स्थापित किया गया है और कहा गया है कि 'स्वपरस्थ सुख अथवा

दुख यदि विशुद्धि और संक्लेशके कारण, कार्य या तत्स्वभाव हैं तो उनसे क्रमश: पुण्य और पापका बन्ध होना युक्त है और यदि वे विशुद्धि और संक्लेशके कारण आदि नहीं हैं तो उनसे बन्ध नहीं हो सकता।' यही इस प्रकरणका संक्षिप्त सार है।

अब पाठक ऊपर देखेंगे कि ९३ वीं कारिकामें जो 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दका प्रयोग है वह एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है। किन्तु ९२वीं कारिकामें आये हुए 'अचेतनाकषायौ' की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा 'वीतराग मुनि' तथा 'विद्वान् मुनि' इन दो का बोध कराया गया है। आचार्य विद्यानन्द ने तो 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः' कहकर और 'च' शब्द का साथमें प्रयोग करके इस बातको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। जान पड़ता है कि प्रो० सा० को कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'च' शब्दपर नहीं गई। इसीसे उन्होंने बहुत बड़ी गलती खाई है और वे 'वीतराग विद्वान् मुनि' जैसा एक ही पद मानकर उसका 'केवली' अर्थ करने में प्रवृत्त हुए हैं। और शायद इसीसे आपको यह कहनेका भी मौका मिला कि "यहां यदि सामान्य मुनिका ही ग्रहण किया जाय तो वीतराग और विद्वान् इन दो विशेषणोंका प्रयोग सर्वथा निरर्थक होकर कारिकामें अपुष्टार्थ दोष उत्पन्न होता है।"

प्रो० सा० ने एक और बड़ी सैद्धान्तिक भी भूल की है और वह यह कि आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकारों के आगे पीछेके कथनपर ध्यान न देकर अपने कथनके समर्थनमें वे केवल अज्ञानको भी बन्धका कारण या मलोत्पत्तिका जनक बतला गये हैं। जैसाकि आपके निम्न वाक्यों से प्रकट है—

"ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावसे कुछ मलोत्पत्तिकी आशङ्का हो सकती है।"

परन्तु सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको बन्धका कारण या मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना है। स्वयं आप्तमीमांसाकारने मोह-सहित अज्ञानको ही बन्धका कारण प्रतिपादन किया है और मोह-रहित अज्ञानके बन्धकारणत्वका स्पष्टत निषेध किया है। इतना ही नहीं, बल्कि सबलताके साथ यह आपत्ति भी प्रदर्शित की है कि अज्ञानसे बन्ध मानने पर कोई केवली ही नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं। अतएव ११वें, १२वें गुणस्थानमें वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावमें १३वाँ गुणस्थान (कैवल्यावस्था) कदापिप्राप्त नहीं हो सकता[1]। अकलङ्कदेव[2] उस बन्धकारक अज्ञानको मोहरूप ही बतलाते हैं। आचार्य विद्यानन्दने[3] भी मोहरहित अज्ञानसे बन्ध मानने पर यह आपत्ति की है कि ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें भी शुद्ध अज्ञानके सद्भावसे बन्धका प्रसंग आयेगा; जबकि सयोग केवलीकी तरह वे दोनों गुणस्थान भी अबन्धक हैं। हां, प्रकृति और प्रदेशबन्धकी अपेक्षा वहां बन्ध है किन्तु वह योगनिमित्तक है, अज्ञान निमित्तक नहीं और यह सयोग केवलीमें भी है। अत: कषायविशिष्ट अज्ञान ही बन्धका कारण है, कषायरहित अज्ञान नहीं। विद्यानन्दके इस कथन परसे और उनके द्वारा प्रयुक्त 'स्थित्यनुभागाख्य:' शब्दपरसे एक और महत्वपूर्ण बात फलित होती है और वह यह कि सयोगकेवलीकी तरह क्षीणकषाय और उपशान्तकषाय नामके ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें स्थितिबंध और अनुभागबन्ध नहीं होते, जो कर्मसिद्धान्तकी व्यवस्थाके सर्वथा अनुकूल है, क्योंकि कषायको ही उक्त दोनों बन्धोंका कारण माना गया है। यथा—

'ठिदि-अणुभागा कसायदो होंति।'

जब यह सैद्धान्तिक स्थिति है तब केवलीमें बिना स्थिति बन्ध और अनुभागबन्धके सुख और दु:खकी वेदना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यथार्थत: संसारी जीवोंमें स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध पूर्वक ही सुख-दु:खकी वेदना देखी

१ "अज्ञानान्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद् वीतमोहत:।"—आ० ९८
"अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली।"—आ० ९६

२ "मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्त: कर्मबन्ध:"

३ "क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्बन्धप्रसक्ते:। प्रकृति-प्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेन्न, तस्याभिमतेतरफलदाना-समर्थत्वात् सयोगकेवलिन्यपि संभवादविवादापन्नत्वात्। न चागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात्। तथा हि, विवादापन्न: प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसम्बन्ध: कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्तथात्वात्स्थित्येतराहारादि-सम्बन्धवत्।"

जाती है। केवलीमें यह दोनों ही प्रकारके बन्ध नहीं होते। तब उनके वेदना कैसे हो सकती है ? हां, केवलीके योगका सद्भाव रहनेसे प्रकृति और प्रदेश ये दो बन्ध अवश्य होते हैं, परन्तु उनका सुख-दुखकी वेदनाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्यानन्दने तो 'तस्य (प्रकृतिप्रदेशबन्धस्य) अभिमतेतरफलदावासमर्थत्वात्" शब्दोंके द्वारा बहुत ही स्पष्टताके साथ खुलासा कर दिया है। यही कारण है कि तीर्थंकरके समवसरण सम्बन्धी अपार बाह्य विभूति होते हुए भी उससे उन्हें कोई सुखका वेदन नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि केवलीमें साता व असाताका स्थिति व अनुभागबन्ध न होनेसे सुख और दुखकी वेदना नहीं होती। अतः 'वीतरागो मुनिर्विद्वान' शब्दोंसे विद्यानन्दके अभिप्रायानुसार उस मुनिका ग्रहण करना चाहिए जिसके कायक्लेशादि दुःख और तत्त्वज्ञान संतोषलक्षण सुख संभव है और वह साधु परमेष्ठी ही हैं, केवली नहीं, क्योंकि उनके न तो कायक्लेशादि संभव है और न लोभका पर्यायरूप सन्तोष। यहां प्रो० सा० की शंका है कि यदि 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दसे केवलीका ग्रहण न हो, साधु परमेष्ठी और उपाध्याय परमेष्ठीका ही ग्रहण किया जाय तो उनके तो प्रमाद और कषाय रहनेसे बन्ध होगा ही फिर कारिकामें जो बन्धका प्रसंग दिया गया है उसकी संगति कैसे बैठेगी ? इस शंकाका समाधान यह है कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषायको बन्धका कारण नहीं मानना चाहता वह तो केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्तिको ही बन्धकारण कहना चाहता है और उसके इस कथनमें ही उपर्युक्त दोष दिये गये हैं। जब उसने अपने एकान्त पक्षको छोड़कर यह कहा कि 'अभिसन्धि' (प्रमाद और कषाय) भी उसमें कारण है तब उससे कहा गया कि यह तो अनेकान्तसिद्धि आ गई—आपका 'परत्र सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुः' इत्यादि एकान्त नहीं रहा। इससे यह साफ है—कि यहां छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिकी ही विवक्षा है। यह हम ग्रन्थकार और विद्यानन्दके स्पष्ट- व्याख्यानसे भली प्रकार समझ सकते हैं।

हमें यह प्रसन्नता है कि प्रो० सा० आचार्य विद्यानन्द और उनके व्याख्यानको प्रमाण मानते हैं। इसलिये उनके व्याख्यानके आधारसे प्रस्तुत किये गये उपर्युक्त विवेचनको भी जरूर प्रमाण मानेंगे।

यहाँ हम एक बातका और उल्लेख कर देना चाहते हैं और वह यह कि जब हमने प्रो० सा० के इस कथनको कि 'स्वयं अष्टसहस्रीकारने भी यहाँ 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' से अकषाय वीतरागतत्त्वज्ञानी (केवली) ही अर्थ ग्रहण किया है। जैसा कि उनके टीका वाक्योंसे स्पष्ट है—स्वस्मिन् दुःखसुखस्य चोत्पत्तौ अपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसन्धेरभावात् न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसन्धिनिबन्धनत्वात् इति तद्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता। आत्मसुखदुःखाभ्यां पापैनरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात्—इत्यादि।'—अष्टसहस्रीसे प्रमाणित करनेके लिये उसे खोल कर देखा और उससे मिलान किया तो मैं बहुत ही निराश हुआ और मुझे वहाँ उनकी दो बड़ी भूलें दृष्टिगोचर हुईं। एक तो उन्होंने 'आत्मसुख-दुःखाभ्यां' आदि वाक्योंको, जो अकलङ्कदेवकी अष्टशतीके हैं, अष्टसहस्रीकारके बतला दिये हैं। यदि इस भूल पर कोई ध्यान न भी दिया जाय तो भी उनकी दूसरी भूल उपेक्षणीय नहीं है। ऊपर जो उन्होंने अष्टसहस्रीकारके नामसे पंक्तियां प्रमाणरूपमें प्रस्तुत की हैं वे अष्टसहस्रीकार का स्वमत नहीं हैं। अष्टसहस्रीकारने उन्हें केवल शंकाकार की ओरसे प्रस्तुत की हैं। अर्थात् 'स्वस्मिन्' से लगा कर 'इति' तकके वाक्य शंकाकारके हैं और उनके द्वारा उसने अपने पक्षगत दोषोंका परिहार किया है और 'तद्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता' यह वाक्य समाधान-वाक्य है और यथार्थतः यही अष्टसहस्रीकारका स्वमत है। मालूम नहीं प्रो० सा० ने पाठकोंके सामने वस्तुस्थितिको अन्यथारूपमें क्यों रक्खा ? जब कि अष्टसहस्रीकारने कारिकाके नीचे अपना स्पष्ट व्याख्यान भी दे दिया था। और यदि उन्होंने यह जान बूझ कर नहीं किया तो 'स्वस्मिन्' के पहले लगे हुए 'स्यान्मतं' पदको क्यों छिपाया गया—उसे भी उद्धृत क्यों नहीं किया ? जो कि वस्तुतः शंकार्थका सूचक था। जो हो, यह अवश्य है कि प्रो० सा० ने अष्टसहस्रीकारके नामसे जो उल्लिखित पंक्तियाँ उद्धृत की हैं वे उनकी अपनी नहीं हैं। इस लिये इन पंक्तियों परसे यह कहना कि 'स्वयं अष्टसहस्रीकारने भी यहां 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' से अकषाय वीतराग

तत्त्वज्ञानी ही अर्थ ग्रहण किया है।" किसी भी तरह संगत नहीं है। क्योंकि परीक्षा करके देख लिया गया है कि वे पंक्तियां स्वयं अष्टसहस्रीकारका मत नहीं हैं - शंकाकारका मत हैं। दूसरे, यहाँ 'वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतः' ऐसा जुदा ही विभक्तिक प्रयोग है जिसका अर्थ है 'वीतरागके और तत्त्वज्ञानीके'। यदि उसका 'अकषाय वीतराग तत्त्वज्ञानी ही' अर्थ हो तो 'वीतरागतत्त्वज्ञानवतः' ऐसा समस्तरूप प्रयोग होना अधिक सम्भव था, परन्तु ऐसा प्रयोग न करके विद्यानन्दने 'वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतः' ऐसा व्यस्त ही प्रयोग किया है जो उनके अपने 'वीतरागो विद्वांश्च मुनिः', 'वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विद्वस्तत्त्वज्ञानसंतोषलक्षणसुखोत्पत्तेः' व्याख्यानके सर्वथा अनुकूल और सुसंगत जान पड़ता है। वास्तवमें प्रो० सा० को यहां यही भ्रम हुआ है कि 'वीतराग' और 'विद्वान्' ये दो एक ही मुनिरूप व्यक्तिके विशेषण हैं। जब कि वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है और वे एक एक स्वतन्त्र ही दो मुनिव्यक्तियोंके विशेषण हैं। अर्थात्—वीतरागमुनि और विद्वान मुनि ये दो उसके वाच्य हैं।

अतः यह साफ है कि 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' से वीतरागमुनि—साधुपरमेष्ठी और विद्वान् मुनि—उपाध्याय परमेष्ठी अर्थ ही ग्रंथकार तथा टीकाकार विद्यानन्दको विवक्षित है और इस तरह सुख दुःखकी वेदना उन्हीके स्वीकृत की गई है, केवलीके नहीं। केवलीके सुख-दुःखकी वेदना माननेपर उनके अनन्त सुख नहीं बन सकता, जिसे स्वयं आप्तमीमांसाकारने भी 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' शब्दों द्वारा स्वीकार किया है क्योंकि सजातीय व्याप्यवृत्ति दो गुण एक जगह नहीं रह सकते। यह मैं पहले भी कह चुका हूं और जिसपर प्रो० सा० ने कोई ध्यान नहीं दिया है।

अब हम वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितगत उस उल्लेख को लेते हैं जिसके द्वारा मैंने यह कहा था कि—"रत्नकरण्ड वि० की ११ वीं शताब्दी (१०८२ वि०) से पूर्वकी रचना है और वह शताब्दियों पूर्व रची जा चुकी थी। तभी वह वादिराजके सामने इतनी अधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कृति समझी जाती रही कि आ० वादिराज स्वयं उसे 'अक्षयसुखावह' बतलाते हैं और 'दिष्टः' कहकर उसे आगम होनेका संकेत करते हैं।" वादिराजके इसी उल्लेख (दो श्लोकों[1]) के आधारसे मुख्तारसाहबने अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' की प्रस्तावना (पृष्ठ ११) में यह प्रतिपादन किया है कि 'इस ग्रंथ (पार्श्वनाथचरित) में साफ तौरसे देवागम और रत्नकरण्डक दोनोंके कर्ता स्वामी समन्तभद्रको ही सूचित किया है।" इस पर प्रो० सा० मुझपर आक्षेप करते हुए लिखते हैं—

"इन (मुख्तार सा० की) पंक्तियोंको देखते हुए हमें आश्चर्य होता है कि न्यायाचार्यजीने अपने प्रस्तुत लेखमें इस प्रबल प्रमाणका उपयोग क्यों नहीं किया? उसे तो उन्हें अपने मतकी पुष्टिमें अधिकसे अधिक प्रबलताके साथ प्रस्तुत करना चाहिये था। पर उन्होंने वादिराजके रत्नकरण्डक सम्बन्धी उल्लेखका तो कथन किया, किन्तु उन्हीं के द्वारा मुख्तार सा० के अवतरणानुसार ठीक उसीसे पूर्वके श्लोकमें उल्लिखित आप्तमीमांसाकी बातको वे सर्वथा छपा गये। इसका कारण हमें तब समझमें आया जब हमने वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितको उठा कर देखा।"

परन्तु उनके इस लिखनेमें कुछ भी सार मालूम नहीं देता। किसी भी विचारकके लिये यह कोई लाजिमी नहीं होता कि उसे अपने पूर्ववर्ती विचारकोंके सभी विचारोंसे सहमत ही होना चाहिए। विचारकोंमें विचार-भेद भी होना स्वाभाविक है। मुख्तार सा० ने वादिराजसूरिके जिन दो श्लोकोंके आधारसे अपना उक्त प्रतिपादन किया था वे दोनों श्लोक और उनका उक्त प्रतिपादन उस समय मेरे लिये विशेष विचारणीय थे। एक तो वे दोनों श्लोक उक्त ग्रन्थमें व्यवधान सहित हैं। दूसरे, कुछ विद्वान् उसमें विरुद्ध भी कुछ विचार रखते हैं। अतएव मैं उस समय कुछ गहरे विचारकी आवश्यकता महसूस कर रहा था और इसलिये न तो मुख्तार साहबके उक्त कथनसे सहमत ही हो सका और न असहमत - तटस्थ रहा। चूंकि वहां मुझे वादिराजके जितने असंदिग्ध उल्लेखसे प्रयोजन था उतने ही को उपस्थित किया, शेषको छोड़ दिया गया। इसके अतिरिक्त एक सच्चे विचारकका कोई अच्छा तरीका नहीं

१ 'स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ १७ ॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहम्।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥" १८ ॥

है। ऐसी स्थितिमें मेरे लिये यह कहना कि देवागम और रत्नकरण्डकको एककर्तृक सिद्ध करनेके लिये मुख्तार सा० के उक्त प्रतिपादन प्रमाणका मुझे उपयोग करना ही चाहिये था, उचित नहीं जान पड़ता। वह तो मेरे विचार और इच्छापर निर्भर था। अतएव प्रो० सा० का उक्त लिखना कुछ भी महत्व नहीं रखता और न उसका विचार के साथ कोई सम्बन्ध है। उनकी अन्तिम पंक्ति तो बहुत आपत्तिके योग्य है; क्योंकि उनके इस कथनसे यह मालूम होता है कि उन्होंने अपने प्रस्तुत लेख लिखने तक पार्श्वनाथचरितको उठाकर नहीं देखा था और अब मेरे द्वारा वादिराजसम्बन्धी पार्श्वनाथचरितका उल्लेख प्रस्तुत किये जाने पर ही उसके देखनेकी ओर आपकी प्रवृत्ति हुई है। परन्तु यह बात नहीं है, आपने इसके पहले भी अनेक बार उसे विचारपूर्वक देखा है और उसके प्रस्तुत प्रकरणोपयोगी पद्यों और श्लोकोंको दूसरे स्थलोंपर उद्धृत किया है। 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' आदि श्लोकगत 'अक्षयसुखावह' पदको धवलाकी चतुर्थ पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० १२) तथा 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' नामक लेखमें दिया है, जिन्हें प्रकाशित हुए लगभग तीन वर्षसे कुछ ऊपर होचुके हैं। इसके बाद 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामके निबन्धमें, जो कि यथार्थतः प्रस्तुत चर्चाका स्रोत है, 'स्वामिनश्चरितं' आदि पूरा ही पद्य उसके फुटनोट में उद्धृत है, और मजेकी बात यह है कि पद्यके बराबरमें '(पार्श्वनाथचरित)' इन शब्दोंके साथ ग्रन्थका नामोल्लेख भी है। ऐसी हालतमें यह कहना कि पार्श्वनाथचरितको आपने अभी हाल हीमें उठाकर देखा है—इसके पहले नहीं देखा था, असंगत जान पड़ता है।

• अभी हालमें मुख्तार सा० ने एक महत्वका विचारपूर्ण लेख[1] लिखा है और उसमें उन्होंने वादिराजके उन तीन श्लोकोंकी[2] ओर दृष्टि रखते हुए बतलाया है कि "समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है···· और इसलिये उक्त मध्यवर्ती श्लोकमें आये हुए 'देव' पद के वाच्य समन्तभद्र भी हो सकते हैं।" आगे चलकर 'योगीन्द्र' पद भी समन्तभद्रके लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया है और इसके प्रमाणस्वरूप वादिराजसूरिसे कुछ पूर्ववर्ती प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोषका उल्लेख प्रकट किया है। इस तरह उन्होंने पार्श्वनाथचरितके उन तीनों ही श्लोकोंको समन्तभद्रके लिये सम्भावित बतलाया है। मुख्तार साहबका यह प्रमाण सहित किया गया कथन जीको लगता है और अब यदि इन तीनों श्लोकोंके यथास्थित आधारसे भी यह कहा जाय कि वादिराज देवागम और रत्नकरण्डकका एक ही कर्ता—स्वामी समन्तभद्र मानते थे तो कोई बाधा नहीं है। दो श्लोकोंके मध्यका व्यवधान भी अब नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि वादिराज जब प्रभाचन्द्रके उत्तरवर्ती हैं तो यह पूर्णतः सम्भव है कि उन्होंने प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोष और उनकी रत्नकरण्डटीकाको, जिसमें रत्नकरण्ड का कर्ता स्पष्टतः स्वामी समन्तभद्रको ही बतलाया गया है[3], अवश्य देखा होगा और इस तरह वादिराजने स्वामी समन्तभद्रको लक्ष्य (मनःस्थित) करके उनके लिये ही 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग किया है तथा उसके द्वारा उन्हें रत्नकरण्डका कर्ता बतलाया है तो कोई असम्भव नहीं है।

यदि बिना कोई हेतु दिये (प्रमाण) इस बातपर जोर दिया जाय कि वादिराज 'योगीन्द्र' पदके प्रयोगद्वारा स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरे ही विद्वान्को रत्नकरण्डका कर्ता प्रतिपादन हैं, जिनकी योगीन्द्र उपाधि थी तो इसके लिये निम्न दो बातें सिद्ध करनी होंगी—एक तो यह कि वादिराज करते उक्त उल्लेखके विषयमें पूर्णतः अभ्रान्त हैं—वे भ्रान्ति नहीं कर सकते हैं। दूसरी यह कि जैन साहित्यमें ऐसे विद्वान्का अस्तित्व है जो योगीन्द्र उपाधिसे भूषित रहे हों और जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु हों तथा समन्तभद्र

---

१ देखो, अनेकान्त वर्ष ७ किरण ५–६ मे उनका 'स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनो थे' शीर्षक सम्पादकीय लेख।

२ दो श्लोक तो पीछे फुटनोटमें उद्धृत कर आये हैं और तीसरा उनके मध्यका श्लोक यह है—

"अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥ १८ ॥

३ "श्री समन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डक-प्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो।" —रत्नक० टी० पृ० १

जिनका नाम हो। परन्तु ये दोनों ही बातें सिद्ध नहीं होतीं। क्योंकि वादिराज भ्रान्ति भी कर सकते हैं। जैसे कि एक भ्रान्ति उन्होंने न्यायविनिश्चयविवरणमें की है। यथा—'न्यायं प्राहुः स्वामिसमन्तभद्रादयः। किं प्रशब्देन, आहुरिति पर्याप्तत्वादिति चेन्न प्रबन्धेनाचार्योपदेशपारम्पर्येणागतमाहुः प्राहुरितिव्याख्यानार्थत्वात्। न्यायं किं प्राहुः? वेदनं ज्ञानं। कथं प्राहुः? स्पष्टं शब्दतादिरूपेण परिस्फुटं यथा भवति तत्त्वज्ञानं प्रमाणमित्यादिना तथैव प्रवचनात्।"

यहां 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इस कारिकाका व्याख्यान करते हुए वादिराज 'प्राहुः' क्रिया का कर्ता स्वामी समन्तभद्रादिको बतलाते हैं जब कि वस्तुतः उस क्रियाका कर्ता अकलंकदेव और विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रकारको बतलाया है। जो कि ठीक है। क्योंकि अकलंकने स्वयं राजवार्तिकमें अपना ऐसा भाव प्रकट किया है। अतः इससे स्पष्ट है कि वादिराज उक्त उल्लेखके विषयमें भ्रान्त भी हो सकते हैं। क्यों कि प्रभाचन्द्रका स्पष्ट उल्लेख आदि प्रमाण रत्नकरण्ड का कर्ता स्वामी समन्तभद्रको ही बतलाते हैं। साहित्यमें ऐसे समन्तभद्रका कोई अस्तित्व भी नहीं है और न कोई उल्लेख है जिनको 'योगीन्द्र' उपाधि हो और जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु हों तथा 'योगीन्द्र' कहे जाते हों। मुख्तार सा० ने खोजके साथ दूसरे अनेक समन्तभद्रोंका परिचय कराया है पर उनमें ऐसे 'योगीन्द्र समन्तभद्र' कोई भी नहीं हैं जो वादिराजके पूर्ववर्ती हों। योगीन्द्रदेव नामके एक आचार्य जरूर हुए हैं जिन्होंने परमात्मप्रकाश आदिकी रचना की है। पर वे रत्नकरण्डके कर्ता नहीं हैं। कारण, एक तो उनकी प्रायः अध्यात्म और योग पर ही रचनाएँ प्राप्त होती हैं जो कि उनके दोनों ही प्यारे विषय थे। दूसरे, उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकारने इन्हें रत्नकरण्डश्रावकाचारके कर्तारूपसे उल्लेखित नहीं किया। पद्मप्रभमलधारिदेवने तो दोनोंका जुदा २ उल्लेख भी किया है। तीसरे, स्वयं प्रो० सा० भी उन्हें रत्नकरण्डका कर्ता नहीं मानते। शास्त्रसारसमुच्चयके कर्ता माघनन्दि भी 'योगीन्द्र' कहलाते थे पर वे वादिराजके उत्तरकालीन हैं और जिनका समय प्रेमीजीने 'वि० सं० १२६७ के लगभग' अर्थात् १३ वीं शताब्दी अनुमानित किया है। ऐसी दशामें यही निष्कर्ष निकालना उचित है कि वादिराजने 'स्वामी समन्तभद्रको ही 'योगीन्द्र' पदके द्वारा रत्नकरण्डका कर्ता प्रकट किया है। यहां हम यह भी कह देना चाहते हैं कि जो विद्वान् पार्श्वनाथचरितके उक्त मध्यवर्ती श्लोकमें आये हुए 'देव' पदका वाच्य देवनन्दि (पूज्यपाद) को बतलाते हैं उन्हें अब उसे स्वामी 'समन्तभद्र' के अर्थमें ही देखना चाहिये।

यहाँ हम एक बातका उल्लेख और कर देना चाहते हैं कि प्रो० सा० ने वादिराजके उक्त उल्लेख पर जहां जोर दिया है वहां प्रभाचन्द्रके सुस्पष्ट एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेखकी सर्वथा उपेक्षा की है—उसकी आपने चर्चा तक भी नहीं की है, जो कि यथार्थतः समस्त प्रमाणोंमें दिनकर-प्रकाशकी तरह विशद प्रमाण है। और वादिराजसे पूर्ववर्ती है। सच पूछा जाय तो आपने इस ज्यादा सुस्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाणको दबाया है और जिसका आपने कोई कारण भी नहीं बतलाया है। अस्तु।

इसी सिलसिलेमें आपने एक बहुत ही विचित्र कल्पना और की है कि रत्नकरण्डके अन्तमें जो 'येन स्वयं' आदि १४९ वां पद्य है उसमें ग्रंथकारने 'श्लेषरूपसे अपनी रचना के आधारभूत ग्रन्थों व ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।' आप लिखते हैं—'यहां टीकाकार प्रभाचन्द्रद्वारा बतलाये गये वाच्यार्थके अतिरिक्त श्लेषरूपसे यह अर्थ भी मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि 'जिसने अपनेको अकलंक और विद्यानन्दके द्वारा प्रतिपादित निर्मलज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्नोंकी पिटारी बना लिया है उसे तीनों स्थलोंपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप सर्वार्थसिद्धि स्वयं प्राप्त हो जाती है, जैसे इच्छामात्रसे पतिको अपनी पत्नी।' यहां निस्सन्देह रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाओंका उल्लेख किया है। सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः अकलंककृत राजवार्तिक एवं विद्यानन्दीकृत श्लोकवार्तिकमें प्रायः पूरी ही ग्रथित है। अतः जिसने अकलंककृत और विद्यानन्दिकी रचनाओंको हृदयंगम किया है उसे सर्वार्थसिद्धि स्वयं आ जाती है।" परन्तु आपका यह लिखना प्रमाणबाधित है। प्रथम तो आपकी यह काल्पनिक बात किसी भी शास्त्राधारसे सिद्ध नहीं है, इसके लिये आपने कोई शास्त्रप्रमाण प्रस्तुत भी नहीं किया। दूसरे, जो आपने श्लोकके 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ 'तीनों

स्थलोंपर' किया है, कृपया बतलाइये कि वे तीन स्थल कौनसे हैं ? जहांपर सर्व अर्थोंकी सिद्धिरूप 'सर्वार्थसिद्धि' स्वयं प्राप्त हो जाती है ? शायद आप तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गई तीनों टीकाएँ तीन स्थल कहें, सो उनमें एक तो स्वयं सर्वार्थसिद्धि ही है जिसका ग्रहण तीन स्थलोंके अन्तर्गत किसी भी प्रकार नहीं आ सकता। क्योंकि उसका श्लोकमें अलग ही उल्लेख है। तब तत्त्वार्थसूत्रकी दो ही टीकाएँ शेष रहती हैं। एक तत्त्वार्थवार्तिक और दूसरी विद्यानन्दकी श्लोकवार्तिक टीका। जिनमे जरूर सर्वार्थसिद्धि कहीं शब्दशः और कहीं अर्थतः पूरी ही ग्रथित है। लेकिन फिर श्लोकमें 'त्रिषु' और 'विष्टपेषु' पद नहीं होना चाहिये 'द्वयोः' और 'विष्टपयोः' पद ही होना चाहिये था, जो न तो छन्दष्टिसे संगत हैं और न ग्रंथकारके आशयके अनुकूल ही हैं। वास्तवमें प्रो० सा० ने श्लोकमें आये हुए वीतकलंक, विद्या और सर्वार्थसिद्धि इन तीन पदोंको देखकर ही उक्त कल्पना कर डाली है और 'सर्वार्थ सिद्धि' पद को तो एक जुदे ही टाइपमें रक्खा है। यदि वे उसी ग्रन्थके आदिमें आये हुए तीसरे श्लोकको[1] भी देख लेते तो उक्त कल्पनाका उद्भव शायद न होता, जहाँ ग्रंथकारने स्पष्टतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नोंका ही उद्देश करके उन्हें धर्मका स्वरूप बतलाया है अर्थात उन्हें ही धर्म कहा है और मोक्षपद्धति होनेका संकेत किया है। तथा 'उद्देशानुसारेण लक्षण-कथनम्' इस न्यायानुसार आगे ग्रन्थमें उनका ही लक्षण-निर्देश किया है। तमाम ग्रन्थमें इन्हीं तीनका विवेचन है। अतएव ग्रन्थकर्ताने अन्तमें उपसहाररूपसे उन्हीं तीन 'सद्दृष्टि-ज्ञान वृत्तानि' को दोहराया है और उन्हें भव्य-जीवों के लिये अपनी आत्माका पिटारा बनानेकी प्रेरणा की है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि' वाक्यमें आये हुए 'सत्' शब्दके अर्थमें ही 'वीतकलङ्क' पद का और 'दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि'के स्थानमें 'विद्या-दृष्टि क्रिया' पद का उक्तश्लोकमें प्रयोग किया गया है, अकलंक और विद्यानन्दि के अर्थमें नहीं और न 'सर्वार्थसिद्धि' पदका प्रयोग पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थमें अर्थमें हुआ है। अपितु धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप अर्थोंकी सिद्धि रूप अर्थमे उसका प्रयोग हुआ है। अतः प्रो० सा० की उपरोक्त कल्पना शास्त्राधारसे, युक्तिसे, स्वयं ग्रन्थकारके वर्णनसे और अनुभवसे बाधित होनेसे किसी भी तरह संगत नहीं है। यह हम उपर्युक्त विवेचनद्वारा देख चुके हैं।

इस सबका फलितार्थ यह हुआ कि कोई बाधक प्रमाण न होने तथा साधक प्रमाणोंके होनेसे वादिराजका भी अभिप्राय रत्नकरण्डको आप्तमीमांसाकारकृत ही बतलानेका है। और इसलिये वह विद्यानन्द(९ वीं शता०) के बादकी रचना-सिद्ध नहीं होसकती। क्योंकि विद्यानन्दके भी पूर्ववर्ती सिद्धसेन दिवाकरने, जिनका समय वि० की ७ वी शताब्दी माना जाता है, अपने 'न्यायावतार' मे रत्नकरण्डके 'आप्तोपज्ञ' नामके श्लोकको अपनाया है। जैसा कि हम पूर्व लेखमें सयुक्तिक बतला आये हैं और जिसका प्रो० सा० ने कोई खण्डन भी नहीं किया है। अब चूंकि रत्नकरण्डका आधार प्रो० सा० की कल्पनानुसार न तो अकलङ्क और विद्यानन्द के तत्त्वार्थवार्तिक और श्लोकवार्त्तिक ही सिद्ध हो सके हैं और न पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि। अतएव 'सर्वार्थसिद्धि' मे जो रत्नकरण्डसे तुलनात्मक वाक्य पाये जाते हैं उन परसे भी रत्नकरण्डश्रावकाचारकी रचना पूज्यपाद (४५० ई०) से पूर्व पहुंच जाती है। जैसा कि पिछले लेखमें कहा जा चुका है। अतः इन सब प्रमाणोंकी रोशनीमें रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति मानना चाहिये।

अब हम प्रो० सा० की उन तीन बातों पर और विचार करलेना चाहते हैं जिन्हें उन्होंने अपने लेखके अन्त में मेरी एक बातके उत्तरमें उपसहाररूपसे चलती सी लेखनीसे प्रस्तुत की हैं। वे इस प्रकार हैं -

(१) आप्तमीमांसामें दोषका स्वरूप क्षुधादि स्वीकार नहीं किया है।

(२) विद्यानन्दको भी दोषका स्वरूप क्षुधादि इष्ट नहीं है।

(३) अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिकके व्याख्यानमें कोई विरोध नहीं है।

(१) पहली बातके समर्थनमें आपने केवल 'दोषावरणयोर्हानिः', 'निर्दोषः' 'विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम्' 'स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा' जैसे कुछ पद वाक्योंका ही अवलम्बन लिया है, जिनमें वस्तुतः 'दोष' शब्दके प्रयोगके अतिरिक्त

[1] "सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः॥"—रत्नक० ३

उसका स्वरूप कुछ भी नहीं बतलाया। हाँ, विद्यानन्दने अवश्य 'दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादयः' कह कर अज्ञान, राग और द्वेषादिको दोषका स्वरूप बतलाया है; पर मैं उस के सम्बन्धमें यह स्पष्ट कर आया हूं कि "विद्यानन्दके व्याख्यानका भी, जो उन्होंने का० ५-६ में किया है, यही आशय लेना चाहिये। दूसरे वहाँ उनका दृष्टिकोण दार्शनिक भी है। अतः उसको लेकर उन्होंने दोषका निश्लेषण किया है और दर्शनान्तरोंमें भी मान्य अज्ञान राग और द्वेषको कण्ठोक्त कह कर आदि शब्द द्वारा अन्यों—क्षुधादिकों का ग्रहण किया है। यदि ऐसा न हो तो उन्हींके श्लोकवार्तिकगत (पृ० ४६२) व्याख्यानमे, जहां सबलतासे क्षुधादि वेदनाओंका केवलीमें अभाव सिद्ध किया है, विरोध आवेगा, जो विद्यानन्दके लिये किसी प्रकार इष्ट नहीं कहा जा सकता।" और। पहले इसी लेखमें यह अच्छी तरह सिद्ध भी कर आया हूँ कि आप्तमीमांसाकार और उनके टीकाकारोंको दोषका स्वरूप क्षुधादि अभिमत है और इसे उन्होंने कारिका २ में प्रकट भी कर दिया है। अतः इस सम्बन्धमे अब और अधिक कहना अनावश्यक है।

(२) दूसरी बातके समर्थनमें आप कहते हैं कि "यदि विद्यानन्दको आप्तमीमांसाकारके 'दोष' शब्दसे वही अर्थ अभीष्ट था, जो रत्नकरण्डकारको है तो मैं न्यायाचार्यजीसे पूछता हूं कि उन्होंने वही स्वरूप वहां क्यों नहीं प्रकट किया? ··· इस परसे स्वभावतः यह अनुमान भी किया जा सकता है कि यदि उनके सन्मुख उन्ही समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसा ग्रंथ होता तो वे उस पर भी अपनी टीका लिखते या कमसे कम उसका अवतरण देकर आप्तमीमांसामें दोषका अर्थ अवश्य ही उसीके अनुसार करते, क्यों कि वे केवलीमें क्षुधादिवेदनाओंके अभावसम्बन्धी मतके प्रबल पोषक थे।" यहां जो मुझसे प्रश्न किया गया है उसका उत्तर मैं पहले विस्तारसे दे आया हूं और कह आया हूं कि विद्यानन्दने आप्तमी० का० २ के व्याख्यान में दोषका स्वरूप वही स्वीकार किया है जो रत्नकरण्डमें है—उसे छोड़ा नहीं गया है। साथमें हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अष्टसहस्री जहां मूलतः दार्शनिक रचना है वहां श्लोकवार्तिक दार्शनिक होते हुए भी मूलतः आगमिक रचना है। अतः श्लोकवार्तिकमें तो रत्नकरण्डकी मान्यताको स्पष्टतः और अष्टसहस्रीमें गौणतः स्थान दिया गया है। आशा है प्रो० सा० इस पर विशेषतः ध्यान देंगे। प्रश्नके पोषणमें जो दलीलें दी गई हैं वे बहुत ही आपत्तिजनक और बाधित हैं। क्या किसी टीकाकार या उत्तरवर्ती-ग्रंथकारके लिये यह लाजिमी है कि वह पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थोंपर टीका लिखे ही? यदि ऐसा हो तो स्वयं विद्यानंद के सन्मुख स्वामी समन्तभद्रका ही स्वयम्भूस्तोत्र भी था तब उस पर उन्होंने टीका क्यों नहीं लिखी? अकलंकदेवके सामने युक्त्यनुशासन और स्वयम्भू स्तोत्र दोनों अटीक थे एवं मौजूद थे तब उन्होंने भी उन पर अपनी टीकाएँ क्यों नहीं लिखीं? प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्ड और स्वयम्भूस्तोत्र दोनोंकी टीकाएँ की हैं और वे केवलीमें क्षुधादिवेदनाओंके अभाव सम्बन्धी मतके प्रबल पोषक भी थे तब उन्होंने भी स्वयम्भूस्तोत्रकी टीकामें या कमसे कम प्रमेयकमलमार्तण्ड में अपने मतके समर्थनार्थ रत्नकरण्डके 'क्षुत्पिपासाजरातङ्क' आदि उल्लिखित श्लोकका अवतरण क्यों नहीं दिया? और उससे अपने मतको विशेषतः प्रमाणित क्यों नहीं किया? इससे स्पष्ट है कि उत्तरवर्ती टीकाकार या ग्रंथकारकी इच्छा पर यह निर्भर है कि वह पूर्ववर्ती ग्रन्थपर टीका लिखे या न लिखे या अपने विषयके समर्थनार्थ उसके प्रमाणको उपस्थित करे या न करे। अतः विद्यानन्दके रत्नकरण्डपर टीका न लिखने या उसका अष्टहस्री आदिमें अवतरण न देनेसे यह अनुमान करना कि 'उनके समक्ष स्वामी समन्तभद्रकी रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसी कोई रचना विद्यमान न थी।' सर्वथा भ्रमपूर्ण है और वह अनुमानाभासकोटिमें स्थित है। इस सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर विद्वानोंके लिये संकेत ही काफी है। अतः विद्यानन्दके समक्ष रत्नकरण्डके रहते हुए भी उनकी उस ओर इच्छा न होनेसे उन्होंने उस पर न टीका लिखी और न उसके अवतरणको देना आवश्यक समझा।

(३) अष्टसहस्रीमें दोषका स्वरूप क्षुधादि न माननेपर हमने श्लोकवार्तिकके व्याख्यानके साथ विरोध प्रदर्शित किया था। उसके परिहारका प्रयत्न करते हुए प्रो० सा० लिखते हैं कि "विचार करनेसे ज्ञात होता है कि यथार्थतः वहां ऐसा कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता। टीकाकारका कर्तव्य है मूल ग्रंथके अभिप्रायको उनकी परिपाटीके अनुसार व्यक्त

करना।" परन्तु इस विधानको आगे जाकर यह कहते हुए कि "यदि विचार कर देखा जावे तो वहां पर भी उनका तथा उनसे पूर्ववर्ती दोनों टीकाओं अर्थात् सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकका मत तत्त्वार्थसूत्रकारके मतसे मेल नहीं खाता।" उपेक्षित कर दिया है। ऐसी हालतमें उसके आधारसे जो विरोध-परिहारका प्रयत्न किया गया है वह कोई स्थिरता एवं समीचीनताको लिये हुए नहीं है। अतः प्रो० सा० पूर्वोक्त विवेचनके प्रकाशमें आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक और तत्त्वार्थसूत्र आदिको सूक्ष्मतासे कृपया देखें, उन सभीमें दोषका स्वरूप क्षुधादि माना गया मिलेगा। जिन दो विचार-धाराओंको वे उनमें देख रहे हैं, वह केवल भ्रम है।

अतएव दोषके स्वरूपसम्बन्धमें आप्तमीमांसा और रत्नकरण्ड दोनोंका एक ही अभिप्राय है और इस लिये इस बाधकाभाव और दूसरे साधक प्रमाणोंसे यह स्थिर हुआ कि दोनों ग्रंथोंका कर्ता एक ही व्यक्ति है और वे हैं आप्तमीमांसाके कर्ता स्वामी समन्तभद्र।

वीरसेवामन्दिर, ११-८-४१

अहिंसाकी विजय

विश्वके हित बह रहा हो, प्रेमका अविराम निर्झर—
रोम रोम स्वतन्त्र हो, बन्दी न हो जीवन तथा स्वर।
एकता समता क्षमा सौहार्द, जागे उत्तरोत्तर,
बह रही हो शान्ति जननी, शुद्ध हार्दिकतर निरन्तर।

विश्व-रक्षाके लिये अन्तर, सदा हो प्रोत्साहित,
हो घृणामय घोर हिंसा, भावना होकर पराजित।
घोर हिंसा आज है, बुझने प्रदीपोंका उजाला,
विश्वमें होगा अहिंसा, सत्यका फिर बोल बाला।

फिर बहाएगा जगतमें, रक्त मानवका न मानव,
गुञ्जरित होगा अहिंसक, वीरके सन्देशका रव।
जग जलानेके लिये, कोई न फिर दीपक जलेगा,
अमर जीवन दीप जलकर, विश्वभरका तम हरेगा।

आज हिंसा दानवीके, केन्द्रमें भीषण प्रलय हो,
विश्वके सौभाग्य हित, क्षण-क्षण अहिंसाकी विजय हो।

कल्याणकुमार जैन 'शशि'

भगवान् महावीर

(ले०— श्री० सुमेरचन्द्र दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी० ए० एल-एल० बी०)

जिनसेनाचार्य कहते हैं, जब विश्वमें अशांतिका साम्राज्य छा जाता है; धर्मका प्रदीप बुझनेसा लगता है और लोग पापोंकी ओर उन्मुख होने लगते हैं, तब जिनोत्तम तीर्थंकर प्रभुका जन्म होता है। आजसे लगभग ढाईहजार वर्ष पहले इस भारतवर्षका वसुधातल महान पाखंडो और पापप्रचारकोंके द्वारा कलंकित होरहा था। अनेक लोगोंने अपने पापोंसे छूटनेका तरीका जीवोंके वधको समझ रखा था। 'धर्मस्य मूलम् दया' के भावको पूर्णतया भुलाकर तत्कालीन पुरोहित आदिकोंने जीवित प्राणियोंकी बलि करनेका मार्ग प्रचारित किया था। उस पापमयी निविड़ निशामें सन्मार्गप्रकाशकका दर्शन दुर्लभ न रहा था। जुगनूके समान करुणाके मार्गका प्रकाशन करने वालेकी भी प्राप्ति कठिन थी। यज्ञमें होमे जाने वाले पशुओंके करुण क्रन्दनसे आकाश फटा जा रहा था। उनके रक्तसे यह जमीन लाल होरही थी। वेदादि शास्त्रोंकी दुहाई देकर तत्कालीन विप्रवर्ग पशुबलिकी तो बात ही क्या है, नर-बलि तकका समर्थन करके लोगोंको गुमराह कर रहा था। उसी भीषण स्थितिको लक्ष्यमें रख कर कविकालिदासने अपने 'मेघदूत' में चंबल नदीको "चर्मवती' के रूपमें वर्णित किया है, क्योंकि वह रक्तको प्रवाहित करनेवाला महान् नद होगया था।

इसी पापके युगमें जगत यही चाह रहा था कि कोई अहिंसाका अधिदेवता करुणाकी सजीव प्रतिमा अवतरित होकर उन अगणित मूक जीवोंके कष्टोंका निवारण करे। लोगोंकी और मूक प्राणियोंकी अभ्यर्थनाएं विफल नहीं हुई। कारण, विहारप्रांतके भूषणरूप कुंडपुर (कुंडलपुर नगर) में महाराज सिद्धार्थ के यहां महारानी त्रिशलादेवी के गर्भमें एक पुण्य पुरुष अवतरित हुए। तबसे ही पापियोंकी, हिंसकोंकी मनोवृत्तिमें अन्तर पड़ना प्रारंभ हुआ। मयूरकी ध्वनिके सुननेमात्रसे जैसे चंदनके वृक्षमें लिपटे हुए विषधर ढीले होजाते हैं, वैसे ही उन महान आत्माके गर्भमें आनेपर हिंसामें लोगोंकी विरक्ति शुरु हो चली। देवोंने, दानवोंने, मानवोंने और प्रकृतिने भी अपना महान् आनंद व्यक्त किया। जब चैत्र शुक्ला त्रयोदशीको सीपमेंसे मोतीके समान, अत्यन्त क्रान्ति, प्रताप तेज प्रभृति गुणभूषित शिशुने माता त्रिशलाके उदरसे जन्म लिया, तब सम्पूर्ण विश्वमें शांति और आनदका सिन्धु हिलोरें मारने लगा। और की तो बात ही क्या नारकीयोंको भी अंतर्मुहूर्त के लिए शान्तिसे सांस लेनेका मौका मिला। देवदेवेन्द्रोंके आसन कंपित हुए। उनके मस्तक झुक गए। मानों वे यह बताते थे कि विश्वमें सबसे पूज्य और पवित्र आत्मा माता त्रिशलाके यहां अवतरित हुआ है, तुम लोग यहां कैसे बैठे हो। सभीने उस दिन अपनेको धन्य माना। लोग उस महापुरुषको महावीर प्रभुके नामसे कहने लगे। वैसे तो लोकोत्तर गुणोंके कारण उनको अनेक नामोंसे संकीर्तित करते थे, किन्तु प्रचलित नाम 'महावीर' था। महावीर प्रभु कहनेमें और देखनेमें शिशु थे, किन्तु उनका आत्मा 'अवधि' नामक दिव्यज्ञानसे अधिकृत था। समय जाते और सुखकी घड़ियां बीतते देर न लगी। शिशुत्वसे वर्धमान होकर उन्होंने कुमारावस्था प्राप्त की। उनका तेज, उनकी शांति, उनका बल, सब कुछ अतुलनीय था। एक दिन दो आकाशगामी महान् तपस्वी योगियोंको तत्वके विषयमें सूक्ष्म शंका होगई थी। उन्होंने जब कुमार महावीरका दर्शन किया, तो शंकाका निराकरण होगया। इससे उन मुनियोंने न्हे 'सम्मति' नामसे संकीर्तित किया।

एक समय अनेक राजकुमारोंके साथ प्रभु उद्यानमें क्रीड़ा कर रहे थे। एक महान सर्पराज वहां दिखाई पड़ा। ये सभी राजकुमार एक विशाल वृक्षपर चढ़े हुए थे। जब उस नागराजने वृक्षपर चढ़ना आरम्भ किया, तो सभी

राजकुमार घबड़ाकर कूदे और जान छोड़ कर भागे, किन्तु प्रभुकी गंभीरता और दृढ़तामें तनिक भी परिवर्तन न हुआ। वे उस नागराजको वशमें करते हुए सरलतासे नीचे उतर आए।

इसी प्रकार महावीर प्रभुके बाल्यकालकी प्रत्येक घटना महत्वपूर्ण और आश्चर्यकारी हुआ करती थी। ऐसे प्रतापी पुत्रके कारण महाराज सिद्धार्थ और महारानी त्रिशलाको अवर्णनीय आनंद, शांति तथा गौरवकी प्राप्ति होती थी।

प्रभुकी रूपराशि तो लावण्यका समुद्र ही प्रतीत होती थी। अनेक सुरबालाएँ अनिमिष नयनोंसे उनकी मनोरम मुद्राका दर्शन कर तृप्त नहीं होती थीं, किन्तु महावीरका अंतःकरण विकारविहीन था। वह पूर्णतया निर्लिप्त था। एक कवि कहता है—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि-
र्नीतंमनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मंदराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्॥

'देवांगना हर सकीं मनको न तेरे;
आश्चर्य, नाथ! इसमें कुछ भी नहीं है।
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मंदराद्रि हिलता तक है कभी क्या?'

महावीरके समक्ष लोकोत्तर अपार आनदप्रद सामग्री थी जिसके द्वारा अन्य जन तीव्रविषयासक्त हुए बिना न रहते; किन्तु महान तत्वदर्शी होनेके कारण प्रभुका वैभव, विभूतिसे उतना ही सम्बन्ध था, जितना कि सरोजका सरोवरसे।

एक दिन प्रभुको तारुण्यश्रीसे समन्वित देखकर माता पिताने उनके विवाहका विचार किया। जब यह बात प्रभु को ज्ञात हुई, तब उनने अत्यन्त नम्रतापूर्वक इस विषयमें अपनी अनिच्छा प्रगट की। उनने कहा 'तात! मेरे जीवन का ३० वर्ष जैसा बहुमूल्य समय विषयोंके मध्यमें व्यतीत होगया; अब केवल ४२ वर्षका जीवन और शेष है। अत एव इस अमूल्य समयको मैं विषयासक्तिमें अपव्यय नहीं करना चाहता। विषयोंकी आराधनासे त्रिकालमें भी जीव की तृप्ति नहीं हो सकती है। मैं आत्म जागृतिके निमित्त तपस्वीका जीवन व्यतीत करूँगा। कर्मजालमें जकड़े, मिथ्यात्व और अज्ञानमें निमग्न जगत्को कल्याणके मार्गपर लगाऊँगा, जिससे सबका दुःख दूर हो।

महावीरका निश्चय अडिग और अचल था। उनका युक्तिवाद भी अजेय था। उनने आजन्म ब्रह्मचर्यकी महान प्रतिज्ञा ली और सपूर्ण राजकीय वैभवका परित्याग कर प्रकृतिदत्त दिगम्बर मुद्रा धारण की। वे बालककी भांति निर्विकार थे। दिगम्बर अवस्थामें प्रभु ऐसे मनोहर एवं दिव्य मालूम पड़ते थे, मानो मेघघटासे शून्य भासमान भास्कर ही हो।

मुनिपदको अंगीकार करके प्रभुने अद्भुत आत्मिक दृढ़ता का परिचय दिया। बड़ेसे बड़े कष्ट उनकी आत्मनिष्ठामें तनिक भी बाधा नहीं पहुँचा सकते थे। शैलशिला उनकी शय्या थी। गिरिगुहा वसतिका थी। प्रकृतिकी सपूर्ण सामग्रीके मध्य वे सजीव प्रकृतिके देवता जैसे प्रतीत होते थे। पाणिपात्रमें वे शुद्ध आहार लेते थे। मन वचन और काय उनके अधीन थे। निंदा, स्तुति, शत्रु-मित्रकी कल्पना से वे परे होकर वीतराग बन गए थे। महान मौनव्रती थे। बिना पूर्णता प्राप्त किए उनने उपदेश देना ठीक नहीं समझा। उनकी तपस्या अचिंतनीय थी। द्वादश वर्षकी महान साधनाके फलस्वरूप वैशाख सुदी दशमीके अपराह्न मे प्रभुको कैवल्यकी—सर्वज्ञताकी—लोकोत्तर ज्योति प्राप्त होगई। अब संपूर्ण विश्वके पदार्थ अपनी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित उनके दिव्यज्ञानके गोचर हो उठे।

बुद्धदेवने स्वयं उनकी सर्वज्ञताकी चर्चा करते हुए कहा है 'क्या कहूँ! मुझे नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र सर्वज्ञ महावीर की सर्वज्ञता नहीं प्राप्त हुई। क्या उसका कोई अन्य उपाय है।"

योगविद्याके पारगामी भगवान महावीरने जो सत्यका सर्वाङ्गीण दर्शन किया था, उसका प्रतिपादन श्रावण कृष्णा १के सुप्रभातमेंराजगिरिके विपुलाचल शैलपर प्रारम्भ किया। मनुष्यों, देवेन्द्रोंकी तो बात ही क्या पशु पक्षी तक प्रभुके प्रवचनोंको सुननेको आते थे और अपना कल्याण करते थे।

प्रभुने कहा—"प्राणीमात्र शांतिलाभके लिये प्रयत्न करते हैं; किन्तु फिर भी दुखी देखे जाते हैं। सुखका सच्चा उपाय आत्मिक पवित्रता है। यह जीव अपने कर्मोंके

अनुसार सुख दुःख भोगता है। कर्मोंका बंध करने या उनका उच्छेदन करनेमें प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। आत्म-शक्तिको जागृत कर यह जीव स्वयं परमात्मा बन सकता है। विषयवासना, अंधश्रद्धा, अज्ञानके कारण यह अनंत ज्ञान, आनंद तथा शक्तिका अधीश्वर आत्मा अनंत संसारमें ठोकरें खाता हुआ परिभ्रमण करता है। आत्मनिर्भरता, आत्मनिर्मलता, आत्मज्ञान, आत्मनिमग्नताके अवलम्बनसे यह जीव संसारके संपूर्ण दुःखोंका आत्यंतिक क्षय करके मुक्ति निर्वाणका परमपद प्राप्त करता है। विषयोंकी आराधना, इन्द्रियोंकी पुष्टिसे त्रिकालमें भी शांति न मिलकर आंतरिक आकुलता तथा व्यथाकी वृद्धि होती है।

प्रभुने बताया कि जीव-बलिदान या प्राणिहिंसामें कभी भी सच्ची शांति नहीं मिलेगी। आत्मामें जो रागद्वेष, मोह आदि पशु-प्रवृत्तियां हैं उनका बलिदान करना चाहिए। जो दूसरे जीवोंकी रक्षा न करेगा, उसे कभी भी शांति नहीं मिलेगी। आनंदके फूल करुणाकी शाखापर लगा करते हैं।

भगवानने कहा—'तत्व अनेक धर्मात्मक है। तत्वके एक अंशको पूर्ण सत्य मानकर ही दार्शनिक लोग खंडन-मंडन के चक्रमें घूमा करते हैं। सत्यांशको पूर्ण सत्य समझना सत्यकी प्रतिष्ठाके विरुद्ध है। उचित यह है, कि अन्यके सत्यके दृष्टिकोणको जानकर उसकी निर्दयता या निर्भयता-पूर्वक हत्या न करना चाहिए। सत्यांशका तिरस्कार करने वाला स्वयं अपने पावोंपर कुठाराघात करता है। वस्तुके जिस अंशको हम प्रधान करते हैं वह मुख्य बन जाता है, अन्य अंशोंपर प्रकाश न पड़नेसे वे गौण होजाते हैं, उनका पूर्णतया अभाव नहीं होता है। बौद्धिक जगतमें यदि मान-सिक निष्पक्षपात (Intillectual impartiality) से काम लिया जाय, तो वहां भी मैत्री स्थापित की जा सकती है। अपनेसे भिन्न दृष्टिकोणको सहसा मिथ्या कह देना ही विरोध और कलहका मूल है

बौद्धिक मैत्रीका उपाय बताकर प्रभुने विश्वमैत्रीके लिये लिए जीवरक्षा—अहिंसाका मार्ग बताया। गृहस्थके लिये यथाशक्ति और यथासंभव पररक्षाका उपदेश दिया। प्रभुने गृहस्थोंको मर्यादापूर्ण अहिंसाकी शिक्षा दी, जिससे उनकी लोकयात्रा निष्कण्टक होवे। प्रभुने उत्कृष्ट शांतिको तपोवन-वसी तपस्वियोंका भूषण कहा है, किन्तु संसारके उत्तर-दायित्वपूर्ण जीवनमें लगे हुए नरेशों आदिको अकारण हिंसा करनेका निषेध किया है, जिससे अन्यायपूर्ण वृत्तिका प्रतिकार तथा प्रतिरोध हो। 'शमः भूषणं यतीनां, न तु भूपतीनां'। अहिंसाका आराधक आवश्यकता पड़नेपर उचित उपायान्तरके अभावमें शस्त्रादिकका संचालन करके अन्यायका निराकरण तथा न्याय देवताकी प्रतिष्ठाका संरक्षण कर सार्वजनिक अहिंसाकी रक्षा करता है।

कुछ सांप्रदायिक दृष्टिवाले भारतवर्षकी पराधीनताका दोष महावीरकी अहिंसापर लादते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि देशका पतन धर्मान्धता, फूट, कलह आदिके कारण हुआ। जब तक देशने महावीरकी अहिंसाके अनुसार प्रवृत्ति की, तब तक वह विश्वका गुरु, शांति तथा समृद्धिका क्रीडास्थल रहा था। जबसे महावीरकी शिक्षा भुलाई गई, तबसे ही पतनकी पीडाप्रद कथा प्रारम्भ होती है। बिम्ब-सार, चन्द्रगुप्त आदि महावीरके आराधक नरेशोंके राज्यमें भारतवर्ष सर्वप्रकारसे समुन्नत रहा है, इस बातका साक्षी इतिहास भी है।

भगवानके शिक्षणके एक अंग अहिंसा तत्वका विशेष जोरके साथ बुद्धदेवने भी प्रचार किया। इसी प्रकार पश्चात्वर्ती हजारों महापुरुषोंने भी अहिंसातत्वका प्रचार किया। महावीर भगवानकी अहिंसाके प्रबल प्रचारके कारण उस समय वैदिक हिंसा बंद होगई थी। इसे वैदिक पंडित स्व० लोकमान्य तिलकने भी स्वीकार किया है।

प्रभुने सत्यके प्रत्येक स्वरूपको अपनी दिव्य देशनाके द्वारा प्रकाशित किया था, जिसको उनके पश्चात्वर्ती जैन-ग्रंथकारोंने लिपिबद्ध किया है। उसमें आत्मशुद्धि तथा विश्वशान्तिका अपूर्व भंडार भरा है। ३० वर्ष पर्यन्त विभिन्न देशोंमें विहार करके भगवानने कार्तिक कृष्णा चतु-र्दशीकी रात्रिके अंतिम प्रहरमें पावापुरी (विहार) से निर्वाण-मुक्ति प्राप्त की। उस पुण्य दिवसकी स्मृतिमें दीपावलीका उत्सव अब तक संपूर्ण देशमें मनाया जाता है।

यदि हम महावीर प्रभुकी वाणीका मनन और अनुगमन करें, तो हम भी महावीर बन जायंगे। हममें 'सन्मति' का प्रकाश होगा और हम पूर्णतया 'वर्द्धमान' होंगे।

हमारा कर्तव्य है कि महावीरके उपदेशामृतको स्वयं पान करें और अन्य दूसरोंको भी पान करावें।

भ० महावीर और भ० बुद्ध

(ले०—श्री फतेहचन्द बेलानी)

यह तुलना कोई दार्शनिक या सैद्धान्तिक नहीं है और न इन महात्माओंके उपदेश और जीवनकी गहरी छान-बीन है। वैसी तुलनाके लिए तो एक महाग्रन्थ लिखा जा सकता है। यह तो एक नमूना है और एक दो बातें इसमें लिखी हैं। परन्तु तुलनात्मक दृष्टिसे इसका गहरा अभ्यास और अवगाहन आवश्यक है।

सच्ची तुलना शुद्ध सात्विकभावसे सत्यनिष्ठासे निष्पक्षतया और संस्कारिताके ऊंचे दर्जेपर होनी जरूरी है।

इसमें कोई शक नहीं कि भ० महावीर और भ० बुद्ध भारत की बड़ी विभूतियाँ हैं। भारतीय संस्कृतिके ये सर्जक और आत्मशोधक हैं तथा 'स्व' के भोगपर विश्वकल्याणके मार्गदर्शक हैं, भारतका यह गौरव है और हम उनके ऋणी हैं।

दुनिया जब किसीके मतमें वानर अवस्थामें थी तब भारतमें मानवताके शिखर जैसे सन्तोंने संस्कृतिका आदर्श कायम कर दिया था। दुनियाके मध्य भारत उस जमानेमें स्थितप्रज्ञ साबित हो चुका था।

ऐसे महापुरुषोंके लिए भारतकी विभूतिकी समझ गौण बनाकर उन्हें हम किसी सम्प्रदायके नायक और प्रणेता बना देते हैं, तब, मैं समझता हूँ, कि हम उन्हें अपनी कोटिसे नीचे गिरा देते हैं। इतना ही क्यों हम भारतीयता को भी कलङ्क लगाते हैं। फिरतो ऐसे महात्माओंमें दोष देखने लगजाते है और उनका नाम ले लेकर परस्पर लड़ा करते हैं। यह आत्मिक और मानसिक क्षुद्रता है, हम उसे और क्षुद्र बनानेकी कोशिश करते हैं।

सम्प्रदायके नेताओंमें इष्टकी भक्तिका अंध अतिरेक बढ़ जाता है तब आपसमें तानखीच होती है धीमेधीमे-दुराग्रह बन कर प्रसंग प्रसंगपर विद्वेष फैलता रहता है। परिणामतः वह भक्ति इष्टको कलंकित करनेका कारण होजाती है। भक्तिका अंध अतिरेक इस तरह इन्सानमें क्षुद्रता पैदा करता है और मनुष्यत्वको मिटाता है।

भ० महावीर और भ० बुद्धको जो विचार आए, और जो मार्ग मानवताके कल्याणमें वास्तविक जँचा वही उन्होंने समस्त समाजके लिए बताया। फिरभी उसमें सम्प्रदायवाद जो घुस गया है शायद उनके अनुयायिओंने उसे उनके नामपर गढ़ लिया है।

नहीं तो भला महावीर ऐसा क्यों कहते कि मेरे मार्गमें शंका करने वाले मिथ्यात्वी हैं या उनका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

अथवा बुद्ध ऐसा उपदेश क्यों देते कि बुद्ध और बुद्ध संघ को शरण लेनेवालेका ही कल्याण होसकता है।

उन्होंने तो शायद ऐसा ही कहा होगा कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कल्याणका मार्ग यह है तुम उसपर चलो तो सही, न चलो तो सही। चलो तब भी आशीर्वाद है, न चलो तब भी आशीर्वाद है।

पर आज स्वपक्षमें ही कल्याण और बाहर मिथ्यात्व की बातें इनके नामपर चढ़ गयी हैं और उन दोनोंके नामसे काफी दलबन्दियाँ होगयी हैं।

ऐसा क्यों नहीं है कि दोनों महात्माओं को एक जगह स्थापित करके भारतीय विभूति समझ कर, भारतीयके नाते हम दोनों की एकसाथ स्तुति-पूजा करते रहें।

दोनोंमें तरतमता होसकती है। पर जनताके लिए और विश्वके लिए आत्मकल्याणका मार्ग ढूंढनेमें जो कष्ट उन्होंने झेले हैं, जिस गहराईपर वे पहुँचे हैं, और जो आत्मभोग उन्होंने दिया है वह हर इन्सानके लिए वंदनीय है, पूजनीय है।

भ० महावीर और भ० बुद्धके विषयमें एक दो बातें पेश करना चाहता हूँ। और यह देखना चाहता हूँ कि उन दोनोंमें तारतम्य क्या था।

बुद्धका चरित पिटकग्रन्थोंमें स्वमुखोच्चारित-सा उपलब्ध है। 'ललित विस्तार' में भी है। महावीरका चरित्र आगम ग्रन्थोंमें कहीं कहीं और कल्पसूत्रमें है। स्वतंत्र

चरित्र भी संस्कृत-प्राकृतमें लिखे गये हैं।

१-गृहत्याग—

सबसे पहली बात है दोनोंके गृहत्यागकी। बुद्धके वैराग्यमें यह कारण बताया जाता है—रोगी, वृद्ध और मृतका दर्शन। उन्हें देख कर बुद्धको ग्लानि आजाती है। उसमेंसे जन्म, जरा, व्याधि और मृत्युके विचार उठते हैं। आत्मा उद्विग्न हो उठता है। इसी उद्विग्नताने वैराग्य पैदा कर दिया। उसमेंसे गृहत्यागकी भावना उठी। 'मज्झिम निकाय' मे 'अरियपरियेसनसुत्त' से यह पता चलता है कि उनकी आत्मा विह्वल हो उठी, स्त्री और पुत्र परिवार को छोडना भी कुछ कष्ट देरहा था, साथमें रहने को भी दिल नहीं चाहता था। इस लिए एक रातको माता पिता और पत्नी-पुत्रको सोते हुए छोड कर वे जंगलमें चले गये। 'अरियपरियेसनसुत्त'में कहा है—

"योब्बनेन समन्नागतो पठमेन वयसा अकाम कानं मातापितुन्नं अस्सुमुखानं रुदन्तानं केसमस्सु ओहारेत्वा कासायानि वत्थानि अच्छादेत्व अगारस्मा अनगारियं पब्बजि। सो एवं पब्बजितो परिएसमानो येन आलारो कालामो तेन उपसंकमि।"

"अरियपरियेसनसुत्त—मज्झिमनिकाय

"यौवन की प्रथम वयमें अनिच्छुक और आखोंमें आँसू भरे हैं ऐसे माता-पिताको छोड़ केश-मूछ मुडवा कर, घर छोड अनगार प्रव्रजित हुआ। इस तरह प्रव्रजित होकर ······आलारकालामके पास पहुँचा"

हो सकता है कि वैराग्य और प्रव्रज्याका यह तरीका किसीको न जँचे। शायद यह समझ लिया जाय कि यह उनकी मानसिक कमजोरी थी। उनके मनमें भय और संकोच था। अपने वैराग्यका प्रभाव उनपर जमा नहीं सके।

रातको यशोधराको छोड़ते समय उनकी मानसिक परिस्थितिका वर्णन बौद्ध ग्रन्थोंमें जो दिया है इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय वह व्यग्र और व्याकुल थे। यह भी कहा जा सकता है कि पत्नीको भी अज्ञात रखकर, रातको छोड़ कर चला जाना औदार्य और क्षमता नहीं हो सकती। पर खैर, बुद्ध आखिर महात्मा हैं।

महावीरके वैराग्यकी बात कुछ और है। उनको किसी बाहरी कारणसे वैराग्यका होना उल्लिखित नहीं, बल्कि उन के उपदेशसे मालूम होता है कि वह वैराग्य स्वयं प्रेरणा है। उपदेशका श्रीगणेश जो किया है वह आत्माकी भीतरी आवाज़से किया है। जैसा कि 'आयाराङ्ग सुत्त' मे कहा है—

के अहं आसी? के वा इयो चुओ? इह पेचा भविस्सामि? अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए। जं पुण जाणेज्जा सह-सम्मइयाए।

मैं कौन हूँ? यहाँ कहांसे आया हूँ? और यहांसे कहा जाऊंगा? आत्माका पुनर्जन्म है या नहीं है? वह स्वबुद्धि से समझ लेना चाहिए।"

इस प्रकार सोचते सोचते उन्होंने अपनी एक दिशा पाली और मार्ग तय कर लिया। अपने वैराग्यकी बात सब पर प्रकट करदी, गृहत्यागका निर्णय भी सुनाया।

पर वे संसारी थे, कुटुम्ब-कबीला भी था। उन्हें कष्ट कैसे पहुँचाया जाय? ससारीको संसारका भी कुछ कर्जा है, माता-पितादिमें भी हमारा कुछ फर्ज है। उसे अदा करना है।

इस लिए, गर्भकी प्रतिज्ञाकी बात कोई न भी माने तो भी माता पिताकी विह्वलताको देख उनके मृत्यु तक गृहत्याग स्थगित कर दिया। भीतरसे वैराग्य बढ़ता रहा। "निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्' समझ कर राजमहलको भी तपोवन बनाते रहे।

इस कारण माता-पिताके स्वर्गवासके बाद भी बड़े भाईने दो सालके लिए और आग्रह किया उसे भी मान लिया। पत्नीको भी समझा लिया। और जब सभी सतुष्ट हो जाते हैं, या ऐसा कहें कि सबको यह प्रतीति हो जाती है कि महावीरको वैराग्यसे वापस लौटाना असम्भव है तब सबने उनका प्रस्ताव मंजूर रख लिया और गृहत्यागको आज्ञा देदी*।

महावीर मानो संसारकी प्रयोगशाला थी। जिनको जो-जो उपाय आजमाना हो आजमाओ, प्रलोभन जो रखना हो रखो, ताकत हो तो वापस भी लौटालो, वैराग्य मेरा कमजोर है तो जगलमे जाकर भी क्या कर सकूंगा? सबल वैराग्यकी परीक्षा जगलमें नहीं संसारमें साबित होती है।

* यहाँ वैराग्य-दीक्षाका दो बार स्थगित किया जाना और पत्नी आदिकी कुछ बातें श्वेताम्बरीय आगमोंकी दृष्टिसे सम्बन्ध रखती हैं, दिगम्बर आगमोंकी दृष्टि उनसे भिन्न है। —सम्पादक

और एक दिन 'णमो सिद्धस्स' कहकर गृह-त्याग कर दिया।

२ ज्ञानप्राप्ति—दोनोंको ज्ञान प्राप्त है नाम भले ही जुदा जुदा हो। कोई बोधि कहो, कोई केवलज्ञान कहो।

'मज्झिम निकाय' के 'महासच्चकसुत्त' से पता चलता है, जैसा कि ऊपर कहा गया, भ० बुद्ध गृह-त्याग करके योगी आलार कालामके पास गये। उनके शिष्य बन कर उनके मार्गकी उपासना की।

फिर वह उद्दक रामपुत्रके पास गये। उनका शिष्य बन कर वहाँ समाधि सीखी। उनसे अलग होकर जैन श्रमणोंकी तपस्याका सिद्धान्त ग्रहण किया। यह तपस्या जब कठिन मालूम हुई तो उन्होंने मध्यम मार्ग शुरू किया, उसीसे ज्ञान प्राप्त करते चले।

महावीरकी बात इससे कुछ भिन्न है। वह किसीके पास गये नहीं। अपना मार्ग उन्होंने प्रथमसे सोच लिया था। उसी पर वह चलते रहे। आत्मामेंसे जो आवाज उठी उसीका विकास करते गये। उसी मार्गसे आत्मासिद्धि बोधि, केवल जो कुछ कहे, प्राप्त किया

३ तपस्या—भ० बुद्धने तपस्या शुरू की है। पर बीच में वह शायद थक जाते हैं वह जैन श्रमणसे कहते हैं—

'हे अग्गिवेसन! मैंने श्वासोश्वासको रोकना शुरू किया पर सरमें भयंकर वेदना होने लगी। पेटमें भी ऐसा ही कष्ट होता रहा, शरीरमें दाह होने लगा, देह कृश होगया आंखें गहरी चली गई, और शरीरसौंदर्य भी जाता रहा।'

फिर कहते हैं "मुझे प्रतीत नहीं होता कि इस दुष्कर कर्मसे लोकोत्तरधर्मज्ञान प्राप्त हो, इस लिये निर्वाण-प्राप्ति के लिए कोई दूसरा मार्ग खोजना चाहिए। इस दुर्बल शरीरसे यह सुखसाध्य नहीं होसकता. इस लिए शरीर-रक्षण के लिए पर्याप्त खुराक आवश्यक है।"

"फिर मैंने खाना शुरू किया। अन्नग्रहणसे धीमेधीमे शक्ति आने लगी मैं समाधिसुख अनुभव करने लगा।"

इससे पता चलता है कि तपस्यासे जब बुद्ध थक जाते हैं, तो एक आसान और सुखसाध्य मध्यम मार्ग प्रतिपादित करते हैं। वह मध्यम मार्ग वास्तवमें देखा जाय और ऐतिहासिक गवेषणासे कसा जाय तो श्रमणोंका जयणा-धर्मका ही अंश है।

तपस्यासे उन्हें तिरस्कार भी हो गया है। क्यों कि आगे जाकर उन्होंने अपने उपदेशमें तपस्याको अनुपादेय कहा है। कहते हैं—

'हे भिक्षुओ! प्रव्रज्या लेने वालेको दो सिरेका सेवन न करना चाहिए। कामोपभोग एक सिरा है। वह हीन, अनार्य, अनर्थावह, ग्राम्य और अज्ञानजनसे-वित है। देहदंडन दूसरा सिरा है। वह भी दुःखकारक, अनार्य, अनर्थावह है।"

अर्थात् कामोपभोग और तपस्या दोनोंको अनार्य और अनर्थावह बताया है। इस लिए उन्होंने मध्यम मार्गका अनुसरण किया। इस लिए अप्रासंगिक मार्ग बताया। मध्यम मार्ग शायद इस लिए कहा होगा कि न तो वह आलार कालाम और उद्दक रामपुत्र जितना नीचा है, न जैनश्रमण मार्ग जितना ऊँचा है। दोनोंके बीचका रास्ता अपने लिए निश्चित कर लिया है। और उसे मध्यममार्गके नामसे घोषित किया।

'चूलदुक्खक्खंध' में तपस्याके प्रति कुछ कटु रोष प्रकट किया है—

एक दफा वे राजगृहमें गये हैं। वहां जैन श्रमण तप कर रहे हैं। उन्हें देख कर भ० बुद्ध कहने लगे—

"तुम तरह तरह करके शरीरको क्यों कष्ट पहुंचा रहे हो?"

जैन श्रमण—"तपसे पूर्वजन्मके पाप नष्ट करके और नये पाप न करके अगले जन्ममें कर्मक्षय और सर्वदुःखोंका नाश हो जाता है।"

भ० बुद्ध—'पूर्व जन्ममें तुम थे कि नहीं इसका तुम्हें पता है?"

श्रमण—"नहीं, पता नहीं है।"

बुद्ध—"जिसका तुम्हें पता नहीं, फिर उस जन्मका पाप धोनेके लिए तप करते हो ऐसा नहीं माना जा सकता? अर्थात् तुम लोग पारधि जैसे क्रूर कर्म वाले हो ऐसा अर्थ नहीं हो सकता?"

संवाद तो बहुत लम्बा चला गया है पर यहाँ इतनी गुंजाईश नहीं कि पूरा पूरा रख सकूं।

इससे श्रमणोंपर कटाक्ष, और तपका उपहास दीखता है, साथ साथ रोषसे पूर्वजन्मका भी खण्डन हो गया है। ये बातें शायद लोगोंको ठीक न जँचे।

पूर्वजन्म-पुनर्जन्मके विषयमें 'महापरिनिब्बान सुत्त' में उन्होंने कहा है—

चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अदस्सना।
संसरितं दीघमद्धानं तासु तास्वेव जातिसु ॥
तानि एतानि दिट्ठानि भवनेत्ति समूहता।
उच्छिन्नमूलं दुक्खस्स नत्थि दानि पुनब्भवो ॥

"चार आर्य महासत्योंका यथाभूत ज्ञान न होनेसे दीर्घकाल तक उन उन योनियोंमें भटका किया, पर अब सत्यका ज्ञान हुआ है तृष्णाका क्षय हुआ है, दुःखका मूल नष्ट हुआ है, इसलिये अब पुनर्जन्म नहीं रहा।

संयुत्तनिकायमें एक जगह लिखा है—

'अनमतग्गोयं संसारो, पुब्बा कोटि न पञ्ञायति अविज्जानीवरणानं सत्तानं तण्हासञ्ञोजनानं संधावतं संसरतं'

संसार अनादि है, अविद्यासे आच्छादित और तृष्णासे बद्ध इस संसारमें जकड़े हुए प्राणियों की पूर्व स्थिति क्या थी कुछ समझ में नहीं आता।

"यो खो आवुसो रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो इदं वुच्चति निब्बाणं"

"राग, द्वेष और मोहके क्षयको निर्वाण कहते हैं"। अब देखें कि जैनश्रमण जो तपस्या करते थे राग, द्वेष, मोह, तृष्णा और दुःखके क्षयके लिए करते हैं तो क्या आपत्ति हो सकती है?

पूर्वजन्म, पुनर्जन्म तो बुद्धभी स्वीकार करते हैं, अनादि संसारमें अपनी पूर्वस्थिति का उन्हें भी पता नहीं है ऐसे अज्ञानके कारण अगर जैन श्रमण तपस्या करें तो उनका उपहास क्यों होसकता है, और खुद म० बुद्धने ऐसा उपहास और कटाक्ष क्यों किया होगा, कुछ समझमें नहीं आरहा है!

पर इन बातोंसे यह नतीजा निकल आता है कि तप: प्रति ऐसी तीव्रता और तिरस्कार व्यक्त किया है। और अपने सिद्धान्तोंकी कक्षाको नीचे ले आये हैं।

म० महावीरकी तपस्याका सिद्धान्त और है। तपमें उन्हें क्लेश नहीं हुआ। बल्कि आखिर तक ज्ञानयुक्त तप-कष्टके प्रति म० बुद्धको रोष हो आया था, इसलिये तपस्याको ही प्रधान माना, त्याग और तप आत्म-विकासका साधन, कल्याणका मार्ग, और राग, द्वेष, मोहके क्षयका कारण बताया और ऐसा ही उपदेश अन्त तक देते रहे। साढ़े बारह सालमें ३४९ दिन आहार लेकर यह साबित किया कि आत्मबल मजबूत है तो यह शरीर-वाहन तपसे थकता नहीं बल्कि आत्माका तेज और प्रभाव बढ़ता रहता है।

महावीरकी बात तो और है पर उनके एक साधुकी तपस्याका वर्णन 'भगवती सूत्र' में आता है। म० बुद्धकी तपस्याके साथ उसे देख लेना अनावश्यक न होगा। उसमें लिखा है—

"आर्य स्कन्दकका शरीर कई किस्मकी तपस्या करनेके बाद 'शरीर तपसे शुष्क, रूक्ष, मांसरहित और दुर्बल हो गया है, हड्डियाँ खड़खड़ आवाज करने लगीं, चमड़ी हड्डियोंके साथ चिपट रही है, नाड़ियाँ सभी ऊपर उठ आई हैं, बोलना मुश्किल हो रहा है। शरीर ऐसा है मानों सूखी इरण्डीकी लकड़ीसे या सूखे पत्तोंसे भरी अंगीठी हो और अंगीठीको घसीटते समय जैसी आवाज होती है वैसे स्कन्दक जब चलते हैं, तो हड्डियोंकी आवाज हो रही है।"

आर्य स्कन्दक सोचते हैं—"शरीरमें चलनेकी ताकत नहीं है, बोलनेसे भी ग्लानि आजाती है, केवल आत्मबलके जरिए चलना सम्भव हो रहा है, फिर भी जब तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पराक्रम है तब तक भगवानके पास जाऊं और संलेखनाकी आज्ञा लूं। 'भगवती सूत्र' श० २ उ० १

इतनी दुर्बलतामें भी वह तपकी ही सोच रहे हैं।

४ उपदेश—पिटक ग्रन्थोंमें बुद्धके उपदेशमें रत्नत्रयी का उपदेश है। उनमें तीन रत्न इस तरह प्रतिपादित हैं—

"बुद्धं सरणं, धम्मं सरणं, संघं सरणं"

इस विषयमें सोचते सोचते दिलमें प्रश्न हो उठता है कि क्या वास्तवमें यह बुद्धकी ही आज्ञा है? क्यों कि ऐसी भावनाएँ मनुष्यके मानसका प्रतिबिम्ब हैं। बार-बार सोचा कि इसमें कहीं व्यापक भाव होतो ढूंढ निकालूं। पर मैं सफल न हो सका, मुझे इसमें साम्प्रदायिकभाव ही प्रतीत रहा। हो सकता है कि इसे समझनेमें मेरी गलती हो। मैं चाहता हूँ कि मेरी गलती हो।

आगमोंमें महावीरके उपदेशमें भी रत्नत्रयीका उपदेश है।

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र"

यह महावीरका रत्नत्रयी है। अब अगर दोनोंकी तुलना की जाय तो मानसिक औदार्य और व्यापकभाव किसमें अधिक है यह सोचनेपर स्पष्ट होजाता है।

चाहे किसी वादका हो,, किसी सम्प्रदायका हो, किसी जातिका हो, मेरा भक्त हो चाहे न हो, मेरी शरण हो, चाहे किसीकी शरण हो पर सच्चा ज्ञान सच्चा दर्शन और सच्चा

चारित्र जिस किसीमें भी हो वह मोक्षका अधिकारी है।

इस तरह भ० बुद्ध और भ० महावीरके वैराग्यके निमित्त, गृहत्याग, ज्ञानप्राप्ति, तप उपदेश इन सबमें समता दीख पड़ती है। यह निर्णय मैं नहीं देना चाहूंगा पर जैन धर्मसूत्र और बौद्ध धर्मसूत्रों की तुलना जब कभी का जायगी तब स्वतः स्पष्ट होजा सकता है।

जरा और दृष्टिसे सोचें - बुद्धके समयमें जैन श्रमण संस्कृतिका खासा विकास होता चला आरहा था उसका प्रचार और प्रभाव जनतामें जमा हुआ था। बुद्ध उस वक्त नये नये और ताजे जनताके सामने आरहे थे।

आलार-कालाम और रामपुत्र आदिक वादोंमें उन्हें सतोष नहीं मिला, वैदिक संस्कृतिके विकासमें तो वह असंतुष्ट थेही, तब श्रमणसंस्कृतिकी तरफ ही उनका झुकाव हुआ, उनके उपदेशमें इसी संस्कृति की पूरी छाप आगई: तब उन्होने उसका अनुकरण और उपदेश किया है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। क्षोभ की भी इसमें कोई बात नहीं है।

पिटक ग्रंथों को पढ़नेसे पता चलता है कि जैन श्रमण संस्कृति की उनपर इतनी गहरी छाप है कि पिटक ग्रंथोंमेंसे जैन पारिभाषिक शब्दों का संचय करें तो एक छोटासा कोश (Dictionary) हो जा सकता है। जैसा कि—श्रमण, अणगार, प्रव्रज्या, चातुर्याम, निजरा, निर्वाण, सबुद्ध, रत्नत्रया, वगैरह वगैरह।

इसको पढ़कर किसी को यह भी अनुमान होसकता है कि चन्द्र जैसे सूर्यसे प्रकाश पाकर पृथ्वी को प्रकाशित करता है, बुद्धने भी जैन श्रमणसंस्कृतिके उपदेशोंके आचारवादके कुछ कुछ अंशों को लेकर अपने आपको जनतामें प्रकाशित किया। उनका उपदेश जैन संस्कृति का अंश है इसमें शायद ही अब अत्युक्ति होसकती है।

रमेशचन्द्रदत्त इतिहास और बौद्धसाहित्यके प्रकाण्ड विद्वान माने गये हैं। उन्होंने अपने "Ancient India" की दूसरी जिल्दमें एक जगह लिखा है और अपनी राय प्रकट की है कि—

"बुद्ध भगवानने धर्मका कोई नया आविष्कार या नयी ज्ञानोपलब्धि नहीं की, उन्होंने संसारत्याग, विशुद्ध जीवन, धार्मिक विचार आदि बातों का जो उपदेश किया है वह तत्कालीन दूसरे श्रमण उपदेश देते और अनुष्ठान करते थे वही है।"

एक इतिहासविज्ञ महाशयने अपनी पुस्तकमें लिखा है—

"बुद्धने जो उपदेश किया वह सदाचारसे अतिरिक्त कुछ नहीं है"

फिरभी वह एक अलग धर्म क्यों बनाया गया इसके कारण कुछ और हैं, पर उसकी चर्चा में यहां जरूरी नहीं समझता हूं।

मैं इतना ही समझता हूं कि महावीर और बुद्धमें तारतम्य कितना ही हो दोनों भारत की विभूति हैं, भारतके गौरव हैं।

मैं ऐसी आशा और अभिलाषा प्रकट कर सकता हूं कि भारतीयके नाते, भारतीय होकर दोनों को एक स्थानमें स्थापित करके दोनों की आराधना और उनके उपदेश का आचरण करते रहे।

मैं नहीं समझ सकता कि यह क्यों और कैसे शक्य होगया कि महावीर का उपासक सारनाथकी भव्य प्रशान्त बुद्ध प्रतिमासे और एक बुद्धभक्त जैनमन्दिरसे नफरत कर सकता है। क्यों कि दोनों आराधक भारतीय हैं और आराध्य भी भारतीय हैं और त्यागी हैं। फिर भी इतिहासमें इससे बढ़कर हमारा कलंक-कथाएँ कम नहीं हैं।

लेकिन आज तो हम कह रहे हैं कि विकास की ओर हमारी प्रगति है, हम आगे बढ़ रहे हैं, दुनिया एक होरही और इतनी नजदीक कि मुट्ठीमें आरही है।

पर देखा तो यह जाता है कि हम नजदीक होकर भी मनसे एक दूसरेसे दूर दूर हैं, बुद्धि इसमें है तो इस लिए कि परस्पर मनमें हम दूर भागते रहें, नफरत करते रहें और लड़ते रहें। क्या यही विकास है, और उन्नति है और बन्धुभाव। कुछ समझमें नहीं आरहा है!!

भ० महावीर-प्ररूपित अनेकान्त धर्मका वास्तविक स्वरूप

—(शासनोपकारी सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामीका समयसारी व्याख्यान)—

[श्रीकानजी स्वामी गुजरात-काठियावाड़के एक प्रसिद्ध आत्मार्थी साधु पुरुष हैं और आजकल सोनगढ़ (काठियावाड़) में निवास करते हैं। आपका अध्यात्मज्ञान चढ़ा-चढ़ा है और आप उसके अच्छे रसिक एवं सुलझे हुए प्रवक्ता हैं। आपके उपदेशसे हजारों स्त्री-पुरुष धर्ममें स्थिरताको प्राप्त हो चुके हैं। पिछले दिनों इन्दौरके सर सेठ हुकमचन्दजी भी सपरिवार आपके दर्शनोंको सोनगढ़ गये थे और उपदेशको सुनकर इतने प्रभावित हुए थे कि पहले दिनके उपदेशमें ५ हजारकी जिस रकमके दानकी घोषणा की थी अगले दिनके उपदेशमें उसीको उन्होंने अपनी खुशीसे २५ हजारमें परिणत कर दिया। अस्तु, आप श्री कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत 'समसार' के अच्छे मर्मज्ञ हैं और आपकी शास्त्रसभामें स्त्री-पुरुषोंका काफी जमाव होता है। ता० ११-१२ जुलाई सन् १९४४ को आपने समयसारके पाँच कलशोंका जो व्याख्यान किया है उसे भावनगरमें भायाणी श्री हरिलाल जीवराज भाईने अनेकान्तके विशेषाङ्कमें प्रकाशनार्थ भेजा था। सरकारी अड़चनोंके कारण विशेषाङ्क प्रकाशित नहीं होरहा है अतः आज उस व्याख्यानको यहां प्रकाशित किया जाता है। आशा है पाठक इससे यथेष्ट लाभ उठाएँगे। —सम्पादक]

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः।
स्वं द्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तिता,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३

हर एक वस्तु स्वपणे (स्वकी अपेक्षा) है और परपणे (परकी अपेक्षा) नहीं है, यह अनेकान्त है। आत्मा पर-स्वरूपसे नहीं है; पर, आत्माके स्वरूपसे नहीं है। दोनों पदार्थ अनाद्यनन्तभिन्न हैं एक पदार्थको दूसरे पदार्थका आश्रय मानना यह ही संसारका कारण है। हर एक वस्तु और उसका गुण-पर्याय स्वपणे है और परपणे अभावस्वरूप है। परका परपणे अस्तित्व है और आत्मपणे नास्तित्व है। इस तरह आत्मा आत्मपणे है, परपणे नहीं है। जिस स्वरूपसे आप नहीं है उस स्वरूपसे अपनेको मानना यह एकान्तवाद है। आचार्यदेवने इस कलशमें एकांतवादीको पशु कहा है, वह संसारमें अनंतकाल भ्रमण करनेवाला है।

इस अनेकान्तके चौदह प्रकारमें तो जैनदार्शनिक रहस्य आ जाता है। हरेक वस्तुका अस्ति-नास्ति स्वतन्त्र स्वभाव है। हरेक वस्तु स्वसे अस्तिरूप है और परसे नास्तिरूप है। एक वस्तुको दूसरी वस्तुका किंचिन्मात्र सहाय मानने वाला एकांतवादी है, वह जैनदर्शनका नाश करनेवाला है।

कुनयकी वासनासे वासित हुआ एकांतवादी—अज्ञानी मानता है कि शरीरादि अच्छा रहे, धनादिकी अनुकूलता हो, कुटुम्बादि अनुकूल हो तब धर्म हो सकता है। ऐसा माननेवालेने आत्माका धर्म परके आधीन माना है अर्थात् उसने आत्मा और परपदार्थको एक माना है, उसको आचार्यदेवने इधर पशु कहा है।

आत्मा परकी अपेक्षासे नास्तिरूप है और पर आत्माकी अपेक्षासे नास्तिरूप है। इस प्रकार अनेकान्तका स्वरूप नहीं स्वीकार कर जो परवस्तुमें निज आत्माका अस्तित्व मानकर—आत्माका स्वभाव पराश्रित मानकर और परद्रव्यमें स्वपनेके भ्रमसे परद्रव्योंमें लक्ष करके अटकता है ऐसा स्व-परको एक मानने वाला जीव एकांतवादी पशु है ऐसा इस कलशमें कहा है।

एक द्रव्यको अन्य द्रव्यसे सहाय मिले ऐसा जिसने माना है उसने सर्वद्रव्यमें एकपना माना है। पर वस्तुसे निजको किंचित्मात्र गुण-दोषका होना जो मानते हैं वे मूढ़ है। पर वस्तु कुछ भी हो किंतु वह मुझको लाभ-अलाभ करनेमें समर्थ नहीं है—इसका जिसको ज्ञान नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो तो मुझको लाभ होंगे ऐसा मानकर जो परमें रुक जाता है वह मूढ पशु जैसा है ऐसा आचार्य देव कहते हैं।

पर वस्तु आत्माके आधीन नहीं है और आत्मा पर वस्तुके आधीन नहीं है, इससे यह फलित हुआ कि परवस्तुसे आत्माको किंचित मात्र भी लाभ हानि नहीं है। मेरा स्वभाव मुझमे मुझसे ही है, ऐसा श्रद्धान जिसका नहीं है वह आत्माका धर्म परमें मानकर—अपना स्वभाव परके आधार है ऐसा मानकर परद्रव्यमें स्वपना मानता है वह एकांतवादी है। अनेकांतवादी ज्ञानी जानता है कि मेरे स्वभावमे पर नहीं, पर वस्तुमें मैं नहीं हूँ, तब जिस वस्तुका मुझमे अभाव है वह अभावरूप वस्तु मुझको लाभ-हानि पहुँचायगी ऐसा कभी नहीं बनेगा। अभावरूप वस्तुसे यदि किसीको कुछ भी होवे तब शशकका सींग लगनेसे अमुक पुरुष मर गया ऐसा प्रसंग आवेगा। किंतु मेरे आत्मामें कर्म नहीं, कर्ममें मैं नहीं; शरीरमें आत्मा नहीं, आत्मामें शरीर नहीं, दोनों वस्तु भिन्न हैं, एक वस्तु का अन्य वस्तुमें अभाव है, ऐसा जानने वाला अनेकांतवादी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समग्र परवस्तुकी अपेक्षा अपना अभाव मानता है और स्व की अपेक्षा परका अभाव मानता है, इससे वह परवस्तुसे किंचित भी लाभ-हानि मानता नहीं है किन्तु हरेक वस्तुका एक दूसरेमें नास्तिपना है इससे मेरा स्वभाव मुझमें है, स्वभावकी शुद्ध श्रद्धा ज्ञान और चारित्र वह भी मुझमे ही है ऐसा मानता है और जिसकी शुद्ध ज्ञानमहिमा निर्मल है ऐसे स्वद्रव्यका ही आश्रय करता है। प्रत्येक द्रव्य अनाद्यनंत भिन्न रहकर सर्व निज निज की अवस्थामें कार्य कर रहा है, कोई किसीको सहायक नहीं होता है, ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा परद्रव्यका आश्रय कैसे करे?

भावार्थ 'मैं परपणे नहीं हूँ, स्वपणे हूं' ऐसा नहीं मानने वाले पशु समान एकांतवादी आत्माको सर्व परद्रव्यरूप मानता है उसको अपना भिन्न स्वभावका ज्ञान नहीं है, भिन्नत्वकी श्रद्धा भिन्नत्वका ज्ञान और भिन्नत्वकी स्थिरता बिना मुक्त नहीं हो सकता। जो वस्तु मुझमें नहीं है वह मुझको क्या करे? मुझमें अभावरूप वस्तु मुझमें कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। आत्मा परमे अभावरूप होनेसे, वह परमे कुछ भी नहीं कर सकती और परवस्तु आत्माकी अपेक्षासे आत्मामें अभावरूप होनेसे परवस्तु आत्माका कुछ भी नहीं कर सकती। कर्म आत्मासे पर है उससे वह आत्माको हैरान नहीं कर सकता।

यह अनेकान्त जैनदर्शनकी जड (मूल) है। यह सिद्धांत अनादिसे संसारी जीवोंके खयालमे आया नहीं है कि आत्मामे परका अभाव है और परमें आत्माका अभाव है। हर एक वस्तु स्वसे अस्तिरूप और परसे नास्तिरूप है ऐसा नहीं माननेवाला एकांतवादी है, उसको परसे भिन्न अपना स्वरूपका ज्ञान नहीं है।

स्वपणे है और परपणे नहीं है ऐसा कहनेसे परपदार्थकी भी सिद्धि हो जाती है। यदि सर्व मिलकर एक ही वस्तु हो तब एकमें विकार नहीं होगा; क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है। यदि अकेला पदार्थमें विकार हो तब विकार ही स्वभाव हो जायगा, इससे विकारके वक्त अन्य वस्तुकी हाजरी होती है, उसका लक्ष करके आत्मा स्वयं अपनेमें विकार करता। वस्तुका अस्तित्व तो है ही किंतु प्रत्येक स्वपणे है, परपणे नहीं है। एक वस्तुको 'स्वपणे है' ऐसा कहते ही 'परपणे नहीं है' ऐसा अनेकान्त स्वयमेव ही प्रकाशता है। वस्तु स्वपणे है ऐसा कहते समय उसमें परका अभाव है ऐसा आजाता है। स्वमें जिसका अभाव है वह वस्तु स्वको कुछ लाभ या हानी नहीं कर सकती। शरीरकी किसी चेष्टासे आत्माको लाभ वा हानि नहीं होती क्योंकि आत्माकी अपेक्षासे शरीरका आत्मामें अभाव है। उसी तरह आत्माकी इच्छासे शरीरकी अवस्था होती नहीं है, क्योंकि इच्छाका शरीरमें अभाव है इस अनेकान्तका ज्ञान जिसको नहीं है उसको आचार्यदेवने पशु कहा है। आत्मा शरीरका कुछ करनेकी इच्छा करे किन्तु उस इच्छाका शरीरमें अभाव है, इससे जो इच्छा शरीरमें अभावरूप है वह शरीरका क्या करे? इच्छा राग है; उसका आत्माकी अवस्थामें सद्भाव है, किन्तु शरीरमें तो रागका अभाव है, जो अभावरूप है वह क्या करे? उसही प्रकार इच्छामें शरीरका तथा कर्मका अभाव है तब शरीर वा कर्म इच्छामें क्या करे? अर्थात् शरीर वा कर्म इच्छा नहीं करता है। इच्छामें कर्मकी नास्ति है तब कर्म इच्छाको क्या करे? कर्म निमित्त है और इच्छामें निमित्तका अभाव है इससे कर्मके कारणसे इच्छा नहीं है।

इच्छामें परका अभाव है और परमें इच्छाका अभाव है। इच्छा आत्माकी क्षणिक विकारी अवस्था है, उसमें

कर्मका अभाव है तब कर्म इच्छामें क्या करे ? इस तरह अनेकान्तको जाननेवाला ज्ञानी सर्व परसे अपना नास्तित्व मानकर स्वद्रव्यमें रहता है।

परद्रव्यका विषय छोड़कर चलिये और। अब रही इच्छा। इच्छा आत्मामें होनेवाली विकारी क्षणिक अवस्था है, उस क्षणिक इच्छा जितना आत्मा नहीं है। त्रिकाली स्वभावकी अपेक्षामें क्षणिक इच्छाका अभाव है और इच्छामें त्रिकाली स्वभावका अभाव है। इस तरह स्वभावमें इच्छा नहीं और इच्छामें स्वभाव नहीं। क्षणिक इच्छा जो होती है उसको अपनी मानना वही ही संसार है। वस्तुदृष्टिसे विकारका अभाव है, इससे वस्तुदृष्टिमें संसार नहीं है। मात्र 'इच्छा मेरी' ऐसी दृष्टकी विपरीत मान्यतामें संसार है।

हर एक वस्तु स्वपणे है, परपणे नहीं है। यदि वस्तु परपणे भी अस्तिरूप हो तब दो वस्तु एक होजायँ, किन्तु दोनों वस्तु भिन्न होनेसे एककी दूसरीमें नास्ति है। देव-गुरु-शास्त्र भी पर है, उसका मेरेमें अभाव है। वह अभाव वस्तुके आधारसे (देव गुरु-शास्त्रके आधारसे) मेरा धर्म नहीं है, मेरा स्वभाव मेरापणे है और मेरे धर्मका संबंध मेरी साथ ही है। इस तरह अपने स्वभावके आश्रयसे ही धर्म है।

तू धर्म करना चाहता है कि नहीं ऐसा प्रथम तू निर्णय कर। यदि धर्म करना चाहता हो तब "परके आश्रित मेरा धर्म नहीं है" ऐसी श्रद्धा द्वारा पराश्रय छोड़। परसे जो जो अपनेमें होना माना है उस मान्यताको सम्यग्ज्ञानसे जलादे "मेरा स्वभाव मुझमे है, वह कभी भी परमे नहीं गया है" ऐसा श्रद्धान कर स्वद्रव्यमें ही स्थिरता कर यह ही धर्म है।

जगतकी अपेक्षासे आत्मा असत है, आत्माकी अपेक्षासे जगत असत है, किन्तु आत्माकी अपेक्षासे आत्मा और जगतकी अपेक्षासे जगत दोनों सत् हैं. इस तरह परसे असत और स्वसे सत ऐसा अपने स्वरूपको जानकर ज्ञानी स्वद्रव्यमें विश्राम करता है, उससे विरुद्ध अपने स्वरूपको परपणे माननेवाले अज्ञानीको कहीं भी विश्रामस्थान नहीं है। इस तरह कलश २५३ मे परद्रव्यसे असत्पनेका प्रकार कहा।

अब कलश २५४ में स्वक्षेत्रसे अस्तित्वका प्रकार कहा जाता है।

भिन्नक्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखात-बोध्य-नियत-व्यापारशक्तिर्भवन ॥२५४

हर एक वस्तु अनेकान्तात्मक होनेपर भी वस्तुका एक ही पक्ष मानकर सर्व पक्षको नहीं देखने वाला एकान्तवादी एक अपेक्षा पकड़कर उतना ही वस्तुको मान लेता है वह वस्तुस्वरूपसे अज्ञात है। एक बार चार जन्मांध पुरुष, जिन्होंने हाथीको कभी भी नहीं देखा था हाथी कैसा होता है, इसका निर्णय करनेको बैठे उनमेंसे एकके हाथमें हाथी की पूंछ आई, वह पूंछको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी रस्सी जैसा है"; दूसरेके हाथमे हाथीका पैर आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी स्तम्भ जैसा है"; तीसरेके हाथमें हाथीका कान आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि "हाथी सूप जैसा है"; चौथेके हाथमें हाथीकी सूंड आई, उसको ही हाथी मानकर वह कहता है कि "हाथी मूसल जैसा है"। इस तरह हाथीके सत्य-स्वरूपसे अनजान ऐसे सर्व ही अंध पुरुषोंने हाथीके एक एक अंगको ही हाथी ही हाथी मान लिया। वैसे ही अज्ञानी—आत्म-स्वरूपका अनजान ऐसा जीव एक अपेक्षाको ही पूरा वस्तुका स्वरूप मान बैठता है। जैसे कि वस्तु परपनेसे नास्तिरूप है ऐसा कहनेपर स्वपने भी नास्तिरूप मान बैठता है, स्वपने है ऐसा कहनेपर परपने भी है ऐसा मान बैठता है, परकी अपनपने नास्ति है ऐसा कहने पर परकी सर्वथा नास्ति मान लेता है और सामने होने वाली वस्तु उसकापने है ऐसा कहने पर अपनेमें भी परकी अस्ति मान बैठता है, इस प्रकार एक अपेक्षाको पकड़ कर उस ही के प्रमाण पूरी वस्तुका स्वरूप मान बैठता है वह वस्तुके सच्चे स्वरूपसे अनजान है—एकान्तवादी है, उसको आचार्यने इस कलशमें पशु कहा है।

आत्मा सदा अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही है। परक्षेत्रमें रहने वाले ज्ञेय पदार्थोंको आत्मा मात्र ज्ञाता होनेपर भी "यह परक्षेत्र मेरा है' इस तरह परक्षेत्रोंको स्वक्षेत्रपने मानकर सर्वथा एकान्तवादी अपना नाश करता है; शरीरादि परज्ञेयरूप अपनेको मानकर अज्ञानी पर लक्षसे प्रवर्तता है, ज्ञानका स्व-परप्रकाशक स्वभाव होनेके कारणसे ज्ञानमें

पर वस्तु दीखती है उधर 'मेरा अस्तित्व परमें गया हो' ऐसा मानकर परद्रव्यकी ओर लक्ष देकर अपना नाश करता है; किन्तु आत्मामें परवस्तुका आकार प्रवेश पाता नहीं है, वैसे ही आत्माका आकार परमें प्रवेश पाता नहीं है, आत्मा तो सदा स्वक्षेत्रमें ही है उसका अज्ञानीको भान नहीं है,

प्रथम २५३ वें कलशमें द्रव्यकी बात थी, इस कलशमें क्षेत्रकी बात है। परक्षेत्रके आकारको जाननेका आत्माका स्वभाव है ही; ज्ञानमें परक्षेत्र दीखता है उस परक्षेत्रको अपना मानकर और अपनेको परपने मान कर एकांतवादी अपने स्वरूपका नाश करता है।

आत्मा नित्य असंख्यप्रदेशी है उसके प्रत्येक प्रदेशमें अनंतगुण हैं, उसका क्षेत्र अपनेमें ही है। भाई! तेरा तेरेमें है, तेरा क्षेत्र असंख्य प्रदेशाकार है। इस तरह अपनेको भिन्न न मान कर जो परक्षेत्रमें एकपना मानता है उसको आचार्य भगवानने इस कलशमें एकान्तवादी पशु कहा है। स्याद्वादका जाननेवाला ज्ञानी स्वक्षेत्रमें अपना अस्तित्व मानता है इससे परक्षेत्रमें स्वपनेकी मान्यता नहीं है, इतना परतरफका वेग रुक गया है। 'स्वक्षेत्री असंख्य प्रदेशोंका पिंड हूं' ऐसा मानने वाला ज्ञानी स्वक्षेत्रमें वर्तता हुआ भी आत्मामें ज्ञेयाकाररूप बना हुआ परज्ञेयोंकी साथ एकपना मानता नहीं है किन्तु मेरे ज्ञानमें ही परको जाननेकी शक्ति है ऐसा समझ कर स्वद्रव्यमें ही रहता है। परवस्तु मेरे ज्ञानका ज्ञेय है, पर वस्तु मैं नहीं हूँ किन्तु मेरा ज्ञान ही मैं हूं ऐसा अपने ज्ञान का निश्चय व्यापाररूप शक्तिवाला बन कर, स्वद्रव्यमें स्थित रह कर स्वको जीवित रखता है—स्वरूपमें ही रहता है।

वीतराग होनेके पहले शुभराग होता है और शुभराग में निमित्त देव-गुरु आदि भी होते हैं, किन्तु वह राग और रागका निमित्त मेरा नहीं है। मैं परक्षेत्रसे भिन्न हूं, मेरा धर्म मेरे क्षेत्रमें ही है, ऐसा न मानने वाला अज्ञानी स्व-भावको परपने मान कर अपना नाश करता है और ऐसा जानने वाला ज्ञानी परपने अपनेको नहीं मान कर स्वपने ही अपनेको स्थिर रख कर अपना नाश नहीं होने देता।

प्रभो! तेरा क्षेत्र तेरे पास है, परक्षेत्र तुझसे भिन्न है। परक्षेत्रको जाननेका तेरा स्वभाव है किन्तु अन्य कोई तुझमें आजाता नहीं है, वैसे ही तेरा क्षेत्र अन्य परवस्तुमें जाता नहीं है। आत्मा आत्माके ही क्षेत्रमें है अज्ञानी पर-क्षेत्रमें अपना अस्तित्व मान कर निजका नाश करता है, ज्ञानी स्वक्षेत्रमें परकी नास्ति मान कर स्वमें टिकता,—स्थिर रहता है। इस तरह अनेकान्त वस्तुका स्वरूप है, तत्वका ऐसा स्वरूप जो नहीं समझेगा उसको निगोदमें जाना पड़ेगा, और जो समझेगा वह सिद्ध भगवान त्रिलोकनाथ होगा ही। सिद्ध और निगोद ही मुख्य गति है। शुद्ध निश्चयगति सिद्ध है और अशुद्ध निश्चयगति निगोद है, बीचकी चारों गतियां व्यवहार हैं, उनका काल अल्प है॥ २५४॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्।
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्॥
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां।
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥

ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, इससे परवस्तु जब ज्ञान में दीखती है तब अज्ञानी 'मानो कि परवस्तु ज्ञानमें घुस गई हो" ऐसे भ्रमसे, ज्ञानमें जो परवस्तुका आकार दीखता है उसको निकाल दूं अर्थात् ज्ञानकी अवस्थाको निकाल दूं तब अकेला ज्ञान ही रह जाय ऐसा मान कर तुच्छ होता हुआ नाश पाता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञानमें गृह, स्त्री, बालक आदि याद आता है इससे मुझको राग हुए बिना रहता नहीं है, यह बात बिल्कुल झूठ है। घर का ज्ञान होना रागका कारण नहीं है किन्तु घर प्रति जो ममत्वभाव है वह रागका कारण है, उससे गृहादिका ज्ञान भले हो किन्तु "यह गृह मेरा है" ऐसी मान्यताको विस्मरण करनेका है। ज्ञानको तू किस तरह भूलेगा? भाई! जाननेका तो तेरा स्वभाव है, उसमें परवस्तु सहज ही प्रकाशती है, परवस्तुको भूलनेका नहीं है किन्तु 'पर मेरा' ऐसी मान्यताको निकालदो। परका ज्ञान रागद्वेषका कारण नहीं है किन्तु पर मेरा ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषका कारण है, उसी मान्यताको ही बदलनेकी आवश्यकता है; उसके बदले अज्ञानी परवस्तुको जाननेरूप अपने ज्ञानकी अवस्थाको निकालनेको इच्छता है, किन्तु वह किसको निकालेगा भाई! ज्ञान तो तेरा स्वभाव है, क्षण क्षणमें उसकी अवस्था बदलती है, और उस ज्ञानकी अवस्थाका ऐसा ही स्वभाव है कि परपदार्थ उसमें झलकता है, वहां अज्ञानी मानता है कि परवस्तुका ज्ञान ही भूल जाऊं अर्थात् मेरा ज्ञान ही

निकाल दूं। इस तरह ज्ञेय पदार्थमे मेरे ज्ञानकी अवस्था भिन्न है ऐसा नहीं मानने वाला अज्ञानी ज्ञानकी अवस्थाको भी ज्ञेयरूप मान कर अपने ज्ञानकी अवस्थाको छोड़ना मांगता है, जब कि अनेकान्त धर्मको जानने वाला ज्ञानी जानता है कि परपदार्थको जानने पर भी मेरे ज्ञानकी अवस्था ज्ञेयसे भिन्न है, मेरे ज्ञानमें ज्ञेय पदार्थका प्रवेश नहीं होता है—ऐसे परसे नास्तित्व जानता, परवस्तुमें अपनेको खींचकर स्वक्षेत्रमें रहता, राग-द्वेषको त्यागता, स्वक्षेत्रमे ही ज्ञानको एकाग्र करता है।

परक्षेत्र ज्ञानमें प्रकाशता है वह तो मेरे ज्ञानस्वरूपका सामर्थ्य है, जानना मेरा स्वरूप है, परक्षेत्र मेरा स्वरूप नहीं है ऐसा जानता हुआ ज्ञानी ज्ञानमें परपदार्थ प्रकाशता है तब भी ज्ञानको तुच्छ नहीं मानता है किन्तु ज्ञानका सामर्थ्य मानता है। और भी ज्ञानीका निर्णय है कि मेरे ज्ञानका स्वभाव तो एक समयकी एक पर्यायमे तीन-काल तीनलोक को जाननेका है, ज्ञानका स्वरूप ही जाननेका है, जाननेका कारण राग नहीं है, किन्तु 'परमे मैं हूं वा पर मुझमें है' ऐसी मान्यता ही राग-द्वेषका कारण है, अज्ञानी स्व-परको एक मान कर राग-द्वेष करता रहता है।

परक्षेत्रमें रहा हुआ ज्ञेयपदार्थोंका आकाररूप ज्ञानकी अवस्था होती है। किन्तु 'उस अवस्थाको यदि मैं मेरी मानूंगा तब स्वक्षेत्रमें ही रहनेके बदलेमें मैं परक्षेत्रमें चला जाऊंगा' ऐसा मानकर अनेकान्तको नहीं जाननेवाला अज्ञानी परवस्तुकी साथ २ ही अपने ज्ञानको भी छोड देता है और इस तरह स्वयं चैतन्यके आकार-ज्ञानकी अवस्थासे रहित तुच्छ होकर नाश पाता है, और स्याद्वादको जानने वाला ज्ञानी परक्षेत्रमें ज्ञानकी नास्ति जानता हुआ ज्ञेय पदार्थोंको छोडता हुआ भी अपने ज्ञानकी अवस्थाको छोड़ता नहीं है, इससे वह तुच्छ नहीं होता है, किन्तु स्वक्षेत्रमें ही स्थित रहता है। वह जानता है कि परको जाननेका मेरा स्वभाव है, परमे मैं नहीं हूं और परको जाननेरूप मेरे ज्ञानकी अवस्थासे मैं भिन्न नहीं हूं, जो अवस्था है वह मेरा ज्ञान ही है ऐसा जान कर वह स्वभावमें ही स्थिर रहता है। इस तरह जानकर स्वभावमें स्थिर रहना ही धर्म है ॥ २५५ ॥

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्।
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ॥
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः।
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥

आत्मा देहसे भिन्न तत्व है। देह और आत्मा एक नहीं हैं किन्तु भिन्न हैं। एक आत्मासे देह-मन-वाणी-कर्म और पर-आत्माएँ त्रिकाल-भिन्न हैं। हरेक आत्माका तत्व भिन्न है, जड भी भिन्न वस्तु है, प्रत्येक वस्तु भिन्न है, भिन्न वस्तु की शक्ति भी भिन्न है और प्रत्येककी अवस्था भी भिन्न भिन्न है। आत्माकी अवस्था आत्मामें होती है, शरीरकी अवस्था शरीरमें होती है। देह और आत्मा एक क्षेत्रावगाही होने पर भी दोनोंकी अवस्था भिन्न भिन्न अपने आप होती है। यह नहीं जानने वाला अज्ञानी—एकान्तवादी देहके आश्रित अपना ज्ञान मानता है अर्थात् जब तक देह रहेगा तब तक मैं रहूंगा और देहका नाश होने पर मेरा भी नाश होगा, इस तरह ज्ञेयपदार्थसे भिन्न ऐसा अपने ज्ञानका अस्तित्व नहीं जानता अत्यन्त तुच्छ होकर नाश पाता है। किन्तु ज्ञेयकी अवस्थाओंका नाश होने पर, ज्ञानकी अवस्थाएँ नाश पाती हैं। आत्मा देहसे भिन्न पदार्थ है, उसमें ज्ञान, दर्शन, अस्तित्वादि गुण हैं, उनकी अवस्था समय २ होती रहती है। शरीर जड़परमाणुओंका बना है। परमाणु भी द्रव्य हैं वे द्रव्यपनेकायम रह कर अपनी अवस्था बदलते ही रहते हैं।

आत्मा चैतन्य ज्ञानमूर्ति है, शरीर जड है, उसमें समय २ अवस्था बदलती है वह ज्ञानमे दीखती है उस जगह आत्मस्वभावका अनजान अज्ञानी जीव ज्ञेयकी अवस्था पलटते ही मैं पलट गया ऐसा मानता है। शरीर दुर्बल हो जाय-कृश हो जाय वहां वह जानता है कि मैं कृश हो गया और शरीर-इन्द्रियका बल बढ़ने पर मेरी शक्ति बढ़ गई। ऐसा मानने वाला अज्ञानी शरीरसे भिन्न आत्मतत्वको मानता नहीं है, इससे वह वस्तुका नाश करता है। परकी अवस्था बदलने पर समग्र आत्मा बदल जाता है ऐसा मान कर अपने भिन्न अस्तित्वको जो नहीं मानता है वह वस्तुका नाश करने वाला है।

जहां इन्द्रिय शिथिल हो जाय, शरीर कृश हो जाय वहां मैं कृश हो गया ऐसा मानने वाला आत्माकी स्वतंत्र शक्ति शरीरसे भिन्न है ऐसा नहीं मानता है। शरीरादि ठीक रहे तब मैं ठीक रहूँगा ऐसा मानने वाला ज्ञानकी

स्वाधीन अवस्थाका नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतन्त्र वस्तु है, उसमें श्रद्धा, ज्ञान, अस्तित्व आदि अनंत गुण हैं, उन गुणोंकी समय २ अवस्था होने पर भी मेरी अवस्था परसे होती है, ज्ञेयाश्रित मेरे ज्ञानकी अवस्था होती है ऐसा मानने वाला निज आत्माको पराधीन मानता है, त्रिकाल स्वाधीन तत्वको पराधीन मानना ही अनंत संसारका मूल है। पृथक जाने हुए ज्ञेयपदार्थोंका पीछेके कालमें नाश होने पर मेरा ज्ञान भी उसकी साथ नष्ट हो जाता है, ऐसा मानने वाला निजात्मज्ञानको भिन्न सत्ता—भिन्न अस्तित्व मानता नहीं है। अपने समक्ष आई हुई वस्तुकी अवस्था समय २ बदलती है वह स्वज्ञानमें प्रकाशने पर "यह बदल जानेपर मैं भी बदल जाता हूं" ऐसा मानने वाला अपने ज्ञानकी स्वतन्त्र अवस्थाको मानता नहीं है, मुझमें कुछ भी सामर्थ्य ही नहीं है, परवस्तुमें ही मेरी जाननेकी शक्ति थी, ऐसे वह ज्ञानके स्वतंत्र सामर्थ्यको नहीं मानता है अर्थात् अपने भिन्न अस्तित्वको वह स्वीकार करता नहीं है। शरीरमें युवावस्था हो या वृद्धावस्था हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उससे भिन्न है, ऐसा नहीं माननेवाला एकान्तवादी पशु है, इस प्रकार आचार्य महाराजका कहना है।

भाई! तेरा तत्व परसे भिन्न है उसके भान बिना तू क्या करेगा? पूर्वपुण्यसे मानो कि बाह्य सामग्री मिली हो वह तेरी वर्तमान बुद्धिका फल नहीं है, किन्तु उस पूर्वपुण्य जल गया तब उस सामग्रीकी प्राप्ति हुई है वह सामग्री जड़ है, तुझसे भिन्न है, उसकी रक्षा करनेपर भी वह नहीं रहेगी क्षणमें नष्ट हो जायगी, क्योंकि वह तत्व स्वतंत्र है। तेरी अवस्था उसके आधीन नहीं और उसकी अवस्था तेरे आधीन नहीं है।

आत्मा स्वतंत्र तत्व है, स्वतन्त्र तत्वकी अवस्था परके आधीन माननेवाला एकान्तवादी अपनी स्वाधीनताका खून करता है। स्याद्वादका जाननेवाला अनेकान्तवादी जानता है कि आत्मामें समय समयपर ज्ञानकी जो अवस्था होती है वह मेरे आधीन है, नेत्र मंद हो, इन्द्रिय शिथिल हो, शरीर कृश हो तब भी मेरा ज्ञान मंद नहीं होता है। मेरी अवस्थामें मेरा अस्तित्व है, परकी अवस्था मुझमें भिन्न है इस तरह स्वकालमें अपना अस्तित्व जानता ज्ञानी ज्ञेय वस्तुकी अवस्थाके नाशसे अपना नाश नहीं मानता है, किंतु स्वमें स्वयं पूर्ण रहता है। मेरी अवस्था मुझमें है, ज्ञेयकी अवस्था कुछ भी हो उससे मेरी अवस्था बदलती नहीं है, बाह्य वस्तु बदल जानेपर भी मेरा ज्ञान तो पूर्ण ही रहता है।

समय बदलने बुद्धि बदल जाती है यह माननेवाला पागल है। समय अनुसार धर्म भी बदलते रहते हैं यह बात तीन कालमें नहीं बनती है। वह तो जगतकी गप्प है। धनादि चले जानेपर जगत कहता है कि "अफसोस! हमारा सब चला गया, हमारे पास धनादि था तब सब था," लेकिन तेरे पास क्या था? धन तो धूलि है, वह तेरा कब था? ममत्वकी रुचि है उससे धूलके ढेरको याद करता है किन्तु तीर्थंकर भगवानको याद नहीं करता है कि 'भरत क्षेत्रमें भी तीर्थंकर भगवान विचरते थे और धर्मका धुरन्धर मार्ग प्रवर्तता था, अहो! वह धर्मकाल था।"

अनेकान्तमें तो चौदह पूर्वका रहस्य है। इन्द्रिय पुष्ट होवे, शरीर मोटा होवे, धन खूब बढ़े, इससे आत्माका ज्ञान श्रद्धान पुष्ट नहीं होता है। अपना स्वरूप कोई भी प्रकारसे दूषित नहीं मानकर, मेरा स्वरूप निर्दोष वीतराग सिद्ध समान है ऐसी श्रद्धा करके जो स्थिर रहता है उसका आत्मा ही पुष्ट बनता है अर्थात् शरीरादि कृश होनेपर भी ज्ञान उग्र रहता है। परके साथ मेरा सबंध तीनकालमें नहीं है, परवस्तु मुझसे भिन्न है, परके पलटनेसे मैं नहीं पलट जाता हूं, मैं तो अखंड ज्ञायक ही हूं। जाननेमें पर अनुकूल हो तब राग और पर प्रतिकूल हो तब द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़की मिठास कभी भी गुड़ से भिन्न नहीं है वैसे ही मेरा ज्ञान मुझसे भिन्न नहीं है। स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी उलटा मान रहा है। सामने आई हुई वस्तु बदलनेपर मैं भी बदल जाता हूं ऐसा माननेवाला स्व वस्तुको एक मानता है, वह आत्माका श्रद्धान नहीं करता है।

परका नाश होनेपर भी मेरी अवस्था मुझमें है ऐसा जाननेवाला, अपना अस्तित्व अपनेसे ही जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थका नाश हो जानेपर नष्ट नहीं होता है। परके आधीन आत्माके ज्ञानकी अवस्था जो मानता है वह आत्माको निर्माल्य और पराधीन मानता है; मेरी अवस्था सदा तथा मुझमें है उसमें परकी अवस्था नहीं है, ऐसा नहीं

जानता हुआ एकान्तवादी ज्ञेय पदार्थके नाशसे ज्ञानका भी नाश मानता है, और अनेकान्तवादी ज्ञानी तो स्वकाल अर्थात् अपनी अवस्थामें अपना अस्तित्व मानता हुआ अपनेमें ही स्थित रहता है ॥ २५६ ॥

अब परकी अवस्थामें आत्मा असत है यह कहा जाता है :—

अर्थालंबनकाल एव कलयन ज्ञानस्य सत्वं बहि
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन स्याद्वादवेदी पुन—
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जी भवन ॥२५७

परको देखनेवाला किन्तु अपनेको नही देखनेवाला एकान्तवादी ज्ञानमें जब तक परवस्तु प्रकाशती है तब तक ही ज्ञानका अस्तित्व मानता है और ज्ञेय अच्छा रहे तो मैं भी अच्छा रह सकूं इस तरह ज्ञेयके आधीन ज्ञानको मानता है, किन्तु परवस्तुमें मैं असत हूं और मुझमें परवस्तु असत है ऐसा नहीं मानता है।

हरेक तत्वकी अस्ति है, 'अस्ति' कहते ही उसकी परपणे नास्ति है। जो परपणे अपन नहीं है उस परकी ओर लक्ष गया है उसमें ही कहता है कि 'भाई ! तू मुझ से है— परसे तू नही है; तू मुझको समझ—तू तेरा स्वरूपको पिछान।" किन्तु इस तरह "मेरी अवस्था मुझसे है परसे नहीं है" ऐसा नही मानता परज्ञेय कायम रहे तो मेरा ज्ञान ताजा रहे ऐसा मानता है, इसस परविषयमें एकाग्र होता है। विषयका अर्थ क्या ? शरीरादि तो जड वस्तु है, रूपी है, आत्मा चैतन्य अरूपी है, वह रूपी वस्तु का भोग नही कर सकता लेकिन वह परकी ओर लक्ष कर के रागमें एकाग्र होता है, यह ही विषय है। आत्मा अरूपी चैतन्यस्वरूपी सर्व परसे भिन्न तत्व है। परवस्तु मेरे समक्ष होवे तब उसका ज्ञान होवे ऐसा माननेवाला अपने भिन्न ज्ञानस्वभावको मानता नही है।

ज्ञान क्या करे ? लक्ष करे; इच्छा हो तो उस इच्छा को भी ज्ञानने जाना। जाननेमें राग करके रुक गया तब मान बैठा कि मैंने विषयको भोगा किन्तु उस समय ज्ञानके लक्षमें वह आया है और उसकी इच्छा हुई है, यह विषय है। बाहरका पदार्थ अपने आप (स्वाधीनपनसे) आता जाता है, वह आत्माके आधीन नही है। जब आत्मा स्वरूपको भूला तब परको रखनेकी इच्छा हुई, और वह इच्छाको प्रवृत्तिमें ठहरा उसको 'विषय' कहते हैं; अज्ञानी उसमें सुख मानता है, वह अपने स्वाधीन सुख—स्वभावको मानता नही है, बस ! यह ही संसार है।

शरीरादि ठीक होवे तो मै ठीक इसका अर्थ ऐसा हुआ कि मुझमें सुख है ही नहीं, मैं तो पंगुसे पंगु, पराधीन, निर्माल्य हूं। शरीर पंगु हो तो उसको तो दो लकडीका टेका चाहिए लेकिन जो मान्यतामें पंगु है उसको तो अनंत परवस्तुरूप लकडीके टेकेकी आवश्यकता है। अहो ! मैं कौन हू आत्मा क्या है ? स्व क्या, पर क्या ? उसका भान किसको नहीं है उसके जन्म-मरणका अंत कब होगा ? संपूर्ण स्वाधीन तत्त्व को जो पराधीन मान बैठा उसके दो अंत (छोर) कहीं भी मिलेंगे नहीं। मेरे ज्ञानतत्वको ज्ञेयकी लालसा न हो ! परवस्तुकी अवस्था टिके तो मैं टिकूगा, अन्यथा मेरी अवस्था चली जायगी, ऐसा जो परकी लालसा रखता है वह स्वतन्त्र आत्मतत्वको अठीकमें अठीक मानता है और पर वस्तुकी ठीकमें ठीक मानता है, ऐसा मूढात्मा बाहरकी वस्तु ठीक रहे तो मै ठीक रहूँगा इस प्रकार बाहरकी वस्तुका रक्षक अपनको मानता है किन्तु बाहरकी वस्तु उसकी मालिकी की कहा है कि उसकी रक्षासे वह रहेगी ? पर-पदार्थका संयोग तो अनंतबार आया और गया। अनंत बार बड़ा राजा हुआ और अनंतबार रंक भी हुआ। कोई भी परवस्तुका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है। देह भी आयुकी स्थितिके अनुसार रहता है, उसको आत्मा नहीं रख सकता है। कोई भी प्रकारसे बाहरकी वस्तु स्त्री, धन, बालकादि ठीक रहे तो मुझे ठीक रहे ऐसे मानकर अज्ञानी जीव बाहरकी वस्तुकी अवस्थाकी व्यवस्था ठीक रखनेमें चित्तको अटकाता है और स्वलक्ष चूक जाता है। मेरी अवस्था मुझसे होती है मेरा और परका कोई नाता नहीं है, ऐसा नहीं माननेवाला आत्माकी हिंसा करता है।

प्रश्न—कोई जीवको मारा तो नहीं है तब हिंसा किसकी की ?

उत्तर परजीव जीवित रहे वा न रहे उसकी साथ हिंसा—अहिंसाका संबंध तीन कालमें नही है। किन्तु पर-वस्तुकी अवस्था इस प्रकार रहे तो ठीक और इस प्रकार न रहे तो अठीक ऐसा जिसने माना उसने परवस्तुका परिणमन

अपने आधीन माना है यह ही अनेकी हिंसा है। परवस्तुकी प्रतिकूल अवस्था है उसका निवारण करूँ तब मुझको ठीक रहेगा ऐसा उसने माना किन्तु मेरे रागका निवारण करूँ तब ठीक ऐसे स्वतत्त्वको भिन्न नहीं माना उसमे ही हिंसा आगई।

परकाल अर्थात् परकी अवस्थामे मैं नास्तिरूप हूं और स्वकालसे—स्वपर्यायसे अस्तिरूप हूँ, इसमे पर बदल जाने पर मैं बदल नहीं जाता हूँ ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मामें दृढपनासे रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानका एक समूहरूप बनता हुआ स्थित रहता है—नष्ट नहीं होता है।

मेरा स्वभाव अविनाशी एक रूप शुद्ध ज्ञायक है पर की अवस्था बदलनेपर भी मैं एकरूप नित्य हूं पर वस्तुमे मेरा अहंपना नहीं है। ऐसी श्रद्धाके भानमें परवस्तु प्रति राग-द्वेष नहीं होना वह ही स्थिरता है और परसे भिन्न आत्माकी श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। उससे विरुद्ध (उलटा) श्रद्धान और वर्तन वह संसार और सुलटा श्रद्धान और वर्तन वह मोक्ष है। जो मात्र परको देखता है स्वको नहीं देखता है वह पर के अस्तित्वसे अपना अस्तित्व माननेवाला एकान्तवादी है।

जगतके व्यापारमे लोग 'ख्याला' करते हैं, समग्र बम्बई शहरका सब तज एलायची इत्यादि एकट्ठा करके एक हत्थु जमा करनेके बाद अपने मनपसंद भावमें विक्रय करूंगा, ऐसा मानता है किन्तु बाह्य सामग्रीका आना या नहीं आना सब पुण्याधीन है उसमे आत्माका कुछ सामर्थ्य नहीं है तो भी मैं कर सकता हूं ऐसा मानकर संसारमे परिभ्रमण करनेका 'ख्याला' करता है।

परवस्तुमें थोड़ा भी फेरफार होवे तब "अफसोस! अब मेरा क्या होगा?" ऐसे परवस्तुकी कीमत कर करके अपनेको बिल्कुल निर्माल्य मान बैठा है, किन्तु तू महगा है कि सस्ता? तुझमे कुछ माल है कि खाली बारदाना है? तू गुणवाला है कि गुणसे खाली है? बापु! तुझमे अनंत शक्ति है, पर तो सब विष्ठाका वहिवट (व्यापार) समान है। समझ! समझ!! तू स्वतंत्र तत्त्व है शान्ति स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, तुझको परकी जरूरत पड़े ऐसा तू नहीं है।

घरके घड़में जल न होवे तब तालाब घरमें नहीं आता है किन्तु घट लेकर तालाबमेंसे जल भरनेके लिये जाना पड़ता है, उसी तरह जिसको आत्माकी गरज हो सत समझनेकी लगन हो, जिज्ञासा हो, वह सतकी खोज करके सुननेके लिये वहां जायगा। जो सत्को समझना मांगता है उसको सत अवश्य मिलेगा। लेकिन आत्माके भान बिना इस जगतकी होहा और हरिफाईमे मर गया—उसमेंसे छूटकर जो सत समझना चाहते हैं उसको सत्का निमित्त मिलेगा ही।

जैसे गीरकी पहाड़ीमे अनेक प्रकारकी वनस्पति पकती है, वह आयुष्य लेकर आती है, इससे उसको उगना है तब उसको वर्षाका निमित्त आये बिना रहता नहीं है, तैसे ही जो सत समझनेके लिये तैयार हुआ उसको सत्का निमित्त न मिले ऐसा कभी नहीं बनता। किन्तु साम्प्रत कालमे तो कमाना कमाना और कमाना! गरीबोंको कमाना और धनिकोंको भी कमाना। आमदनी करनेमे थोड़ी निवृत्ति लेवे तब तो आत्माको समझनेकी दरकार करेगो! धनमे शान्ति कहा है? तेरी शांति कहीं बाहरमे नहीं है किन्तु तुझमे ही भरी है। तेरे स्वभावकी शांतिके लिये परकी आवश्यकता नहीं। अज्ञानी मानता है कि परवस्तु अनुकूल रहे तब मुझको शान्ति रहे, यह मान्यता ही उसको शांत होने नहीं देती। ज्ञानीको भी जघन्य अवस्थामें अस्थिरता होजाती है, किन्तु वह जानता है कि यह अस्थिरता मेरे स्वभावमे नहीं है और परवस्तुके कारण अस्थिरता नहीं है, मात्र वर्तमान अवस्थाकी भूमिका अनुसार पुरुषार्थकी हीनतासे अस्थिरता आ जाती है। परवस्तु चाहे जैसा परिणमे किन्तु मैं उससे भिन्न हूं तो वह मुझको क्या नुकसान करे? इस प्रकार मानकर ज्ञानी तो सहज ज्ञान-स्वरूपमे ही अपनेको टिकाता है। अज्ञानी क्या करता है? किसी परका अज्ञानी भी किंचित मात्र नहीं कर सकता है, वह भी मात्र जानता है और जाननेमे उसकी मान्यताका घोड़ा दौड़ाता है। शरीर कृश होवे, नाड़ीकी गति मंद होवे, तब वह कहता है कि मेरा जी (जीव) उड़ा उतरता है, किन्तु यह तो क्या है? शरीर अलग होने देहदृष्टिवाले को शान्ति किस तरह रहेगी? शरीरके ऊपर दृष्टि होनेसे शरीर कृश होते ही मानो कि आत्मा ही कृश हो जाता है

ऐसा अज्ञानी मानता है; उससे वह कहता है कि जीव ऊँडा ऊँडा उतर जाता है। किन्तु जीव कहां ऊँडा उतरेगा? आत्मा तो शरीर-प्रमाण साढे तीन हाथका अमूर्त तत्व जुदा पड़ा है। परवस्तु चाहे जैसा फिरे उससे मैं किंचित मात्र कृश नहीं होता हूं, इस तरह जो जानता है और श्रद्धान करता है उसके एक तरफ शरीर कृश होगा और दूसरी तरफ आत्माका आनंद बढ़ता जायगा। जीवनमें प्रथमसे श्रद्धान-ज्ञान किया हो तब तो अंत समयमें दृढ़ता रह सकती है। बिना भान दृढ़ता किसकी करेंगे? प्रथम पिछान की हो तब तो अंतमें वह आकर खड़ी रहेगी। देहादि परवस्तुकी कुछ भी अवस्था हो किन्तु मेरा स्वभाव मुझमें है ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा परसे अपना नास्तित्व मानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता, आत्मा में दृढ़तासे रहा हुआ नित्य सहज ज्ञानका एक पुंजरूप वर्तता हुआ स्वरूपमें स्थिर रहता है। प्रभो! तू तेरे गुणसे परिपूर्ण भरा हो? किन्तु तुझको तेरे स्वभावकी पिछान नहीं है उसस तेरा गुण परसे मानकर अनादिसे भ्रमण कर रहा है, तेरा धर्म तुझमें है, तेरा स्वभाव तुझमें है, परमें तेरी नास्ति है, परके आधीन तेरा धर्म नहीं है, ऐसे नहीं मानकर जो मूढ-अज्ञानी-एकान्तवादी परवस्तुमें--पुण्यसे वा रागसे धर्मकी आशा रखता है वह भिखारी है, उसको अनेकान्तकी पहिचान नहीं है।

वीर-शासन-पर्वका स्वागत-गान*

(ले०—वैद्य ओमप्रकाश 'आतुर')

आज निमम रुद्र मानव बन गया है विश्व-पीड़ा।
मूक पशुओंके रुधिरसे कर रहा नित मोद-क्रीड़ा!
मानवोंके भी शरीरोंपर पड़ा हा! टूट दानव!
कर्ण-भेदी हो रहा है घोर हा-हाकारका रव!

तुम अहिंसा-ज्ञानका संसारमें संगीत गाओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

घोर है आतंक देखो, धरणितल सब डगमगाया!
द्वेष-मिथ्याचार-हिंसाका यहां साम्राज्य छाया!
वासनाएँ ही जनोंके मानसोंमें हलचलाएँ!
हाथमें प्याला सुराही ले सुराके गान गाएँ!

वीरके सद् ज्ञानका फिरसे यहाँपर नद बहाओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

कूट राक्षसनी यहांपर कर रही है नृत्य भारी!
स्वार्थ-वश जिसको नचाता क्रूरकर्मा यह मदारी!
पा रहीं दुर्वृत्तियाँ जिससे दुखद उल्लास भारी!
हस्ति-भुक्त-कपित्थ-सम होती यहां घटनाएँ सारी!

इस निराशा-निशा बनके आशादीप ज्वलन्त आओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

दासताकी शृंखलाएँ टूट जाएँ कड़-कड़ा कर!
विश्वको कुछ कह सके यह दीन भारत सर उठाकर!
ले अहिंसा शस्त्र समता—प्रेमकी सेना सजाएँ!
युद्धकी इस आगमें भी शान्तिकी सरिता बहाएँ!

जाग जाएँ भाव सोये वह मधुर वीणा बजाओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

अवनिके प्रत्येक कणसे स्वार्थताकी गन्ध आती!
लोभ-पापाचार-अत्याचार फैला विश्व-घाती!
गूंजता है भूखसे मरते हुओंका आह-क्रन्दन!
भेद-भावोंका यहाँपर हो रहा है नग्न नर्तन!

दलित-पतितोंसे अछूतोंको उठा उरसे लगाओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

वीरके सद्ज्ञानकी छाएँ यहाँपर शुभ घटाएँ!
वृष्टि समता-भावकी हो, चल पड़ें प्रेमिल हवाएँ!
वीरके सन्देशको लेकर सदा-सम मास सावन!
आगए तुम, धन्य हम, स्वागत तुम्हारा पर्व पावन!

दो नया उत्साह हममें, वह अमर-गाथा सुनाओ!
वीर-शासन-जयन्तीके आज पावन पर्व आओ!

* यह 'स्वागतगान' वीरशासनजयन्तीके उत्सवपर गत २५ जुलाई को स्वयं कविने वीरसेवामन्दिरमें गाकर सुनाया।

श्री धवलाका समय

(ले०—बा० ज्योतिप्रसाद जैन, M. A., LL B)

षट्खण्डागम सिद्धान्तकी आचार्य वीरसेनस्वामि-विरचित 'धवला' टीकाका समाप्तिकाल, उक्त ग्रन्थके ही अन्तमें दी हुई प्रशस्तिके आधारपर, धवलाके हिन्दी सम्पादक प्रो० हीरालालजीने कार्तिक शुक्ला १३ शक संवत् ७३८, तदनुसार बुधवार ता० ८ अक्तूबर सन् ८१६ ई० का प्रातः काल—जब कि सूर्य, बुध और गुरु तुलाराशिमें, राहु और मंगल कुंभराशिमें, केतु और शुक्र सिंहराशिमें, शनि धनुराशिमें और चन्द्रमा मीनराशिमें स्थित थे, और मान्यखेटमें राष्ट्रकूट जगतुंगदेव राज्य त्याग चुके थे तथा उनके पुत्र अमोघवर्ष राज्य कर रहे थे—निश्चित किया है[1]।

जयधवला टीकाके हिन्दी सम्पादक पं० महेन्द्रकुमार जी आदिने भी इसी समयको बिना किसी ऊहापोहके स्वीकार कर लिया है[2]।

प्रशस्तिकी विवक्षित गाथाएँ निम्न लिखित हैं[3]—

अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो।
पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवलपक्खे ॥६
जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होते ॥७
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि णेमिचंदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥८
बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९

इन गाथाओंमें कुछ पाठ अशुद्ध हैं अतएव अर्थ भी अस्पष्ट है, यथा—प्रथम पंक्तिमें "एसु संगरमो", दूसरीमें 'पासे' और 'भावविलग्गे', तीसरीमें 'रियम्हि', चौथीमें 'कुलविल्लए', पाँचवींमें 'वरणिवुत्ते' और 'णेमिचंदम्मि'।

1 षट्खंडागम-धवलाटीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४४–४५
2 जयधवला टीका १, १, प्रस्तावना पृ० ७२
3 धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ३५

इनके अतिरिक्त—'अट्ठतीसम्हि' का स्पष्ट सामान्य अर्थ अड़तीस (३८) है। अब यदि यह वर्षसंख्या विक्रम अथवा शक संवत्के अनुसार दी गई हो, जैसा कि प्रतीत होता है, तो साथमें उपयुक्त सैकड़ा (शतकों) का सूचक पद भी चाहिये, जो इन गाथाओंमें नहीं दीख पड़ता। गाथा ७ और ८ में जो ज्योतिष-ग्रह सम्बन्धी सूचनाएँ हैं उनमें शनि, मंगल, बुध और केतु कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते और चन्द्रमाकी स्थिति भी अस्पष्ट है।

स्वामी वीरसेन आचार्य जिनसेनके गुरु थे और आचार्य जिनसेनने जयधवला टीकाकी समाप्ति मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमके शासनकालमें शकसंवत् ७५९ (सन् ८३७ ई०) में की थी[1]। किन्तु ईस्वी सनकी ८ वीं ९ वीं शताब्दियोंमें किसी बोद्दणराय नामक राजाके होनेका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। साथ ही, राष्ट्रकूट वंशमें अमोघवर्ष प्रथमसे पूर्व जगतुंग नामधारी राजा केवल एक ही हुआ है और वह था अमोघवर्षका पिता गोविन्द तृतीय जगतुंगदेव प्रभूतवर्ष।

इस प्रकार इन गाथाओंमें स्पष्ट सूचना तो मात्र इतनी मिलती है कि जगतुंगदेवके राज्यकालमें विक्रम नामाङ्कित संवत्के ३८ वें (या कुछ सौ ३८ वें) वर्षमें कार्तिक शुक्ला १३ के दिन, जब राहु कुंभमें था सूर्य और गुरु तुलामें तथा शुक्र सिंहराशिमें था, यह टीका समाप्त हुई।

प्रोफेसर हीरालालजीने इन गाथाओंका संशोधन करके अस्पष्ट अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। अर्थात् दूसरी लाइनके 'पासे' शब्दको 'वासे' 'भावविलग्गे' को 'भाणु विलग्गे' और पाँचवीं लाइनके 'णेमि चंदम्मि' को 'मीणे चंदम्मि' पढ़ा है[2]। सो ठीक ही है।

किन्तु प्रशस्तिमें स्पष्ट पाठ 'सासिय विक्कमरायम्हि' होने

1 जयधवला १, १, प्रस्तावना पृ० ७२
2 धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४३–४५

हुए भी न जाने क्यों उनकी यह धारणा होगई कि यह शक संवत् ही हो सकता है विक्रम संवत् नहीं। और शक संवत् ६३८ वा ८३८ यह हो नहीं सकता, क्यों कि पहला राष्ट्रकूट वंशकी स्थापनासे भी पूर्व पहुँच जाता है और दूसरा आचार्य जिनसेन तथा अमोघवर्ष प्रथमकी मृत्युके भी बहुत बाद जाकर पड़ता है। अतः यह शक संवत् ७३८ ही हो सकता है। अपनी इस धारणाके अनुसार ही आपने पाठका संशोधन किया है और पहला लाइनके 'सासिय' शब्दका 'सत्तसय' 'विक्कम रायम्हि' का 'विक्कमरायंकिए', 'एसु संगरमो' को 'सुसगणामे' कर दिया। वर्तमान शक संवत्‌मेंसे ७३८ घटा कर गत वर्षोंमें मन्दगति राहु, शनि, गुरु आदि ग्रहोंकी द्वादश राशि सम्बन्धी परिक्रमाएँ तथा स्थूलरूपमें अन्दाजन स्थिति निकाल कर उस समयकी कुंडली बनाली और धनुराशिमें शनिकी स्थिति निश्चित करके 'वर्गाणवुत्ते' पाठका 'तर्गाण वुत्ते' कर दिया। राहुका संबंध कुंभराशि से करके 'कोणो' का अर्थ मंगल किया है और उसे राहु के साथ कुंभराशिमें बैठाया है[1]।

फिर भी इस समयमें दो ऐतिहासिक बाधाएँ आ खड़ी हुईं। अमोघवर्ष प्रथमका राज्य-शासन निश्चितरूपसे शक संवत् ७३६ (सन् ८१४ ई०) से प्रारंभ हो जाता है। अतः अमोघवर्षका कोई जिक्र न करके उसके पूर्वज जगतुंगदेव के राज्योल्लेखमें क्या अभिप्राय? इस बाधाका प्रोफेसर साहबने बड़ी खूबीके साथ निवारण कर दिया। आप कहते हैं कि 'रियम्हि' शब्द जो 'जगतुंगदेवरज्जे' के बाद प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ यह है कि जगतुंगदेव जीवित तो थे पर राज्य त्याग चुके थे। यह शब्द 'ऋते' या रिक्ते का पर्यायवाची है[2]। और अमोघवर्षके राज्यकालके प्रारंभमें हो जो विप्लव हुए थे शक संवत् ७३८ तक इसी कारणसे नहीं हुए कि जगतुंगदेव उस समय तक जीवित थे[3]। साथ ही, बोद्दणरायसे अभिप्राय आप अमोघवर्षका लेते हैं, क्यों कि अमोघवर्षसे लगभग १०० वर्ष पश्चात् होने वाले उनके एक वंशजकी उपाधि वद्दिग या बद्दुग थी[4]।

१ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४४
२ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४१-४२
३ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४१
४ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४१

प्रोफेसर साहब द्वारा निश्चित धवलाके इस समाप्ति कालमें कई भारी बाधाएँ हैं—

प्रथम तो, प्रशस्तिमें **'सासिय विक्कमरायम्हि'** पाठ स्पष्ट रहते हुए उसका सीधा अर्थ 'विक्रमादित्यके शासनके (कुछ भी) अड़तीसवें वर्षमें' न करके उन शब्दोंको तोड़ मरोड़ कर उनका अर्थ शकका ७३८ वाँ वर्ष करना असंगत है, विक्रम संवत्‌का ८३८ वां वर्ष इस घटनाके लिये उतना ही नहीं किन्तु अधिक उपयुक्त तथा संगत हो सकता है जितना कि शक ७३८। दोनोंमें मात्र ३५-३६ वर्षका अन्तर है।

प्रोफेसर साहबने इसके विक्रम संवत् होनेमें जो बाधायें दी हैं वे निस्सार हैं। आप कहते हैं दक्षिणके प्रायः सर्व ही जैन लेखकोंने शक संवतका ही उपयोग किया है, इस लिये वीरसेन स्वामीने भी शक ही संवतका उपयोग किया होगा। प्रथम तो, यह आवश्यक नहीं कि अन्य लेखकोंने यदि विक्रम संवतका उपयोग नहीं किया तो वीरसेन भी न करें। दूसरे, आचार्य अमितगति, देवसेन, वामदेव, मेरुतुंग, इन्द्रनन्दि इत्यादि अनेक लेखकोंने अपने ग्रन्थोंमें विक्रम संवतका ही उल्लेख किया है, उसीके अनुसार कालगणनाएँ तथा घटनाओंकी निर्णय दी है।

उत्तर भारतके जैनलेखक तो प्रायः विक्रम संवतका ही उपयोग करते थे। वास्तवमें प्राचीन कालमें विक्रम संवत्‌का सर्वाधिक उपयोग जैनोंद्वारा ही हुआ है। बहुत संभव है कि अपने जीवनके प्रारंभिक कालमें वीरसेन स्वामीका उत्तरी भारतसे अधिक सम्पर्क रहा हो उनके चित्रकूटपुरमें एलाचार्यजीके पास सिद्धान्तका अध्ययन करनेके स्पष्ट उल्लेख भी मिलते हैं[1]। श्रद्धेय प्रेमीजी[2] तथा धवला, जयधवलाके हिन्दी सम्पादक इस चित्रकूटपुरकी स्थितिको निश्चित नहीं कर सके। किन्तु ईसाकी ८ वीं, ९ वीं शताब्दमें यह एक प्रसिद्ध स्थान था। बुन्देलखण्डके पूर्वीय कोनेमें प्रयाग से लगभग ५० मील पश्चिम और कालंजरसे २५ मील उत्तर-पश्चिममें चित्रकूटपुर एक समृद्धशाली राजधानी थी। यहांका किला बड़ा सुदृढ था। वीरसेन स्वामीके समकालीन राष्ट्रकूट जगतुंगदेव गोविन्द तृतीयने सन् ८०६ ई० के

१ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार—श्लोक १७६-१७८
२ विद्वद् रत्नमाला—प्रथम भाग, पृ० १० (फुटनोट)

लगभग अपनी उत्तर भारतकी दिग्विजयके सिलसिलेमें इस चित्रकूटपुरके राजाको हराकर अपने राज्यका विस्तार प्रयाग तक किया था[१]। उसके वंशज कृष्ण तृतीयने सन ९४० में फिरसे चित्रकूटका किला जीता। राष्ट्रकूटोंकी स्वयंकी राजधानी अमोघवर्ष प्रथमके पूर्व मान्यखेट नहीं थी और बहुत संभव है कि मान्यखेटसे बहुत उत्तर बरारप्रान्तके अचलपुर - अथवा एलापुर नामक स्थानोंमेंसे किसी एकमें ही हो[२]। इस स्थानके समीप एलोरा और अजन्ताकी प्रसिद्ध गुफायें हैं। क्या आश्चर्य है कि स्वामी तथा वीरसेन जिनसेन आदिका स्थायी निवास स्थान उपर्युक्त दोनोंमेंसे किसी एकके सार्वजनीय गुह्यमन्दिरोंमें हो और वह स्थान उस समय वाट ग्रामके नामसे प्रसिद्ध हो। इन ऐतिहासिक गुफाओंमें कई कई प्राचीन जैन गुफाएँ निश्चित रूपसे हैं भी। और यह स्थान उत्तरी तथा दक्षिणी भारतकी सन्धिके समीप ही पड़ते हैं।

यदि यह कहा जाय कि वीरसेन स्वामीने अन्यत्र सर्वत्र शक संवत्का ही उपयोग किया है, विक्रमका नहीं, तो यह बात भी नहीं है—उन्होंने अन्यत्र न कहीं शक संवत्का ही उपयोग किया और न विक्रमका ही। धवलाके वेदनाखण्डमें जो वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शकके होने और प्रचलित शक संवत्में यह संख्या जोड़कर वीर निर्वाण संवत् निकालनेका कथन है वह एक प्रसिद्ध महत्वपूर्ण अनुश्रुतिकी पुनरुक्तिमात्र है। उस परसे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि वीरसेन स्वामी शक संवत्का ही उपयोग करते थे। अतः प्रशस्ति-उल्लिखित संवतके विक्रम संवत होनेमें कोई बाधा नहीं है।

यदि वीरसेनस्वामीके चार पाँच सौ वर्ष बाद होने वाले 'अकलंकचरित' के लेखकको या त्रिलोकसारके टीकाकार माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवको शक और विक्रम संवतके बीच कुछ भ्रम रहा है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वीरसेन जैसे बहुविज्ञ और प्राचीनतर विद्वानको भी वही भ्रम रहे। उपर्युक्त दोनों विद्वानों और वीरसेनके बीचमें होने वाले पचासों विद्वानोंमेंसे किसी और को तो यह भ्रम हुआ नहीं।

पुरातत्वज्ञ डा० मोतीचन्द्रजीसे मुझे मालूम हुआ है कि ईस्वी सन्की ७ वीं शताब्दीके उपरान्तके उल्लेखोंमें अट्ठतीससम्हि' पाठके अर्थ आठसौ तीस भी हो सकते हैं। किन्तु विक्रम संवत् ८३० (सन ७७३ ई०) में जगतुंगदेवके राज्यके होनेकी बहुत कम संभावना है; क्योंकि ७७२ ई० के लगभग तो उनके बाऊ गोविन्द द्वितीयका शासन प्रारम्भ ही हुआ था और उनके राज्यमें घटने वाली घटनाओंके लिये कमसे कम ४-५ वर्षका समय चाहिये ही[३]। अस्तु, यह समय वि० सं० ८३० के बाद ही होना चाहिये, किन्तु वि० सं० ८४० से पहिले पहिले।

अब यदि अट्ठतीससम्हिका अर्थ ८३० लिया जाय तो इकाईके किसी अंक सम्भवतया ८ का सूचक शब्द पाठमें होना चाहिये और यदि इसके अर्थ ३८ हैं तो ८०० का सूचक शब्द होना चाहिये और सोभी प्रशस्तिकी गाथा ६ की पहली पंक्तिके अन्तिम पद **'एसु संगरमो'** से, जो कि अस्पष्ट और अशुद्ध है, प्राप्त होना चाहिये।

दूसरी जबरदस्त बाधा प्रोफेसर साहिबके मतसे यह है कि शक संवत् ७३८ (सन ८१६ ई०) से दो वर्ष पूर्व जगतुंगदेवका राज्य समाप्त हो चुका था। शक संवत् ७३६ (सन् ८१४ ई०) के प्रारम्भमें ही उनकी मृत्यु हो चुकी थी[४]। और उनकी मृत्युके उपरान्त ही उनका ६ वर्षका एकमात्र बालक पुत्र अमोघवर्ष प्रथम अपने चचाजाद भाई कर्ककी अभिभावकतामें सिंहासनारूढ हो चुका था[५]।

प्रोफेसर साहिबका कहना है कि जगतुंग ८१४ ई० में मरा न होगा वरन् धवला प्रशस्तिमें वह उल्लेख हो जानेके बाद ८१६ ई० में ही मर गया होगा। किन्तु उसने ८१४ ई० में राज्य त्याग कर पुत्र अमोघवर्षको सौंप दिया होगा, स्वयं धर्म ध्यानमें रत हो गया होगा[७]। अब प्रश्न यह है कि अमोघवर्षका जन्म ८०८ ई० में हुआ था[८]। सन् ८१४

१ Altekar — Rashtrakutas and their Times p. 66.

२ Ibid p. 48.

३ Altekar — Rashtrakutas and their Times p. 52 (F N.)

४ Ibid—p. 69, and p 71 (F N.)

५ धवला टीका प्रस्तावना पृ० ४०-४१

६ Ibid.—p 69

७ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४२

८ Ibid.—p. 69

ई० मे जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ उसकी आयु केवल ६ वर्षकी थी। जगतुंग एक प्रबल प्रतापी शासक और भारी विजेता था। उसकी प्रवृत्ति भी कुछ विशेष धार्मिक न थी, कमसे कम वैराग्यप्रधान जैनधर्मका तो विशिष्ट भक्त वह था नही। उसकी आयु भी ६० वर्षके भीतर ही थी और सन् ८१२ ई० तक तो वह सुदूर प्रान्तोंकी दिग्विजय ही करता रहा था। तब ऐसे व्यक्तिका एकाएक अपने अबोध बालक पुत्रको राजपाट सौंपकर संसारसे विरक्त हो जाना कुछ जीको नही लगता। और फिर उस संसार-त्यागी के जीवित रहनेके कारण ही दो वर्ष तक बालक अमोघवर्ष के शासनमें होनेवाले विप्लवोंका न होना एक असंगत सी बात है। इसके अतिरिक्त नवसारीसे प्राप्त सन् ८१६ ई० के कर्क सुवर्णवर्षके ताम्रपटमें साम्राट् अमोघवर्षके शासनका तो उल्लेख है और जगतुंगका कोई उल्लेख नहीं[1]। डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालसे मुझे मालूम हुआ है कि 'ऋत' या 'रिक्त' शब्द, जिसे प्रोफेसर साहिबने 'रियग्डि' का पर्यायवाची समझा, के इन अर्थोंमे (राज्य त्य गनेके अर्थोंमे) साहित्य अथवा शिलालेखोंमे प्रयुक्त होनेके कोई उल्लेख नहीं मिलते। तब इस शब्दका यह उपयोग विचित्र और असाधारण है। वास्तवमें जगतुंगदेवकी मृत्यु तो जैसा कि राष्ट्रकूट इतिहासके विशेषज्ञ डा० अल्तेकरने निर्णय किया है सन् ८१४ ई० के प्रारंभमे ही हो होचुकी थी और प्रोफेसर साहिबके अनुसार धवलाका समय सन् ८१६ के अन्तके लगभग आता है।

प्रशस्तिमे अमोघवर्षका भी कोई उलेख नहीं। जगतुंगके अतिरिक्त एक 'नरेन्द्रचूडामणि बोद्दणराय नरेन्द्र' का उल्लेख है। प्रोफेसर साहिबका कहना है कि बोद्दणराय अमोघवर्षका ही नाम होगा। वह उस समय तक बोद्दणरायके ही नामसे प्रसिद्ध होगा अमोघवर्षके नामसे नहीं[2]। किन्तु उपर्युक्त नवसारीका सन् ८१६ ई० का ताम्रपट[3] स्पष्ट सूचित कर रहा है कि बालक साम्राट् अमोघवर्ष नामसे ही प्रसिद्ध था। यदि पहिलेसे नहीं तो कमसे कम राज्याभिषेकके समयसे तो उसका यह नाम अवश्य ही था। उसके और भी अनेक विरुद मिलते हैं यथा – नृपतुंग, शर्वदेव, पृथ्वीवल्लभ, लक्ष्मीवल्लभ। उसके अनेक ताम्रपट मिलते हैं। जिनसेनाचार्य-गुणभद्राचार्यके साहित्यके अतिरिक्त अन्य साहित्यमें भी उसके अनेक विषयोंमें अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं पर कहीं भी उसके लिये 'बोद्दणराय' नाम प्रयुक्त नहीं हुआ। उसके एक दूर वंशज का उपाध बद्दग या बड्डिगदेव[4] थी इससे उसका नाम बोद्दणराय हुआ यह बात तो हास्यास्पद है। पूर्वजके नामानुसार वंशजका नामतो होसकता है किन्तु वंशजके नामानुसार पूर्वजका भी नाम होसकता है यह समझमें नहीं आता। फिर 'बड्डिगदेव' और 'बोद्दणराय' शब्दोंमे कोई साम्य भी तो नहीं।

इसके अतिरिक्त. ७-८ वर्षके बालकको, जो अभी अभी सिंहासनारूढ हुआ है और नाममात्रका राजा है, तो नरेन्द्र और नरेन्द्रचूडामणि कहना और उसके पिता प्रबल प्रतापी साम्राट्को--जिनके राज्यकालमें ग्रथकी रचना शान्तिपूर्वक होती रही, जिनका पूरा नाम जगतुंगदेव प्रभूतवर्ष गोविन्द था और जो प्रो० सा० के कथनानुसार उस समय तक जीवित थे और वास्तविक शासक थे—केवल जगतुंगदेव करके लिखना भी कुछ संगत नहीं जान पड़ता।

जब प्रशस्तिमे दी हुई ज्योतिष-ग्रहोंकी स्थितिपर विचार करते हैं तो प्रोफेसर साहिब की तत्संबंधी व्याख्या भी सदोष ही प्रतीत होती है। अवश्य ही संवत्सरके निर्णयमे केतु, राहु, शनि और गुरु ये चार मन्दगति ग्रह ही उपयोगी पड़ते हैं और इनमे भी सर्वाधिक राहु तथा केतु। कारण यह कि १२ राशियोंकी परिक्रमामें राहु-केतु लगभग १९ वर्ष, शनि लगभग ३० वर्ष और गुरु लगभग १२ वर्ष लेते हैं। लगभग कहनेसे अभिप्राय यह है कि बिल्कुल इतना ही नहीं कुछ न्यूनाधिक समय लेते हैं। इनमे शनि और गुरु कभी मन्दगति हो जाते हैं, कभी तीव्रगति, कभी मार्गी, कभी वक्री। किन्तु राहु और केतु सदैव एक रस एक ही चालसे गमन करते हैं। इनकी गति ३ कला ११ विकला है इससे न कभी कम होती है न ज्यादा, और

---

१ J B. B. R. A. S. XX P. 135,

२ धवला टीका १,१,१, प्रस्तावना पृ० ४१, तथा जयधवला १,१, प्रस्तावना पृ० ७३।

३ J. B. B. R. A S XX P. 135

४ अमोघवर्ष तृतीयकी उपाधि, इसकी मृत्यु सन् ९३९ ई० मे हुई।

ये दोनों सदा वक्री ही रहते हैं। इस हिसाबसे राहु और केतु बारह राशियोंकी परिक्रमा १८ वर्ष ७ महीने और करीब २ दिनमें पूरी करते हैं। केतु राहुसे सदैव सात राशिके अन्तरपर रहता है। इसके अनुसार गणित करनेसे शक संवत् ७३८ की कार्तिक शुक्ला १३ को राहुकी स्थिति धनुराशि और कुंडलीके तीसरे घरमें आती है और केतुकी स्थिति मिथुनराशिमें। प्रोफेसर साहिबने स्थूल रूपसे राहु की परिक्रमा १८ वर्षसे लेकर गत ११२३ वर्षमें कितनी परिक्रमाएँ हुई इत्यादि निकाल कर प्रशस्तिका 'कुंभम्हि राहुणा' पाठ सिद्ध करनेके लिये राहुको कुंभराशिमें बिठा दिया[1]। फलत: केतुको भी सिंहराशिमे बिठा दिया। अत: केवल राहु-केतुकी स्थिति ही ठीक न बैठनेसे प्रोफेसर साहिब द्वारा निर्मित धवलाकी कुंडली ग़लत सिद्ध होजाती है और फलत: उसके आधारसे निश्चित की हुई तिथि—शक ७३८ अक्तूबर ८, सन् ८१३ ई०—भी।

परन्तु विक्रम संवत्के ८३८ वें वर्षमे अर्थात् सन् ७८० ई० की कार्तिक शुकला १३ चन्द्रवार ता० १६ अक्तूबरको राहुकी स्थिति कुंभराशिमे, और तुला लग्न होनेसे कुंडलीके पांचवे घरमें, जो कोण भी कहलाता है, पड़ती है और साथ ही केतुकी शुक्रके साथ सिंहराशिमें। सूर्य, गुरु तथा बुध प्रोफेसर साहिबके गणितके अनुसार ही यदि शक ७३८ मे तुला राशि और लग्नमे पड़ते हैं तो विक्रम संवत् ८३८ में भी वहाँ उसी स्थानमें पड़ते हैं। चन्द्रमा भी दोनों ही तारीखोंमे मीन राशिका हो सकता है।

शनिकी स्थिति भी उन्हींके हिसाबसे सन् ८१६ ई०मे धनुराशिके बजाये मकरराशिमे आती है और मंगलकी स्थिति भी संदिग्ध है। वास्तवमें शनिकी द्वादशराशि-परिक्रमा भी पूरे ३० ही वर्षमें समाप्त नहीं होती बरन् २९ वर्ष और लगभग ७ मासमे होती है, और इस हिसाबसे शक ७३८ मे शनिकी स्थिति मेषराशिमें आती है न कि कुंभराशिमें, जबकि विक्रम ८३८ सन् ७८० ई०मे उसकी स्थिति कुंभराशि में ही आती है।

मंगलकी स्थिति विक्रम ८३८ के कार्तिकमें धनु-राशिमें आ ही सकती है। और प्रतिलिपिकारकी असावधानीसे **'धरणिवुत्ते'** पदमें 'ध' का 'व' होजाना अधिक संभव है, बनिस्बत 'त' के 'व' होनेके। मंगलके लिये 'धरणिज' शब्द स्वामी वीरसेनके प्रशिष्य गुणभद्राचार्यने भी अपनी उत्तर-पुराणकी प्रशस्तिमे प्रयुक्त किया है[2]।

प्रोफेसर साहिबने एक युक्ति यह भी दी है कि कार्तिक माससे सूर्य सदैव तुलाके ही रहते हैं[3]। सो भी ग़लत है—कभी तुलाके कभी वृश्चिकके रहते हैं। बात यह है कि उक्त शताब्दीमें तुलाकी संक्रान्ति २२-२३ सितम्बरको पड़ती थी[4]। अत: २२-२३ अक्तूबर तक सूर्य तुलाके रहते थे, तत्पश्चात् वृश्चिकके। अब कार्तिकका अन्त यदि २२ अक्तूबरके भीतर ही पड़जाता था तो सूर्य तुलाके ही होते थे और उस तारीखके बाद तक यदि कार्तिक चलता था तो शुक्लपक्षमें प्राय: वृश्चिकके सूर्य हो जाते थे। संयोगसे शक ७३८ के कार्तिकमे सूर्य तुलाके ही थे। और विक्रम ८३८ की कार्तिक शुक्ला त्रयोदशीको भी सूर्य तुलाके थे ही।

आपने मत की पुष्टिमे आपने एक और भी युक्ति दी है। वह यह कि स्वामी वीरसेनने अपने इस विशाल ग्रंथराजका नाम 'धवला' इसलिये रक्खा था, क्योंकि सम्राट् अमोघवर्षकी एक उपाधि 'अतिशय धवल' भी थी[4]। आपके कथनानुसार ही अमोघवर्षकी आयु ८ वर्षकी भी न थी जब धवला समाप्त हुई। उसके राज्यके प्राथमिक १०-१२ वर्षोंमें लिखाये गये ताम्रपत्रों अथवा अन्य विवरणोंमे कहीं इस उपाधिका कोई उल्लेख नहीं। और धवलाकी रचनामें आप हीके अनुसार करीब २४-२५ वर्ष लगे होंगे। अत: ऐसे विशाल सैद्धान्तिक ग्रन्थका नाम-करण उसके इतने लम्बे रचनाकालमे तो लेखकको सूझा नहीं[5]। और अन्तमें सूझा भी तो उस उपाधिके आधारपर जो तत्कालीन बालक सम्राटको अपनी युवा अथवा प्रौढ़ावस्थामे इस कारणसे मिलनेवाली थी कि वह अपनी वृद्धावस्थामें वैराग्यपूर्ण धवल परिणामोंको प्राप्त होकर राज्य त्याग देगा!!!

---

१ धवला टीका १,१,१, प्रस्तावना पृ० ४३

२ उत्तरपुराण-प्रशस्ति श्लोक ३३।

३ धवलाटीका १,१,१, प्रस्तावना पृ० ४३।

४ प्रो० कीलहार्नने शक ७०१ की मकर, संक्रान्ति २२ दिसम्बर सन् ७७६ ई० के दिन निश्चित् की थी—
E. I. Vol. VIII P. 183. n. 2.

५ वास्तवमें अपनी रचनाका धवला नाम लेखकने प्रारंभमें ही सोच लिया था, ग्रन्थमें धवल शब्दका प्रयोग शुरूसे ही मिलता है—धवला टीका १, १, १, पृ० ६७

साहित्यिक और दार्शनिक बातोंमें तो सब तरहकी धाँधलियां चल जाती हैं और कभी २ सैद्धान्तिक विषयोंमें भी, किन्तु विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं तथा वैज्ञानिक तथ्यों की इमारत मात्र ऐसे बेतुके अनुमानों और धाँधलियोंकी बुनियादपर खड़ी करना तो अनुचित ही है।

अपनी इस (निर्माणसमय-विषयक) मान्यताके उत्साहमें धवला-जयधवलाके सम्पादकोंको इस बातका भी ध्यान नहीं रहा कि उनके मतानुसार आचार्य जिनसेन जैसे भारी लेखकको अपने जीवनके मध्यकालीन चालीस वर्ष खाली बैठे बैठे ही बिताने पड़ेंगे। हरिवंशके रचयिता पुन्नाटसंघी जिनसेनने अपने ग्रंथकी समाप्ति शक ७०५ में की[1]। उस ग्रंथकी रचना उसके ७-८ वर्ष पूर्व प्रारंभ हुई होगी। उसके प्रारम्भमें गुरु वीरसेन और उनके शिष्य जिनसेनका आदरके साथ स्मरण किया गया है[2]। जिनसेनके रचे हुए जिनेन्द्रगुणसंस्तुति नामक खास ग्रन्थका उल्लेख किया है। अस्तु, शक ६९८ के लगभग जिनसेनाचार्य विद्वत्समाजमें प्रसिद्धिको प्राप्त हो चुके थे और दो एक ग्रंथ भी रच चुके थे। और उनकी आयु भी उस समय कमसे कम २५ वर्ष की थी[3]। प्रोफेसर साहिबकी गणनाके अनुसार स्वामी वीरसेन शक ७४५ के लगभग जयधवलाको अधूरी छोड़कर स्वर्गस्थ हुए[4]। तुरन्त ही जिनसेनने जयधवलाके शेषांशका रचना प्रारंभ करदिया और शक ७५९ में उक्त ग्रन्थको पूरा करदिया। उसके बाद आदिपुराणका रचना प्रारंभ किया और शक ७६५ के लगभग उस ग्रंथको अधूरा छोड़ कर वह स्वर्ग सिधार गये[5]। आचार्य जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयमें भी अमोघवर्ष का नामोल्लेख है[6], और उस काव्यकी रचनाके संबंधमें भी जो कथा प्रचलित है[7] उसके अनुसार उसकी रचनाके समय सम्राट अमोघवर्ष वयस्क होने चाहिये। । शक ७२० में उनका जन्म हुआ था। अतः शक ७४५ से पूर्व उक्त काव्यका रचा जाना भी कठिन ही दीखता है।

इस प्रकार शक ७०० से शक ७४५ तक लगभग ४५ वर्ष तक आचार्य जिनसेनने कुछ रचा ही नहीं और जो कुछ रचा वह अपनी २५ वर्षकी आयु होनेसे पहले पहले या ७० वर्ष आयु होनेके बाद! इस बीचमें कौनसे राजकीय अथवा गृहस्थ संबंधी कार्यमें वे अविद्धकर्ण बालब्रह्मचारी प्रसिद्ध विद्वान् और जयधवला आदि ग्रन्थराजोंके रचयिता आचार्य जिनसेन व्यस्त रहे, यह ज्ञात नहीं पड़ता!

अतः धवला टीकाका समाप्तिकाल श्री धवल, जयधवलके हिन्दी सम्पादकों द्वारानिश्चित शक ७३८ अथवा सन् ८१६ ई० की ८ अक्तूबर बुधवार सर्वप्रकार सदोष और असंगत सिद्ध होता है।

इसके स्थानमें कार्तिक शुक्ला १३ विक्रम संवत् ८३८ (चालू) तदनुसार चन्द्रवार ता १६ अक्तूबर सन् ७८० ई०[1] का पूर्वाह्न—जबकि तुलाके सूर्य उदय हो रहे थे, गुरु और बुध भी सूर्यके साथ ही स्थित थे, शनिके साथ राहु कुंभराशिका शुक्र और केतु सिंहके, मंगल धनुका तथा चन्द्रमा मीन राशिका था—कहीं अधिक उपयुक्त और संगत बैठता है। तदनुसार प्रशस्तिकी विवादग्रस्त गाथाओंका शुद्ध पाठ निम्न प्रकार होना चाहिये:—

अट्ठतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि वसुसतोवरमे।
वासे सुतेरसीए भाणु-विलग्गे धवलपक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेवरज्जे रविजे कुंभम्हि राहुणा कोणे।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुक्कम्मि मीणे चंदम्मि।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
बोद्दणरायणरिंदे णरिंदचूडामणिम्हि भुंजंते।
सिद्धंतगंथ-मत्थिय गुरुप्पसाएण विगता सा ॥ ९ ॥

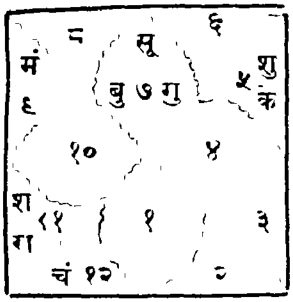
भावार्थ—विक्रमराजाके शासनके ८३८ वें वर्षमें कार्तिक मासके धवल पक्षकी त्रयोदशीके दिन सूर्योदयके समय जब कि शनि (रविज) राहुके साथ कुंभराशि तथा कोण (पंचम स्थान) में स्थित था, सूर्य और गुरु तुलाराशि में थे और बुधका विलय भी उन्हींके साथ उसी राशिमें हो

१ जिनसेनीय हरिवंशपुराणकी प्रशस्ति।
२ हरिवंशपुराण श्लोक ३९-४०।
३ जयधवला १, १, प्रस्तावना पृ० ७६।
४ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४२।
५ जयधवला १, १, प्रस्तावना पृ० ७७, विद्वद्रत्नमाला प्रथम भाग पृ० ८४।
६ प्रो० पाठकका निबंध भर्तृहरि और कुमारिलभट्ट R.A.S.
७ योगिराट पंडिताचार्यकी पार्श्वाभ्युदयकी टीका।

१ Swami Kannu Pillai's Indian Ephemeris Vol. I, Part II p. 165.

रहा था, मंगल धनुराशिका, शुक्र (केतु सहित) सिंहराशिका, चन्द्रमा मीनराशिका था (और वार भी चन्द्रवार था) जगतुंगदेवका राज्य था और नरेन्द्रचूडामणि बोद्दणराय-नरेन्द्र (ध्रुवराज धारावर्ष श्रीवल्लभराय) साम्राज्याधिपति थे, उस समय गुरुके प्रसादसे सिद्धान्त ग्रंथोंको मथकर इस धवला टीकाको पूर्ण किया गया।

इस पाठके अनुसार धवलाके समाप्ति-कालकी ज्योतिष-कुण्डली निम्न प्रकार बनती है :—



इस तिथिमें ऐतिहासिक बाधा भी कोई नहीं आती। सन् ७७२ ई० में राष्ट्रकूट कृष्णप्रथमकी मृत्यु होगई और उसका ज्येष्ठपुत्र गोविन्द द्वितीय गद्दीपर बैठा[१]। वह वीर योद्धा अवश्य था किन्तु एक दुराचारी और निकम्मा शासक[२]। उसके छोटे भाई ध्रुवधारावर्षने विद्रोह किया और संभवतः उसे गद्दीपरसे उतार कर राज्य स्वयं हथिया लिया। यह घटना सन् ७७५ और सन् ७७९ के बीच किसी समय हुई। सन् ७७५ का पिम्पेरीसे प्राप्त लेख इसे ७७५ ई० में रखता है[३] और सन् ७७९का धूलियासे प्राप्त ताम्रपट ७७९ में[४], किन्तु धूलियाका ताम्रपट सन्दिग्ध और जाली समझा जाता है। फिर भी इसमें तो सन्देह नहीं कि गोविन्द द्वितीयकी मृत्यु सन् ७७९–८० में हो चुकी थी और राष्ट्रकूट राज्यका एकच्छत्र अधिपति श्रीवल्लभ कलिवल्लभ धारावर्ष आदि उपाधिधारी ध्रुवराज निरुपम था। इसकी आयु उस समय लगभग ५० वर्षकी थी। इसके उस समय कमसे कम चार वयस्क सुयोग्य समर्थ पुत्र थे[५]। ये चारों ही उस समय भी भिन्न भिन्न प्रान्तोंके शासक थे। इन सबमें सर्वाधिक सुयोग्य जगतुंग गोविन्द था, इसी लिये ज्येष्ठ पुत्र न होते हुए भी ध्रुवने उसे ही अपना उत्तराधिकारी चुना और उसके मना करने पर भी अपने जीवनमें ही उसका युवराज्याभिषेक ही नहीं महाराज्याभिषेक कर दिया[६]। इस प्रकार चाहे वास्तविक सम्राट् ध्रुव स्वयं ही रहा, उसने नामके लिये जगतुंगको ही सम्राट् बना दिया। चूंकि उसने अपने भाईके प्रति विद्रोह किया था और संभवतया उसे मार कर ही उसका राज्य हथियाया था इस लिये संभव है कि ऐसी राज्यक्रान्तिके पश्चात् स्वयं सिंहासनारूढ होनेमे कुछ बाधाएँ देखी हों और नामके लिये गोविन्द द्वितीयके पश्चात् अपने पुत्र जगतुंगको गोविन्द तृतीयके नामसे गद्दीपर बैठा दिया हो।

ध्रुवकी मृत्यु सन् ७९३ ई०[७] के लगभग हुई। अतः यह घटना सन् ७७५ से सन् ७९३ ई० के बीच कभी भी हो सकती है। इसकी तिथिके सम्बन्धमें ऐतिहासज्ञ विद्वान् अनिश्चित हैं। हाँ, जगतुंगके राज्यकी अन्तिम अवधि सन् ८१४ (वि० ८७०) निश्चित है, इससे प्रोफेसर साहिब भी सहमत हैं[८]। अस्तु।

सन् ७८० मे जगतुंगदेव राष्ट्रकूटोंके सिंहासनपर आसीन हो सकता है। और यदि उसका अभिषेक इस तारीखके बाद भी हुआ हो तो भी वह उक्त प्रान्तका शासक या जागीरदार तो हो ही सकता है, जिसके अन्तर्गत वीरसेन स्वामीने रहकर धवल ग्रथकी रचना की।

ध्रुवराजकी स्थिति राष्ट्रकूट इतिहासमे कुछ भेदपूर्ण और विचित्रसी है। वह एक भारी योद्धा और विजेता था। भाईसे राज्य छीन भी सकता था और पुत्रको जीते जी, स्वयं समर्थ रहते हुए, राज्य सौंप भी सकता था। उसके स्वयं के कोई ताम्रपट आदि नहीं मिलते। संभव है जनसाधारण में वह बोद्दणराय करके प्रसिद्ध हो अथवा उसकी उपाधि श्रीवल्लभ[१] के ही अपभ्रंशका प्रतिलिपिकारकी असावधानीसे बोद्दण हो गया हो।

शक ७०५ में समाप्त होनेवाले तथा शक ६९७–८

१ Altekar—Rashtrakutas and their Times p. 48.
२ Ibid–p. 50.
३ E. I. Vol. X p. 81.
४ E. I. Vol. VIII p. 182.
५ Altekar—p. 53
६ Ibid—p. p. 59–60
७ Ibid—p. 58
८ धवला टीका १, १, १, प्रस्तावना पृ० ४०
१ हरि० तथा श्रवण० नं० २४; मटकेरी शि० ले० E. C. Vol IV p. 13
Altekar p. 421।

में प्रारंभ होने वाले हरिवंशके आदिमें आ० वीरसेनके साथ धवल ग्रन्थका उल्लेख न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं—क्योंकि वह उस उल्लेखके लगभग ५ वर्ष बाद समाप्त हुआ था।

धवलाकी इस नव निश्चित तिथिके अनुसार वीरसेन स्वामीकी मृत्यु सन् ७६० ई० के लगभग होनी चाहिये और उनका जन्म सन् ७१० ई० के लगभग। साथ ही आचार्य जिनसेनको भी जयधवला टीकाके लिखनेके लिये तथा उसके लिये आवश्यक विपुल सामग्रीके अध्ययन करने के लिये और अपने अन्य ग्रन्थोंको रचनेके लिये भी पर्याप्त समय मिल जाता है। उनके बहुमूल्य जीवनके मध्यकालीन सुवर्ण वर्ष व्यर्थ ही नहीं चले जाते।

इस तिथिमें एक विशेषता और है कि यह चन्द्रवारके दिन पड़ती है। धवलाको 'चन्द्रोज्ज्वल धवल' कहा भी है[1]। जब लेखक आचार्यने अपने ग्रन्थकी समाप्तिके लिये उसके नामानुकूल 'धवल पक्ष' चुना तो भी अष्टान्हिका जैसे धवल पर्वमें, तो वह उन १५ अथवा ८ दिनोंमें दिन भी ऐसा ही चुनते जो उसके उपयुक्त ही होता अर्थात् चन्द्रवार। प्रशस्तिमें उल्लिखित ग्रहोंमें चन्द्रमाको सबसे अन्तमें देनेका अभिप्राय भी प्राय: यही हो सकता है।

लखनऊ, ता० ६-८-४५

१ आदिपुराण प्र० श्लोक ५८, तथा ज० प्र० का अ० अंश

क्या वर्तनाका वह अर्थ ग़लत है ?

(लेखक—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया)

[यह लेख लगभग चार मास पहले लिखा गया था और उसे उसी समय जैनगजटमें प्रकाशनार्थ भेजा था, जिससे उसके पाठकोंमें फैले हुए भ्रमका इसके द्वारा निरसन होजाय। परन्तु जैनगजटने दो दो पत्र देनेपर भी न तो उसे प्रकाशित किया, न वापिस किया, न पत्रोंका कोई उत्तर दिया, और इस तरह अपने पाठकोंको अन्धेरेमें रखकर भ्रममें डाले रखना ही उचित समझा, यह बड़े ही खेदका विषय है !! अखिल भारतीय जैनसमाजके प्रतिनिधित्वका दावा करनेवाले पत्रकी ऐसी नीति बहुत ही अखरती है। अस्तु, मजबूर होकर आज यह लेख अनेकान्तमें प्रकाशित कराया जाता है।—लेखक]

'जैनगजट' वर्ष ५० अङ्क २५के सम्पादकीयमें पं० वंशीधरजी सोलापुरने वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित 'अध्यात्म-कमलमार्त्तण्ड' पर अपना अभिप्राय—समालोचन प्रकट किया है। आपने उसके प्रकाशनकी कुछेक रूक्ष-रूद्र, चैतन्य स्वरूप—चैतन्यस्वरूप जैसी साधारण अशुद्धियोंको दिखलाते हुए उसके अनुवादकी भी एक गलती दिखानेका प्रयत्न किया है। यद्यपि शुद्ध समालोचनाकी दृष्टिसे अशुद्धियाँ या गलतियाँ दिखलाना बुरा नहीं है, इससे लेखकगण अपनी लेखनी अधिक सावधानसे चलाते हैं। इसलिये इस दृष्टिसे हम पण्डितजीका धन्यवाद करते हैं। (प्रेस) पर प्रकाशन सम्बन्धी उन मामूली अशुद्धियोंको यदि मान भी लिया जाय जो सावधानीसे सावधान प्रूफ़रीडरसे होना असम्भव नहीं हैं; क्योंकि चार-चार, पाच-पाँच प्रूफ़ोंको देख जानेपर भी चाकचिक्य या दृष्टिदोष और प्रेसके करेक्शन न करने आदि कारणोंसे वे कभी कभी रह ही जाती हैं। और यदि 'चैतन्य स्वरूप' जैसी मिलानेकी अशुद्धियोंको लिया जावे तो शायद ही कोई उत्तमसे उत्तम संस्करण शुद्ध ठहरेगा। दूसरे चैतन्य और स्वरूप ये दोनो स्वतन्त्र ही पद हैं और उन्हें अलग अलग रहने देनेपर—न मिलानेपर कभी वह कोई अशुद्धि नहीं समझी जाती—दोनों ही प्रकारसे उन्हे लिखा जाता है। हिन्दी और संस्कृतके नियम जुदेजुदे हैं। संस्कृतमे तो अविभक्तिक पदको दूसरे विभक्तिक पदके साथ मिला ही होना चाहिये, परन्तु हिन्दीमें यह बात नहीं है। और तो क्या हिन्दीमें 'ने', 'को' 'केलिये' आदि विभक्तिसूचक चिन्होंको भी अलग अलग लिखनेका रिवाज अब भी प्रचलित है।

परन्तु यहाँ तो हमें पण्डितजीने जो अनुवाद-सम्बन्धी गलती दिखलानेकी कोशिश की है और उसके लिये गजटका आधा कालमके करीब लिखा है उसपर विचार करना है,

जिससे पाठकोंको उस गलतीकी यथार्थता-अयथार्थता मालूम हो सके और वे भ्रममे न पड़े।

पण्डितजीने 'अध्यात्मकमलमार्त्तंड' पृ० ८३मे काल-द्रव्यसम्बन्धी वर्णन करनेवाले पद्यमें आये हुए वर्तना-लक्षणके हिन्दी अर्थको गलत ठहराते हुए लिखा है—

"पृ० ८३मे कालद्रव्यका वर्णन आया है, वहाँ वर्तना का हिन्दी अर्थ गलत होगया है। वर्तनाका अर्थ लिखा है कि—द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। यह जो अर्थ लिखा गया है वह परिणामका अर्थ है, वर्तन का यह अर्थ नहीं है। वर्तना शब्द णिजन्त है। उसका अर्थ सीधी द्रव्यवर्तना नहीं है किन्तु द्रव्योंको वर्ताना अर्थ है। इसी लिये वर्तनारूप पर्याय खास अथवा सीधा काल पर्याय माना गया है और इसी सबबसे वर्तना द्वारा निश्चय कालद्रव्यकी सिद्धि होती है। ·····यदि वर्तनाका अर्थ जैसा कि यहाँके हिन्दी अर्थमे बताया गया है कि द्रव्योंका सत्परिणमन वर्तना है तो कालके अस्तित्वका समर्थ दूसरा हेतु मलना कठिन होजायगा। इस लिये पूर्वग्रन्थोंके नाजुक एवं महत्वयुक्त विवेचनोंपर आधुनिक लेखकोंको आदरसे ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलानी चाहिये।"

इसपर विचार करनेके पहले मैं 'अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड' के उस पूरे पद्य और हिन्दी अर्थको भी यहाँ प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ। इससे पाठकोंके लिये समझनेमे सहूलियत होगी। पद्य और उसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

"द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावै—स्तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद् द्रव्यनीतेः। द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतु, कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरिणतिर्धर्मपर्याय एषः ॥"

अर्थ—गुणोंसे सहित और शुद्ध पर्यायोसे युक्त कालाणुमात्र द्रव्यको जिनेन्द्र भगवान्ने द्रव्यार्थिक निश्चयनयसे शुद्ध कालद्रव्य—अर्थात् निश्चयकाल कहा है। द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। इस वर्तनामें निश्चयकाल निमित्त कारण होता है—द्रव्योंके अस्तित्व रूप वर्तनमें निश्चयकाल निमित्तकारण होता है। अपने गुणोंमें अपने ही गुणोंद्वारा परिणमन करना कालद्रव्यका धर्म है—शुद्ध अर्थक्रिया है और यह उसकी धर्मपर्याय है।

विद्वान् पाठक देखेंगे कि यहा पद्यका हिन्दी अर्थ हूबहू मूलके ही अनुसार किया गया है। मूलमें जो वर्तनाका लक्षण 'द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना' दिया गया है वही—'द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है—हिन्दी अर्थमें किया है। अपनी ओरसे न तो किसी शब्दकी वृद्धि की है और न अपना कोई नया विचार ही उसमें प्रविष्ट किया है। अतः यदि हिन्दी अर्थ गलत कहा जायगा तो मूलको भी गलत बताना होगा। किन्तु मूलको न तो गलत बतलाया गया है और न वह गलत हो ही सकता है। इस लिये कहना होगा कि पण्डितजीने मूलपर और सिद्धान्त ग्रन्थोंकी वर्तनालक्षण चर्चापर ध्यान नहीं दिया और यदि कुछ दिया भी हो तो उसपर सूक्ष्म तथा गहरा विचार नहीं किया।

वास्तवमें अधिकांश विद्वान् यही समझते हैं कि वर्तना काल द्रव्यकी ही खास पर्याय, परिणमन अथवा गुण है[1] और वह सीधी कालपर्याय है। पर यथार्थमें यह बात नहीं है। वर्तना जीवादि छहों द्रव्योंका अस्तित्वरूप (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक[2]) स्वात्म-परिणमन है और इस अस्तित्व-रूप स्वात्म परिणमनमें उपादान कारण तो तत्तद्द्रव्य हैं और साधारण बाह्य निमित्तकारण अथवा उदासीन-अप्रेरक कारण काल द्रव्य है[3]। यदि प्रत्येक द्रव्य स्वतः वर्तनशील न हो तो वर्तनाको केवल काल द्रव्यकी सीधी पर्याय मानकर भी कालको उनको वर्तयिता—वर्तानेवाला नहीं कहा जा सकता और न वह हो ही सकता है। किन्तु जब प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय वर्त रहे होंगे तो वह प्रत्येक समय-कालाणु (कालद्रव्य) उनके वर्तानेमे निमित्तकारण हो जाता है। अतएव जिस प्रकार धर्मादि द्रव्य न हों तो जीव पुद्गलोंकी गत्यादि नहीं हो सकतीं अथवा कुम्हारके चाककी कीली न

१ उदाहरणस्वरूप देखो, जयधवला (मुद्रित) पृ० ४०।

२ "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" "सद्द्रव्यलक्षणम्" तत्त्वार्थसूत्र

३ 'जो समस्त द्रव्योंके परिणमनमें उदासीन सहकारी कारण है, उसको कालद्रव्य कहते हैं। जैसे कुम्भकार के चाककी नीचेकी कीली यदि चाक भ्रमण करें तो सहकारी कारण है किन्तु ठहरे हुए चाकको जबरदस्ती से नहीं चलाती। इस ही प्रकार कालको उदासीन कारण समझना चाहिये।"—

—जैनसिद्धान्तदर्पण प्र० भा० पृ० ७२।

हो तो चाक घूम नहीं सकता उसी प्रकार कालद्रव्य न हो तो निमित्त-कारणके बिना उन द्रव्योंका वर्तन नहीं हो सकता है। इसी निमित्तकारणताकी अपेक्षामें ही धर्मादि द्रव्यके गत्यादि उपकारकी तरह वर्तनाको कालद्रव्यका उपकार कहा गया है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकार आ० पूज्यपाद ने कहा है—

धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालइति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः।"

—सर्वार्थ० ५-२२

विद्वद्वर्य पं० राजमल्लजीने अपना पूर्वोक्त वर्तनालक्षण पूज्यपादके इसी वर्तनालक्षणके आधारपर रचा जान पड़ता है। क्योंकि दोनो लक्षणोंको जब सामने रख कर एक साथ पढ़ा जाता है तो वैसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अकलङ्कदेव भी यही कहते हैं—

"प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ...... एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिरुत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्वर्तन्ते इति कृत्वा तद्विषया वर्तना। साऽनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत्। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तन्दुलविक्लेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते अस्ति प्रथमसमयादारभ्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृत्तिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमयेऽग्न्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्। एवं द्वितीये तृतीये च न स्यात् इति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रतिसमयं दुरधिगमा निःपत्तिरभ्युपगन्तव्या। तल्लक्षणः कालः। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वृत्त्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां स्वात्मसद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समय पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढिसद्भावे काल इत्ययं व्यवहारो कस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुनाऽन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः।" —तत्त्वार्थवा० ५-२२।

यहाँ अकलङ्कदेवने बहुत ही विशदताके साथ कहा है कि 'हरेक द्रव्यपर्यायमे जो हर समय स्वसत्तानुभवन—वर्तन होता है वह वर्तना है। अर्थात् एक अविभागी समयमे धर्मादि छहों द्रव्य स्वतः ही अपनी सादि और अनादि पर्यायोंसे, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप हैं, वर्त रहे हैं उनके इस वर्तनको ही वर्तना कहते हैं और चूँकि तत्तत् समय उसमें अप्रेरक बाह्य निमित्तकारण होता है। इस लिये वर्तनाके द्वारा निमित्तकारणरूपसे कालद्रव्य अनुमेय है।' इसीसे वर्तनाको कालद्रव्यके अस्तित्वका समर्थक मुख्य हेतु कहा जाता है।

आ० विद्यानन्दने[1] भी इसी तरहका विस्तृत वर्णन किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृ० ४१४ पर एक अनुमान ही ऐसा प्रस्तुत है जिसमे उन्होंने सफलागमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और इनकी व्यापक सत्ता तथा सूर्यगति आदिकी ही वर्तना स्वीकार की है और उसके द्वारा बहिरंगकारणरूपसे कालकी सिद्धि की है। जब शंकाकारके द्वारा कालवर्तनाके साथ व्यभिचार दोष उपस्थित किया गया तब उन्होंने कालकी मुख्यवर्तना न होनेका ही सिद्धान्त स्थापित किया है और धर्मादिद्रव्योंकी ही मुख्य वर्तना बतलाई है। कालद्रव्यकी भी मुख्य वर्तना माननेपर अनवस्था दोष दिया गया है। साथमें यह भी कहा गया है कि कालमे वृत्ति और वर्तकका विभाग न होनेसे मुख्यवर्तना बन भी नहीं सकती। यदि शक्तिभेदसे वृत्ति और वर्तकका विभाग माना जावे तो कालद्रव्यकी भी वर्तना कही जा सकती है, क्योंकि कालवर्तनाका बहिरंगकारण वर्तक

---

[1] "वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारणया सूर्यगत्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावाना बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात् तन्दुलपाकवत्। यत्तावद्बहिरंगकारणं स कालः। ननु कालवर्तनया व्यभिचारः स्वयं वर्तमानेषु कालाणुषु तदभावात्। ...इति केचित्; कालवर्तनाया अनुपचरितरूपेणासद्भावात्। यस्यासावन्येन वर्तते तस्य सा मुख्यवर्तना। कर्मसाधनत्वात्तस्याः। कालस्य तु नान्येन वर्तते तस्य स्वयं स्वसत्तावृत्तिहेतुत्वादन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। ततः कालस्या (कालस्य ?) स्वतो वृत्तिरेवोपचारतो वर्तना, वृत्तिवर्तकयोर्विभागाभावान्मुख्यवर्तनानुपपत्तेः। शक्तिभेदात्तयोर्विभागे तु सा कालस्य यथा मुख्या तथा च बहिरंगनिमित्तापेक्षात्वं वर्तकशक्तेर्बहिरंगकारणत्वात्।"

—तत्त्वार्थश्लो० ५-२२

शक्ति हो जाती है। इस तरह विद्यानन्द स्वामीने अनुमानगत व्यभिचार दोषको उत्सारित किया है। विद्यानन्दके इस स्फुट विवेचनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वास्तवमें वर्तना सभी द्रव्यगत है और काल उसमें केवल बहिरंग कारण है। द्रव्योंके इस वर्तन—अस्तित्वरूप परिणमनमें बहिरंगकारण न तो आकाश है और न जीवादिद्रव्य हैं, क्योंकि वे सब तो उसके उपादान कारण हैं और प्रत्येक कार्य उपादान तथा निमित्त इन दो कारणोंसे होता है। अतः वर्तनाके उपादान कारण जीवादिमें अतिरिक्त निमित्त कारणरूपसे निश्चयकालद्रव्यकी सिद्धि होती है।

सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर संस्करण) पृ० १८३ में एक अतिस्पष्ट फुटनोट दिया गया है जो आ० श्रुतसागरसूरिकी श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्तिका जान पड़ता है और जिसमें भी यह स्पष्ट होजाता है कि सभी द्रव्योंका प्रतिसमय वर्तनस्वभाव है तथा प्रतिक्षण उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्मपर्यायोंमें जो परमाणुरूप बाह्य निश्चयकालकी अपेक्षा लेकर वर्तन—परिणमन होता है वह वर्तना है। यहाँ फुटनोटकी कुछ उपयोगी पंक्तियोंको दिया जाता है—

"एवं सर्वेषां द्रव्याणां प्रतिसमयं स्थूलपर्यायविलोकनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्य निश्चयकालं परमाणुरूपं अपेक्ष्य प्रतिक्षणं उत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनं यद्भवति सा वर्तना निर्णीयते।"

यहाँ पाठक देखेंगे कि 'वर्तनं परिणमनं' कह कर तो वर्तनाका अर्थ परिणाम भी स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। इस तरह सिद्धान्त ग्रन्थोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि विद्वच्छिरोमणि प० राजमल्लजीने वर्तनाका जो 'द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना' लक्षण किया है और हमने उसका जो 'द्रव्योंके अपने रूपमें सत्परिणामका नाम वर्तना है' हिन्दी अर्थ किया है दोनों ही सिद्धान्तसम्मत हैं—गलत नहीं हैं।

अब यह विचारके लिये शेष रह जाता है कि यदि सत्परिणमन वर्तना है तो परिणाम और वर्तनामें भेद क्या है ? क्योंकि काल द्रव्यके उपकारोंमें परिणाम और वर्तनाको जुदा जुदा बतलाया गया है ? इसका खुलासा इस प्रकार है—

प्रथम तो सामान्यतया वर्तना और परिणाममें कोई भेद नहीं है। क्योंकि वस्तुतः परिणाम आदि जो काल द्रव्यके उपकार बतलाये गये हैं वे वर्तनाके ही भेद हैं। जैसा कि आ० पूज्यपादके निम्न कथनसे प्रकट है।

"ननु वर्तनाग्रहणमेवास्तु तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्ग्रहणमनर्थकम्; नानर्थकम्; कालद्वयसूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य।" —सर्वार्थसि० पृ० १८६

यहाँ यह शंका उपस्थित की है कि एक वर्तनामात्रका ग्रहण करना पर्याप्त है। परिणाम आदि तो उसीके भेद हैं। अतः वर्तनाग्रहणसे उनका भी ग्रहण हो जायगा—उनका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है। इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं कि सूत्रमें उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ नहीं है। काल के दो भेदोंकी सूचना—ज्ञापन करनेके लिये प्रपञ्च विस्तार किया है। तात्पर्य यह कि पूज्यपादके लिये परिणाम आदि को वर्तनाके भेद मानना स्पष्टतः अभीष्ट है। दूसरे, सत्परिणमनको वर्तना माननेपर वर्तना और परिणाम दोनों एक नहीं हो जाते। प्रतिक्षण समस्त द्रव्योंका अपनी उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायोंमें जो वर्तन सत्परिणमन होता है वह तो वर्तना है। जैसा कि पूर्वोक्त विवेचन और सर्वार्थसिद्धिके उल्लिखित फुटनोटमें स्पष्ट है और पूर्वपर्यायके त्याग और उत्तरपर्यायके उत्पादरूप जो द्रव्यमें अपरिस्पन्दात्मक विकार—पर्याय होतो है उसे परिणाम कहते हैं। जैसा कि स्वयं पूज्यपादके ही निम्न कथनसे प्रकट है—

"द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामो जीवस्य क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः, धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः।"

पूज्यपादके अनुगामी अकलङ्क और विद्यानन्द भी अपना यही अभिप्राय प्रकट करते हैं[1]। यदि पं० वंशीधर जी इसी अध्यात्मकमल-मार्तण्डके उससे अगले ही पृष्ठ (८४) पर देखते तो उन्हें उन्हीं सत्परिणमनको वर्तना कहने वाले अध्यात्मकमलमार्तण्डकारके शब्दोंमें परिणामका भी लक्षण मिल जाता और फिर उन्हें उनकी एकताका भ्रम न होता। मैं उनके उस परिणामलक्षणको नीचे देता हूँ—

१ देखो, तत्त्वार्थवा० पृ० २२४ और तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ४१४।

"पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो योऽशुद्धशुद्धाह्वयः।"

अर्थात्—जीव और पुद्गलसे होने वाले शुद्ध और अशुद्ध परिणमनों—विकारोंको पर्याय—परिणाम कहते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकार जीव और पुद्गलजन्य पर्याय (विकार) को ही परिणाम कहते हैं, धर्मादिद्रव्योंके विकारको वे परिणाम नहीं मानते। जबकि तत्त्वार्थके सभी टीकाकारोंने द्रव्यविकारको परिणाम होनेकी ओर दृष्टि रखते हुए धर्मादिद्रव्योंके भी अगुरुलघुगुणकृत विकार स्वीकार किया है और उसे भी परिणाम कहा है। जो सिद्धान्ततः ठीक है। परन्तु अनुवादक मूलके साथ बंधा होनेसे उक्त पंक्तिका अर्थ भी वैसा ही दिया गया है। अस्तु। तात्पर्य यह कि द्रव्यपर्यायोंमें प्रतिसमय होने वाला परिणमन तो वर्तना है और वे द्रव्यपर्यायें परिणाम हैं। यही वर्तना और परिणाममें सिद्धान्तसम्मत भेद है। जिसपर पण्डितजीने सर्वथा ही ध्यान एवं विचार नहीं किया। यद्यपि यह ठीक है कि वर्तना शब्द णिजन्त है, किन्तु यह भी देखना चाहिए कि णिज् का अर्थ यहाँ क्या और कैसा सिद्धान्तकारोंके लिये विवक्षित है। सर्वार्थसिद्धिकारके णिजर्थसम्बन्धी पूरे अभिप्रायको यहाँ दिया जाता है—

"को णिजर्थः? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति इति; नैष दोषः; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषाऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।"

अर्थ—णिज्का अर्थ क्या है? द्रव्यपर्याय वर्त रही है, उसका वर्तानेवाला काल है। यदि ऐसा है तो कालके क्रियापना प्राप्त होजायगा। जैसे शिष्य पढ़ता है, उपाध्याय पढ़ाता है? यह कोई दोष नहीं; क्योंकि निमित्तमात्रमें भी कारणको कर्ता कह दिया जाता है। जैसे कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डेकी अग्निको पढ़नेमें निमित्तकारण होने मात्रसे कर्ता कहा गया है। इसी प्रकार स्वतः वर्त रही द्रव्यपर्यायोंके वर्तनमें काल निमित्तकारण होनेमात्रसे उसे वर्तयिता—वर्तनकर्ता (वर्तानेवाला) कहा है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'पढ़ाना' वस्तुतः उपाध्यायनिष्ठ ही है किन्तु निमित्तरूपसे कारीष-अग्निनिष्ठ भी माना जाता है उसी प्रकार वर्तना वस्तुतः समस्त द्रव्यपर्यायगत ही है फिर भी निमित्त होनेसे वर्तानाको कालगत भी मान लिया गया है। अतः वर्तनाका अर्थ मुख्यतः 'द्रव्यवर्तना' है और उपचारतः 'द्रव्योंको वर्ताना' है। सीधी द्रव्यवर्तनाका व्यवच्छेद करके एक मात्र 'द्रव्योंको वर्ताना' वर्तनाका अर्थ कदापि नहीं है। अन्यथा सर्वार्थसिद्धिकार **वर्तते द्रव्यपर्यायः,** इतने वाक्यांश को न लिखकर केवल **'द्रव्यपर्यायस्य वर्तयिता कालः'** इतना ही वाक्य लिखते। इससे स्पष्ट है कि *सत्परिणमन*को जो हमने वर्तना लिखा वह मूलकार एवं सिद्धान्तकारोंके न तो विरुद्ध है और न गलत ही है। केवल पण्डितजीके समझनेकी भूल है। अन्तमें एक बात जो पं० जीने यह कही है कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वका समर्थक कोई दूसरा हेतु मिल नहीं सकता उस सम्बन्धमें मुझे यह कहना है कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वकी साधक वह क्यों नहीं रहेगी? दूसरे द्रव्य जो उस सत्परिणमनरूप वर्तनामें उपादान ही होंगे निमित्त कारण रूपसे, जो प्रत्येक कार्यमें अवश्य अपेक्षित होता है, कालकी अपेक्षा होगी ही और इस तरह वर्तनाके द्वारा निमित्तकारणरूपसे कालकी सिद्धि होती ही है। यदि इस रूपमें वर्तनाका अर्थ वर्ताना इष्ट हो तो उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। सत्परिणमन भी वहां वर्तना रूप ही विवक्षित होसकता है। यहां हम यह भी कहदेना चाहते हैं कि 'वर्तनाहेतुत्व' नहीं किन्तु वर्तना पूज्यपाद[1] और अकलङ्कदेवके[2] अभिप्रायसे कालका असाधारण गुण और विद्यानन्दके[3] अभिप्रायानुसार पर्याय माना गया है। आशा है जैनगजटके सम्पादकजी इस विवेचनके प्रकाशमें अपनी भ्रान्तिको दूर करलेंगे, और वैसा अपने पत्रमें प्रकट कर देंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

८-५-४५

१ देखो सर्वार्थसिद्धि पृ० २००।

२ तत्त्वार्थवार्तिक पृ० २४३।

३ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४३७।

हमारी शिक्षा-समस्या

(लेखक—प्रा० प्रभुलाल 'प्रेमी' पोहरी)

आजके भारतमें प्राचीन गुरुता, महानता, गौरवता और सुखसम्पन्नता लानेके लिये अनेक समस्याओंको सुलझाना पड़ेगा। उनमें सबसे प्रमुख समस्या जिसे, 'एके साधे सब सधे' कह सकते हैं वह शिक्षा-समस्या ही है। सर्व प्रथम हमें सच्ची शिक्षाका पारिभाषिक ज्ञान होना आवश्क है।

शिक्षा—जिसके द्वारा बालकके शरीर मन और आत्मा का अधिक सुन्दर सुखद और उल्लासमय विकास हो उसे हम शिक्षा कह सकते हैं। सच्ची शिक्षा वही है जिसे पाकर मनुष्य अपने शरीर, मन और आत्माके उत्तम गुणोंका सर्वाङ्गीण विकास कर सके और उन्हें प्रकाशमें लासके। शिक्षा यांत्रिक वस्तु नहीं है। किसीको यंत्रकी तरह पढ़ा लिखाकर उसे सच्चे अर्थोंमें शिक्षित नहीं बना सकते। शिक्षाका अर्थ है समाजकी कटीली डालोंके कांटोंको छीलछाल कर चिकना बना देना, अनुचित तथा हानिकारक पद्धतियोंको समाजसे बीन २ कर निकाल देना, स्नेहका बीज बोना, विश्वबन्धुत्वकी बेल सींचना, मानसिक निर्बलताओंको तिलाञ्जलि देना, साहसिकता तथा वीरताको अमर बनाना और मनुष्यके हृदयको जागृत करके उसे मानवसमाजका एक उपयोगी अंग बनाना। यही वास्तविक शिक्षाका कर्तव्य है। जो शिक्षा केवल दूसरोंके ऊपर बोझ होनवाले अकर्मण्य आदमी पैदा करती है, चाहे वे अमीर हों या गरीब, सब तरहसे बुरी है। ऐसी शिक्षा समाजकी काम करने और पैदा करनेकी शक्तिको ही हानि नहीं पहुंचाती बल्कि लोगोंमें एक भयंकर अनैतिक मनोवृत्ति पैदा करती है।

प्राचीन गौरव—प्राचीन भारत उन्नति-सुमेरु कहा जाता था, उसका कारण केवल यही है कि उस समय यहां वास्तविकशिक्षाकी कमी न थी। शिक्षाधिकारियोंको ही शिक्षा देनेका अधिकार था। गुरुकुलोंमें गुरु शिष्योंको अपने निजि आदर्शों द्वारा ऐसी शिक्षा देते थे जिससे उनका इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण होसके। यही कारण था कि उस समय मनुष्योंकी कौन कहे, देवगण भी भारतमें जन्म धारण करनेके लिये सदैव लालायित रहते थे। इस विषयमें निम्न वाक्य भूलने योग्य नहीं हैं।

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्य च हेतुभूते;
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

प्रोफेसर हेरिन्सने भारतके सम्बन्धमें अपनी विचारधारा इस प्रकार प्रकट की है—

"India is the source which not only the rest of Asia but the whole western world derived their knowledge and their religion"

अर्थात्—भारतखंड वह उद्गम स्थान है, जहाँसे न केवल सम्पूर्ण एशियाने ही, अपि तु समूचे पाश्चात्य संसारने ज्ञान तथा धर्मका पाठ सीखा।"

पाश्चात्य-सभ्यताभिमानी प्रोफेसर मैक्समूलरने भारत की विद्या और वैभवका क्या ही अनूठे शब्दोंमें वर्णन किया है—

"If I were to look over the whole world to find out country most richly-endowed with all the wealth, power and beauty that nature bestowed in some parts-a very paradise on earth, I should point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed on the greastest problems of life, and found solution of some at them which will

deserve the attention even of those who have Plats and Kant, I should point to India".

अर्थात् यदि मैं ऐसे देशको खोजूं, जिसे प्रकृतिने समस्त वैभव शक्ति तथा सौन्दर्य प्रदान किया है, जिसे पृथ्वीपर स्वर्गरूपमें निर्मित किया है, तो मैं भारतकी ओर इङ्गित करूंगा। यदि मुझसे प्रश्न किया जावे कि किस व्योम मण्डलके नीचे मानव मस्तिष्कने अपनी शक्तियोंका विकास किया है, जीवनकी महत्त्वपूर्ण समस्याओंपर विवेचन कर उनमेंसे कितनों हीके ऐसे समाधान खोज निकाले हैं, जिनकी ओर उनका भी ध्यान आकर्षित होगा, जिनके पास प्लेटो तथा कांट हैं तो मैं भारतकी ओर इङ्गित करूंगा।

जिस भारतके सम्बन्धमें पाश्चात्य लोगों तकके ऐसे उद्-गार निकलते हैं, आज उसका इस प्रकार अधःपतन देख ऐसा कौन पाषाण हृदय भारतीय होगा, जिसकी आंखोंसे अश्रुधाराका अविरल स्रोत न उमड़ पड़ता हो। इस सबका एकमात्र कारण यही है कि उस समय शिक्षा आजकी तरह पैसोंसे बाज़ारू भाव क्रय-विक्रय नहीं की जाती थी। गुरु अपने ही आश्रमोंमें ब्रह्मचारियोंको रखकर उनकी पात्रता और योग्यताके अनुसार ही स्वावलम्बी शिक्षा देते थे।

"Knowledge without character is sin" अर्थात् बिना सदाचारके विद्या पाप है, और "आचारहीनान् पुनन्ति वेदाः" इन्हीं बातोंको शिक्षाका आधारभूत समझा जाता था। उस समय मैडागास्कर और गोबीका रेगिस्तान, क्लाइवकी कपटनीति और नादिरशाहके हमले आदि बातोंको कटुताके साथ रटाकर पास करा देनेको प्रथा प्रचलित नहीं थी। हां गुरु सदा सत्य बोलो, कभी क्रोध मत करो, किसी जीवको मत सताओ, मधुर भाषण करो, परनिन्दासे बचो, संयमी बनो आदि वाक्य पट्टियोंपर लिख देते थे। उन्हींको हृदयंगम कर जीवनमें आचरण करना यही परीक्षाकी कसौटी थी। गुरुओंकी दिन-चर्या, व्यवहार और नीति शिक्षाके उच्चतम आदर्श थे।

यदि आज वास्तवमें ही हमें अपनी दशापर दुःख है, यदि हम सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें उसी शिक्षण-पद्धतिको अपनाना होगा। नीतिमें बतलाया है कि—

"येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति"॥

इसमें सर्व प्रथम गुण विद्या ही मनुष्यत्व प्राप्तिका लक्षण बतलाया गया है। अन्य गुण सच्ची विद्या प्राप्त होनेपर स्वतः ही आजाते हैं। विदुरजीने तो यहां तक कहा है कि "कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः"। अतः संसारमें अपना अस्तित्व कायम रखने और प्राचीन गौरवकी रक्षा करनेके लिये वर्तमान दूषित शिक्षा और शिक्षाप्रणाली दोनोंको ही परिवर्तित करना होगा। शासकवर्गने अपनी स्वार्थ-साधनाके हेतु, आजकी शिक्षा और उसकी दूषित पद्धतिको प्रसारित कर हमें हमारे देशको और समाजको किस प्रकार अकर्मण्य, अपंग और अपने ही हाथकी कठपुतली बना डाला, विज्ञ पाठक इसकी अनुभूतिसे वंचित न होंगे।

शिक्षामें दोष—आजकी शिक्षामें सदाचारके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं है, इसके विपरीत कभी २ तो हम उन शिक्षकोंको जिनके हाथोंमें राष्ट्र निर्माता बालकोंका भावी भविष्य अवलम्बित है, विद्यार्थियोंकी कुत्सित प्रव-त्तियोंको प्रोत्साहित करते देखते हैं।

वर्तमान शिक्षा-प्रणालीने देशके नवयुवकों, हिन्दुस्तानकी भाषाओं और देशकी सर्वमान्य संस्कृतिको जो अपार हानि पहुंचाई है वह लिखनेका नहीं, अनुभव करनेका विषय है। आज जिस शिक्षा-पद्धतिका दौर-दौरा है उसमें पूर्ण शक्ति किताबी पढ़ाईमें ही व्यय कर दी जाती है और उसके द्वारा केवल दूसरोंके अनुभवों, दूसरोंकी कल्पनाओं और दूसरोंके तर्कोंको ही रटानेकी रीति प्रचलित है। इसमें मानव-जीवन और उसकी परिस्थितियोंका कोई स्थान ही नहीं रक्खा जाता। इने गिने वैज्ञानिकोंने भले ही कुछ अद्भुत आवि-ष्कार किये हों लेकिन सर्व-साधारणकी शिक्षाका आधार तो थोथी किताबोंका बोझा ही रहा है। जिस अवस्थामें बालकोंकी सर्वशक्तियोंका विकास होता है और सदाचारकी नींव डाली जाती है उसी अवस्थामें परावलम्बी और पराश्रित शिक्षा प्राप्त करनेसे समूचे राष्ट्रकी कितनी बड़ी हानि हो रही है, इसका कोई विचार ही नहीं करता। भारतमें आयुका औसत जहां २३ वर्ष है वहां स्त्री अथवा पुरुषको अपने

जीवनके २०, २५ वर्ष इस शिक्षा-पद्धतिके कारण इस प्रकार निरुद्देश बिताने पड़ते हैं, फिर उनमें दीर्घसूत्रता, संशयवृत्ति, अनिश्चितता और अपने आप किसी निर्णय पर पहुंचनेकी अक्षमता आना स्वाभाविक ही है। इतना ही नहीं परिणामतः जीवनक्षेत्रमें अवतीर्ण होने पर अधिकांश लोग व्यावहारिक ज्ञानसे सर्वथा शून्य पाये जाते हैं।

विद्यार्थियोंको पात्रता, अपात्रता तथा किसी विषय-विशेषके लिये अभिरुचि, अनभिरुचि, योग्यता अयोग्यता का विचार किये विना ही श्रेणीबद्ध रूपमें पढ़ाया जाता है, जो कि देश तथा समाजके लिये महान् घातक है।

उन नवजाति बालकोंकी प्राथमिक शिक्षाका जो राष्ट्रकी भावी आशाएँ हैं, और जिनके गुलाबी चहरोंपर भावुकता, कर्मण्यता और उच्चाकांक्षाओंकी रेखायें सदैव अठखेलिया किया करती हैं, जो कि राष्ट्र व समाजके सच्चे निर्णायक तथा भावी शिक्षक व पिता हैं, उचित ध्यान नहीं रखते हैं। बाल-शिक्षाका कार्य अयोग्य शिक्षकोंके हाथमें देकर हम उन बालकोंके जीवनोंको ही नहीं बिगाड़ते, किन्तु भविष्यमें अकर्मण्यता, कुसंस्कारिता और अयोग्यताको जन्म देकर उनका अविरोध स्वागत करते हैं।

यह है आज हमारी सरकारी शालाओं और महाविद्यालयोंकी शिक्षाका हाल। फिर हमारी सामाजिक और धार्मिक विद्यापीठों, आश्रमों, कन्याशालाओं, विधवाश्रमोंकी शिक्षा, पारस्परिक व्यवहार, गुरु-शिष्य-भक्ति, एकांगीपन, शिक्षण-विभिन्नता, कार्यकर्ताओंकी स्वार्थ-नीति आदि बातों का स्पष्ट प्रदर्शन करनेमें अनुभूतिप्राप्त हृदय सकुचाता है, लेखनी रुक जाती है। आज इनमें क्या होरहा है। लक्ष्य और लक्ष्यपूर्तिमें कितना अन्तर है!! इसपर धार्मिक और सामाजिक शालाओंके शिक्षादाता महानुभाव एकाग्रचित्त हो शांतिसे विचारें। साथ हो अपने परम पवित्र पद और महान उत्तरदायित्वका स्मरण कर, पश्चात्तापक आंसूओंसे अपनी भूलोंको धोनेका प्रयत्न करें। उन्हें निजत्वके भान और पदमहानताके गौरवमें सत्यपथकी झलक स्वय ही दृष्टिगोचर होने लगेगी।

सुधारयोजनाएँ—बालशिक्षाका कार्य जहां तक बन सके पुरुषोंकी अपेक्षा माताओंको देना चाहिये। क्योंकि वे प्रेमकी प्रतिमा, दयाकी मूर्ति, सहिष्णुताकी देवी और करुणाका भंडार होती हैं, और उनका प्रभाव भी बालकों पर चिरस्थायी होता है। माताओंके अभावमें यदि यह काम पुरुषोंको ही दिया जाय, तो सबसे योग्य अनुभवी और सदाचारप्रिय शिक्षकको ही देना चाहिये। छोटे बच्चोंके शिक्षा देनेके महत्वपूर्ण व गूढ विषयपर उसकी महत्ताके अनुकूल ही ध्यान देना चाहिये। नन्हे शिशुओंकी अवस्था एक कोमल उगते हुए पौदेके समान है, जिसकी भली-भांति रक्षा न करनेपर वह दूषित वातावरणमें प्रभावित होकर भलीभांति फलफूल नहीं पाता। बालकोंकी शिक्षाका प्रारम्भ ही चारित्रिक और धार्मिक शिक्षा द्वारा करना चाहिये। क्योंकि भावी समाजकी विशाल इमारत इसी नींवपर रक्खी जा सकेगी। बालिकाओंकी शिक्षापर हमें विशेष ध्यान देना चाहिये। उन्हें बाल्यकालमें ही धार्मिक, गार्हस्थिक और समाजोपयोगी शिक्षा देकर इस योग्य बना देना चाहिये, कि भविष्यमें हमारी सन्तानें बिना विशेष प्रयासके ही सुसंस्कारी और धार्मिक उत्पन्न होसकें।

हमें शिक्षणपद्धतिमें मातृभाषाको प्रधानता देनी चाहिये। अन्तरप्रान्तीय-विचारविनिमय और संगठनके लिये अपने देशकी एक भाषा बनाना चाहिये और वह हिन्दी है। ग्रामोंकी अधिकांश जनसंख्याका ध्यान रखकर शिक्षामें शहरकी अपेक्षा ग्रामीण संस्कृतिकी प्रधानता रखनी चाहिये तथा उनकी आवश्यकताओं और दरिद्रताओंको देखते हुए स्वावलम्बनी ही शिक्षा देनी चाहिये। शिक्षाका माध्यम अंग्रेजी नहीं रखना चाहिये और जो विद्यार्थी विना अंग्रेजी लिये अपनी शिक्षा पूरी करना चाहें, उनपर अंग्रेजी का भार नहीं लादना चाहिये। वर्धा-शिक्षा-प्रणालीके अनुसार हमें शिक्षाशालाओंमें औद्योगिक शिक्षणको अवश्य स्थान देना चाहिये। पर उसमें विद्यार्थियोंकी रुचियोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये। इतिहास, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र आदि सांस्कृतिक विषय भारतके इतिहाससिद्ध सर्वोच्च आदर्शोंकी ही दृष्टिसे सिखाये जाने चाहिये। जिनमें जिन वीरोंने मनुष्यको पशुताकी ओरसे मानवताकी ओर लानेकी कोशिश की है, उनकी शांतिमय विजय कहानियों का ही पाठ्य-क्रममें प्रधान स्थान हो मानवजातिके इतिहाससे उदाहरण लेकर यह बार बार दिखाना चाहिये कि कपट, हिंसा, फूट, अन्याय, कुशील आदिसे सत्य, अहिंसा,

निष्कपटता, न्याय, शील, संयम, तप, त्याग आदि गुणोंमें ही अधिक शक्ति है। इससे उनका जीवन धार्मिक और पवित्र बन सकेगा। धार्मिक ग्रन्थोंके प्रातःस्मरण तथा धार्मिक कथाओं द्वारा भी उनकी रुचि जागृत करते रहना चाहिये।

विचार कितने ही क्यों न जगें, जब तक वे क्रियात्मक होकर फलप्रद नहीं होते, उनका कोई मूल्य नहीं माना जाता। यही बात भावनाओं और अनुभूतिकी शिक्षाके सम्बन्धमें कही जा सकती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि देशके नवयुवक सच्चरित्र और कर्मठ बनें। शिक्षाके द्वारा उनके चरित्रका ऐसा निर्माण किया जाय कि व्यवहारिक कार्य करनेकी और कुछ सेवा करनेकी शक्ति पैदा हो। आज ऐसे नागरिकोंकी आवश्यकता है जो परिस्थिति और संयोगोंके कारण किसी भी क्षेत्रमें क्यों न पड़े हों वहां भी कुछ न कुछ उत्तम रचना करके जगतमें ही मंगल कर सकें। शिक्षा या अध्ययनके प्रत्येक विषयका ध्येय सदाचार ही होना चाहिये। शिक्षकोंको सब विषयोंकी शिक्षा ऐसी पद्धतिसे देनी चाहिये, जिससे विद्यार्थीके चरित्र का विकास हो; क्योंकि व्यक्ति या राष्ट्र दोनोंके लिये चरित्र ही एकमात्र जीवनका निश्चित आधार है।

शिक्षाका आदर्श केवल धनप्राप्ति या प्रतिष्ठाप्राप्ति न हो देश व समाज-सेवा ही उनका आदर्श रहे। सादगी पवित्रता, लोकसेवा, सर्वधर्म-समभाव और उच्चचरित्रकी उसमें प्रधानता हो। सभी धर्मोंके समान और आदर्श तत्त्व प्रत्येक बालकको सिखाये जाने चाहियें। ये तत्त्व पुस्तकों अथवा शब्दों द्वारा नहीं सिखलाये जा सकेंगे। इन तत्त्वोंको बालक गुरुके दैनिक जीवन-द्वारा ही सीख सकेंगे। यदि शिक्षक न्याय, तप, सत्य, परोपकार, दया और त्यागके आधारपर जीवनयापन करें तो यह आसानीसे सीख सकेंगे कि ये तत्त्व सभी धर्मोंके आधार हैं।

सुविधानुकूल एक एक प्रान्त अथवा जिलेमें प्रतिवर्ष कमसे कम दो माहका शिक्षणशिविर खोलना चाहिये। उसमें देश अथवा समाजके लिये सर्वस्व अर्पण कर देने वाले महापुरुषोंके पूर्वनिश्चित विषयोंपर भाषण कराने चाहिये, जिससे शिक्षक लोग अनुभव व ज्ञान संपादन कर सकें तथा उनके जीवनोंसे स्फूर्ति ले सकें।

शिक्षकोंसे निवेदन—आप ही विश्वके सच्चे पथ-प्रदर्शक और अगुआ हैं। "आचार्यः परमः पिता" तथा "यथा गुरुस्तथा शिष्यः" इन सिद्धान्तोंके आधारपर किसी भी राष्ट्र अथवा समाजका भावी भविष्य आपके चरित्र और आदर्शपर अवलम्बित है। आपको अपने ही निजी आदर्श से शिक्षा और सदाचारकी विशाल इमारत खड़ी करनी होगी। जो अकर्मण्य हैं, प्रमादी हैं जिनसे संसारमें कोई काम करते धरते नहीं बनता, वे ही लोग शिक्षकके आसन पर आसीन हो जाते हैं, इस भ्रान्तिमूलक लोकविश्रुत, जनश्रुतिको आपको अपने अनवरत अध्यवसाय, अटूट लगन और अखंड कार्यसाधना द्वारा मिटाना होगा। "सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं विशिष्यते"। आपको अपने पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोदयसे यही सर्वश्रेष्ठ विद्यादान देनेका सौभाग्य प्राप्त होगया है। आप विश्वास रक्खें—"गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु लिंगं न च वयः"। यदि आज नहीं तो कल आप के गुणोंके लिये आपकी और आपके आदर्शकी पूजा अवश्य होगी। आपकी इस महती सेवा, सच्चे त्याग और श्रेष्ठ दानका मूल्य मुद्राओंके द्वारा चुकाया नहीं जा सकता। यह आपकी दानरूपी शुभ कृत्योंकी धरोहर भविष्यमें स्वतः ही प्राप्त होगी। आपको इस महती सेवाके बदले जितना भी कम पारिश्रमिक मिलेगा, आप अपने द्वारा उतनी ही अधिक देशको आर्थिक सहायता पहुंचा सकेंगे, साथ ही प्रकृतिकोषमें भविष्यके लिये संचय भी होगा। मानवीय अश होनेके नाते जब कभी आप लोगोंको लोभादि आवरण घेरने लगे, दरिद्रता सताने लगे, अथवा किसी अन्य परीषह द्वारा आपकी परीक्षाका सुअवसर उपस्थित होजावे तो आप अपने ही उस परम पवित्र और महान पदका ध्यान कीजियेगा, जिसपर आसीन हैं। "Where there is will there is way, where there is sorrow there is holy ground, someday man will understand it". अर्थात् जहां इच्छा है वहां अवश्य रास्ता मिलता है। जहां दुःख है वहीं पवित्र भूमि है, मनुष्य एक दिन इसे समझेगा। इस सिद्धान्तपर अटल विश्वास रखियेगा। कहा है—

धनहीनो न हीनश्च, धनिकः स सुनिश्चयः।
विद्यारत्नेन हीनश्च स हीनः सर्ववस्तुषु॥"

धनहीन दरिद्र नहीं होता, पर जिसके पास विद्यारत्न नहीं है, अथवा जो विद्या जैसे रत्नको पाकर उसके आलोक से आलोकित नहीं करता वही दरिद्र है! नीतिने तो यहाँ तक कहा है कि—"यस्यास्ति सद्ग्रन्थविमर्शभाग्यं, किं तस्य शुष्कैश्चपलाविनोदैः"। अर्थात् जिस भाग्यशालीको उत्तमोत्तम ग्रन्थोंका अनुशीलन करनेको मिल जाता है उसके लिये लक्ष्मीके शुष्क विनोद किस कामके। सच तो यह है कि जो महानुभाव अर्थ-संग्रह करना चाहे, अथवा उसमें विशेष ममता है, उन्हें इस महान् त्याग और कठिन तपश्चर्या को परीक्षासे पृथक रहनेका प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि आजकी धारा विपरीत बह रही है। पर धाराके साथ बह जानेमें आनन्द और आत्मोल्लास नहीं है। धाराके वेगको पराजित कर अपनेको ऊंचा उठानेमें ही आनन्द है।

वीर-सेवा-मन्दिरमें वीरशासन-जयन्तीका उत्सव

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर सरसावामें श्रावण-प्रतिपदा और द्वितीया ता० २५-२६ जुलाई सन् १९४५ दिन बुधवार-बृहस्पतिवारको वीरशासन-जयन्तीका उत्सव बड़े आनन्द और समारोहके साथ मनाया गया। ता० २५के प्रात प्रभातफेरी निकली और उसके बाद झंडाभिवादन हुआ। मध्याह्नके समय गाजे बाजेके साथ जलूस निकला। जलूसके बीच बीचमें जलूसका प्रयोजन और जल्सेकी घोषणा एवं वीरशासनका महत्व बतलाया जाता था। देहली अनाथालय की भजनमंडलीके आनेका वचन मिल जानेपर भी ठीक मौकेपर जब कि दूसरी भजनमंडलीका प्रबन्ध नहीं हो सकता था, निषेधात्मक पत्र आजानेसे लोगोंमें उनके इस वचनभंगके प्रति असन्तोष जरूर रहा। इस लिये जलूसमें उतना आनन्द नहीं आ पाया। फिर भी जल्सेका का कार्य दोनों ही दिन और प्रथम रात्रिको बड़े अच्छे ढंगसे सम्पन्न हुआ। जल्सेके मनोनीत सभापति थे जैन समाजके सुप्रसिद्ध श्रीमान् बाबू जयभगवानजी वकील पानीपत।

उत्सवमें स्थानीय भाईयोंके अतिरिक्त बाहरसे—देहली, पानीपत, मुलतान, मथुरा, सहारनपुर, जगाधरी, अब्दुल्लापुर और नानौता आदि स्थानोंसे अनेक सज्जन पधारे थे। जिनमें बा० जयभगवानजी वकील, ला० जुगलकिशोरजी कागजी (मालिक फर्म ला० धूमीमल धर्मदास चावड़ी बाजार देहली), बाबू पन्नालालजी अग्रवाल, बाबू विमलप्रसादजी, पंडित परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ सह सम्पादक 'वीर', स्वामी कर्मानन्दजी, पंडित शंकरलालजी न्यायतीर्थ, बाबू कौशलप्रसादजी, बाबू नेमीचंदजी वकील, बाबू रतनचंदजी मुख्तार, लाला उदयराम जिनेश्वरदासजी, लाला रूढामलजी शामियानेवाले, मुंशी सुमतिप्रसादजी अमीन, ला० मिहरचन्दजी, ला० इंद्रसेनजी टिम्बर मरचेन्ट, ला० पदमप्रसादजी, ला० सुमतिप्रसादजी और गायक मा० पाधाके नाम उल्लेखनीय हैं। विशेष खुशीकी बात यह है कि पूज्य न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीके अन्यतम शिष्य ब्र० मनोहरलालजी न्यायतीर्थ भी सहारनपुरसे सम्मिलित हुए थे। महिला-समाजमें श्रीमती पंडिता जयवन्ती देवी, श्री० गिरनारीदेवी (ध० प० ला० जुगलकिशोरजी देहली), श्री० कुमारी विमलावती (सुपुत्री बा० जुगलकिशोरजी) और श्री० भगवतीदेवी सहारनपुर आदि पधारी थीं।

मंगलाचरण और सभाध्यक्षके चुनावके बाद भाषणादिका कार्य प्रारंभ हुआ। प्रथमतः स्थानीय जैन कन्या पाठशालाकी चार बालिकाओंका सुन्दर गायन हुआ। इसके बाद प० जुगलकिशोरजी मुख्तार, प० परमेष्ठीदासजी, न्यायतीर्थ, स्वामी कर्मानंदजी, ब्र० मनोहरलालजी वैद्य रामनाथजी बा० कौशलप्रसादजी, बा० त्रिलोकचंदजीके प्रभावक भाषण हुए। मुख्तार सा०ने अपना 'महावीर संदेश' सुनाया और उसका भाव जनताको समझाया। मुख्तार सा० जब 'यही है महावीर संदेश' पद बोलते थे तो उधरसे महिलायें 'अहा! क्या खूब दिया उपदेश, धन्य यह महावीर संदेश' पद बोलती थीं जो बड़ाही सुन्दर जान पड़ता था। पं० परमेष्ठीदासजीने एक आलोचनात्मक अपना वक्तव्य दिया। उनके वक्तव्यसे लोगोंमें कुछ असन्तोष

हुआ जिसके लिये सभापतिजीने पत्रकारकी नीति बतलाते हुए सबमें क्षमा-याचना की और कहा कि हमारे अन्दरसे बुराईयां दूर होनी चाहिएँ। बा० कौशलप्रसादजीने वीर-शासन-जयन्ती उत्सवको व्यापक रूपसे मनानेके लिये स्थानीय समाजमें प्रेरणा की। स्वामी कर्मानंदजीका बहुत हृदयग्राही सरल भाषामें वीरशासनके सम्बन्धमें भाषण हुआ।

आपने बतलाया कि जब महावीर आये थे तब सब त्राहि त्राहि करते थे। मत-मतांतर काफी फैले हुए थे। भ० महावीरने धर्मका प्रचार त्याग और उपदेशसे किया था। वृक्षकी तरह हमें अन्तरंग और बहिरङ्ग दोनों ही तरह की उन्नति करनी चाहिये। आज हम केवल बाहरसे ही अपनी उन्नति करनी चाहते हैं, अन्तरंगसे नहीं। हम द्रव्य हिंसाको ज्यादा महत्व देते हैं भावहिंसाको नहीं। आपने स्याद्वाद आदि विषयोंपर भी सुन्दर विवेचन किया। इसके बाद स्थानीय कवि ओमप्रकाशजी शर्माकी 'वीरशासन जयन्ती' के सम्बन्धमें बहुत ही भावपूर्ण ओजस्वी कविता (जो इसी अंकमें अन्यत्र प्रकाशित है) हुई।

ब्र० मनोहरलालजीने अपने महत्वपूर्ण व्याख्यानमें चारित्रपर विशेष जोर दिया। वैद्य रामनाथजी शर्माने बतलाया कि भ० महावीरकी अनेक विशेषताओंमें एक विशेषता अहिंसा है, जिसे उन्होंने असली जीवन बनाया। यद्यपि अहिंसा भ० महावीरके पहिले भी थी परन्तु उसका पूर्णत विस्तार और व्यापकता उन्होंने की। अहिंसाको आपने तलवार बतलाया और कहा कि आप यदि अहिंसा मानते हैं तो उसका ड्रेस भी पहिनना चाहिये। अन्तमें आपने वीरशासन-जयन्तीके उद्गमका सौभाग्य सरसावाके होनेपर प्रसन्नता प्रकट की। कुमारी विमलावतीका हारमोनियमपर सुन्दर संगीत हुआ। अन्तमें मा० पाधाजीका हारमोनियमके साथ त्यागपर गायन होकर शामके लिये सभाका शेष कार्य स्थगित कर दिया गया।

६॥ बजे रात्रिको पुनः बा० जयभगवानजीकी अध्यक्षतामें आम जलसा हुआ। जिसमें स्वामी कर्मानन्दजीका प्रभावशाली भाषण, मा० पाधाका उपदेशी गायन और सभापतिजीका महत्वपूर्ण अभिभाषण आदि हुए। रात्रिके इस जलसेमें दिनकी अपेक्षा ज्यादा उपस्थिति थी और सभी वर्गके लोग समानभावसे सम्मिलित थे। सभापतिजीने जैनपुरातत्वपर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला। बतलाया कि बारडोली (मारवाड) में वीर सं० ८४ का एक प्राचीन लेख प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि उस समय वीर सवत्का व्यापक प्रचार हो ही चुका था। साथमें भ० महावीरका उपदेश भी विहार प्रान्तके बाहर मारवाड जैसे दूरवर्ती प्रदेशोंमें विस्तृत रूपसे फैल चुका था। इस तरह सभापतिजीका पूरा ही भाषण बहुत ही महत्वपूर्ण हुआ। इसके बाद धन्यवादपूर्वक प्रथम दिनकी कार्रवाई समाप्त की गई।

दूसरे दिन इधर महिला समाजकी एक बजे दिनसे श्रीमती गिरनारी देवीजीकी सभाध्यक्षतामें लगातार चार पांच घंटे अच्छे रूपमें सभा हुई, जिसमें अध्यक्षाजीके अलावा श्रीमती पंडिता जयवन्ती देवी, श्री फूलवाई (अध्यापिका जैन पाठशाला सरसावा) कुमारी शांतिदेवी, कुमारी पुष्पा, कौशलकुमारी, शीलादेवी, किरणलता, कुमारी विमलावती (अध्यक्षाजीकी सुपुत्री) श्रीभगवतीदेवी सहारनपुर, श्रीमती सौ० चमेलीदेवी, श्रीमती सौ० इन्दुकुमारी हिन्दीरत्न आदिने भाग लिया। इस सभामें दो कार्य विशेष हुए। एक रेशमके कपड़े पहिननेका त्याग और दूसरा, परिवारमेंसे किसीकी मृत्यु हो जानेके उपरान्त ६ महीने तक मन्दिरजी न जानेकी कुप्रथाका त्याग। अध्यक्षाजीने स्थानीय जैन कन्या पाठशालाके लिये २१) और कुछ महिलाओंने १४) फुटकर प्रदान किये। इस तरह महिलासभा भी महत्वपूर्ण हुई। उधर ३ बजेसे ६ बजे तक बा० जयभगवानजी, मुख्तार सा०, पन्नालालजी, ला० जुगलकिशोरजी, ला० रूड़ामलजी सहारनपुर, पं० परमानंदजी और मैं इनकी एक मीटिंग हुई। उसमें परस्पर विचार-विनिमय हुआ। इस तरह वीरशासनजयन्तीका यह दोनों दिनका उत्सव बहुत आनंद और भगवान महावीरके शासनकी जयध्वनिके साथ समाप्त हुआ।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा — दरबारीलाल जैन कोठिया

जैनजातिका सूर्य अस्त !!

उस दिन २१ सितम्बरको, जब मैं सहारनपुर जा रहा था, मुझे दो कोने कटे पत्र एक साथ मिले—एक चिरंजीव कुलवन्तरायका और दूसरा चिरञ्जीव सुखवन्तरायका। दोनों सुहृद्वर बाबू सूरजभानजी वकीलके पुत्र, और दोनोंके पत्रों में एक ही दु:समाचार—'१६ सितम्बरको पूज्य पिताजीका स्वर्गवास हो गया!' मैं देखकर धकसे रह गया!! सहारनपुर गया ज़रूर, परन्तु चिरसाथीके इस वियोग-समाचार से चित्तको ऐसा धक्का लगा कि वह उदास हो रहा और उससे उत्साहके साथ कुछ करते धरते नहीं बना—जैसे तैसे वहांके कामको निमटाकर चला आया। आकर पं० दरबारीलालजीपर इस दु:खद समाचारको प्रकट किया और बाबूजीके गुणोंकी कुछ चर्चा की। पं० परमानन्दजी नजीबाबाद गये हुए थे—उन्हें सहारनपुरसे ही इस दुर्घटनाकी सूचनाका पत्र दे दिया था। रातको जल्दी ही सोनेके लिये लेटा और इस तरह चित्तको कुछ हलका करना चाहा, तो बाबू साहबकी स्मृतियोंने आ घेरा—चित्रपटके ऊपर चित्रपट खुलने लगे, उनका तांतासा बँध गया, मैं परेशान होगया और तीन बज गये! आखिर जीवनके अधिकांश भागका सम्बन्ध ठहरा, इस अर्सेमें न मालूम बाबूजी-सम्बन्धी कितने चित्र हृदय-पटलपर अंकित हुए हैं, कितने उनमेंसे हृदयभूमिमें दबे पड़े हैं, कितने विस्मृतिमें घिस घिसकर मिट गये अथवा धुँधलेपड़ गये हैं और कितने अभी सजीव हैं, कुछ समझमें नहीं आता! चित्र-पटोंके आवागमनको रोकनेकी बहुत चेष्टा की परन्तु सब व्यर्थ हुई। अन्तको निद्रादेवीने कुछ कृपा की और उससे थोड़ीसी सान्त्वना मिली।

आज उसी दु:खद समाचारको अनेकान्तमें प्रकट करने का मेरे सामने कर्तव्य आन पड़ा है! मैं सोचता हूँ—श्रद्धेय बाबू सूरजभानजीके सम्बन्धमें क्या कहूं और क्या न कहूं? उनका शोक मनाऊँ या उनका यशोगान गाऊँ, उनके गुणोंका कीर्तन करूँ या उनके उपकारोंकी याद दिलाऊँ, उनके कुछ संस्मरण लिखूँ या उनके जीवनका कोई अध्याय खोलकर रक्खूँ, उनके ज्ञान-श्रद्धानकी चर्चा करूँ या उनके आचार-विचार पर प्रकाश डालूँ, उनके स्वभाव परिणाम तथा लोकव्यवहारको दिखलाऊँ अथवा उनके जीवनसे मिलने वाली शिक्षाओंका ही निदर्शन करूँ? चक्करमें हूँ कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ!!

फिर भी मैं अनेकान्तके पाठकोंको इस समय सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि आज जैन जातिके उस महान सूर्यका अस्त हो गया है:—

जो अन्धकारमें खड़ा, जिसने अन्धकारको परास्त किया, भू-मण्डलपर अपने प्रकाशकी किरणें फैलाईं, भूले भटकोंको मार्ग दिखलाया, मार्गके कांटों तथा कंकर-पत्थरोंको सुझाया, उन्हें दूरकर मार्गको सुधारने और उसपर चलनेकी प्रेरणा की।

जिसने लोकहितकी भावनाओंको लेकर जगह जगह भ्रमण किया, समाजकी दशाका निरीक्षण किया, उसकी खराबियोंको मालूम किया और उसमें सुधारके बीज बोए।

जिसने मरणोन्मुख जैनसमाजकी नब्ज़-नाड़ीको टटोला, उसके विकार-कारणोंका अनुभव किया उसकी नाड़ियोंमें रक्तका संचार किया और उसे जीना सिखलाया।

जिसने जैनजागृतिको जन्म दिया, सोते हुओंको जगाया, उन्हें उनके कर्तव्यका बोध कराया और कर्तव्यके पालनमें निरन्तर सावधान किया।

जिसके उदित होते ही जैन कमलवनोंमें हलचल मच गई—मुद्रित पकजोंने निद्रा त्यागी, आलस्य छोड़ा, वे विकसित हो उठे; अविकसित कलियाँ विकासोन्मुख बन गईं, सर्वत्र सौरभ छा गया और उससे आकर्षित होकर प्रेमी भ्रमरगण मँडराने तथा गुन-गुनाने लगे।

जिसने लोकहृदय भूमिपर पड़े और धूलमें दबे जैन बीजोंको अंकुरित किया, अंकुरोंको ऊँचा उठाया—बढ़ाया, उन्हें पल्लवित पुष्पित तथा फलित होनेका अवसर दिया।

जिसने मुरझाएहुए निराशहृदयोंमें जीवनीशक्तिका संचार किया, मिथ्या भयको भगाया और रूढ़ियोंके बीहड़ जंगलसे निकलकर निरापदस्थानको प्राप्त करनेकी ओर संकेत किया।

जिससे तेज और प्रकाशको पाकर लोक-हृदयोंमें स्फूर्ति उत्पन्न हुई, जीवन ज्योति जगी, कुरीतियां मिटीं

और समाजमें सुधारकी ओर काम ही काम दिखलाई देने लगा—सुधारकी लहर सर्वत्र दौड़ गई।

जिसे एक दो बार प्रकाश-विरोधिनी काली काली घटाओंने आ घेरा और उसकी गतिको रोकना चाहा; परन्तु जो आगेको ही बढ़ता चला गया। जिसने उन काली घटाओंपर ही अपना तेज और प्रकाश फैला दिया, अपनी किरणोंसे उन्हें बेचैन बना दिया—वे तप्तायमान होगईं, उद्विग्न हो उठीं, रो पड़ी और आखिर छिन्न भिन्न हो गईं। इस तरह उन लोगोंको पुनः प्रकाश मिला जो कुछ समयके लिये प्रकाशसे वंचित हो गये थे। वे अब पहलेसे भी अधिक प्रकाशके उपासक बन गये, प्रकाशदाताके पदचिन्हों पर चलने लगे और प्रकाशन-कार्यको धड़ाधड़ आगे बढ़ाने लगे।

और जिसके प्रकाश-संस्कार अथवा प्रकाश-सन्ततिके फलस्वरूप ही आज समाजमें अनेक सभा-सोसाइटियाँ, प्रकाशनसंस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, शिक्षासंस्थाएँ—पाठशालाएँ, विद्यालय, पुस्तकालय, स्वाध्यायमंडल, स्कूल, कालिज, गुरुकुल, बोर्डिङ्गहाउस, पत्र-कार्यालय, अनाथालय और ब्रह्मचर्याश्रम आदि प्रकाशकेन्द्र स्थापित होकर अपना अपना कार्य करते हुए नज़र आ रहे हैं, जगह जगह नई नई प्रकाशग्रन्थियाँ प्रस्फुटित होकर अपना अपना प्रकाश दिखला रही हैं, और प्रकाशके उपासक ऐसी कुछ उत्कण्ठा व्यक्त कर रहे हैं जिससे मालूम होता है कि वे प्रकाशकी मूलजननी जिनवाणीमाताको अब बन्दीगृहमें नहीं रहने देंगे और न उसे मरने ही देंगे, जिससे हमारे इस 'सूर्य' ने भी प्रकाश पाया था और वह प्रकाश-पुञ्ज बनकर जननीकी सेवामें अग्रसर हुआ था।

निःसन्देह, बाबू सूरजभानजी जैनजातिकी एक बहुत बड़ी विभूति थे, समके अनुपम रत्न थे, भूषण थे और गौरव थे। वे स्वभावसे उदार थे, महामना थे, निष्कपट थे, सत्यप्रेमी थे, गुणग्राही थे और सेवाभावी थे। उनका प्रायः सारा जीवन जैनसमाजकी निःस्वार्थ-सेवा करते बीता है। उन्होंने बड़े बड़े सेवाकार्य किये हैं—मृतप्राय दिगम्बर जैन महासभामें जान डाली है; जैनियोंको जगानेके लिये सबसे पहले उर्दूमें 'जैन-हित-उपदेशक' नामका मासिक पत्र निकाला है और उसके बाद (दिसम्बर सन् १८९५ मे) हिन्दीके साप्ताहिक पत्र 'जैनगजट'को जन्म दिया है, समाज की निद्रा भंग करनेके लिये वकालतके अवकाश-समयमें कई बार स्वयं उपदेशकी दौरा किया है, जिसमें एकबार मुझे भी शामिल होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जैनग्रन्थोंके प्रकाशनका आपने ही महान बीड़ा उठाया था और उसके लिये जानको हथेलीपर रखकर वह गुरुतर कार्य किया है जिसका सुमधुर फल, ज्ञानके उपकरण शास्त्रोंकी सुलभप्राप्तिके रूपमें, आज सारा जैनसमाज चख रहा है। इस कार्यको सफल बनानेमें आपको बड़ी बड़ी कठिनाइयों-मुसीबतोंका सामना करना पड़ा है, यातनाएँ झेलनी पड़ी हैं, जानसे मार डालनेकी धमकीको भी सहना पड़ा है, आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ी हैं गुरुजनों तथा मित्रोंके अनुरोधको भी टालना पड़ा है, और जातिसे बहिष्कृत होनेका कड़वा घूंट भी पीना पड़ा है। परन्तु यह सब उन्होंने बड़ी खुशीसे किया—अन्तरात्माकी प्रेरणाको पाकर किया। वे अपने ध्येय एवं निश्चयपर अटल-अडोल रहे और उन्होंने कई बार अपनी सत्यनिष्ठा एवं तर्कशक्तिके बलपर न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजीको वादमें परास्त किया, जो तबके समाजके सर्वप्रधान विद्वान समझे जाते थे।

इसी सम्बन्धमें उन्हें हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकीसे इस्तीफा देना पड़ा, जो कि महासभाका पत्र था, और तब आपने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका अपना एक स्वतंत्र हिन्दीपत्र जारी किया था इसी अवसरके लगभग आपने देवबन्दमें, जहां वकालत करते थे, जैनसिद्धान्तोंके प्रचारके लिये एक मंडल कायम किया था, जिसके द्वारा कितने ही जैनग्रन्थ छपकर प्रकाशित हुए हैं। आपसे ही प्रोत्तेजन पाकर आपके रिश्तेदार (समधी) बाबू ज्ञानचन्द्रजीने लाहौरमें जैन-ग्रंथोंके प्रकाशनका एक कार्यालय खोला था, जिससे भी कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, और साथ ही हिन्दी में मासिक रूपसे एक 'जैनपत्रिका' भी जारी की थी।

मेरे देवबन्दमें मुख्तारकारी करते हुए, आपने ही मुझे महासभाकी ओरसे मिले हुए हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकी के ऑफ़र (offer) को स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया था, और इस तरह जैनगजटको फिरसे उसकी जन्मभूमि (देवबन्द) में बुलाकर उसके द्वारा अपनी कितनी ही सेवा

भावनाओंको पूरा किया था । आप उसमे बराबर लेख लिखा करते थे और अपने सत्परामर्शों द्वारा मेरी सहायता किया करते थ । उस समय 'आर्यमतकी लीला' नाममे जो एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित हुई थी उसके मूल लेखक आप ही थे ।

समाजसेवाके भावोंसे प्रेरित होकर ही आपने मेरे मुख्तारकारी छोडनेके साथ—एक ही दिन १२ फरवरी सन् १९१४ को—खूब चलती हुई वकालतको छोडा था । और तबसे आप सामाजिक उत्थानके कार्योंमें और भी तत्परताके साथ योग देने लगे थे—जगह जगह जाना आना, सभा-सोसाइटियोंमें भाग लेना, लेख लिखना, पत्रव्यवहार करना आदि कार्य आपके बढ़ गये थे । कुछ समयके लिये घरपर कन्यापाठशाला ही आप ले बैठे थे, जिसकी एक कन्या वर्तमानमें प्रसिद्ध कार्यकर्त्री लेखवती जैन है । खतौलीके दस्सा बीसा केसमें विद्वद्वर पं० गोपालदासजीका सहयोग प्राप्त कर लेना और दस्सोंके पक्षमें उनकी गवाही दिला देना भी आपका ही काम था । पं०गोपालदासजीके बाईकाट अथवा बहिष्कारको विफल करनेमें भी आपका प्रधान हाथ रहा है ।

ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरमें पहुँचकर आपने उसकी भारी सेवाएँ की हैं, और जब यह देखा कि उसमें कुछ ऐसे व्यक्तियोंका प्राबल्य होगया है जो समाजके हिता-हितपर ध्यान न रखकर अपनी ही चलाना चाहते हैं और उनकी सुननेको तय्यार नहीं, तब आपने उसे छोड दिया और दूसरे रूपमें समाजकी सेवा करने लगे । वे अपने विचारके धनी थे, धुनके पक्के थे और अपने विचारोंका खून करके कुछ भी करना नहीं चाहते थे ।

सत्योदय, जैनहितैषी और जैनजगत आदि पत्रोंमें वे बराबर लिखते रहे हैं और अपने विचारोंको उनके द्वारा व्यक्त करते रहे हैं । उन्होंने सैकडों लेख लिखे और 'ज्ञान सूर्योदय' आदि पचासों पुस्तकें लिख डालीं । लेखनकलामें वे बडे सिद्धहस्त थे, जल्दी लिख लेते थे और जो कुछ लिखते थे युक्तिपुरस्सर लिखते थे तथा समाजके हितकी भावनासे प्रेरित होकर ही लिखते थे—भले ही उसमें उनसे कुछ भूलें तथा ग़लतियें हो गई हों, परन्तु उनका उद्देश्य बुरा नहीं था ।

आदिपुराण-समीक्षादि जैसी कुछ आलोचनात्मक पुस्तकों तथा लेखोंको लेकर जब समाजने उनका पुनः बहिष्कार किया, और इस तरह उनके विचारोंको दबाने कुचलनेका कुत्सित मार्ग अख्तियार किया तथा उनके सारे किये कराये पर पानी फेरकर कृतघ्नताका भाव प्रदर्शित किया, तब उन्हें उसपर बड़ा खेद हुआ और उनके चित्तको भारी आघात पहुँचा, जिसे वे अपनी वृद्धावस्थाके कारण सहन नहीं कर सके । और इस लिये कुछ समयके बाद सामाजिक प्रवृत्तियों से ऊबकर अथवा उद्विग्न होकर उन्होंने विरक्ति धारण करली । उनकी यह विरक्ति उन्हींके शब्दोंमें बारह वर्ष तक स्थिर रही । इस अर्सेमें, वे कहते थे, उन्होंने कुछ नहीं लिखा, लेखनीको एकदम विश्राम दे दिया और पुत्रोंके पास रहकर उनके बच्चोंसे ही चित्तको बहलाते रहे ।

आखिर उनकी यह विरक्ति तब भंग हुई जब लगातारके मेरे अनुरोध और आग्रहपर वे वीरसेवामन्दिरमें आ गये । यहां आते ही उनकी लेखनी फिरसे चल पड़ी, उनमें जवानीका-सा जोश आगया—जिसे वे 'बासी कढ़ीमें फिरसे उबाल आना' कहा करते थे—और उन्होंने लेख ही लेख लिख डाले । इन लेखोंसे अनेकान्तके दूसरे तथा तीसरे वर्षकी फाइलें भरी हुई हैं और उनसे अनेकान्तके पाठकोंको बहुत लाभ पहुँचा है । इस दो-ढाई वर्षके अर्सेमें उन्होंने अनेकान्तको ही लेख नहीं दिये बल्कि दूसरे जैन तथा अजैन पत्रोंको भी कितने ही लेख दिये हैं । इसके अलावा, यहाँ रहते उन्होंने वीरसेवामन्दिरकी कन्यापाठशालामें कन्याओं को शिक्षा भी दी है, मन्दिरमें लोगोंके आग्रहपर उन्हें दो दो घंटे रोजाना शास्त्र भी सुनाया है और आश्रमके विद्वानों से चर्चा-वार्तामें जब जुट जाते थे तो उन्हें छका देते थे । आपकी वाणीमें रस था, माधुर्य था, ओज था और तेज था।

कुछ कौटुम्बिक परिस्थितियोंके कारण आपको लगभग ढाई वर्षके बाद वीरसेवामन्दिरको छोड़ना पड़ा—आपके भाई बा० चेतनदासजी वकीलको फालिज (लकवा) पड़ गया था, उनकी तीमारदारीके लिये आपको उनके पास (देवबन्द) जाना पड़ा और फिर चि० सुखवन्तरायकी परि-स्थितियोंके वश उसके पास देहली केंट, देहरादून तथा इलाहाबाद रहना पड़ा । तदनन्तर चि० कुलवन्तराय उन्हें डालमियानगर ले गया, जहाँ उनकी बीमारीका कु समाचार सुन पड़ा, और अन्तको कलकत्तेमें जाकर १

और समाजमें सुधारकी ओर काम ही काम दिखलाई देने लगा—सुधारकी लहर सर्वत्र दौड़ गई।

जिसे एक दो बार प्रकाश-विरोधिनी काली काली घटाओंने आ घेरा और उसकी गतिको रोकना चाहा; परन्तु जो आगेको ही बढ़ता चला गया। जिसने उन काली घटाओंपर ही अपना तेज और प्रकाश फैला दिया, अपनी किरणोंसे उन्हें बेचैन बना दिया—वे तप्तायमान होगई, उद्विग्न हो उठीं, रो पड़ीं और आख़िर छिन्न भिन्न हो गई। इस तरह उन लोगोंको पुन: प्रकाश मिला जो कुछ समयके लिये प्रकाशसे वंचित हो गये थे। वे अब पहलेसे भी अधिक प्रकाशके उपासक बन गये, प्रकाशदाताके पदचिन्हों पर चलने लगे और प्रकाशन-कार्यको धड़ाधड़ आगे बढ़ाने लगे।

और जिसके प्रकाश-संस्कार अथवा प्रकाश-सन्ततिके फलस्वरूप ही आज समाजमें अनेक सभा-सोसाइटियाँ; प्रकाशनसंस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, शिक्षासंस्थाएँ—पाठशालाएँ, विद्यालय, पुस्तकालय, स्वाध्यायमंडल, स्कूल, कालिज, गुरुकुल, बोर्डिङ्गहाउस, पत्र-कार्यालय, अनाथालय और ब्रह्मचर्याश्रम आदि प्रकाशकेन्द्र स्थापित होकर अपना अपना कार्य करते हुए नज़र आ रहे हैं, जगह जगह नई नई प्रकाशग्रन्थियाँ प्रस्फुटित होकर अपना अपना प्रकाश दिखला रही हैं, और प्रकाशके उपासक ऐसी कुछ उत्कण्ठा व्यक्त कर रहे हैं जिससे मालूम होता है कि वे प्रकाशकी *मूलजननी जिनवाणीमाताको अब बन्दीगृहमें नहीं रहने देंगे* और न उसे मरने ही देंगे, जिससे हमारे इस 'सूर्य' ने भी प्रकाश पाया था और वह प्रकाश-पुञ्ज बनकर जननीकी सेवामें अग्रपर हुआ था।

नि:सन्देह, बाबू सूरजभानजी जैनजातिकी एक बहुत बड़ी विभूति थे, उसके अनुपम रत्न थे, भूषण थे और गौरव थे। वे स्वभावसे उदार थे, महामना थे, निष्कपट थे, सत्यप्रेमी थे, गुणग्राही थे और सेवाभावी थे। उनका प्राय: सारा जीवन जैनसमाजकी नि:स्वार्थ-सेवा करते बीता है। उन्होंने बड़े बड़े सेवाकार्य किये हैं—मृतप्राय दिगम्बर जैन महासभामें जान डाली है; जैनियोंको जगानेके लिये सबसे पहले उर्दू में 'जैन-हित-उपदेशक' नामका मासिक पत्र निकाला है और उसके बाद (दिसम्बर सन् १८६५ में) हिन्दीके साप्ताहिक पत्र 'जैनगजट'को जन्म दिया है, समाज की निद्रा भंग करनेके लिये वकालतके अवकाश-समयमें कई बार स्वयं उपदेशकी दौरा किया है, जिसमें एकबार मुझे भी शामिल होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

जैनग्रन्थोंके प्रकाशनका आपने ही महान बीड़ा उठाया था और उसके लिये जानको हथेलीपर रखकर वह गुरुतर कार्य किया है जिसका सुमधुर फल, ज्ञानके उपकरण शास्त्रोंकी सुलभप्राप्तिके रूपमें, आज सारा जैनसमाज चख रहा है। इस कार्यको सफल बनानेमें आपको बड़ी बड़ी कठिनाइयों-मुसीबतोंका सामना करना पड़ा है, यातनाएँ झेलनी पड़ी हैं, जानसे मार डालनेकी धमकीको भी सहना पड़ा है, आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ी हैं गुरुजनों तथा मित्रोंके अनुरोधको भी टालना पड़ा है, और जातिसे बहिष्कृत होनेका कडवा घूंट भी पीना पड़ा है। परन्तु यह सब उन्होंने बड़ी खुशीसे किया—अन्तरात्माकी प्रेरणाको पाकर किया। वे अपने ध्येय एवं निश्चयपर अटल-अडोल रहे और उन्होंने कई बार अपनी सत्यनिष्ठा एवं तर्कशक्तिके बलपर न्यायदिवाकर पं० पन्नालालजीको वादमें परास्त किया, जो तबके समाजके सर्वप्रधान विद्वान समझे जाते थे।

इसी सम्बन्धमें उन्हें हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकीसे इस्तीफा देना पड़ा, जो कि महासभाका पत्र था, और तब आपने 'ज्ञानप्रकाशक' नामका अपना एक स्वतंत्र हिन्दीपत्र जारी किया था इसी अवसरके लगभग आपने देवबन्दमें, जहां वकालत करते थे, जैनसिद्धान्तोंके प्रचारके लिये एक मंडल कायम किया था, जिसके द्वारा कितने ही जैनग्रन्थ छपकर प्रकाशित हुए हैं। आपसे ही प्रोत्तेजन पाकर आपके रिश्तेदार (समधी) बाबू ज्ञानचन्द्रजीने लाहौरमें जैन-ग्रंथोंके प्रकाशनका एक कार्यालय खोला था, जिससे भी कितने ही ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, और साथ ही हिन्दी में मासिक रूपसे एक 'जैनपत्रिका' भी जारी की थी।

मेरे देवबन्दमें मुख्तारकारी करते हुए, आपने ही मुझे महासभाकी ओरसे मिले हुए हिन्दी जैनगजटकी सम्पादकी के ऑफ़र (offer) को स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया था, और इस तरह जैनगजटको फिरसे उसकी जन्मभूमि (देवबन्द) में बुलाकर उसके द्वारा अपनी कितनी ही सेवा-

भावनाओंको पूरा किया था। आप उसमें बराबर लेख लिखा करते थे और अपने सत्परामर्शों द्वारा मेरी सहायता किया करते थ। उस समय 'आर्यमतकी लीला' नामसे जो एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित हुई थी उसके मूल लेखक आप ही थे।

समाजसेवाके भावोंसे प्रेरित होकर ही आपने मेरे मुख्तारकारी छोड़नेके साथ—एक ही दिन १२ फरवरी सन् १९१४ को—खूब चलती हुई वकालतको छोड़ा था। और तबसे आप सामाजिक उत्थानके कार्योंमें और भी तत्परताके साथ योग देने लगे थे—जगह जगह जाना आना, सभा-सोसाइटियोंमें भाग लेना, लेख लिखना, पत्रव्यवहार करना आदि कार्य आपके बढ़ गये थे। कुछ समयके लिये घरपर कन्यापाठशाला ही आप ले बैठे थे, जिसकी एक कन्या वर्तमानमें प्रसिद्ध कार्यकर्त्री लेखवती जैन है। खतौलीके दस्सा बीसा केसमें विद्वद्वर पं० गोपालदासजीका सहयोग प्राप्त कर लेना और दस्सोंके पक्षमे उनकी गवाही दिला देना भी आपका ही काम था। पं०गोपालदासजीके बाईकाट अथवा बहिष्कारको विफल करनेमें भी आपका प्रधान हाथ रहा है।

ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुरमें पहुँचकर आपने उसकी भारी सेवाएँ की हैं, और जब यह देखा कि उसमें कुछ ऐसे व्यक्तियोंका प्राबल्य होगया है जो समाजके हिताहितपर ध्यान न रखकर अपनी ही चलाना चाहते हैं और उनकी सुननेको तय्यार नहीं, तब आपने उसे छोड़ दिया और दूसरे रूपमें समाजकी सेवा करने लगे। वे अपने विचारके धनी थे, धुनके पक्के थे और अपने विचारोंका खून करके कुछ भी करना नहीं चाहते थे।

सत्योदय, जैनहितैषी और जैनजगत आदि पत्रोंमें वे बराबर लिखते रहे हैं और अपने विचारोंको उनके द्वारा व्यक्त करते रहे हैं। उन्होंने सैकड़ों लेख लिखे और 'ज्ञान सूर्योदय' आदि पचासों पुस्तकें लिख डालीं। लेखनकलामें वे बड़े सिद्धहस्त थे, जल्दी लिख लेते थे और जो कुछ लिखते थे युक्तिपुरस्सर लिखते थे तथा समाजके हितकी भावनासे प्रेरित होकर ही लिखते थे—भले ही उसमें उनसे कुछ भूलें तथा ग़लतियें हो गई हों, परन्तु उनका उद्देश्य बुरा नहीं था।

आदिपुराण-समीक्षादि जैसी कुछ आलोचनात्मक पुस्तकों तथा लेखोंको लेकर जब समाजने उनका पुनः बहिष्कार किया, और इस तरह उनके विचारोंको दबाने कुचलनेका कुत्सित मार्ग अख्तियार किया तथा उनके सारे किये कराये पर पानी फेरकर कृतघ्नताका भाव प्रदर्शित किया, तब उन्हें उसपर बड़ा खेद हुआ और उनके चित्तको भारी आघात पहुँचा, जिसे वे अपनी वृद्धावस्थाके कारण सहन नहीं कर सके। और इस लिये कुछ समयके बाद सामाजिक प्रवृत्तियों से ऊबकर अथवा उद्विग्न होकर उन्होंने विरक्ति धारण करली। उनकी यह विरक्ति उन्हीके शब्दोंमें बारह वर्ष तक स्थिर रही। इस अर्सेमें, वे कहते थे, उन्होंने कुछ नहीं लिखा, लेखनीको एकदम विश्राम दे दिया और पुत्रोंके पास रहकर उनके बच्चोंसे ही चित्तको बहलाते रहे।

आखिर उनकी यह विरक्ति तब भंग हुई जब लगातारके मेरे अनुरोध और आग्रहपर वे वीरसेवामन्दिरमें आ गये। यहां आते ही उनकी लेखनी फिरसे चल पड़ी, उनमें जवानीका-सा जोश आगया—जिसे वे 'बासी कढ़ीमें फिरसे उबाल आना' कहा करते थे—और उन्होंने लेख ही लेख लिख डाले। इन लेखोंसे अनेकान्तके दूसरे तथा तीसरे वर्षकी फाइलें भरी हुई हैं और उनसे अनेकान्तके पाठकोंको बहुत लाभ पहुँचा है। इस दो-ढाई वर्षके अर्सेमें उन्होंने अनेकान्तको ही लेख नहीं दिये बल्कि दूसरे जैन तथा अजैन पत्रोंको भी कितने ही लेख दिये हैं। इसके अलावा, यहां रहते उन्होंने वीरसेवामन्दिरकी कन्यापाठशालामें कन्याओं को शिक्षा भी दी है, मन्दिरमें लोगोंके आग्रहपर उन्हें दो दो घंटे रोजाना शास्त्र भी सुनाया है और आश्रमके विद्वानों से चर्चा-वार्तामें जब जुट जाते थे तो उन्हें छका देते थे। आपकी वाणीमें रस था, माधुर्य था, ओज था और तेज था।

कुछ कौटुम्बिक परिस्थितियोंके कारण आपको लगभग ढाई वर्षके बाद वीरसेवामन्दिरको छोड़ना पड़ा—आपके भाई बा० चेतनदासजी वकीलको फालिज (लकवा) पड़ गया था, उनकी तीमारदारीके लिये आपको उनके पास (देवबन्द) जाना पड़ा और फिर चि० सुखवन्तरायकी परिस्थितियोंके वश उसके पास देहली केंट, देहरादून तथा इलाहाबाद रहना पड़ा। तदनन्तर चि० कुलवन्तराय उन्हें डालमियानगर ले गया, जहाँ उनकी बीमारीका कु समाचार सुन पड़ा, और अन्तको कलकत्तेमें जाकर १४

सितम्बरकी संध्याके समय ७७ वर्ष की अवस्थामें उनकी यह जीवन-लीला समाप्त होगई !! और इस तरह जैनजाति के एक महान् सवक 'सूर्य' का सदाके लिये अस्त होगया !!!

भले ही आज बाबूजी अपने भौतिक शरीरमे नही हैं, परन्तु अपने साहित्य-शरीरमे वे आज भी जीवित विद्यमान हैं और जब तक उनका यह साहित्य रहेगा वे अमर रहेंगे तथा लोकको प्रकाश देते रहेंगे।

अपने इस पिछले चार वर्षके जीवनमे यद्यपि उनसे समाजकी कोई खास सेवा नही बन सकी। एक दो बार लेखोंके लिये जो उन्हें प्रेरणा की, तो उन्होने यही कहा कि 'काम ठियेपर बैठकर ही होता है, यहाँ मेरे पास कोई साधन नही है' फिर भी वे समाजके कार्योंमे कुछ न कुछ भाग बराबर लेते रहे हैं। एक बार देवबन्दमे वीरशासन जयन्तीके उत्सवमें सरसावा पधारे थे। और पिछले कलकत्तामें होने वाले वीर-शासन-महोत्सवके लिये जब बा० पन्नालालजी अग्रवाल देहली मंत्री वीरसेवामन्दिरने उन्हें लेखके लिये प्रेरणा की थी तो उन्होंने एक लेख उन के पास भेजा था, जो संभवत: उनका अन्तिम लेख था, उनके विचारोंका प्रतीक था और जिससे जाना जाता है कि समाजके प्रति उनकी लगन और शुभ भावना बराबर बनी रही है। मालूम नही वह लेख अब किसके पास है, उसको प्रकाशित करना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि बाबू सूरजभानजी समाजके ऊपर अपनी सेवाओं तथा उपकारोंका एक बहुत बड़ा ऋण छोड़ गये हैं। और इस लिये उससे उऋण होनेके लिये समाज का कर्तव्य है कि वह उनका कोई अच्छा स्मारक खड़ा करे और उनके उस साहित्यका संरक्षण एवं एकत्र प्रकाशन करे। जो समाजके उत्थान और उसको नवजीवन प्रदान करनेमें सहायक है।

दु:खितहृदय
जुगलकिशोर मुख्तार

बाबू सूरजभानजीके वियोगमें शोकसभा

तारीख २८ सितम्बरको वीरसेवामन्दिर सरसावामे बाबू नानकचन्दजी जैन रिटायर्ड ओवरसियरके सभापतित्वमे जैन समाजके पुराने कर्मठ नेता और साहित्यसेवी बाबू सूरजभानजी वकीलके १६ सितम्बरको कलकत्तामें हुए वियोगमें शोकसभा की गई, जिसमे श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी, पं० परमानन्दजी शास्त्री, लाला महाराजप्रसादजी, सभापतिजी और मैंने बाबू साहबके कार्यों और जीवनीपर प्रकाश डाला तथा हार्दिक शोक प्रकट करते हुए श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पण की। और निम्न शोक-प्रस्ताव पास करनेके अनन्तर सबने पाँच मिनट खड़े होकर स्वर्गीय आत्माके लिये शान्तिकी भावना की।

—दरबारीलाल जैन, कोठिया।

शोक-प्रस्ताव

जैनसमाजके वृद्ध साहित्यसेवी और वर्तमान प्रवृत्तियोंके अग्रदूत एवं निर्भीक कर्मठनेता बाबू सूरजभानजीका ७७ वर्षकी अवस्थामे जो कलकत्तामें १६ सितम्बर सन् १९४५को वियोग होगया है उससे जैन समाजकी भारी क्षति हुई है, जिसकी पूर्ति होना बहुत ही कठिन है। उन्होंने जैनसमाज और जैन साहित्यके लिये चिरस्मरणीय सेवाएँ की हैं। जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनकी प्रवृत्तिका श्रेय तो खास उन्हींको है। खेद है कि जैनसमाज बाबू साहबकी सेवाओंके उपलक्षमें सम्मानादिके रूपमें उनके सामने कोई खास कार्य नहीं कर पाया और उसके दिली अरमान दिलमें ही रह गये! अब समाजको उनकी महान् सेवाओंको लक्ष्यमें रखते हुए उनका कोई स्मारक अवश्य ही बनाना चाहिये। उनके वियोगसे समाजको जो दुःख हुआ है वह अवर्णनीय है। आजकी यह वीरसेवामन्दिरके विद्वानों और स्थानीय जैनसमाजकी सभा उनके वियोगपर हार्दिक शोक व्यक्त करती है और स्वर्गीय आत्माके लिये परलोकमें शान्ति-सुखकी कामना करती हुई उनके पुत्रों तथा कुटुम्बी जनोंके प्रति अपनी दिली समवेदना प्रकट करती है।

वीर-सेवा-मन्दिरको सहायता

गत किरण नं० ७–८में प्रकाशित सहायताके बाद वीरसेवामन्दिर सरसावाको साधारण सदस्य फीसके अलावा जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्न प्रकार है, और उसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं:—

१२५) बाबू निर्मलकुमारजी जैन रईस आरा (आजीवन सदस्य फीस)

५०१) ५०१ बाबू राजकृष्ण हरिचन्दजी जैन, दरियागंज देहली, अध्यात्मकमलमार्तण्डकी सिर्फ छपाई, बंधाई और कागज खर्च ७६७॥।)॥ के मध्ये।

२५१॥) श्रीमती गेंदोबीबीजी धर्मपत्नी श्रीमान् लाला पन्नालालजी जैन, मालिक फर्म जैनी ब्रादर्स, बतौर कुल खर्च छपाई बंधाई आदि प्रभाचंद्रीय-तत्वार्थसूत्र।

११) गुप्तसहायता, देहलीके एक सज्जनकी ओरसे।

२५०) श्रीसकलदिगम्बरजैन पंचान कलकत्ता गत वि० सं० २००१के भादोंमासमें निकाले हुए दानमेंसे)।

५१) श्रीदिगम्बरजैन पंचान सरसावा, जि० सहारनपुर दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें।

१५१) श्रीदिगम्बरजैन समाज नजीबाबाद, जिला बिजनौर, दशलक्षणपर्वके उपलक्षमें, मार्फत पं० परमानन्द जी जैन शास्त्री सरसावा।

१०) दिगम्बरजैनसमाज नजीबाबाद सफर खर्चकी सहायता मार्फत श्री पं० परमानन्दजी।

१०१) श्रीमती पद्मावतीदेवी धर्मपत्नी स्व० साहू सुमति-प्रसादजी जैन नजीबाबाद, जिला बिजनौर (ग्रन्थ-मालाकी सहायतार्थ, अध्यात्म-कमल मार्तण्डकी प्रतियां अपनी ओरसे कुछ जैन मन्दिरों तथा संस्थाओंको फ्री भिजवानेके लिये मार्फत पं० परमानन्द जैन शास्त्री सरसावा।

——

१४४२

अधिष्ठाता, वीरसेवामन्दिर

अनेकान्तको सहायता

पिछली किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको जो सहायता प्राप्त हुई है वह क्रमशः निम्नप्रकार है, जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं—

५) बाबू रामगोपालजी जैन लाहौर, मार्फत पं० अजित-कुमारजी जैन शास्त्री, मुलतान।

२५) श्रीमती जयवन्तीदेवी, नानौता जि० सहारनपुर श्रीदादीजीके दानमेंसे।

२) श्रीदिगम्बर जैन पंचान सरसावा (दशलक्षण पर्वके उपलक्षणमें)।

——

३२

व्यवस्थापक, अनेकान्त

वीरसेवामंदिर-लायब्रेरीको सहायता-वचन

नजीबाबाद जि० बिजनौरके जैन रईस साहू अजित-प्रसादजीके सुपुत्र साहू प्रकाशचन्द्रजीने दशलक्षण पर्वके अवसर पर पं० परमानन्दजी शास्त्रीकी प्रेरणाको पाकर वीरसेवामन्दिर लायब्रेरीको श्री नगेन्द्रनाथ बसुका 'हिन्दी विश्वकोष', जो हिन्दीका सबसे बड़ा कोष है और अब तक जिसकी २२ जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं, खरीदकर देनेका वचन दिया है। इस कृपा एवं उदारताके लिये आप हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं। आशा है दूसरे सज्जन भी इसी तरह अपने सहयोग-द्वारा इस लायब्रेरीको समृद्ध बनानेका पूरा प्रयत्न करेंगे।

ज़रूरी सूचना

पिछली किरणके साथ अनेकान्तके छठे वर्षकी वह वार्षिक विषय-सूची भेजी गई है जो कंट्रोल आर्डरकी वजह से छठे वर्षके अन्तमें नहीं दी जा सकी थी, ग्राहक जन उसे छठे वर्षकी फाइलमें लगालेवें। जो सज्जन छठे वर्षमें ग्राहक न रहे हों उन्हें कृपाकर वह सूची अपने निकटवर्ती उन ग्राहकोंमेंसे किसीको देदेनी चाहिये जो छठे वर्षमें तो ग्राहक हों किन्तु सातवें वर्षमें ग्राहक न रहे हों। सातवें वर्षकी वार्षिक विषय-सूची इस किरणके साथ दी गई है, जिसे जिल्द बंधाते समय निकाल कर शुरूमें लगा लेना चाहिये।

—प्रकाशक

अनेकान्तके प्रेमियोंसे निवेदन

१ अनेकान्तके प्रथम, चतुर्थ, पंचम षष्ठम और सप्तम वर्षकी कुछ फाइलें विक्रियार्थ मौजूद हैं जिन महानुभावोंको आवश्यकता हो वे आर्डर देकर उन्हें मंगवा लेवें। अन्यथा कुछ समय बाद इनका मिलना भी दुष्कर हो जायगा।

२ अनेकान्तके चतुर्थ और पंचम वर्षके विशेषांकोंकी कुछ कापियाँ भी विक्रियार्थ अवशिष्ट हैं। प्रत्येक विशेषांकका मूल्य ॥।) है। आर्डर देने वालोंको प्रचारकी दृष्टिसे रियायती मूल्य ॥) में फी अंक दिया जायगा।

व्यवस्थापक, अनेकान्त